महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

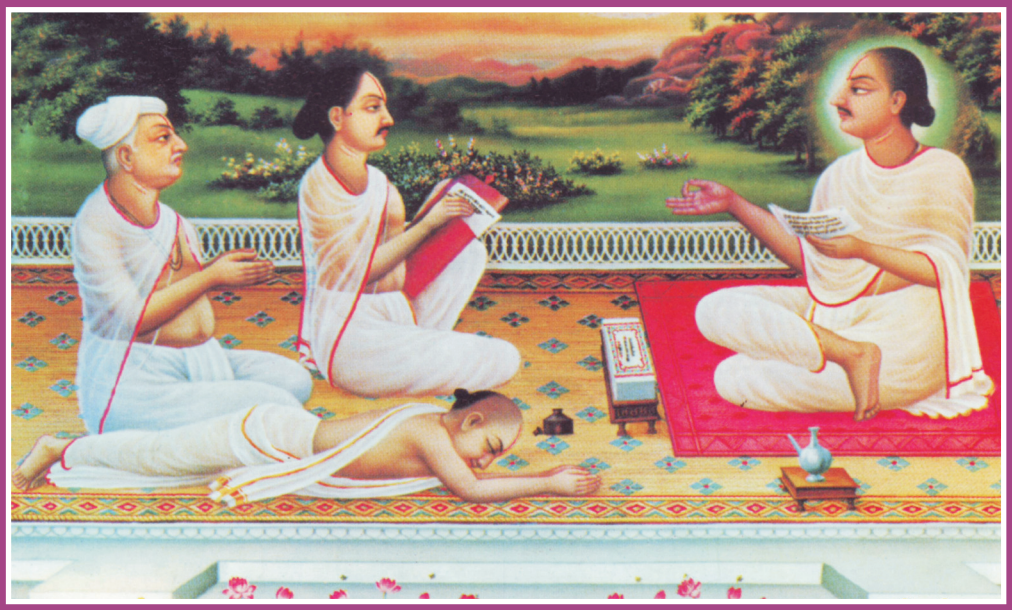

दशमस्कन्ध

तामस फल प्रकरण

(अध्याय २६–३२)

खंड १०

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित श्रीभागवत विवृति

'सुबोधिनी'

दशम स्कन्ध

तामस फल प्रकरण

(अध्याय २६/२९–३२/३५)

हिन्दी भाषानुवाद

अनुवादक:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु(पुष्करणा), जोधपुर

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

... तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास (श्रवण–स्मरण–कीर्तन) से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय. यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कण्ठमें ही क्यों न अटक जायें परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके अन्य किसी भी उपायसे अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध.२।६७, २४३, २५४).

जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बनाते हैं ऐसे गुणगानकर्ता गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये जमीनमें खोदे गये गहरे गढ्ढेकी तरह होते हैं. (जलभेद.५)

मुंह–हाथ–पांव आदि धोनेमें प्रयुक्त गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे अधम होते हैं दक्षिणा लेकर कथा करनेवाले ...आशय यह है कि गढ्ढेमें भरे हुवे प्रक्षालनोच्छिष्ट गंदे जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहिं होता ... पौराणिकोंके भावोंका निरूपण करनेके बाद जो गायकोंका निरूपण किया गया है वह यह दिखलानेकेलिए कि (आजीविकार्थ पुराणोंका उपयोग करनेवाले) पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य नीच ही होते हैं.

(श्रीकल्याणरायविरचित जलभेदविवृति ५).

।। प्रासंगिक ।।

यह ज्ञापित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीभागवतकी विवृति 'सुबोधिनी'के हिन्दी अनुवादका पुनः प्रकाशन किया जा रहा है.

यह तो सुविदित है कि मूल संस्कृत सुबोधिनीका पुनः प्रकाशन पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीके सम्पादकत्वमें श्रीवल्लभविद्यापीठश्रीविट्ठलेश-प्रभुचरण आश्रम ट्रस्ट, कोल्हापुर द्वारा किया गया है.

सुबोधिनीके गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी, गो.वा.श्रीमग्नलाल शास्त्री तथा गो.वा.श्रीव्रजलाल सांकळीया आदि विद्वानों द्वारा लिखित गुर्जरभाषानुवादका पुनः प्रकाशन श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी द्वारा किया जा चुका है.

इसी तरह श्रीरामानुजमतानुयायी किन्तु सुबोधिनीके परम प्रेमी श्रीटी. रामनन्ने सुबोधिनीका अंग्रेजी अनुवाद करके उसे सद्गुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली द्वारा मूल संस्कृत सहित प्रसिद्ध करवाया है, जो २४ खंडोंमें उपलब्ध होता है. यह अंग्रेजी अनुवाद श्रीरामन्ने श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर द्वारा प्रकाशित, सम्प्रति अनुपलब्ध, सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका ही किया है. वे लिखते हैं:

> "I owe a deep debt of gratitude to Sri Subodhini Parakashan Mandal (Jodhpur). My traslation is, to a very large extent, based on this book and I am, indeed, very grateful for this Mandal".

सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका प्रकाशन ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल''(जोधपुर) नामकी संस्थाको स्थापित करके उसके द्वारा गो.वा. श्रीनन्दलालजी मानधना,जोधपुर ने करवाया था. इनको इस भगीरथ कार्यमें गो.वा.श्रीरामचन्द्र(नन्ददास) वर्मा का साथ मिला. इन दोनों महानुभावोंकी निष्ठा प्रेरणा उत्साह और समर्पण से पुष्टिमार्गके अनेक विद्वानोंने मिल-जुलकर सुबोधिनीका अनुवाद तैयार किया. इनमें उल्लेखनीय हैं:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु (जोधपुर)

दशमस्कन्धके नब्बे अध्यायोमेंसे चोहत्तर अध्याय;

तृतीय स्कन्धके १ से २१ अध्याय.

गो.वा.श्रीआनन्दीलालजी शास्त्री (श्रीनाथद्वारा)

प्रथम स्कन्धके १ से ९ अध्याय, दशमस्कन्धका चौथा अध्याय.

गो.वा.श्रीनारायणप्रसाद व्यास(कोटा)

प्रथमस्कन्धके १० से १९ अध्याय.

गो.वा.पं.गोरधनजी शास्त्री(कोटा)

दशमस्कन्धके चौदह अध्याय,

गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी(नाथद्वारा)

द्वितीय स्कन्धके १ से ४ अध्याय. तृतीय स्कन्धके २२ से ३३ अध्याय .

गो.वा.श्रीरमानाथ शास्त्री(कांकरोली)

द्वितीय स्कन्धके ५ से १० अध्याय.

गो.वा.श्रीसबलकिशोर चतुर्वेदी (मथुरा)

दशमस्कन्धका तीसरा अध्याय.

इस अनुवादके संशोधन तथा सम्पादन कार्यमें पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला), गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी (श्रीनाथद्वारा) तथा गो.वा.श्रीरणछोड कलाधर भट्ट(मुम्बई) का भी योगदान रहा है. पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) तो ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर'' के संरक्षक भी हैं.

इस श्रीभागवत-सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादके पुनःप्रकाशनका एकमेव उद्देश्य यही है कि श्रीवल्लभवाङ्मय कभी भी किसी भी जिज्ञासुकेलिए अलभ्य न रहे. हमें विश्वास है कि इस पुनःप्रकाशनसे सुबोधिनीके अध्येताओंको अवश्य लाभ होगा.

अन्तमें सुबोधिनीके हिन्दी भाषानुवादके पूर्व प्रकाशक, अनुवादक, संशोधक, सम्पादक, द्रव्यसहायक आदि सभीके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा इस कार्यमें निःस्वार्थ भावसे सहयोग करनेवाले सभी वैष्णवोंका भी सादर स्मरण करते हैं.

सुबोधिनी स्वाध्याय मंडल

क्या आप पुष्टिमार्गी हैं?

एक बार श्रीवल्लभाचार्यके ये आदेश पढ़ें.

सोचें, क्या आप श्रीवल्लभके मार्ग पर चल रहे हैं?

परब्रह्म श्रीकृष्णको ही अपना आश्रय-रक्षक जानें. मन-वचन-कर्मसे अन्याश्रय कदापि न करें.

भगवानने पुष्टिजीवोंको अपनी स्वरूपसेवाकेलिये भूतल पर प्रकट किया है. कृष्णसेवा ही पुष्टिजीवका स्वधर्म है. अतः कृष्णसेवाको जो स्वधर्म समझता है वही पुष्टिजीव है और वही पुष्टमार्गमें प्रवेशके योग्य है.

भगवत् शास्त्रको अच्छी तरहसे समझकर, आत्मनिवेदित होकर अपने तन-धनसे अपने घरमें श्रीकृष्णकी सेवा करें.

घरमें बिराजते ठाकुरजीको ही अपना सर्वस्व समझें जो खास आप ही के उद्धारार्थ कृपा करके आपके घर पधारे हैं. उनको छोडकर अन्य ठाकुरजीके दर्शन-सेवा केलिये भटकना अपने सेव्यप्रभुका तिरस्कार है.

अपनी सभी वस्तु-व्यक्ति-व्यवहारका समर्पण अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें ही करें. वे ही उनके सच्चे स्वामी हैं.

अपने ठाकुरजीको सर्वस्व समर्पित करके उस समर्पित महाप्रसादसे ही खान-पान-दान आदि सभी लौकिक-शास्त्रीय कार्य करें. असमर्पित पदार्थके उपयोगका सर्वथा त्याग करें.

हवेली-मन्दिरोंमें भेंट-सामग्री देकर कराये जाते सेवा-मनोरथ पुष्टिसिद्धान्तके अनुसार सेवा-भक्ति है ही नहीं; वो न केवल सेवा-भक्तिके नामपर पाखंड है अपितु परम पवित्र भगवत्सेवाको धंधा बनानेवाले दुष्टोंको पोषित करना है.

भगवत्सेवा-मनोरथ-कीर्तनके निमित्त भेंट-सामग्री मांगना-स्वीकारना उनको व्यापार-धंधा बनाना है. ऐसा पाप करनेवालेका नर्कमें पात होता है.

अतः भगवत्सेवा–मनोरथ–कीर्तनके निमित्त किसीको कुछ भी न दें.

अनजानेमें भी यदि कोई अवैष्णव सेव्य ठाकुरजीका दर्शन कर लेता है तो हमारी एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. ऐसा हो जाने पर श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराकर शुद्ध करना चाहिये.

भगवत्सेवा अपने ही घरमें करें. सार्वजनिक हवेली–मन्दिरमें सेवा–मनोरथ करना पुष्टिसिद्धान्तके अत्यन्त विरुद्ध है.

दर्शनको कभी भक्ति न समझें. दर्शनका आग्रह उसीका रखें जो कृपा करके आपके घरमें आपकेलिये आपके माथेपर बिराज रहे हैं, जिनकी सेवा आप स्वयं कर रहे हैं.

मंदिर–हवेलियोंमें दिया जाता या वहांसे खरीदा जाता प्रसाद–पातल महापातकी देवद्रव्य होता है. ऐसा प्रसाद खानेवाला नर्कमें ही जाता है.

प्रसादका नहीं किन्तु घरके ठाकुरजीने जो अङ्गीकार किया है उस समर्पित महाप्रसादको लेनेका आग्रह रखें.

भगवत्सेवाकी ही तरह भागवतका पाठ भी स्वयं ही करें. भक्तिभावकी वृद्धिके अलावा दूसरे किसी भी हेतुसे भागवतका पाठ न करें.

प्राण निकल जायें तो भले ही निकल जायें परन्तु दक्षिणा लेकर भागवतकी कथा–कीर्तन कभी भी न करें.

दक्षिणा लेकर कथा–कीर्तन करनेवालोंके मुखसे कथा–कीर्तन सुनना गटरका पानी पीनेके समान हीन कृत्य है. व्यावसायिक कथावक्ताओंके संगको दुष्टसंग समझकर उनका त्याग करो.

।। अनुक्रमणिका ।।

अनुवादककी लेखिनीसे: भूमिका १

भागवतार्थ निबन्ध दशमस्कन्धान्तर्गत तामस फल प्रकरण (अ.२६-३२) ९

श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्र (तामस फल प्रकरणके नाम) १३

दशम स्कन्ध

(तामस साधन प्रकरण)

अध्याय २६/२९. रासलीलाका आरम्भ १

अध्याय २७/३०. श्रीकृष्णके विरहमें गोपियोंकी दशा ८९

अध्याय २८/३१. गोपिका गीत १३९

अध्याय २९/३२. भगवान्‌का प्रकट होकर गोपियोंको सान्त्वना देना १७८

अध्याय ३०/३३. महारास २१५

अध्याय ३१/३४. सुदर्शन सर्प और शङ्खचूडका उद्‌धार २६७

अध्याय ३२/३५. युगल गीत २९३

परिशिष्ट

तामसफलप्रकरणीय लीलाओंका औपनिषद सन्दर्भ:

ले.:पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी(किशनगढ-पार्ला) ३३३

अनुवादक
गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु, जोधपुर

श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुरके मन्त्री तथा श्रीसुबोधिनी टीकाके अनुवादक प.भ.पं. श्रीफतहचन्दजी वासु(पुष्करणा) शास्त्री, विद्याभूषण आप मूल निवासी हैदराबाद(सिन्ध)के थे. आपका ब्रह्मसम्बन्ध पू.पा. नित्यलीलास्थ गो.श्रीअनिरुलालजी महाराज, नाडियादवालों द्वारा हुआ था. आप उच्च विचार-भावनाओंसे ओतप्रोत थे. रहते, परन्तु, साधारण पोशाकमें थे, इसके कारण कोई जान नहीं सकता था कि आप श्रीमहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके परम कृपापात्र एवं पुष्टिमार्गके एक श्रेष्ठ विद्वान् हैं. अभिमानने तो आपका स्पर्श ही नहीं किया था. देश-विभाजनके समय निज स्थानका परित्याग कर आप जोधपुरमें आ बसे थे. जोधपुरमें एक पाठशालामें आप प्राध्यापक पद पर नियुक्त किए गए. तत्पश्चात् सन् १९६१में अवकाश प्राप्त कर मुझ(नन्ददास-रामचन्द्र)से मिले और कहने लगे कि श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्यचरणकी मैने दीक्षा प्राप्त की है. इसलिए मेरे ऊपर आपश्रीका ऋण है. परन्तु अभी तक मैं स्वमार्गकी कुछ भी सेवा नही कर सका हूं, अतः कोई साहित्यिक सेवा हो तो मैं करना चाहता हूं. इस तरह श्रीमहाप्रभुजीकी कृपासे इस संस्थाका कार्य प्रारम्भ हुआ और आपने अनुवादका कार्य लगनके साथ किया. दशम स्कन्धके ७२ अध्याय, एकादश स्कन्धके ४ अध्याय, तृतीय स्कन्धके २४ अध्याय का तथा भागवतार्थ प्रकरणके दशम स्कन्धका अनुवाद आपने किया. शिक्षापत्रका अनुवाद इन्दौरमें खड़ी बोलीमें

किया है तथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धके शास्त्रार्थ प्रकरणकी 'मनोरमा' टीका भी लिखी है. सिन्धी भाषामें श्रीमदल्लभाचार्यचरणका जीवनचरित्र आपने लिखा तथा कतिपय ग्रन्थोंकी स्वतन्त्र रचना भी की है, जिनका मुद्रण भी हुआ है.

दिसम्बर मासके अन्तिम सप्ताहमें ८५ वर्षकी वयमें आपने नश्वर देहका त्याग कर गोलोक गमन किया. श्रीव्रजेशनन्दन आपको निजसेवामें रखें.

नन्ददास (रामचन्द्र), जोधपुर.

अनुवादककी लेखिनीसे

भूमिका

गो.वा.भगवदीय श्रीफतहचन्दजी वासु (जोधपुर)

श्रीमद्भागवतको वेद व्यासजीने वेदरूप कल्पवृक्षका जो फल कहा है, उसका आशय है, कि यह भागवत् भगवद्रूप है, जगतमें ज्ञानी अथवा भक्त जिस आनन्दमय फलकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं वह आनन्दमय फल, श्रीमद्भागवतमें ही छिपा हुआ है, उस श्रीमद्भागवतके श्रवण तथा सेवन एवं पठनसे उस फलकी वैसे ही प्राप्ति होती है जैसे प्राकट्यके समय भगवान् श्रीकृष्णसे होती थी.

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके प्रकरण विभागके अनुसार, प्रथम जन्म प्रकरण ४अध्यायोंका है. दूसरा तामस प्रकरण २८अध्यायोंका है; जिसमें चार अवान्तर प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल प्रकरण हैं, जिनमेंसे जन्म, प्रमाण, प्रमेय और साधन प्रकरणोंकी सूक्ष्म भूमिका उन-उन प्रकरणोंमें दी हुई है, अब यहां फल प्रकरणकी भूमिका संक्षेपमें दी जाती है

श्रुतियोंको तथा ऋषियोंको दिए हुए वरदानको पूर्ण करनेकेलिए एवं भूमि, माता तथा अन्य भक्तोंके दुःखोंको मिटानेकेलिए ब्रह्मा शंकरादि देवोंकी प्रार्थनाको फलीभूत करनेकेलिए आप(श्रीकृष्ण) व्रजमें विविध लीला करणार्थ दो स्वरूपोंसे (एक केवल रस स्वरूप धर्म स्वरूपसे एवं दूसरा धर्म विशिष्ट धर्मी स्वरूपसे) प्रकट हुए है, मथुरामें प्रकट स्वरूप तथा गोकुलमें माया सहित (वासुदेव व्यूहमें स्थित होकर) गुप्तरूपसे प्रकट स्वरूप, दोनों मूलरूप एक ही हैं, उनमें किसी प्रकार भेद नहीं है, केवल लीला करनेकेलिए एक स्थान पर शुद्ध, केवल रसस्वरूपसे और दूसरे स्थान पर व्यूह विशिष्ठ चतुर्भुज स्वरूपसे, प्रकट रीतिसे प्रकटे हुए हैं.

सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा भगवानने प्रकट होकर, क्रमशः अपनी लीलाएं प्रारम्भ की. भगवानने प्रथम वह कार्य प्रारम्भ किया, जिसकेलिए, आपका मुख्य प्राकट्य था, अनन्तर अन्य लीलाएं की हैं, आपके प्राकट्यका मूलकारण श्रुतियोंको एवं ऋषियोंको दिए हुए वरदानोंकी पूर्ति करना था और नन्द यशोदाजीको वात्सल्यरस पान कराना था, अतः आपने प्रथम उन भक्तोंको

रसपानके योग्य बनानेकेलिए उसी प्रकारकी लीलाओंका करना प्रारम्भ किया.

प्रथम प्रमाण द्वारा भक्तोंकी आधिभौतिक अविद्या नाश करनेकेलिए अविद्यारूप पूतनाको मारा और अपने माहात्म्यको प्रकट करनेकेलिए तथा लोभ, मोह आदि दोषोंको मिटानेकेलिए शकटभंजन आदि लीलाएं की हैं जिससे व्रजवासियोंकी आधिभौतिक अविद्या मिटी और व्रजवासियोंका भगवानमें स्नेहात्मक निरोध सिद्ध हुआ.

प्रमाणके पश्चात् द्वितीय अवान्तर प्रमेय प्रकरणमें, की हुई स्वरूप सौन्दर्य, कालीयदमन, प्रलम्बवध आदि लीलाओं द्वारा भगवानने प्रमेयबलसे व्रजवासियोंका आसक्तिरूप मध्यम निरोध सिद्ध किया है.

इसी प्रकार तृतीय अवान्तर साधन प्रकरणमें की हुई लीलाओंसे उनकेकिए हुए कुमारिका व्रत आदि कार्योंको सफल बनाकर ब्रह्मानन्द प्राप्ति कराके उनको भजनानन्दके योग्य बनाया अतः इन लीलाओं तथा साधनोंसे एवं प्रभुकृपासे व्रजवासियोंका व्यसन* पर्यन्त निरोध सिद्ध हुआ.

(*आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि ''यदास्यात् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि'' जब जीवका कृष्णमें व्यसन हो जाता है तब वह कृष्णके सिवाय अन्य पदार्थ भूल जाता है अतः कृतार्थ होता है.)

इस साधन प्रकरणके पश्चात् फल प्रकरण है जिसमें व्रजभक्तोंके अधिकारानुसार, भगवानने फलदान किया है वह फलदान, भगवानने रूप और नाम द्वारा दो प्रकारसे किया है, रूप द्वारा पांच प्रकारसे किया है जिसका वर्णन पांच अध्यायोंमें है और नाम द्वारा, दो प्रकारसे किया है, जिसका वर्णन दो अध्यायोंमें इसलिए हुआ है कि नाम(शब्द) प्रवृत्ति तथा निवृत्ति भेदसे दो प्रकारका है.

इस फल प्रकरणकी लीलाका वर्णन भी उस प्रकार ७अध्यायोंमें हुआ है जैसे पूर्वोक्त तीन प्रकरणोंमें हुआ है, कारणकि पुष्टि(प्रेम)मार्गमें क्रम नहीं रह सकता है, अतः यहां मध्यमें ही भोग द्वारा सुख विशेषके दानकी लीला हुई है.

भगवानने पांच अध्यायोंमें पांचरूपों(आत्मा, मन, इन्द्रिय, प्राण और शरीर इन पांचोको रूप माना गया है)से लीलाकर अपना रसात्मक स्वरूप

गोपीजनोंमें स्थापित किया, इस प्रकार गोपीजन फलात्मक रस स्वरूप अपनेमें प्रतिष्ठित होनेसे, उद्धवजीको कहती है कि ''ऊधो तुम भये भोरे, पाती ले के आए दोरे, योग कहां राखे यहां तो रोम-रोम श्याम है''.

गोकुलमें प्रभु जिस स्वरूपसे प्रकटे हैं वह स्वरूप निःसाधन फलात्मा है, जैसे कहा गया है कि 'निःसाधन फलात्मायं प्रादुर्भूतोऽस्ति गोकुले' अतः निःसाधन फलात्मा होनेके कारण, अपने भक्तोंको प्रथम सर्वात्मभावका दान स्वयं करते हैं, तदनन्तर उनको अपने रसरूपका दान करनेकेलिए स्वयं ही इच्छा प्रकट करते हैं तथा प्रयत्नकर, रमणका उपाय भी सिद्धकर देते हैं.

इस प्रकारकी कृपासे, जीवका अन्तःकरण जब तक भगवानमें निरहंकार हो दीनभावसे शरणापन्न रहता हैं, तब तक वह भक्त भगवानसे रमणका आनन्द प्राप्त करता रहता है, ज्योंही अहंकार हुआ दैन्य गया और शरण भावना लुप्त हुई, त्योंही वह रमणका आनन्द गुमा देता है.

गोपीजनोंको भी भगवानने अपने अनुग्रहसे, सर्व प्रकार उस रमण आनन्दके योग्य बनाकर आनन्दका दान किया, किन्तु उस रमणानन्दसे, गोपीजनोंको यह अभिमान हुआ कि हमारे समान कोई भाग्यशाली नहीं है. कारणकि, जो भगवान् ब्रह्मादि देवोंके वशमें नहीं, वह हमारे वशमें है. इस प्रकार अहंकार उत्पन्न होते ही, अहंकारके अरि मुरारि, वहां ही आगोचर हो गए. आपके अदृश्य होते ही, गोपियां बेभान हो गईं और प्रभुको वन-वनमें ढूंढने लगी, लता-पता आदिसे प्रभुका पता पूछने लगीं, कहींसे भी परमात्माकी सुध न मिली, अन्तमें, जिस गोपींको भगवान् ले गए थे, उसको भी विरहावस्थामें व्याकुल देखकर वे समझ गईं कि यह सब, गर्व करनेका फल है, यों भान होने पर भी हरिके गुण गाती हुई प्रार्थना करने लगी, किन्तु तब भी देखा तो भगवान् प्रकट नहीं हुए अतः विशेष विरह असह्य होनेसे, उच्च स्वरसे रुदन करती हुई विलाप करने लगीं, इस प्रकार रोदन और विलाप से अन्तःस्थित अहंकार नष्ट हुआ और उनमें पूर्ण दीनता* उदय हुई, तब दीन दयालु उन पर प्रसन्न होकर प्रकट हो गए, जिससे विरह आदि नष्ट हो गई, फिर पूर्ण रमणका लाभ प्राप्त करने लगी.

(*भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषण साधनम्, सन्तुष्टः सर्वदुःखानि नाशयत्येव सर्वतः)

यह रमण वह है, जिसकेलिए श्रुति कहती है, कि ''सोश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चिता'' इस प्रकारके अलौकिक रमणको 'रास' कहते हैं, कारणकि यह रमण 'रसो वै सः' जो भगवान् हैं उस भगवद्रूपसे होता है, जिसमे सब कुछ, रसमय है, अतः (रास) शब्दका अर्थ हैं 'रससमूहो रासः' जिस लीलामें सर्व प्रकारसे विशुद्ध रस, आनन्द ही आनन्दकी प्रतिक्षण अभिवृद्धि होती रहे, वह 'रास' है. रसात्मा भगवानके साथ श्रुतिरूपा गोपियों तथा ऋषिरूपा गोपियोंका अलौकिक शरीरोंसे जो रमण हुआ, उसको 'रास' कहते हैं, यह 'रास' मोक्षके गणित आनन्दसे विशेष अगणित आनन्द देनेके कारण महाफल है, अतः श्रीशुकदेवजी इसके श्रवणका फल कहते हुए आज्ञा करते हैं, कि इसके श्रवणसे कामरूप रोगका नाश होता है, जिससे सुज्ञ सज्जन समझ सकते हैं, कि जिसके श्रवणसे कामरोगका नाश होता है वह स्वयं कामलीला कैसे होगी? अर्थात् रासको कामलीला समझना भागवतसे अनभिज्ञता है.

रासलीलाको शास्त्र तथा ज्ञानी भक्त परमोत्तम फल कहते हैं, पाठकगण उनको निम्न दिए हुए वादसे पूर्णरीतिसे समझ जाएंगे कि वह 'कामलीला' नहीं है प्रत्युत 'कामनाशक लीला' है तथा अक्षुण्य आनन्द देनेसे सर्वोत्तम महाफल रूप है.

१.इस लीलाके करनेवाले पात्र निष्काम एवं अलौकिक हैं, भगवान्केलिए तो शास्त्र तथा जनता मानती है कि वह अकाम है, तथा श्रुतियां एवं ऋषि भी निष्काम होनेसे केवल प्रभुरसके पिपासु हैं, वे श्रुतिरूप-ऋषिरूप गोपियां कहती है कि हे प्रभो! हम सर्व विषयोंका त्यागकर निष्काम होनेसे ही योगी तथा ज्ञानीजनोंको दुर्लभ, आपके चरणारविन्दको पा सकी हैं. उसका त्याग हम किसी प्रकार भी नहीं कर सकती हैं, पति पुत्र आदि दुःखदाता हैं उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है. इस प्रकारकी गोपियां विषयी थीं, यों समझना केवल भ्रम हैं.

२.गोपीजनने अपने पूर्व(श्रुति स्वरूप) जन्ममें तपस्याकर भगवानसे यह वर प्राप्त किया था कि जिस आपके अगम्य स्वरूपका नेति-नेतिसे वर्णनकर हम अन्तमें यहां पहुंची, कि आप केवल 'रस'रूप 'आनन्द'रूप हैं अतः हे प्रभो! उस रस तथा आनन्दका अनुभव आपकी कृपा बिना प्राप्त नहीं हो सकता है इसलिए

ऐसी कृपा करो, जिससे हम आपके रसरूपका आनन्द प्राप्तकर उसे अपने अन्तःकरणमें स्थापितकर सकें. श्रुतियोंकी इस प्रार्थनाको स्वीकारकर, उनको वरदान दिया कि, सारस्वत कल्पमें आप व्रजमें गोपीरूपसे अवतीर्ण होंगी और मैं कृष्ण स्वरूपसे प्रकट होऊंगा तब आपका यह मनोरथ पूर्ण होगा.

इसी प्रकार, तपस्यासे शुद्धान्तःकरणवाले ऋषियोंने श्रीरामचन्द्रजीके रस स्वरूपका सौन्दर्य देख उस रसकी प्राप्तिकेलिए, श्रीरामचन्द्रजीको प्रार्थना की थी उस प्रार्थनाको अंगीकारकर ऋषियोंको वरदान दिया, कि अब मेरा यह मर्यादा अवतार है जब मैं रस स्वरूपसे, श्रीकृष्ण स्वरूप प्रकट होऊंगा तब आपका मनोरथ पूर्ण होगा. इस प्रकारके वरोंके अनुसार ही भगवानको व्रजमें उस रस स्वरूपसे प्रकट होना पड़ा था, और उस रस स्वरूपसे ही रस प्रकट करनेकी शास्त्रोक्त रीतिसे सर्व अलौकिक सामग्री प्रकटकर 'रस रूप महाफल'का दान गोपीजनोंको दिया है, अतः इस लीलामें काम गन्ध मात्र भी नहीं है.

३. रासलीलाको कामलीला समजनेका भ्रम उन मनुष्योंको उत्पन्न हुआ है जिनको 'काम' और 'रस' स्वरूपके भेदका ज्ञान नहीं है, आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि,

''क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते।
तासां कामस्य सम्पूर्त्तिर्निष्कामेनेति आस्तथा।।''

इस रमणलीलामें वे सर्व क्रियाएं है जो रसशास्त्रमें रसको प्रकट करनेकेलिए नृत्य, बन्ध आदि की जाती हैं, किन्तु उन क्रियाओंके होते हुए भी इसमें काम (लौकिक-व्यभिचार) नहीं है, यदि वह होता तो संसार(पुत्र आदि) उत्पन्न होता वह नहीं हुआ है अतः गोपीजनोंके काम* (विशुद्ध रस स्वरूपके रसपान करनेकी इच्छा) की पूर्ति अकामात्मा प्रभुने अपने स्वरूपात्मक रस दान देकर की है.

(*किसी भक्त कविने कहा है कि ''प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यागमन प्रथं'' गोपियोंका 'प्रेम' ही लोकमें 'काम' नामसे प्रसिद्ध हुआ है.)

'काम' उस इच्छाको कहते हैं, जिससे लौकिक विषयभोगकी लालसा मनमें उत्पन्न होती है, मनुष्य भोग करनेसे वह इच्छा पूर्ण हो जाती है, न केवल इतना ही, किन्तु विषयभोगसे मनुष्य ऊब भी जाता है कारणकि, विषयानन्द

क्षणिक सुखदायी है और अन्तमें उससे दुःखकी प्राप्ति होती है, तथा इस भोगसे जीव जन्म-मृत्युके चक्करमें फंसा ही रहता है, किन्तु 'रस' कामसे सर्वथा विपरीत है. एक तो उससे संसार उत्पन्न नहीं होता है, दूसरा वह आनन्द अक्षर है और क्षण-क्षण में नवीन होनेसे ऊब जानेकी घटना कभी नहीं घटती है प्रत्युत प्रतिक्षण उसके पान करनेकी उत्सुकता बढ़ती ही रहती है, कारणकि उस अनन्त-अगाध रसका भण्डार जो श्रीकृष्ण है, जिसके रसभोग (प्राप्त) करनेकी इच्छा(कामना) ही श्रुतिरूपा एवं ऋषिरूपा गोपियोंका 'काम' है अतः उसको लौकिक 'काम' विषयभोग समझना भ्रम मात्र है.

४. उपरोक्त गोपियां निष्काम थी अतः वे किसी भी लौकिक पुरुषसे प्रेम करना नहीं चाहती थी, किन्तु अकाम निरीह प्रेमरूप हरिसे प्रेमकर उस प्रेमके रसका पान करना चाहती थी, वह सच्चा पुरुषरूप भगवान् श्रीकृष्ण ही है, वैसा उनको पूर्ण ज्ञान था, अतः उन्होंने श्रीकृष्णको कहा है कि

''न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनान्तरात्मदृक्''

आप यशोदाजीके लौकिकवत् केवल पुत्र नहीं हो किन्तु समस्त देहधारियोंके अन्तःकरणके दृष्टा हो. इस प्रकार उन गोपियोंने श्रीकृष्णको रसरूप परब्रह्म परमात्मा समझकर उनसे प्रेम किया था, वैसी विशुद्ध प्रेमी भक्तोंको ही अपने प्रेम रस स्वरूपका पात्र समझ अपना प्रेम रस स्वरूप उनमें लीला द्वारा स्थापित किया जिससे वे रससागरमें मग्न हो कृतार्थ हो गई. उपरोक्त गोपियोंके अतिरिक्त जो गोपस्त्रियां जिनका भगवानमें वह विशुद्ध भाव नहीं था, किन्तु उपपत्ति (जार)भाव था, वे उस रसकी अधिकारिणी नहीं थीं किन्तु लौकिकसे विरक्त भगवानमें रत थीं, जिससे पति आदिकोंके रोकने पर उनको भगवानका जो विरह हुआ, उस विरहाग्निसे उनके शेष पापकर्म भस्म हो गए और भगवानके स्वरूपके आश्लेषके आनन्दसे पुण्यफल भोग लेनेसे, उनकी गुणमय देह भस्म हो गई, जिससे उनको अधिकारानुसार भगवत्सायुज्यरूप मुक्ति मिली, भजनानन्दका अनन्त आनन्द नहीं मिला. इससे भी यह सिद्ध होता है कि, 'रासलीला' कामलीला नहीं है बल्कि मोक्षसे भी उत्तम अनन्त आनन्दमय फल है, जिसकी इच्छा योगी, ज्ञानी आदि भी करते हैं.

५. रासलीलाका स्वरूप समजाते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि

'रासो नाम रसेन पूर्णः पदार्थो अन्य सम्बन्धरहितः' अन्य(लौकिक-वैदिक) पदार्थ(फल)का सम्बन्ध जिसमें नहीं हो वैसे रससे पूर्ण पदार्थ(फल)को 'रास' कहा जाता है, उसको विशेष स्पष्ट समझाते हुए आज्ञा करते हैं कि ''प्रिया बहुस्त्री कर्तृको नृत्य विशेषो भवति'' बहुत प्रियाएं(स्त्री) जिसमें नृत्य करती है उसको 'रास' कहते हैं, वह नृत्य क्रीड़ारूप रास, रात्रिमें जब चन्द्रमा पूर्ण उदय होकर रहता है तब होता है, जिसका भावार्थ है, कि उस समय जैसे लौकिक-वैदिक समस्त कार्य त्याग किए जाते हैं वैसे भक्त जब अपने सर्व कर्मत्याग भगवदर्थ ही व्यसनवाले बन जाते हैं तब वैसे व्यसनी भक्तोंको अपने स्वरूपका रसदान करते हैं. गोपियां वैसी सर्व कर्मादिका त्यागवाली व्यसनारूढ निरुद्ध दशावाली भक्ति थीं अतः उनको भगवानने अपने रस स्वरूपका पान कराया था, इस लीलामें इससे भी विशेष रहस्य तो यह है कि भगवानने अपने रस पात्र गोपियोंमें अपना रस स्थापनकर, स्वयं भी उस रसका पान किया है वैसी अनुपम अलौकिक विशुद्ध रसमय लीलाको काम समझनेवाले वे ही हो सकते हैं जो बुद्धि शत्रू और भ्रमित हैं.

६. इस रासलीलाके पात्र गोपियां कामविष्ट तो नहीं थी किन्तु भगवद्रसाविष्ट भक्त शिरोभूषण थी अतः उद्धवजी जैसे परमज्ञानीने उनके चरणरजकी सदैव प्राप्तिकेलिए व्रजमें लता-गुल्म होनेकी इच्छा प्रकट की है और यदि यह कामलीला होती तो परम वैरागी लौकिक स्त्री-पुरुष भेद शून्य, ज्ञानी श्रेष्ठ शुकदेवजी, संसार त्यागी मोक्षेच्छु परीक्षितको कभी भी यह लीला नहीं सुनाते तथा उसके सुननेका फल कामनाश होकर मोक्ष तथा भगवदानन्द प्राप्ति कभी नहीं कहते, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण इस लीला सुननेसे परीक्षित मुक्त हुए हैं तथा जिन्होंने भी श्रवण किया है वे भी मुक्त हो गए हैं.

७. उपनिषद् आदि शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि यह भगवदंश जीव चिद्रूप है. अविद्या द्वारा देहादि अध्यास तथा स्वरूप विस्मृतिके कारण, आनन्दसे रहित हो गया है. वह आनन्द, जीवको तब प्राप्त होता है, जब आनन्द स्वरूप रसात्मा भगवानसे सम्बन्ध प्राप्त करता है. वह भगवत्कृपासे ही हो सकता है, अन्यथा नहीं, वे जब कृपा करते हैं तब जीव कृतार्थ होता है इसलिए कहा है कि ''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'' यह परमात्मा जिस जीवको अपनाता है, वह जीव ही भगवानको पा सकता है. 'एष ह्येवानन्दयति' यह परमात्मा ही जीवको आनन्दी

बनाता है, ''रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'' यह जीव रस स्वरूपको प्राप्तकर ही आनन्दवाला होता है इत्यादि वेद वचनोंसे सिद्ध है, कि रसात्मा परमात्माकी प्राप्तिसे ही जीव चिद्रूपसे चिदानन्द बनता है. इस लीलाको सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे यही फल निकलता है, कि भगवानने कृपाकर व्रजभक्तोंका वरण किया है, जिससे उनकी सर्व प्रकारकी अविद्याको अपने प्रमाण, प्रमेय आदि बलसे नष्टकर उनका अपनेमें पूर्ण निरोध सिद्धकर उनको योग पात्र बनाके अन्तमें अपने रस स्वरूपका दान उनको किया है, यही 'रासलीला'का तात्पर्य व भाव है.

इस संक्षिप्त भूमिकासे इस लीलाका विवेचन यहां किया गया है विशेष रूपमें तो सुबोधिनीजीको पढ़कर रस पानकर सकते हैं.

भहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित तत्वार्थदीपनिबन्धका

।। भागवतार्थ प्रकरण ।।

दशम स्कन्ध तामस फल प्रकरण

(अध्याय २६/२९ से ३२/३५)

साधन उप प्रकरणमें कहे हुए पांच साधन करनेसे भगवान् श्रीकृष्णमें आसक्ति अधिक बढ़ती है जिसके फलरूप छः गुणवाले पूर्ण भगवानकी प्राप्ति होती है, इससे यह फल अवान्तर प्रकरण कहलाता है.

अतः परं सप्तभिर्वै फलं कृष्णो निरूप्यते ।।
षड्गुणैः सहितः पूर्वमैश्वर्यं त्रिविधं मतम् ।।९५।।

यहांसे अब सात अध्यायोंमें छः गुणोंके साथ फलरूप श्रीकृष्णका निरूपण है. आरम्भमें अर्थात् पहले अध्यायमें उनके ऐश्वर्य गुणका वर्णन है जो तीन प्रकारका माना गया है ।।९५।।

'ध्वनिनाहूय'वाक्येन प्रेषयत्येष निश्चितम् ।।
फले वाक्यं न कर्तव्यं दोषश्चेद्वारयिष्यति ।।९६।।
इति तासामगमनं गर्वेऽन्तर्भाव ईर्यते ।।

भगवान् ध्वनि अर्थात् वेणुनादके द्वारा (व्रज भक्तोंको बनमें) बुलाकर, कथनसे वापिस लौट जानेको कहते हैं (परन्तु) यह निश्चित है (कि) फल प्राप्तिमें आज्ञा माननेकी (आवश्यकता) नहीं है. (क्योंकि आज्ञा उल्लंघनसे यदि) दोष होगा तो भगवान् उसे दूर कर देंगे. इस विचारसे वे नहीं गई बादमें भगवानके प्रति उनके आन्तरिक भाव होनेसे उनको गर्व (सौभाग्य मद)का होना कहा गया है ।।९६।।

अयमेव हरेर्मार्गः सर्वोत्कृष्टो हि बुध्यताम् ।।९७।।
सम्बन्धमात्रे सञ्जाते बहिर्वान्तरथापि वा ।।
कायेन मनसा वापि वचसा वापि सर्वथा ।।९८।।
रमयत्येव हि निजान् सर्वथा नैव मुञ्चति ।।

हरिका सबसे उत्तम मार्ग यही समझो कि उनके आन्तरकि (हृदयसे) अथवा बाह्य (बाहिरसे) सम्बन्ध होने मात्रमें ही वे (भगवान्) शरीर, मन अथवा

वाणीसे अपने भक्तोंको पूर्णतया रमण कराते हैं और (उन भक्तोंका) कभी भी त्याग नहीं करते हैं ।।९८।।

अन्तर्धानकथा प्रोक्ता वाक्यं चाऽपि निरूपितम् ।।९९।।
अध्यायद्वितयेनैव सकृद्भोगं निवारयन् ।।
आविर्भावं करोत्येष तथा वाक्यानि तुष्टये ।।१००।।

इस प्रकार २७वें तथा २८वें (इन) दो अध्यायोंमें भगवान् अंतरधान हुए उसकी कथा कही हुई है और फिर गोपियोंके वाक्य (वार्तालाप) भी बताये गये हैं. एक बार भोग (रमण) करके फिर (उसमें प्रतिबन्ध डालकर) प्रकट होते हैं और गोपियोंको संतोष देनेके लिये (२९वें अध्यायमें) वाक्य कहते हैं अर्थात् वचन द्वारा समझाते हैं ।।१००।।

रतते च रमातोऽपि विशेषेण रतिप्रदः ।।
परोक्षोऽपि रतिं चक्रे तेन वीर्यमुदीरितम् ।।१०१।।

और गोपियोंको लक्ष्मीसे भी अधिक रति देनेवाले भगवान् उनके साथ रमण करते हैं, भगवानने अदृश्य रहते हुए गोपियोंमें रति करके विप्रयोग रसका दान दिया जिससे वह 'वीर्य' (गुण) कहा गया है ।।१०१।।

यशस्तु वचनैः स्पष्टं श्रीश्चाविर्भावतः स्फुटा ।।
चतुष्टयं निरूप्याऽग्रे धर्मी कृष्णो निरूपितः ।।१०२।।

'यश' तो गोपीगीतके वचनोंसे (२८वें अध्यायमें) है ही और भगवान् प्रकट हुए जिससे 'श्री' गुण (२९वें अध्यायमें) स्पष्ट मालूम होता है. चार गुण (ऐश्वर्य, वीर्य, यश और श्री) पहले दिखाकर पीछे 'धर्मी' श्रीकृष्णका वर्णन (३०वें अध्यायमें) किया गया है ।।१०२।।

भोगे मध्ये महत्सौख्यं तस्मादेवं निरूपितम् ।।
स्वरूपेण रतिः प्रोक्ता न धर्मैं रसरूपतः ।।१०३।।

बीचमें रमण करनेसे बहुत सुख होता है, जिससे इस प्रकारका वर्णन किया गया है. भगवान् स्वयंके रस रूप होनेसे स्वरूपसे उनको आनन्द प्राप्त करानेका कहा गया है, गुणोंसे प्राप्त कराना नहीं कहा गया है ।।१०३।।

ततो वैराग्यभावेन फलदाता निरूप्यते ।।
कौतुकेनाऽपि पूर्वेषां करणं न सुखाय हि ।।१०४।।

पीछे 'वैराग्य' गुणसे फल देनेवाले भगवानका निरूपण (दैवगति आदि) किया हुआ है, कारण कि धर्म बुद्धिसे किये हुए इन्द्रयाग आदि पहलेके अवैष्णव कर्मोसे सुख नहीं हुआ था ।।१०४।।

अतः कौतुकरीत्याऽपि गताः सर्वे हरान्तिके ।।
कालेनाऽऽग्रस्तमूर्धानः कृष्णेनैव विमोचिताः ।।१०५।।

जिससे फिर धर्म बुद्धि (दैवगति आदि)के प्रकारसे सब महादेवके पास गये. उनमेंसे काल ग्रस्त मुख्योंको श्रीकृष्णने ही छुड़ाए ।।१०५।।

अतस्तत्कर्म हरिसात्कृत्वा व्रजमुपाययुः ।।
तमसि त्रितयं प्रोक्तं हरिस्तत्राधिदैविकः ।।१०६।।
स तु तूष्णीं भवत्यत्र कालस्त्वाध्यात्मिको मतः ।।
हरभूत्यास्तु भूतानि स्त्रीणां हर्त्ता ततो निशि ।।१०७।।
शंखचूड इति प्रोक्तस्तं च हत्वा विमोचिताः ।।

जिससे वे उस कर्मको हरिके अर्पण करके पीछे व्रजमें आए. अज्ञान रूपी अंधकारमें तीन (रातें) कही हुई हैं वे इस प्रकार है (१) हरि आधिदैविक है, वे तो शांत रहनेवाले हैं, (२) काल तो आध्यात्मिक माना गया है. (३) शंकरके सेवक तो आधिभौतिक हैं, जिससे शंखचूड नामका शंकरका सेवक मध्य रातमें स्त्रियोंको हरनेवाला कहा गया है, और उसको मारकर भगवानने स्त्रियोंको छुड़ाई ।।१०६-१०७।।

सुदर्शनो यथा जीवस्तथा सत्त्ववरो मणिः ।।१०८।।
कर्म स्वस्मिन् प्रतिष्ठाप्य रामे रत्नं न्यरूपयत् ।।
एवं कालादिसम्बन्धात्तामसान् स्वान् न्यवारयत् ।।१०९।।

जैसे सुदर्शन जीव था, (चरणसे स्पर्श कर उसका उद्धार किया) वैसे मणि सत्व वृत्तिवालोंमें उत्तम थी, जिससे भगवानने कर्म अपनेमें रखकर रत्न बलभद्र (प्रमाणके अधिष्ठाता)को दिया. इस प्रमाणसे अपने तामस सेवकोंको काल आदि सम्बन्धसे दूर रखे ।।१०८-१०९।।

पूर्वसिद्धपरित्यागो वैराग्यं कालदोषतः ।।
ज्ञानं तु गुणगानं हि परोक्षे तत्प्रतिष्ठितम् ।।११०।।
प्रत्यक्षे भजनं श्रेष्ठम् .....।।

कालके दोष (पशुपतिके पूजन आदि)से पहले जो प्राप्त हुआ हो उसका त्याग करे वह वैराग्य (है) ज्ञान तो भगवानके गुणोंका गान है, भगवान् अदृश्य होवे तब वह होता है. भगवान् प्रत्यक्ष हो तब भजन (सेवा) श्रेष्ठ है ।।११०।।

..... एवं चेद्रोधनं स्थिरम् ।।
पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा ।।१११।।
ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत्परिवर्त्तते ।।

जो इस प्रमाणसे निरोध स्थिर हुआ हो, तो पुरुषोंमें तथा स्त्रियोंमें ज्ञान और भक्ति रातमें तथा दिनमें सदा चक्रकी तरह, फिर फिर कर आते हैं अर्थात् स्त्रियोंको दिनमें ज्ञान और रात्रिमें भक्ति तथा पुरुषोंमें दिनमें भक्ति और रात्रिमें ज्ञान होता है ।।१११।।

(प्रकरण समाप्त)

।। श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रं स्तोत्रम् ।।

दशमस्कन्धके तामस फल प्रकरणके नाम

वेणुवादस्मरक्षोभमत्तगोपीविमुक्तिदः ।।१८१।।

(८५१) वेणुवादस्मरक्षोभमत्तगोपीविमुक्तिदः

वेणुनाद अर्थात् मनोहर मुरलीनाद श्रवण करते ही काम विकारको प्राप्त हुई मदोन्मत्त बनी हुई भगवान्के समीप जानेको तत्पर उन्हें घरमें बन्द कर दिया इस अवस्थामें गोपीजनोंने प्राण परित्याग किया. इन गोपीजनोंको विशेषरूपसे मुक्ति देनेवाले श्रीमुकुन्द भगवान्.

सर्वभावप्राप्तगोपीसुखसंवर्धनक्षमः ।
गोपीगर्वप्रणाशार्थतिरोधानसुखप्रदः ।।१८२।।

(८५२) सर्वभावप्राप्तगोपीसुखसंवर्धनक्षमः

सर्वभाव अर्थात् सर्वत्र भगवान् हैं ऐसा विचारकर सांसारिक विविध भावनाओंको त्यागकर भगवान् श्रीकृष्णके शरणमें आये हुये गोपीजनोंके सुखको रासलीलासे उत्पन्न आनन्दकी भलीभांति वृद्धि करनेमें समर्थ भगवान् श्रीकृष्ण.

(८५३) गोपीगर्वप्रणाशार्थतिरोधानसुखप्रदः

रासलीलाके महान् आनन्दसे गोपीजनोंमें उत्पन्न अभिमानको भलीभांति विनाश करनेके लिये तिरोधान अर्थात् गोपीजनोंके मण्डलमेंसे अदृश्य होकर उनके अन्त:करणमें पधारकर समस्त गोपीजनोंको विरहानुभवपूर्वक आसक्तिका उत्तम प्रकारसे सुख देनेवाले रासेश्वर प्रभु.

कृष्णभावव्याप्तविश्वगोपीभावितवेषधृक् ।
राधाविशेषसंभोगप्राप्तदोषनिवारकः ।।१८३।।

(८५४) कृष्णभावव्याप्तविश्वगोपीभावितवेषधृक्

श्रीकृष्णमय सर्व भावनाओंसे सम्पूर्ण विश्व जिनको व्याप्त है ऐसे बोधयुक्त गोपीजनों द्वारा अपने हृदयमें जिस जिस प्रकारकी लीला सम्बन्धी वेषकी भावनाओंका स्मरण किया उसी उसी प्रकारके स्वरूपोंको धारण करनेवाले विविध रूपधारी पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण.

(८५५) राधाविशेषसंभोगप्राप्तदोषनिवारकः

राधाजीके साथ अन्यसे अधिक प्राप्त संयोग द्वारा उनमें उत्पन्न दोष

अभिमानको प्रथमके समान अन्तर्ध्यान होकर उसको दूर करनेवाले श्रीहरि.

परमप्रीतिसंगीतसर्वाद्भुतमहागुणः।
मानापनोदनाक्रंदगोपीदृष्टिमहोत्सवः ।।१८४।।

(८५६) परमप्रीतिसंगीतसर्वाद्भुतमहागुणः

अत्यन्त प्रेममयी भावनाओंसे जिनका गायन किया है ऐसे सब गोपीजनोंको महान् आश्चर्यकारक एवं अन्यत्र न प्रकट हो सके ऐसे सर्वोत्तम गुणोंको धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण. इस स्कन्धकी रासपंचाध्यायीमें गोपीजनोंने भगवान्के विप्रयोगमें पीड़ित 'गोपीगीत' स्तोत्रमें 'जयति तेऽधिकम्' इत्यादि श्लोकोंसे भगवान्के गुणोंका गान किया है. वहां सबको आश्चर्य लगे ऐसे प्रभुके चरित्रोंको दर्शाया गया है, उस आशयसे यह नाम कहा गया है.

(८५७) मानापनोदनाक्रंदगोपीदृष्टिमहोत्सवः

मान दूर होनेपर भगवान्के विरहके द्वारा होनेवाले आक्रन्दन अर्थात् रुदनमें दीन बनी हुई व्रजाङ्गनाओंके नयनाम्बुजसे जिनको महान् आनन्द हुआ है ऐसे रासाभिलाषी श्रीकृष्ण प्रभु.

गोपिकाव्याप्तसर्वाङ्गः स्त्रीसंभाषाविशारदः।
रासोत्सवमहासौख्यगोपीसंभोगसागरः ।।१८५।।

(८५८) गोपिकाव्याप्तसर्वाङ्गः

गोपीजनोंमें जिनका प्रत्यङ्ग व्याप्त हो रहा है इस प्रकार उनका आलिङ्गन करनेवाले श्रीगोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णप्रभु.

(८५९) स्त्रीसंभाषाविशारदः

श्रीगोपीजनोंके प्रश्नोंका प्रत्युत्तर देनेमें चतुर श्रीकृष्ण.

(८६०) रासोत्सवमहासौख्यगोपीसंभोगसागरः

रासोत्सवमें उत्पन्न होनेवाले महान् सुख अर्थात् अधिक आनन्द सम्बन्धी अनुभव गोपीजनोंमें प्रकट करनेवाले अखण्ड आनन्द स्वरूप रासविहारी भगवान् श्रीकृष्ण.

जलस्थलरतिव्याप्तगोपीदृष्ट्यभिपूजितः।
शास्त्रानपेक्षककामैकमुक्तिद्वारविवर्धनः ।।१८६।।

(८६१) जलस्थलरतिव्याप्तगोपीदृष्ट्यभिपूजितः

जल और स्थल अर्थात् श्रीयमुनाजी तथा वृन्दावनमें रमण करनेसे

परिपूर्णरूपसे प्रसन्न श्रीगोपीजनोंकी दृष्टि द्वारा अर्थात् उनके प्रेमपूर्वक कटाक्ष निक्षेपद्वारा सर्वत्र पूजित, अलंकृत, शोभायमान बने हुये भगवान् श्रीकृष्ण.

(८६२) शास्त्रानपेक्षककामैकमुक्तिद्वारविवर्धनः

१.शास्त्रकी अपेक्षा मर्यादासे रहित अर्थात् अलौकिक दिव्य कामकी अभिलाषारूप मुख्य मुक्तिद्वारकी विशेषरूपसे वृद्धि करनेवाले.

२.शास्त्रकी अपेक्षा बिना केवल स्नेह द्वारा प्रेम लक्षणा भक्तिके द्वारा भगवत्स्वरूपमें कामना-निष्ठा प्राप्त करनेवाले अर्थात् चित्तको उत्तम रीतिसे भगवद्रूपमें स्थापन करनेवाले भक्तजनोंको रासोत्सव सम्बन्धी कथाका कथनरूप मुक्ति प्राप्त करवानेके द्वाररूप उपायको विशेष रीतिसे बढ़ानेवाले श्रीपुरुषोत्तम.

सुदर्शनमहासर्पग्रस्तनन्दविमोचकः।
गीतमोहितगोपीधृक्शंखचूड़विमोचकः ।।१८७।।

(८६३) सुदर्शनमहासर्पग्रस्तनन्दविमोचकः

सुदर्शन नामक महान् सर्प-अजगरसे ग्रसित नन्दरायजीको उससे छुड़ानेवाले श्रीकृष्ण परमात्मा. सुदर्शन नामका एक विद्याधर सौन्दर्यके गर्वमें मदोन्मत्त होकर सबका अनादर करता रहता था. एक दिन विमानमें बैठकर जाते हुये मार्गमें कद्रूपा अंगिरामुनिको देखकर रूपके गर्वमें छके होनेके कारण उनसे हास्य करने लगा. उस हेतुसे अंगिरामुनिने श्रापके फलस्वरूप अजगर योनिको प्राप्त हुआ. उस श्रापसे मुक्त होनेके लिये उसने श्रीनंदरायजीको निगलनेकी कोशिश करी. श्रीनंदरायजीको छुड़ानेके लिये श्रीकृष्णने अपने चरणोंका स्पर्श देकर उस विद्याधरको उस श्रापसे मुक्ति दिलाई. इस कथाको दर्शानेवाला यह नाम लिया गया है.

(८६४) गीतमोहितगोपीधृक्शंखचूड़विनाशकः

भगवान्की मुरलीके गानसे मोहित बने हुए गोपिकाओंको हरण करनेवाले शंखचूड़ नामक प्रचण्ड यक्षको मारनेवाले भगवान् मदनमोहन.

गीतसंगीतसंतुष्टिर्गोपीसंसारविस्मृतिः।
अरिष्टमथनोदैत्यबुद्धिव्यामोहकारकः ।।१८८।।

(८६५) गीतसंगीतसंतुष्टिः

गुणोंका भलीभांति गायन करनेसे सन्तुष्ट होनेवाले भगवान्. जब श्रीकृष्ण गायोंको चरानेके लिये दिनमें वृंदावनमें पधारते थे तब प्रभुमें प्रेमनिमग्न गोपीजन

विरहव्याकुल होकर उच्चस्वरसे गोविन्दके गुणोंका गान करती थीं. परम दयानिधान स्वयं वनमें पधारे हुये भी निरन्तर अंतर्यामी रूपमें उनके अंतरमें निवास करके गुणगानको श्रवण करके बहुत ही संतुष्ट होते और उनको भी संतुष्ट करते थे. यह बतानेके लिय यह नामका वर्णन है.

(८६६) गोपीसंसारविस्मृतिः

१.गोविन्दके गुणगानमें तत्पर श्रीगोपीजनोंको संसारकी विस्मृति करानेवाले श्रीकृष्ण.

२.गोपाङ्गनाओंके हृदयमंदिरमें बिराजकर उनको भगवत्सम्बन्धी साहित्य सामग्रीकी सारी रीतिका स्मरण करानेवाले प्रभु.

इति महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित पुरुषोत्तमनामसहस्रं स्तोत्रमें निरूपित दशमस्कन्धके तामस फल प्रकरणके नाम.

श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्धकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद

अध्याय २६

रासलीलाका आरम्भ

ब्रह्मानन्दात् समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने ।
लीला या युज्यते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते ।।का.१।।

ब्रह्मानन्दके सुखानुभवमेंसे निकाल कर भजनानन्दके आनन्दमें नियुक्त करनेकेलिये सम्यक् प्रकारसे जो लीला की है उस(लीला)का इस चतुर्थ तामस फल प्रकरणमें वर्णन किया जाता है।।१।।

लौकिकस्त्रीषु संसिद्धस्तद्द्वारा पुरुषे भवेत् ।
स्वानन्दानुभवार्थं हि योग्यतापि निरूपिता ।।का.२।।

यह भजनानन्दरूप फल लौकिक(अन्यविवाहित एवं अविवाहित) स्त्रियोंमें पूर्णतया सिद्ध होनेपर उनके द्वारा ही पुरुष(गोपों)में सिद्ध हो सकता है. अतः स्वामिनीभावगम्य भजनानन्दकी योग्यता भी इन्हीं लौकिक स्त्रियोंमें है यह सूचित हुआ।।२।।

ततो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधार्यते ।
तद्द्वारा पुरुषाणां च भविष्यति न चान्यथा ।।का.३।।

इससे यह बताया कि भजनानन्द स्त्रियोंमें ही भलीभांति स्थापित किया जा सकता है और उनके द्वारा(अर्थात् भगवत्प्रसादरूपा शक्तिके प्रवेश अथवा ऐसे प्रवेशवाली गोपिकाओंकी कृपा द्वारा) ही यह भजनानन्दानुभाव पुरुषोंको हो सकता है अन्यथा नहीं।।३।।

स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्तास्तासु ततः पुमान् ।
अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम् ।।का.४।।

(जहां ऐसा प्रवेश अथवा प्रसाद हो तो भी स्त्रीत्वके बिना इस रसका पान असम्भव है अतः) स्त्रियां ही इसे पुरुषरूप भगवद्रसको पीनेमें समर्थ हैं और उसके बाद ही उनमें स्वयं अपने इस भजनानन्दके रसका पान भगवान् भी कर सकते हैं अतः भगवान् कृष्णने अहर्निश स्त्रियोंके मध्यमें ही रमण किया।।४।।

*** प्रक्षिप्त तीन अध्यायोंको छोडकर श्रीसुबोधिनी अनुसार अध्याय १२/प्रचलित क्रमानुसार अध्याय १५**

बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरं तु परं फलम्।
ततः शब्दात्मिका लीला निर्दुष्टा सा निरूप्यते।।का.५।।

उपरोक्त श्रीकृष्णकी लीला(स्त्रियोंमें ही रमण) दो प्रकारसे होती है. १.बाह्य प्रकारसे, २.आभ्यन्तर प्रकारसे. इनमें आभ्यन्तरलीला परम फलरूप है. अनन्तर शब्दात्मिका[१] जो विशिष्ठ निर्दोषलीला है, उसका निरूपण किया जाता है।।५।।

१.नामलीला जिसमें भगवानके गुणगान किये जाते हैं.

ततो रूपप्रपञ्चस्य पञ्चधा रमणं मतम् ।
आत्मना प्रथमा लीला मनसा तु ततः परा ।।६।।
वाक्प्राणैस्तु तृतीया स्याद् इन्द्रियैस्तु ततः परा।
शारीरी पञ्चमी वाच्या ततो रूपं प्रतिष्ठितम्।।७।।

उसके पश्चात् भगवानके पांच प्रकारके रूपोंसे पांच तरह रमण हुआ है. १.आत्मासे, २.मनसे, ३.वाणी तथा प्राणसे, ४.इन्द्रियोंसे और ५.शरीरसे, इन ५ प्रकारोंसे रूपकी प्रतिष्ठा हुई है।।६-७।।

षड्विंशे तु हरिः पूर्वं जीवानानन्दयत्स्वयम् ।
ते चेत् समर्पितात्मानस्तत्रोपायश्च रूप्यते ।।८।।
आत्मा यावत् प्रपन्नोऽभूत्तावद्वै रमते हरिः ।
सोऽन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्ते हरिश्च सः ।।९।।

२६वें अध्यायमें भगवानने स्वयं प्रथम जीवोंको आनन्दित किया, जिससे भगवानने जीवोंको आनन्द प्राप्तिके उपाय भी बता दिए हैं कि यदि जीव सर्वात्मभाववाले हैं तो हरि उनके साथ रमण करते हैं अन्यथा नहीं. भगवान् वैसे भक्तसे रमण करते हुए उसके अन्तःकरणके सम्बन्धी हो जाते हैं तब बाहरसे छिप जाते हैं।।८-९।।

प्रमाण, प्रमेय और साधन प्रकरणोंमें की हुई लीलाओंसे निरुद्ध व्रजभक्तोंको पुष्टिमार्गीय भजनानन्दरूप उत्तम फलदान देनेकी भगवानकी इच्छा हुई, तदर्थ साधन प्रकरणके अन्तमें भगवानके व्रजभक्तोंको उस फलकी उत्तमताका ज्ञान करानेकेलिये एवं उसके योग्य देहादिका निर्माण करानेकेलिये 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इस श्रुतिके अनुसार प्रथम उन(व्रजभक्तों)को ब्रह्मरूप बनाके ब्रह्मानन्दमें मग्न कर देहादिका भान भुला दिया जिससे उनकी दशा पानीमें

डूबे हुए मनुष्य जैसी हो गई. जैसे पानीमें डूबा हुआ जलके रसपान करनेमें असमर्थ होता है वैसे ही वे भी भगवद् रसपान करनेमें अशक्त हो गये किन्तु भगवानको तो, उनको स्वरसात्मक स्वरूपका अनन्त रसपान कराके पुष्ट कराना था, अतः जब उस परिमित आनन्दमें डूबे हुए व्रजभक्तोंको वहांसे निकाला, तब उनकी देहादि सर्व इन्द्रियां ब्रह्मरूप दिव्य अलौकिक हो गई थीं. जिससे भगवानने उनको ब्रह्मका लोक दिखाया, अर्थात् अपना दिव्यधाम, जिसमें आप पुष्टिपुरुषोत्तम स्वरूपसे सदा बिराजते हैं जिसका दर्शन अक्रूरजीने किया था, उस स्वरूपका दर्शन कर नन्दादि सर्व व्रजवासी अति विस्मित हुए.

अब इस फल प्रकरणका विवरण करते हुए दोनों प्रकरणोंकी साधन और फल भावरूपा संगति बताते हुए कहते हैं कि साधन प्रकरणके अन्तमें जो ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति कही, वह पुष्टिमार्गीय फलका साधन है, उसका फल यह भजनानन्द पुष्टिमार्गीय फल है. इस प्रकार दोनों प्रकरणोंकी परस्पर साधन और फल भावरूपा संगति है.

सर्वसमर्थ सर्वत्र बिराजमान गोपोंको ब्रह्मानन्दमें मग्न करना और अपना धाम दिखाना आदि जो लीला की है वह यहां गोकुलमें ही की है, अपने अचिन्त्य ऐश्वर्यसे, उनकी दृष्टिमें, गोकुलादि सर्व तिरोहित कर दिया और उन(व्रजभक्तों) में जो प्रथम केवल सत्-चित् अंश था, उसमें आनन्दांशको प्रकट कर उन्हें ब्रह्मरूप बनाके ब्रह्मानन्दमें मग्न किया अनन्तर ब्रह्मानन्दसे निकाल कर अपने दिव्यधाम और उसमें अपने स्वरूपका दर्शन कराके दिव्य आनन्दका दान भी यहां ही दिया है. नन्दादि गोप ब्रह्मरूप हो, व्यापि वैकुण्ठ धाममें नहीं गये थे.

इस लीलाके अनन्तर फल प्रकरणकी लीला प्रारम्भ की है जिससे पहली कारिकामें कहा है कि ब्रह्मानन्दसे निकाल कर भजनानन्दमें सम्यक् प्रकारसे नियुक्त करनेकी लीलाका वर्णन इस फल(चौथे) उपप्रकरणमें किया जाता है।।१।।

दूसरी कारिकामें यह दिखाया है, कि इस पुष्टिमार्गीय 'भजनानन्द'रूप फलका स्वाद लेनेके योग्य गोपीजन हैं कारणकि, वे लौकिक स्त्रियां हैं, अर्थात् जिन्होंने भगवानसे अन्य, लौकिक पुरुषोंसे विवाह किया है, उनमें ही रसशास्त्रके नियमानुसार भजनानन्द सिद्ध होता है.

भगवानने गोपियोंमें अपने(भगवानके) अनुभवकी योग्यता भी बताई है,

कारणकि उन(गोपियों)में ब्रह्मानन्दरूपी लक्ष्मीकी स्थापना की है तथा इस प्रकार अन्य गोपियां जो कुमारिकाएं हैं, जिन्होंने कात्यायनी अर्चन कर भगवानकी प्रसाद(अनुग्रह)रूप शक्तिको अपनेमें स्थापित किया है, जिससे, वे भी रसपान करनेके योग्य हुई हैं. गोपोंमें इस प्रकारकी शक्तिका अभाव है, अर्थात् उनमें न लक्ष्म्यंश है और न प्रसादरूप शक्ति है अतः वे गोप भगवानके साथ रमणके अधिकारी नहीं हैं।।२।।

उपरोक्त कारणोंसे भजनानन्द स्त्रियोंमें ही सम्यक् प्रकारसे स्थापित किया जाता है, उनके द्वारा अथवा उनकी कृपासे अथवा भगवानकी प्रसादरूपा शक्तिके प्रवेशसे तथा भगवानके अनुग्रहसे पुरुष भी भजनानन्दरसका पान कर सकते हैं, अन्य किसी प्रकारसे वे नहीं कर सकते हैं।।३।।

भजनानन्दरसका पान केवल स्त्रियां ही कर सकती हैं, पुरुषमें कृपा शक्तिका प्रवेश हो तथा गोपीजनोंका अनुग्रह हो तो भी जबतक उसमें स्त्रीभावका उदय नहीं हुआ है, तबतक वह पुरुष भजनानन्दके रसका पान करनेके योग्य नहीं है, तात्पर्य यह है कि रसरूप भगवानका रस स्त्रीभाववाले जीवोंमें ही ठहर सकता है वे ही जीव रसके पात्र हैं, स्त्री जीववाले, जब रसात्मा पुरुषरूप भगवानका रस पान कर अपनेमें स्थित कर लेते हैं, तदनन्तर पुरुषरूप भगवान् उन जीवों (स्त्रीभाववाले जीवों)में अर्थात् (स्त्रियोंमें) स्थापित हुए अपने ही रसका आप, उनमेंसे ग्रहण(पान) करते हैं. अतः कहते हैं कि भगवान् कृष्ण, दिन-रात स्त्रियोंमें रमण करते हैं।।४।।

गोपीजनोंकी भक्ति तो पुरुषोत्तमके भजनानन्दरसके पानार्थ ही थी, तो उनको ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति कैसे हुई? और जहां २५वें अध्याय(साधन उपप्रकरण) में ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिका वर्णन है वहां भी केवल नन्दादि गोपोंको ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति कही है, तो उन(गोपियों)को ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति हुई तदनन्तर भजनानन्द मिला, यह कहना असंगत सा दिखाई देता है?

इस शंकाका समाधान इस प्रकार समझना चाहिये कि, भले गोपीजनोंको ब्रह्मानन्दकी आकांक्षा नहीं थी, तो भी (भक्ति)का स्वभाव ही ऐसा है, कि जो भक्तिको अपनाता है, अर्थात् भक्ति करता है, उसको भक्ति ब्रह्मानन्दका दान स्वयं कर देती है, जैसाकि कहा है कि 'भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुंक्ते'(भाग.पु.३।२५।३६) अतः भक्ति होनेके कारण गोपीजनोंमें ब्रह्मानन्दरूप

लक्ष्मीका प्रवेश हुआ है, यदि गोपीजनोंमें ब्रह्मानन्दरूप लक्ष्म्यंश न होता तो भगवान् उनसे रमण नहीं करते. किञ्च भगवान् एक ही लीलाकार्यसे अनेक कार्य सिद्ध करते हैं. इस न्यायानुसार भगवानने गोपोंको जब ब्रह्मानन्दका अनुभव कराया तब गोपियोंको भी अनुभव कराया समझना चाहिये, भक्तको तनुजा वित्तजा भक्ति(सेवा)से स्वतः प्रथम ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति तथा संसारके दुःखसे निवृत्ति हो जाती है, अतः गोपीजनोंसे भक्तिने अण्वीगति ब्रह्मानन्दात्मक लक्ष्मीका प्रवेश कर दिया एवं भक्तों पर भगवानका अनुग्रह होता ही है इत्यादि कारणोंसे गोपीजन भजनानन्दकी सर्वथा अधिकारिणी थीं इसलिये भगवानने उनसे रमण कर उनको भजनानन्दका दान दिया है।।४।।

फल उपप्रकरणमें भगवानने व्रजभक्तोंसे दो प्रकारकी लीला की है, जैसे भगवानने 'नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुत्यानुसार जगतमें नाम और रूपको प्रकटकर, दो प्रकारकी लीला की है, अतः आचार्यश्रीने निबन्धमें भी आज्ञा की है, कि ''रूपनामविभेदेन जगत् क्रीड़ति यो यतः'' अर्थ–भगवान् रूप और नामके विभेदसे जगत्रूप हो कर क्रीड़ा करते हैं वैसे ही लीला प्रपञ्चमें भी पुष्टिपुरुषोत्तम नामसे तथा रूपसे लीला करते हैं. १.नाम(गुण)लीला और २.रूपलीला है, इनमें रूपलीला बाह्यलीला है और नामलीला अन्तरलीला है. अन्तरलीला परम फलरूप है. प्रथम रूप(बाह्य)लीलाका वर्णन है अनन्तर शब्दात्मिका(नाम–गुणरूप) लीलाका निरूपण किया गया है।।५।।

रसात्मक भगवानके पांच रसरूप ये आधिदैविक हैं, उनके द्वारा पांच प्रकारसे गोपीजनोंके साथ रमण किया है. १.आत्मा २.मन ३.वाक्–प्राण ४.इन्द्रियां ५.शरीर –ये पांचरूप हैं.

पहली लीला आत्मासे, दूसरी मनसे, तीसरी वाणी तथा प्राणोंसे, चौथी इन्द्रियोंसे और पांचवीं शरीरसे की है. इस प्रकार पांचों रूपोंसे लीला कर आपने इस रसस्वरूपकी गोपीजनोंमें प्रतिष्ठा की है।।६–७।।

भगवानके ये पांचरूप आत्मरूप ही हैं जीवके समान पृथक् नहीं हैं क्योंकि भगवानको श्रुतिने 'स यथा सैन्धवघन' कहा है अर्थात् सैन्धवघन जैसे एकरस है वैसे ही भगवान् भी एक रसरूप होनेसे सर्वरूपोंमें एक ही रसरूप आप ही हैं. अतः श्रुतिने कहा है कि 'पश्यन् चक्षुः' 'वदन् वाक्' देखते हैं तब आप चक्षुरूप हैं, बोलते हैं तब आप वाक्रूप हैं अर्थात् आपके सर्व इन्द्रियादिरूप

आत्मरूप, रसरूप ही हैं अतः आपके पांचरूप आत्मरूप होनेसे आपसे पृथक् नहीं है जिससे आपमें द्वैतापत्ति नहीं है.

इस २६वें अध्यायमें भगवानने साधनबलके सिवाय स्वयं व्रजभक्तोंको आनन्द दिया है. भगवानने नाद द्वारा उनको बुला कर फिर उनको जानेको कहा यह तो योग्य नहीं था? इस शंकाके मिटानेकेलिये आचार्यश्री कारिकामें कहते हैं कि लीला करते हुए भगवान् शास्त्रकी मर्यादाका भी पालन करते हैं, अतः कहा है कि 'ते चेत् समर्पितात्मनः...निरोधत्ते हरिश्च सः'।।८।।

यदि भक्त सर्वात्मभाववाले हैं तो यह रस प्राप्त कर सकते हैं यदि सर्वात्मभाववाले नहीं हैं तो नहीं पा सकते हैं अर्थात् भक्तके अन्तःकरणमें शरण भावना और सर्वात्मभाव है, तो भगवान् वैसे शरण भावना युक्त सर्वात्मभाववाले भक्तसे रमण कर उसको रसदान करते हैं कारणकि भगवान् भक्तके अन्तःकरणको जानते हैं यदि अन्तःकरणमें ये भाव नहीं हैं तो भगवान् उससे छिप जाते हैं उसको रसदानादि कुछ नहीं देते हैं अथवा यदि भक्तके अन्तःकरणमें सर्वात्मभाव व शरण भावना देखते हैं तो उसको अन्तःकरणमें दर्शन दे कर रसपान कराते हैं और हरि होनेसे उनके दुःख दूर कर देते हैं फिर बाहर आप दर्शन नहीं देते हैं।।९।।

प्रथम भजनानन्दका निरूपण करनेकेलिये स्त्रियोंमें अपना आनन्द(रस) स्वरूप स्थापन करना चाहिए इसकेलिये भगवानने उनसे रति करनेकी इच्छा की जिसका वर्णन 'भगवानपि' इस श्लोकमें कहते हैं:

श्रीशुक उवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।१।।

श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि शरद्ऋतुके कारण जिनमें मालतीके पुष्प खिल रहे हैं उन रात्रियोंको अच्छी प्रकार देख योगमायाको साथमें ले कर भगवानने भी रमणकेलिए मन किया।।१।।

भगवान् श्रीकृष्ण अलौकिक आधिदैविक रसरूप हैं उनकी लीलाएं भी आधिदैविक हैं तथा लीलाकी सर्व सामग्री अलौकिक आधिदैविक होनी चाहिये अतः भगवानने इस फलरूप भजनान्दलीला करनेकेलिए सर्व सामग्री आधिदैविक प्रकट की है उसका वर्णन इस श्लोकमें श्रीशुकदेवजीने किया है जिसका

स्पष्टीकरण आचार्यश्रीने सुबोधिनीजीमें किया है(टिप्पणीजी)

श्लोकमें 'ता रात्रीः' कहा है 'वे रात्रियां' वे कौनसी रात्रियां हैं? 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः'में जो कुमारिकाओंके व्रतसे प्रसन्न हो कर उनको जो रात्रियां रमणकेलिये वरदानमें दी गई थीं उन आधिदैविक रात्रियोंको प्रकटकर, इन रात्रियोंमें स्थापित किया जिससे उस पूर्ण आधिदैविक रात्रियोंके मिलनेसे, रात्रियां भी पूर्ण होनेसे पूर्णिमा बन गई. इसी प्रकार ऋतुको भी शरद् बना दी. केवल शरद् नहीं बनाई, किन्तु उसका कार्य, मालतीके पुष्प खिला दिये, इसी भांति रसको जागृत करनेवाली सर्व सामग्री तैयारकर, अनन्तर रमण करनेकेलिये अपने आनन्दके प्रकाशक, कामके पितामह[१] (मन)को उत्पन्न किया. भगवानने मनके उत्पन्नसे, जो रमण करनेका संकल्प अपनेमें उद्भूत(पैदा) हुआ देखा वह संकल्प गान द्वारा सर्व व्रजांगनाओंको सूचित करना चाहिये(सुनाना चाहिये), उस गान करनेमें बंशी भी सहायता देगी. उस गान द्वारा मेरा संकल्प उनके पास पहुंचेगा तो उनके मनमें भी संकल्पका उद्भव होगा. उस(गान)से कामका वर्णन हो जायेगा. इस कारणसे, प्रथम वैसा मन किया, अर्थात् रमण करनेवाला मन बनाया. जो कि इस प्रकारके सिवाय दूसरी तरह भी भगवान् गोपियोंमें अपना रस स्थापन करनेमें समर्थ थे तो भी रसशास्त्रकी मर्यादाका भंग न हो इसलिये रसशास्त्रकी पद्धतिके अनुसार रसदान करनेकेलिये भगवानने मन किया.

१.मन कामका पितामह(दादा) है क्योंकि कामको पैदा करनेवाला संकल्प है और संकल्पको पैदा करनेवाला मन है अतः मन कामका पितामह है.

रसशास्त्रकी पद्धतिसे करने पर अपना आनन्द(भगवानका आनन्दरूप) स्थान छोड़ कर दूसरे स्थान पर जायेगा तो उसमें विकार होगा और स्वरूपसे भी च्युत होगा(गिर जायेगा) अर्थात् जीवके समान हो जायेगा. तात्पर्य यह है कि यदि भगवान् अपना रसस्वरूप गोपियोंमें स्थापित करें तो वह एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जानेसे विकृत हो जायेगा और भगवानकी रसात्मकता न रहेगी. इस प्रकार विकारादि न हों तदर्थ भगवानने प्रथम ही योगमायाको अपने पास रखा है. क्योंकि योगमायामें वैसी शक्ति है कि किसी भी वस्तुको एक स्थानसे दूसरे स्थान पर ले जाये तो किसी प्रकारका विकार उसमें नहीं होता है जैसे 'संकर्षण'को पधराके गई तो उसमें किसी प्रकारकी विकृति नहीं हुई. भगवानने इस(योगमाया)को लीलाकेलिये पहले भी अपने पास रखा था. जैसे प्रमाण और रक्षामें बलभद्रका

उपयोग(आवश्यकता) है, वैसे कार्यकेलिये योगमायाकी आवश्यकता है. इसमें भी योगमाया तो अन्तरंगा है, अन्यत्र स्थित प्रमाण एवं आनन्दको बिना विकृत किये अन्यत्र स्थापित कर सकती है. अतः प्रमाणसे अतिरिक्त मार्ग और भक्तिमार्गका आगे विस्तार होगा.

जिन रात्रियोंको रमणकेलिये भगवानने निर्माण किया था, वे ही रात्रियां ली गई हैं यदि साधारण[२] रात्रियां ली जातीं तो सर्वत्र[३] ही आनन्द प्रकटित हो जाता।।१।।

२.जिन रात्रियोंमें रमणलीलासे अन्य लीलाएं हुई हैं वे रात्रियां साधारण रात्रियां हैं. ३.गो और गोपादिकोंमें भी.

भगवानने रमण करनेकेलिये नवीन मन उत्पन्न किया उसके साथ उसके अधिष्ठाता देव चन्द्रमाको भी उत्पन्न किया कारणकि अधिष्ठाता देवके बिना मन कुछ कार्य न कर सकेगा इसलिये चन्द्र भी उसी समय प्रकट हुआ जिसका वर्णन निम्न श्लोकमें शुकदेवजी करते हैं:

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो हरन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ।।२।।

चिरकालसे मिला हुआ पति जैसे अपनी प्यारीका दुःख दूर करता है वैसे ही उस समय शीतलता देनेवाली अपनी लाल किरणोंसे पूर्वदिशाके मुखका लेपन करते हुए और लोकोंके दुःखोंको मिटाते हुए चन्द्रमा उदय हुआ।।२।।

भगवानने जिस समय रमणार्थ मनका प्रादुर्भाव किया उसी समय उसका अधिष्ठाता देव नक्षत्रोंका राजा चन्द्र उदित हुआ. यद्यपि सर्व रात्रियोंको एक साथ एक ही समय देखा, तो भी वे रात्रियां रमणार्थ क्रमसे ही आई. भगवानके मनका चन्द्रमा आधिदैविक है अतः पूर्ण तथा कलंकरहित है. मनके आविर्भूत होने पर चन्द्रमाका आविर्भाव हुआ है, क्रीड़ाके बन्द होने पर चन्द्रमा भी कार्य बन्द कर आकाशके मध्यमें, स्थिर हो जाता है, कभी भी अस्त नहीं होता है. यहां मूलमें शुकदेवजीने चन्द्रमाको 'उडुराज' कहा है जिसका भावार्थ यह है कि चन्द्रमा जैसे नक्षत्रोंका राजा होनेसे उनका रक्षक है वैसे ही यह आधिदैविक चन्द्रमा भी गोपियोंके मनरूप नक्षत्रोंका राजा होनेसे उनका रक्षक है. भगवानका मन पहले उत्पन्न हुआ उसके साथ उसके अधिष्ठाता चन्द्रमाका भी लीलार्थ पहले ही आविर्भाव हुआ इससे पूर्वदिशामें ही उसका उदय कहा जाता है(हुआ है). वह

(पूर्व)दिशा देवोंकी है यों श्रुति कहती है 'सा दिक् देवानां'. उस दिशाका देव और अधिपति इन्द्र है, किन्तु अब भगवान् ही इन्द्र हैं अतः उन(भगवान्)का रेतो(वीर्यशक्ति)रूप चन्द्र पूर्वदिशामें प्रकट हुआ है अतः वह चन्द्रमा पूर्वदिशाके मध्यभागको अपनी किरणोंसे रञ्जित करता हुआ उदय हुआ. चन्द्रमाने पूर्वदिशाको अपनी किरणोंसे लाल इसलिये बनाया कि एक तो उसी समय(रात्रिके समय) पूर्वदिशा लाल नहीं थी, पश्चिममें लालास थी जिससे पूर्वदिशाको रीस थी कि मैं वैसी क्यों न हुई? इस रीसको मिटानेकेलिये उस(पूर्वदिशा)को लाल बताया, लाल रंग अनुरागका चिह्न है, दूसरा कि यदि मैं पूर्वदिशाको लाल अनुराग युक्त न बनाऊंगा तो भगवानका मन भी स्त्रियों(गोपियों)के मनको रञ्जित न करेगा. चन्द्रमाकी किरणें शीतल होनेसे, तापको मिटानेवाली हैं. और अरुण(लाल) अनुरागरूप होनेसे आनन्दरूप भी है. अतः पुरुष जब अनुरागसे (प्रियाका) स्पर्श करता है तब उसको आनन्द आता है. यदि चन्द्रमा मनका अधिष्ठाता है इसलिये उदय हुआ है, तो वह मनमें ही उदय होना चाहिये, जो कहो कि अन्धकारको मिटानेकेलिये उदय हुआ है तो, वह(अन्धकार) भगवानसे मिट जाता, यदि कहो कि, गोपियोंमें उद्दीपन करनेकेलिये, तो वह भगवान् द्वारा हो सकता था अतः चन्द्रमाके उदय होनेका असाधारण कारण क्या है? इस शंकाको मिटानेकेलिये शुकदेवजीने कहा कि चर्षणीशक्तियोंके शोकको मिटानेकेलिये विशेष चन्द्रमाका उदय हुआ है. सर्वत्र परिभ्रमण की हुई शक्तियोंका नाम चर्षणीशक्तियोंके शोकको मिटानेकेलिये विशेष चन्द्रमाका उदय हुआ है. सर्वत्र परिभ्रमण की हुई शक्तियोंका नाम 'चर्षणी' है. वे सभी जगह इन अधिकारी भक्तोंसे अतिरिक्त भक्तोंमें भी परिभ्रमण कर चुकी हैं परन्तु कहीं उनका परमानन्दसे सम्बन्ध नहीं हुआ. यदि कोई मुक्त भी हुआ तो इन्होंने ऐसे जीवोंमें प्रवेश ही नहीं किया. वहां मुक्ति पानेवाले जीवोंमेंसे तो ये पहले ही निवृत्त(दूर) हो जाती हैं (क्योंकि मुक्तिमें इनका अभिलषित परमानन्द नहीं मिलता है) अतः भगवद् भोग योग्य स्वामिनियोंके फलमें विलम्ब और इस कारण होती हुई आर्तिको देख कर समवेदनावश इनका शोक यों ही स्थिर(कायम) रहा. चर्षणी(सर्वात्मभाववाली लीलाके अधिकारी जीवोंका अन्यभावोंसे रक्षण करनेवाली शक्ति)के सहित जो जीव थे उनका भी शोक यूं ही स्थिर(कायम) था. वह शोक अब रसोद्दीपक चन्द्रोदय होनेसे ही चर्षणियोंका दूर हुआ(क्योंकि यह

चन्द्रमा प्रियतमके वियोगका दुःख न केवल स्वामिनियोंमेंसे किन्तु चर्षणीशक्ति सहित स्वामिनियोंमेंसे दूर करता है) शक्तिके सहित ही परमानन्दका अनुभव होता है यों कहना चाहिये और बहुतकरके उस(भजनानन्ददानकी लीलाके) समयके जीव परिभ्रमण शक्तिवाले हैं अतः चन्द्रमाके उदय होनेपर परमानन्दकी प्राप्ति अवश्य होगी ऐसा उनको निश्चय हुआ जिससे उनका शोक निवृत्त हो गया.

सारांश यह है कि चन्द्रमाने उदय हो कर तीन कार्य किये १.दिशाके देवताके मुख(मध्य) रञ्जित(अनुरागयुक्त लाल) किया. (२)भ्रमण शक्तियोंका, एवं भ्रमण शक्तियुक्त जीवोंका शोक दूर किया. (३)अन्धकार निवृत्ति आदि की.

मूलमें भ्रमण शक्तियोंका शोक दूर करना और दिशाके मुख रञ्जित करना ये दो प्रयोजन एक ही चन्द्रमाके उदय होनेके कहे हैं इसको दृष्टान्त दे कर समझाते हैं कि जैसे बहुत समयसे आया हुआ पति अपनी पतिव्रता प्रियाके मुखको रञ्जित कर उसका शोक दूर करता है वैसे एक ही चन्द्र दिशाका मुख रञ्जित कर उसका शोक मिटाता है और चर्षणी(भ्रमण करनेवाली) शक्तियोंका भी दुःख दूर करता है. जैसे पतिव्रताके मुखका रञ्जन और उसके शोकको मिटानेका कार्य केवल पति ही कर सकता है वैसे ही एक ही चन्द्रने ये दोनों कार्य किये हैं अर्थात् वह एक ही कर सकता है दूसरा नहीं।।२।।

श्रीशुकदेवजीने उपरोक्त श्लोकोंमें मन और उसके अधिष्ठाता देव चन्द्रमाकी उत्पत्तिका वर्णन किया. शब्दके उत्पत्तिका कारण मन और उसका अधिष्ठाता चन्द्र है उस चन्द्रके दर्शनसे वेणुनाद उत्पन्न हुआ है जिसका वर्णन अब इस निम्न श्लोकमें करते हैं:

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलगोऽभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ।।३।।

अखण्ड मण्डलवाले, लक्ष्मीके मुखके सदृश शोभावाले, नवीन केसरके समान अरुण, पृथ्वीको मोद(आनन्द) देनेवाले चन्द्रमाको तथा उसकी कोमल किरणोंसे रंजित वनको देखकर, भगवानने वाम(सुन्दर) दृष्टिवाली स्त्रियोंके मनको हरण करनेवाला कलगान(अस्फुट तथा मधुर गान) किया।।३।।

शुकदेवजी कहते हैं कि चन्द्रमाका नाम 'कुमुद्वान'[१] है अतः यह पृथ्वी पर सर्व स्थानोंमें आनन्द उत्पन्न करता है, पृथ्वीका कोई भाग आनन्द रहित नहीं रहता है कारण कि इस चन्द्रका मण्डल अखण्ड(पूर्ण) है कहीं भी इसमें खण्ड नहीं

हुआ है इसीलिये समस्त विश्वमें मोद उत्पन्न करनेमें समर्थ है.

१.'कु' पृथ्वी 'मुद' आनन्द 'वान्' वाला, चन्द्र अर्थात् पृथ्वी पर आनन्दको देनेवाला इसलिए चन्द्रमाका नाम कुमुद्वान् पडा है.

चन्द्रमाका विशेषण 'रमाननाभं' दे कर शुकदेवजीने यह भाव बताया है, कि रसके आविर्भावार्थ आलम्बनविभावकी आवश्यकता होती है. यह चन्द्रमा लक्ष्मीजीके मुखके समान आभावाला होनेसे आलम्बनविभावरूप भी है जिसके देखनेसे रस उद्दीप्त होता है, चन्द्रमा लक्ष्मीका भ्राता है इसलिये मुखकी कान्ति समान है और चन्द्रमा नवीन केसरके समान अरुण रंगवाला भी है, जिससे यह भाव बताया है कि जैसे लक्ष्मीजी विवाहके समय लाल मुखवाली हो कर नवीन कामको उत्पन्न करती थीं, वैसे ही यह भी, नूतन कामको प्रकट करनेवाला है और वन भी रस पोषक है, क्योंकि चन्द्रने अपनी कोमल किरणोंसे उसको रञ्जित(लाल बना) कर रसका पोषण करनेवाला बना दिया है. (यह लेख श्रीगुसांईजीका है–चन्द्रकी किरणें रसका दोहन करती हैं. उस रसकी पालना वनमें होती है. इसलिये मूलश्लोकमें किरणोंकेलिये 'गो' शब्द दिया है, चन्द्रमाकी किरणोंको लक्ष्मीके मुख जैसी लाल आभावाला कहा है इससे जैसे लक्ष्मीजीके नूतन कटाक्ष भावके उदय होनेमें कारण हैं वैसे ही ये(किरणें) भी भाव बढानेमें कारण हैं. 'गो' अर्थ इन्द्रियें भी होता है, जिसका यह भाव है कि अब तो केवल इन्द्रियोंमें पदका भाव उत्पन्न हुआ है उसका पोषण और वृद्धि तो स्वामिनियोंके आनेके अनन्तर होगी. यों बतानेकेलिये 'गो'का विशेषण 'कोमल' दिया है. जब यह चन्द्र समस्त वनको रञ्जित करता है तो जिनकेलिये उदय हुआ है उनको कैसे रञ्जित न करे.) इससे संकल्प द्वारा कामके जगनेसे सर्व कार्य सिद्ध होंगे, इसलिये भगवान् कल(मधुर)गान गाने लगे (करने लगे). उस गानने वाम(सुन्दर) दृष्टिवाली स्त्रियोंके मनको हरण कर लिया क्योंकि श्रुति कहती हैं कि 'तस्मात् गायन्तं स्त्रियः कामयन्त' कि गान करनेवाले पुरुषको स्त्रियां चाहती हैं, कारण कि गायक गानसे उनका मन हर लेता है अर्थात् भगवानने कलगानसे, (वेणुनादसे) सबको बुला लिया. यदि भगवान् अव्यक्त मधुरगान न कर व्यक्त स्पष्ट गान करते तो गीत सुनती हुई वहां ही स्थित हो जाती (यहां न आती). जिनकी दृष्टि उत्तम न थी उनको भगवानने बुलाया ही नहीं।।३।।

वेणुनाद होनेके अनन्तर, सर्व(कुमारिकाएं तथा विवाहित) गोपीजन

आई, उसका वर्णन करते हैं:

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।।४।।

कामवर्द्धक उस गीतको सुन कर श्रीकृष्णमें जिनका मन लग गया ऐसी व्रजकी स्त्रियां परस्पर जानेकी सूचना न देते हुए वहां आई जहां उनके कान्त भगवान् बिराजते थे, शीघ्रतासे आनेके कारण उनके कानोंके कुण्डल चंचल हो रहे थे।।४।।

यद्यपि भगवानने कुमारिकाओंको ही बुलाया था, कारणकि उनको ही इन रात्रियोंमें रमण करनेका वरदान दिया था, तो भी बुलावा तो सबको समान था और निरोध तो सबका करना था. इसलिये नाद श्रवण करते ही, सब आ गई और भगवानने जो गान किया था वह कामको बढ़ानेवाला तथा लौकिकदेहको नाश करनेवाला था, अतः अलौकिकदेहमें अलौकिक दिव्यकाम उत्पन्न हुआ वह(काम) इनको यहां लाया. वे व्रजांगनाएं तो प्रथम ही भगवदीय थीं, इस कारणसे कृष्णने जिनका मन आकर्षित कर लिया है, वैसी वे शीघ्र ही जहां उनके वे कान्त थे वहां आई. जिससे यह बता दिया कि जिनको बुलाया वे ही पहले आ गई. क्योंकि उन(कुमारिकाओं)के मुख्य कान्त ये ही थे. अतः इसी प्रकार आने लगीं कि जिससे उद्यमका एक दूसरेको पता न लगे. प्रत्येक कुमारिका कृष्णको अपना-अपना कान्त समझ कर शीघ्रतासे शीघ्र-शीघ्र आई.

मूलमें 'स' पद देनेका तात्पर्य यह है कि जिनको पहले अपना पति किया था, वे जहां थे, वहां ऐसी शीघ्रतासे आई, जैसे शरीरको दुःखका भी ज्ञान न रहा, जैसेकि शीघ्रतासे चलनेसे कानोंके कुण्डल, जो हिलते थे, जिससे कानोंमें पीड़ा होती थी किन्तु उसका भान भी उनको न रहा.

वे स्त्रियां गौड देशकी थीं, वहां(गौड देश)से ही जो आई थीं वे कुमारिकाएं थीं. मथुरादेशके गांवोंमें रहनेवाली स्त्रियां भी पहले कुण्डल पहनती थीं अथवा कुण्डलसे कानका भूषण 'बाला' आदि समझना चाहिये।।४।।

प्रसंगसे कुमारिकाओंके अतिरिक्त जिनको आह्वान नहीं किया गया था वे भी आईं उनका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चित् दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ।।५।।

भगवानके किए हुए नादके सुननेसे, जिनके अन्तःकरणमें भगवानसे मिलनेकी विशेष उत्कंठा जगी थी उनमेंसे कितनीक दुहती हुई आधेमें ही दुहना छोड़कर, कितनीक चूल्हे पर चढे हुए दूधको नीचे उतारे बिना, कितनीक दूधमें पकी हुई गेहूंकी खीर चूल्हे पर धरी हुई छोड़कर, इसी प्रकार सब अपने कार्यकी परवाह न कर भगवानके पास शीघ्र पहुंच गई।।५।।

सोलह हजार कुमारिकाएं थीं उनके सिवाय अन्य गोपियां गुणोंके मिश्रणसे नव प्रकारकी थीं और एक प्रकार निर्गुणोंका था यों मिल कर दश प्रकारकी थीं. वे घरके काममें लगी हुई थीं. किन्तु नाद श्रवणसे भगवानसे मिलनेकेलिये विह्वल हो गई जो कामके बिगड़ जानेका भी ध्यान न कर शीघ्रतासे भगवानके पास आ गई.

वे(आई हुई) गोपियां जातिधर्म, कुलधर्म और लोकधर्ममें परायण तीन-तीन भाववाली थीं. उनमें जातिधर्मवाली, गोपकी स्त्रियां थीं, जिनका(धंधा) दूधका है, वे प्रथम गौ आदिका दोहन कर दूध पैदा करती हैं, अनन्तर उसकी सावधानीसे 'रक्षा'(सम्भाल) करती हैं पश्चात् दूधका प्रलय(खोवा) करती हैं. वे प्रथम तीन प्रकारकी(सात्त्विक, राजस एवं तामस) कही हैं उनके भी यूथ हैं इसलिये मूलश्लोकमें बहुवचन कहा है.[१]

१.उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयके नियामक गुण तीन हैं. सात्विक, राजस एवं तामस

कितनीक नाद श्रवणके समय दूधका दोहन करती थीं उनको बीचमें ही छोड़ गौ और बछड़े बन्धे पड़े रहे दूधका पात्र आधा ही भरा पड़ा था ऐसी अवस्थामें उनको वैसी दशामें छोड़ना कठिन था, तो भी, छोड़ कर भगवानके पास आई कारण कि उनको यह विचार हुआ कि न जाने दूसरे क्षणमें भगवान् कहीं चले जायेंगे इसलिये शीघ्र चलें.

दूसरी ऐसी थीं, जिन्होंने गरम करनेकेलिये दूधको चूल्हे पर धरा था उसको चूल्हे पर ही छोड़ कर भगवानके पास आ गई.

तीसरी वे थीं जिन्होंने भोजनकेलिये गेहूंको दूधमें पकाया था वह तैयार भी हो गया था तो भी उसको चूल्हेसे नीचे उतारे बिना भगवानके पास पहुंच गई, यह विचार नहीं किया, कि इसके जलजानेसे सर्वनाश होगा अर्थात् दूध गेहूं और शक कर सर्व व्यर्थ होंगे. श्लोकमें दिये 'अपरा' शब्दका भाव यह है कि प्रत्येकका गुणोंसे (सात्विक, राजस और तामस गुणोंसे) स्वभाव भिन्न हैं. इसी भांति इस

श्लोकमें जाति धर्मवाली तीन(सात्विक-राजस, राजस-राजस और तामस-राजस) राजस थीं।।५।।

निम्न श्लोकमें सात्त्विकाओंका वर्णन करते हैं:

परिवेषयन्स्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशूनथ ।

शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ।।६।।

कितनीक परोसना छोड़, कितनीक बच्चोंको दूध पिलाती थीं, उसको आधेमें छोड़, कितनीक पतियोंकी सेवाको आधेमें छोड़ और भोजन करना भी आधेमें त्यागकर, अपने कान्त कमलनयन भगवानके पास पहुंची।।६।।

पति तथा पुत्रोंकी सेवा करना भी स्त्रियोंका धर्म है, किन्तु पतिकी भोजन तथा शयन समय सर्वप्रकारसे परिचर्या करना स्त्रीका विशेषस्वधर्म है और इसी प्रकार छोटे बच्चोंको स्तनपान कराना(अपना दूध देना) भी स्त्रियोंका विशेष स्वधर्म है.

पतिको परोसना, यह सेवा तो स्त्रियोंकेलिये 'सृष्टि'धर्म है. परिवेषण (परोसना) यह सृष्टिधर्म इसलिये है, कि भोजनसे(वीर्य) 'उत्पन्न' होता है, वीर्य द्वारा 'सन्तति' होती है. स्तनदानसे बालकोंका पालन होता है शेष कार्य प्रलय धर्म हैं. इसी प्रकार इन तीन कार्योंसे इस श्लोकमें तीन तरहकी सात्विक गोपियोंका वर्णन किया है. जैसाकि परोसनेवाली राजस-सात्विकी है, स्तनपानसे रक्षा करनेवाली सात्विक-सात्विकी है और केवल पतिसेवा करनेवाली तामस-सात्विकी हैं, कारणकि, इस सेवामें भोगकी अभिलाषा होनेसे तामसत्व है. ये तीनों प्रकारकी गोपियां अपने-अपने पृथक्-पृथक् कार्योंको त्याग कर भगवानके वहां पहुंची.

उपरोक्त प्रकारसे जाति तथा कुलधर्मवाली तीन-तीन प्रकारकी गोपियोंका वर्णन कर अब चतुर्थ पाद 'अश्नन्त्योऽपास्यभोजनम्'से लोकधर्मवाली तामस गोपीजनका वर्णन करते हैं, नाद श्रवण समय, जो गोपियां भोजन कर रही थीं, भोजनको आधेमें ही त्याग कर भगवानके पास गई वे लोकधर्मवाली तामसी गोपियां थीं।।६।।

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।

व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ।।७।।

कितनी एक लीपती थीं, कितनी एक उबटन कर रही थीं, कोई आंखोंमें

अंजन(सुरमा) आंज रही थीं, कितनी एकने तो शीघ्रताके कारण वस्त्र और आभूषण उलट-पुलट पहन लिए और उतावलीसे श्रीकृष्णके पास आ पहुंची।।७।।

कितनीक गोपियां शरीर पर अरगजा आदिसे लेप[१] करती थीं, कितनीक तेल फुलेलसे उबटनकर[२] रही थीं, यहां भी क्रमके अनुसार,(राजस, सात्विक और तामस) क्रम लेना. शरीरसेवासे गौकी सेवा मुख्य है उससे पतिकी सेवा विशेष समझनी चाहिये. इनमें जो कितनीक अंजन आंज रही थीं वे निर्गुण थीं. कितनीक कहनेसे यह बताया है कि वैसा अधिकार होना दुर्लभ है, आंखोंमें अंजन डालनेवाली गोपियां ज्ञानमार्गका शोधन करनेसे निर्गुणा हैं अतः वैसा अधिकार पाना दुर्लभ है. इस प्रकारकी गोपियोंको भगवानके पास आनेमें देहका भी अनुसन्धान जब न रहा तब देहके धर्मोंका विचार कैसे रहेगा? इसी कारणसे, आभूषण एक स्थानके दूसरे स्थान पर धारण कर लिये एवं वस्त्र भी नीचेके ऊपर और ऊपरके नीचे पहन लिये. इस प्रकार सबका साधारण उद्यम बताया.(कोई कहते हैं कि वस्त्र उलट-पुलट मार्गमें हुए हैं) वैसी गोपियां भी कोई कृष्णके पास पहुंच गई, कितनीक नहीं पहुंची.

१-२.अथवा वे गोपियां घरको लीप रही थीं तथा आभूषण तथा बर्तनोंको साफ कर रही थीं.

जो गोपियां जानेकेलिये उद्यमशील भी हुई किन्तु पति आदिके शब्दके परायण हुई अर्थात् उन शब्दोंसे रुक गई वे, भगवानके पास (भजनानन्द पानेकेलिये) न आ सकीं और जिन्होंने उन(पति आदि)के शब्दोंकी परवाह नहीं की और किसी प्रकारकी अपेक्षा नहीं की तथा आवश्यक देहधर्म भी जिनके विपरीत हो गये थे उस पर भी ध्यान नहीं दिया, वे ही कृष्णके पास पहुंच गई समय पर भजनानन्दका आनन्द भी उन्होंने ही पाया।।७।।

भगवानके पास भजनान्द रस पानेकेलिये जो न पहुंच सकीं उनके न आनेका कारण इस श्लोक में कहते हैं:

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिः पुत्रबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ।।८।।

वेणुनाद श्रवण कर, जब गोपियां भगवानके पास आने लगीं, तब उनको पति, पिता, पुत्र और बन्धुओंने जानेसे रोका तो भी जिनका हृदय हरिने हरण कर

लिया है वे रुकी नहीं, क्योंकि भगवानने उनको मोह लिया था, (शेष रुक गई)।।८।।

स्त्रीजातिकी रक्षा(पालन-पोषण)का भार स्त्री पर नहीं है, उसकी बचपनमें पिताको रक्षा करनी चाहिये, युवावस्थामें पति उनकी रक्षा करें, वृद्धावस्थामें पुत्र उनकी रक्षा करें, इस प्रकार स्त्रीकी रक्षाका भार स्त्री पर नहीं है, अतः पिता, पति और पुत्र न हो तो जातिवाले सगे सम्बन्धी भी उनकी रक्षा करें, इसी कारणसे, स्त्रीको उनकी आज्ञानुसार चलनेकी मर्यादा है. गोपियां जब घरसे निकल कर जाने लगीं तब इस मर्यादानुसार पति-पितादि बान्धवोंने उनको जानेसे रोका. यद्यपि उन पति आदिकोंका भी भगवानने निरोध किया था, अर्थात् वे विरुद्ध थे, किन्तु अबतक भगवानके भजनानन्दरूप फलमें कैसा अनन्त अद्भुतरस है उससे वे अनभिज्ञ(अनजान) थे इसीलिये साधनमें लगे हुए थे. जिससे वे समझते थे कि स्त्रियोंको भगवानका भजन स्वतन्त्र सीधा नहीं करना चाहिये पति द्वारा ही करना चाहिये. इसी प्रकारसे(पति द्वारा) भजन ही स्त्रियोंकेलिये भगवानका सच्चा भजन है. इसी भांति पति आदिका कहा हुआ रोकनेवाला शब्द केवल कान तक पहुंचनेवाला है, किन्तु अन्तःकरण पर उसका प्रभाव नहीं, कारणकि जीव अन्तःकरणके वश है और अन्तःकरणके प्रवर्तक भगवान् हैं, अतः जिनका अन्तःकरण भगवानमें लग गया था, उन पर पति आदिके शब्दका प्रभाव वैसे न पड़ा जैसे प्रवाहमें जाती हुई नौका पर केवल 'ठहर-ठहर' शब्दका प्रभाव नहीं पड़ता है. अतः भगवानमें आसक्त आत्मावाली गोपियां रुकी नहीं, भगवानके पास चली गई.

इस प्रकार कहनेका आशय यह है, कि जिनका अन्तःकरण भगवानमें आसक्त नहीं था वे रुक गई. भगवानमें आसक्त चित्तवाली गोपियोंको किसी प्रकारका भय नहीं था, तथा उनको स्वधर्म(देहधर्म-मर्यादाधर्म)की भी परवाह न थी क्योंकि उन गोपियोंका भगवानमें मोह था अतः यदि भगवानके पास न जातीं तो मूर्छित होके भूमि पर गिर पड़तीं, मोहितोंको किसी प्रकारका भय और स्वधर्मका भान नहीं होता है.

(यह लेख श्रीगुसांईजीका है-इस प्रकार गोपियां पति आदिके वचनोंकी परवाह न कर भगवानके पास पहुंची जिनको व्रजवासियोंने प्रत्यक्ष देखा था तो भी उन्होंने रात्रिमें अपनी स्त्रियोंको अपने पास ही सोई हुई पाई, अर्थात् उस समय

हमारी स्त्रियां तो हमारे वचनोंकी परवाह न कर भगवानके पास गई हैं इसको भूल गये भगवानने प्रथम तो उन(व्रजवासियों)को स्त्रियां भगवानके पास गई इसका ज्ञान कराया, पुनः अज्ञान कराया, यह तो कीचड़में पैर डाल कर फिर धोनेके समान ही हुआ जिससे अच्छा तो यह होता, कि उनको प्रथम ज्ञान ही न कराते, इस शंकाका समाधान करते हुए प्रभुचरण आज्ञा करते हैं, कि भगवानके पास गोपियोंके जानेका व्रजवासियोंको प्रथम ज्ञान करानेका तात्पर्य यह है कि उन(व्रजवासियों)को यह दिखाना था कि गोपियोंका भगवानमें सर्वात्मभाव सिद्ध है)।।८।।

इस प्रकार दश प्रकारकी गोपिकाएं(३-रजोगुणी, ३-सतोगुणी, ३-तमोगुणी और १-निर्गुणी) भगवानके पास प्राप्त हुई, इनके सिवाय जो प्रथम भक्त थीं किन्तु भजनानन्दके सुखका अनुभव नहीं किया था, उनके जानेमें कालने रुकावट डाली जिससे वे भजनानन्द रसपानार्थ भगवानके पास न पहुंच कर सीधी भगवत् सायुज्यको प्राप्त हुई, इसका वर्णन निम्न ९वें श्लोकमें कहते हैं मुक्ति कर्मक्षयसे होती है, कर्मक्षय ज्ञानसे शास्त्रीय मर्यादा विहितभक्तिसे वा भगवत्सानिध्य दर्शनसे होता है ये तीनों यहां नहीं थे तो इनकी मुक्ति कैसे हुई? इस शंकाके निवारणार्थ कर्मक्षयका प्रकार शुकदेव जी निम्न १०वें श्लोकमें कहते हैं इस प्रकार पाप पुण्य कर्मोंके क्षय होनेसे मुक्त हो गई उसका वर्णन निम्न ११वें श्लोकमें करते हैं:

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः।।९।।
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः।।१०।।
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः।।११।।

कितनीक गोपियां घरके भीतर ही पति आदिके रोकनेसे रुक गई जब निकलनेका मार्ग उनको न मिला, तब उन्होंने आंखें बन्दकर, मनमें श्रीकृष्णका ध्यान किया।।९।।

प्यारे श्रीकृष्णके दुःसह(जो मुश्किलसे सहा जाय) विरहके तीव्र(तेज) ताप होनेसे उनके पापकर्म धुल गए और ध्यानसे प्राप्त, श्रीकृष्णके आलिंगनसे

प्राप्त सुखके भोगसे उनके पुण्यकर्म क्षीण हो गए।।१०।।

अन्तर्गृहगता(जो पति आदिके रोकनेसे घरमें रह गई थीं) गोपियोंने पाप फल भोगके अनन्तर जब परमात्माका हृदयसे दर्शन किया, तब भगवानका जार बुद्धिसे आलिंगन(मिलाप) कर इस प्रकार पाप-पुण्यफल भोगनेसे कर्मक्षय हो गया, जिससे सब बन्धन टूट गए और गुणमय देह छूट गई।।११।।

दैवगति(प्रारब्ध वा भगवदिच्छा)से कितनी ही घरके भीतर रह गई, क्योंकि गोपकी स्त्रियां होनेसे उनमें चातुर्य(चालाकी) न था, बड़ी भी नहीं थीं जिससे वे पतियोंसे रक्षित होनेसे उनके साथ थीं, जिससे बाहर न निकल सकीं, इस प्रतिबन्धको मिटानेकेलिये कृष्णका ध्यान करने लगीं, किन्तु कृष्ण हमारा नायक(जार) है और हम उनकी नायिकाएं है इस भावनासे ध्यान करती थीं जिससे प्रतिबन्ध मिटा नहीं यदि ऐसा भाव नहीं होता, तो प्रतिबन्ध ही नहीं होता. जार बुद्धिसे भी आंखें बन्दकर, भगवान(कृष्ण)के ध्यानमें मग्न हुई जिससे मुक्त हो गई।।९।।

यह बिना विवादके मानी हुई बात है कि कर्मोंके फल भोगनेसे कर्मोंका नाश हो जाता है इस सिद्धान्तानुसार गोपियोंने पापकर्मोंको अपने परम प्रियके दुःसह विरहसे उत्पन्न तीव्र अग्निमें जला दिये क्योंकि करोड़ों ब्रह्माके कल्पोंमें कुम्भीपाकादि नरकोंमें जितना दुःख होता है, उतना दुःख भगवानके क्षणमात्र विरहमें हुआ, जिससे सर्व पापोंके फलका भोग समाप्त हो गया. श्लोकसे उत्तरार्धमें पुण्योंके फल भोगका प्रकार कहते हैं जब पापक्षय हो गये, तब ध्यान करते हुए भगवानके दर्शन हुए परमात्मा अच्युत थे. ध्यान समय, गोपीजनोंको जारभावसे भगवानका दर्शन नहीं हुआ था(यदि जार भावसे होता, तो कर्म शेष रह जाते) जिससे भगवानसे उस समय हुए आलिंगनसे, सर्व पुण्यफल भोग हो गया. करोड़ों ब्रह्माके कल्पोंमें जो स्वर्गादि लोकोंमें पुण्यफलके सुख भोगे जाते हैं, उतने सुखोंका भगवदालिंगनसे क्षण मात्रसे, अनुभव हो गया अतः पुण्यकर्म भी क्षय हो गये।।१०।।

गोपियोंको ध्यानमें भगवानके जब दर्शन हुए तब सुख भोगनेकेलिये उन्होंने भगवानका आलिंगन किया था. पुण्योंके फलरूप सुखका उपभोग हो गया तो भी, उनको भगवानसे पृथक् करनेवाला कोई पाप कर्म नहीं रहा था, जो उनको भगवानसे अलग कर सके, इसलिये वे(जीव) भगवानसे ही मिले रहे, शेष कर्मोंसे

बने हुए उनके गुणमय देह नष्ट हो गये. जो जीव भगवानसे मिले हुए नहीं होते तो, अन्य किसी देहमें जीवका प्रवेश होता तो उस देहसे सम्बन्धी धर्म तथा अधर्मके फल उनको भोगने पड़ते, किन्तु भगवानसे आश्लिष्ठ(मिले) होनेसे, अन्य देहकी प्राप्ति न हुई, किन्तु मुक्ति हो गई. इसलिये श्लोकमें 'तं एवं परमात्मानं' कहा है उस ही (जिसको ध्यानमें देखा अथवा जिसमें जार बुद्धि थी) परमात्मासे मिल कर मुक्त हुए. यद्यपि पहले जारबुद्धिसे ही मिले थे किन्तु कर्म बन्धनके क्षीण होनेसे गुणमय देहको छोड़ दिया. तब जो अज्ञान अथवा अन्यथा ज्ञान रहता है, वह तो क्षण ही रहता है अतः वे प्रतिबन्धक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे न भगवानसे पृथक् कर सकते हैं और न दूसरी देह बना सकते हैं, शेष अविद्या रहती है, किन्तु वह भगवानकी शक्ति है जिससे जो भगवानसे मिले हुए हैं उनको मोहमें नहीं डाल सकती है, अतः वह भी निवृत्त हो गई जिससे वे मुक्त हो गये अर्थात् उन्होंने सायुज्यमुक्ति प्राप्त कर ली।।११।।

अब राजा इस विषयमें श्रुतिका विरोध दिखाकर शंका करता है:

राजोवाच

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्।।१२।।

राजा कहने लगे कि हे मुने! ये गोपियां कृष्णको अपना जार मानती थीं, कृष्ण ब्रह्म है, इस प्रकारका ज्ञान उनको नहीं था, तो ऐसी दशामें, गुण बुद्धिवाले उनके गुण प्रवाहका उपराम(शान्ति निवृत्ति) कैसे हुआ।।१२।।

''उस(ब्रह्म)को जान कर ही, जीव मृत्युको पार कर जाता है'' इस श्रुतिके अनुसार मृत्युसे पार जानेका अर्थात् मोक्ष होनेका साधन ज्ञान ही है, किन्तु जब मुक्ति किन साधनोंसे मिल सकती है वैसा विचार किया जाता है, तब यह समझमें आता है, कि मुक्ति भक्तिसे भी मिलती है, जैसे कहा है कि विष्णु भगवान्, भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं अन्य किसी साधनसे प्रसन्न नहीं होते हैं, वह(प्रसन्न हुआ भगवान्) ही मोक्ष देता है. मुक्ति मिलनेमें, भक्ति ही कारण है. इस प्रकार ज्ञान तथा भक्ति दोनों मुक्तिके साधन हैं और इन दोनोंकी एक निष्ठता भी बताई है जैसे कहा है कि ज्ञानयोग और निर्गुण भक्तिमार्ग दोनों मुझमें स्थित हैं, अतः उनमें कोई दोष नहीं है, ज्ञान तथा भक्तिमार्गका फल एक भगवान् ही हैं, अर्थात् भगवत्प्राप्ति(मुक्ति) ही है. गीताजीमें भी भगवानने कहा है कि मनुष्य मुझे

भक्तिसे ही पूर्णरीतिसे जान सकता है. इस प्रकारकी शंका राजाने जो की है उसके प्रमाण बता कर अब उनका स्पष्टीकरण करते हैं, मर्यादामार्गमें तो, ज्ञानसे ही 'मुक्ति' होती है और पुष्टिमार्गमें ज्ञान तथा भक्ति दोनोंसे मुक्ति मिलती है. किन्तु उन गोपियोंमें तो न ज्ञान है और न भक्ति ही है. जारभावसे जो भक्ति है, वह सगुण भक्ति है और जो ज्ञान है, वह भी मोहयुक्त होनेसे सगुण है, ये सगुण ज्ञान तथा भक्ति तामस हैं, तामस होनेसे मुक्ति कैसे हुई? यह प्रश्न श्लोकमें इस प्रकार किया है कि गोपियोंने कृष्णको पति वा जार माना था न कि उनको ब्रह्म समझ कर उनसे प्रेम किया था, श्लोकमें हे मुने! शुकदेवजीको इसलिये कहा है कि आपको इसके निर्णय करनेका पूर्ण ज्ञान है, विरोध तो साफ है, क्योंकि उनकी भगवानमें तथा अपनेमें गुण बुद्धि थी. गुण बुद्धि, जन्म-मरण अथवा संसारकी जड़ है, यदि कहो कि गुण बुद्धि आवागमनकी जड़ नहीं है, तो जो शास्त्र गुण बुद्धिके मिटानेकी शिक्षा देते हैं और उसके(मिटानेके)लिये उपाय बताते हैं वे सर्व शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे, और वैदिकपक्ष[१] तो उन्होंमें(गोपियोंमें) बनता नहीं, कारणकि उन्होंने उपनिषद् आदि शास्त्रों द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया है, ऐसी दशामें गुण बुद्धिवालोंके गुणोंका प्रवाह कैसे नष्ट हुआ? (वह समझा कर मुझे कहो)।।१२।।

१.वेदमें जो कहा है कि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म होता है यह वेदमें कहा हुआ पक्ष तो गोपियोंमें सिद्ध नहीं होता है क्योंकि वे उपनिषद् ज्ञानसे अनजान हैं.

इस शंकाका उत्तर शुकदेवजी निम्न श्लोकोंसे देते हैं:

श्रीशुक उवाच

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ।।१३।।
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ।।१४।।
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा।
नित्यं हरौ विदधते यान्ति तन्मयतां हि ते ।।१५।।

शुकदेवजी कहने लगे कि यह मैं पहले ही आपको शिशुपालके प्रसंगमें कह चुका हूं कि शिशुपाल जो भगवानका शत्रू था, वह भी सिद्धि(भगवत्सायुज्य मुक्ति)को प्राप्त हुआ, तो ये जो भगवानसे प्रेम करनेवाले गोपीजन हैं उनको

भगवत्सायुज्य(मुक्ति) हो तो उसमें क्या आश्चर्य है?।।१३।।

हे नृप! अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण और गुणोंके नियन्ता भगवानका प्राकट्य मनुष्योंके कल्याणकेलिए ही है।।१४।।

काम, क्रोध, भय, स्नेह, भक्ति, ऐक्य तथा सौहृद आदिमेंसे किसी प्रकार भी भगवानमें नित्य सम्बन्ध करनेसे (भक्तिमान् होनेसे) तन्मयता (भगवान से मिल जाना वा भगवद्रूपता) होती है।।१५।।

शिशुपालके मुक्ति प्रसंगमें आपको यह पहले ही कह चुका हूं. जैसे मुक्तिकेलिये शास्त्रमें ज्ञान तथा भक्ति दो साधन कहे हैं, अर्थात् उपासनाकाण्डमें भक्तिका प्रतिपादन है और ज्ञानकाण्डमें ज्ञानका प्रतिपादन है इन दो साधनोंके अतिरिक्त भगवत्स्वरूप भी निःसाधन दीनात्मा जीवोंकेलिये साधन कहा है. कारणकि, भगवान् मुक्तिदान देनेकेलिये ही सच्चिदानन्दरूपसे प्रकट हुए हैं, अतः जो कोई भी जिस किसी भी(काम, क्रोध आदि) उपायसे, भगवानसे सम्बन्ध जोड़ता है उसकी मुक्ति होती ही है.

ज्ञान और भक्तिका उपयोग भगवानको प्रकट करनेकेलिये किया जाता है, यदि भगवान् दूसरे प्रकारसे(अपनी इच्छासे) प्रकट हुए हों तो पश्चात् ज्ञानभक्तिका कोई उपयोग नहीं रहता है. यहां तो भगवान् अपने आप ही अपनी इच्छासे सर्व साधारण निःसाधन दीनजनोंको मुक्ति दान करनेकेलिये प्रकट हुए हैं. ईश्वरकी इच्छाका कोई नियामक नहीं है, इसलिये भगवानका प्राकट्य भक्तिसे हो, वा ज्ञानसे हो अथवा भगवान् अपनी इच्छासे प्रकट हो जावें. जब भगवान् सच्चिदानन्दरूपसे प्रकट नहीं हैं तब उनका आविर्भाव ज्ञान अथवा भक्तिरूप साधन द्वारा कराया जा सकता है. प्राकट्यकी दशामें अर्थात् जब वे स्वयं प्रकट बिराजमान हैं तब उनको कोई प्रयोजन नहीं है, इस कहनेका तात्पर्य यह नहीं समझना कि ज्ञान और भक्तिका कोई उपयोग नहीं है, जैसे वर्षाकालमें सर्वत्र जल सरलतासे मिलता रहता है तो भी कूप और तालाबका भी उपयोग होता है इसी भांति पुष्टिप्रभुके प्राकट्य समयमें प्रभुकी प्राप्ति, ज्ञान–भक्तिके सिवाय तथा प्रभु प्राप्तिमें प्रतिबन्धक कामादिसे भी सरल रीतिसे प्राणि मात्रकी हो सकती है. यह बात पहले सप्तम स्कन्धमें बता दी है कि शिशुपालने भगवानसे द्वेष करते हुए भी सायुज्यमुक्ति प्राप्त की थी. भगवद्द्वेषरूप पाप मुक्तिमें प्रतिबन्धक है, किन्तु वह पाप, द्वेषसे भी किये भगवत्स्मरणसे नष्ट हो गया. शिशुपालने भगवानसे द्वेष

किया, जिसमें उसका(शिशुपालका) दोष नहीं, क्योंकि भगवान् इन्द्रियोंके स्वामी हैं अतः द्वेषादि करानेवाले भी भगवान् हैं. भगवान् लीलामें, जैसे भावसे जिस प्रकार सुख लेनेकी इच्छा करते हैं, वैसा ही भाव(द्वेष, काम आदि) जीवके अन्तःकरणमें उत्पन्न करते हैं, जहां द्वेष भी मोक्षको सिद्ध करनेवाला बन जाता है वहां अधोक्षज(भगवानके) प्यारे मुक्त होते हैं इसमें क्या आश्चर्य? कुछ भी नहीं।।१३।।

भगवान् ज्ञान भक्ति साधनोंके बिना स्वरूपसे ही मुक्ति दान देते हैं इसकेलिये मुख्य उपपत्ति बताते हैं–

भगवानका प्राकट्य प्राणिमात्रको मोक्ष दान देनेकेलिये ही हुआ है यदि यह कार्य(प्राणिमात्रको मोक्षदेनेका कार्य) नहीं होता तो भगवान् स्वयं सच्चिदानन्दरूपसे प्रकट न होते, इसके सिवाय कोई अन्य असाधारण प्रयोजन नहीं था. भूभारहरण आदि कार्य तो साधारण कार्य है वे तो अंशरूपसे भी हो सकते हैं. अतः भगवान् विशेष मोक्ष देनेकेलिये ही सच्चिदानन्दरूपसे प्रकट हुए हैं.

हे नृप! यहां परीक्षितको(नृप) सम्बोधन दे कर यह बताया है कि आप पालक राजा हो इसलिये आपको विदित ही है, कि(कोई भी कार्य करनेको) सदैव राजा नहीं जाता है साधारण कार्य अपने मन्त्री आदिसे कराता है, जब कोई असाधारण कार्य होता है, तब कभी स्वयं जाता है. इसी प्रकार अब इस असाधारण कार्यकेलिये पूर्ण पुष्टि स्वरूपसे प्रकट हुए हैं.

वैसे आपका दूसरे प्रकारसे प्राकट्य नहीं हो सकता है, इसको समझानेकेलिये भगवानके विशेषण(गुण) दिखाकर सिद्ध करते हैं, कि मोक्ष देनेकेलिये स्वेच्छासे ही आप प्रकट हो सकते हैं अन्यथा नहीं, जैसेकि आप(भगवान्) जब सर्व प्रकारके ऐश्वर्यवाले हैं, स्वतन्त्र हैं, काल–कर्म–स्वभाव आदिके नियामक हैं किसी प्रकारकी आप(भगवान्)को अपेक्षा नहीं है, तब किसलिये भूमि पर आवें(प्रकट होवे) और यदि कहो कि, अपने स्वार्थकेलिये नहीं आवें, किन्तु दूसरोंकेलिये साधन सिद्धि करानेके वास्ते आवें, यों भी नहीं बन सकता है, जिसको चार विशेषण(१.अव्यय, २.अप्रमेय, ३.निर्गुण, ४.गुणात्मा) देकर सिद्ध करते हैं.

अन्योंकेलिये जो उपयोगी हो सके ऐसी वस्तु या तो ज्ञान अथवा

क्रियाका विषय होती है. किन्तु भगवान् अव्यय(अविकारी) होनेसे क्रियाके विषय नहीं बन सकते हैं और अप्रमेय होनेसे ज्ञानका भी विषय नहीं हो सकते हैं, इसी प्रकार निर्गुण होनेसे देह आदिसे सेवाका विषय भी नहीं बन सकते हैं, जिसमें गुण स्थित हों उसमें अन्य गुण उपयोगी हो सकते हैं जैसे भूख एक गुण हो तो उसमें भोजन(अन्नदान) समा सकता है, काम हो तो स्त्रीका उपयोग बन सकता है, इन्द्रियां हों तो उनके विषयोंका उपयोग हो सकता है. अतः भगवानमें इसी प्रकारका कोई अंश नहीं है जिसकी पूर्ति सेवा द्वारा सेवक कर सकें. इसलिये वह भजनीय भी नहीं हो सकते हैं, और विशेषमें यदि कहो कि लीलाकेलिये अपेक्षा होती है, तो भी जिस वस्तुकी जो कुछ अपेक्षा मानी जाये वह भी आपकी ही है, जिससे भगवान् ही सर्वगुणोंकी आत्मा हैं, अर्थात् सर्वगुण आपसे ही व्याप्त हैं, अतः साधन प्रकारसे भी, दूसरोंका कोई उपयोग नहीं है इसलिये यदि भगवान् अपने अथवा अन्यके प्रयोजनके अभावसे, साधनकी अपेक्षाके बिना मुक्तिदान नहीं करें तो भगवानका प्राकट्य निरर्थक(व्यर्थ) हो जाये।।१४।।

उपरोक्त १४वें श्लोकमें शुकदेवजीने यह कहा है कि भगवानका प्राकट्य प्राणीमात्र(साधनरहित जीवों)का उद्धार करनेकेलिये हुआ है, अतः किसी भी प्राणीका कैसे भी भगवानसे सम्बन्ध हो जाये तो उसकी ही स्वरूप द्वारा मुक्ति हो जाती है, जिसका वर्णन इस १५वें श्लोकमें शुकदेवजी करते हैं.

भगवानके साथ सम्बन्ध करनेके छः साधन हैं– १.काम २.क्रोध ३.भय ४.स्नेह ५.ऐक्य ६.सौहृद. इन छः साधनोंको कौन–कौन काममें लाते हैं, वह दिखाते हैं कि, १.'काम' स्त्रियोंमें होता है(स्त्रियां भगवानसे कामभावसे सम्बन्ध करती हैं) २.'क्रोध' शत्रुओंमें होता है(शत्रु भगवानसे द्वेषभाव सम्बन्ध जोड़ते हैं) ३.'भय' वध्योंको होता है(जिसको वध किया जाता है उसमें भय होता है अर्थात् वध्य(मारनेके लायक) भगवानके साथ भयसे सम्बन्ध करते हैं) ४.'स्नेह' सम्बन्धियोंमें होता है(ज्ञानी भगवानको अपनी आत्मा समझ उनमें ऐक्यभावसे सम्बन्ध जोड़ते हैं) ६.मित्रता भक्तोंमें होती है(भक्त ही भगवानको अपना सुहृद(सखा) समझ उनसे मित्र सम्बन्ध जोडते हैं). सच्चिदानन्द स्वरूपसे प्रकट पुष्टिपुरुषोत्तम स्वरूपसे इस प्रकार सम्बन्ध मात्र होनेसे ही, निःसाधन भक्तोंको भगवत्प्राप्ति आदि आनन्द मिल जाता है. अतः यहां पूर्व सिद्ध किये हुए ज्ञान तथा भक्तिका कोई उपयोग नहीं है. उनका तो मर्यादाके अनुसार स्वतन्त्र पृथक्

आविर्भावमें उपयोग होता है. अर्थात् यदि कोई भगवानको प्रकट कराना चाहे तो, ज्ञान व भक्ति द्वारा करा सकता है. अब तो भगवान् पुष्टि स्वरूपसे स्वयं अपने निःसाधन भक्तोंको आनन्द देनेकेलिये स्वेच्छासे प्रकट हुए हैं. अतः ज्ञान वा भक्तिकी अब कोई आवश्यकता नहीं है.

शंका–भगवान् इस (पुष्टि)अवतारमें ही मर्यादाभक्तोंको ज्ञान–भक्ति साधनोंका फल देते हैं या उनकेलिये पृथक् अन्य अवतार लेते हैं? इस शंकाका समाधान पूर्वमीमांसामें कहे हुए न्यायके अनुसार यह है कि जैसे एक वस्तुको दो पृथक्–पृथक् पदार्थसे सम्बन्ध हो तो, वह एक ही वस्तु दोनोंका कार्य सिद्ध कर देती है, वैसे ही भगवान् दोनोंसे सम्बन्धवाले होनेसे, मर्यादामार्गीयको ज्ञान तथा भक्ति साधनोंके अनुसार फल देते हैं उन(मर्यादामार्गीयों)केलिए पृथक् प्राकट्य की आवश्यकता नहीं है. अर्थात् एक ही अवतारमें दोनों फल दे सकते हैं और दिये भी हैं, तथा नहीं भी दिये हैं क्योंकि आप स्वतन्त्र हैं. श्लोकमें शुकदेवजीने 'वा' शब्द दिया है, उसका आशय यह है, कि शुकदेवजीका केवल इन छः उपायोंमें आदर नहीं है, किन्तु अन्य(दूसरा) कोई भी उपाय हो और वह भी भगवानसे नित्य सम्बन्ध कराता होवे तो, उससे भी सिद्धि हो सकती है यदि काम–क्रोधादिसे सर्वदा(नित्य) सम्बन्ध न हो तो मुक्ति न हो कर 'अन्ते या मतिः सा गतिः' इस न्याय अनुसार अन्तमें जैसी मति(बुद्धि) वैसी गति होगी अर्थात् उसको भगवानके सिवाय दूसरा ही फल मिलेगा. भगवान् प्रपञ्चके विरोधी हैं और जो प्रपञ्चमें आसक्त है उसको कर्मोंके कारण अन्तमें भगवानका स्मरण होगा ही नहीं, जिससे उसकी मुक्ति भी नहीं होगी. अतः जो भगवानसे किसी भी उपाय द्वारा नित्य सम्बन्ध जोड़ते हैं वे तन्मयताको प्राप्त होते हैं अर्थात् भगवन्मय हो जाते हैं.

शंका–जो कामादि भावनासे सम्बन्ध करते हैं, उनको अन्य प्रकारके दुःख सताते हैं जिससे वे नित्य सम्बन्ध कैसे कर सकेंगे? अर्थात् दुःखोंके बोझसे दब जानेसे नित्य स्मरण वा सम्बन्ध न हो सकेगा इस संशयको मिटानेकेलिये शुकदेवजीने मूलश्लोकमें भगवानका नाम 'हरि' दिया है, जिसका आशय है, कि वे(भगवान्) दुःखहर्ता हैं अतः सम्बन्ध जोड़नेवालेके सर्वदुःखोंका हरण कर लेते हैं, जिससे उसका जब भगवानसे नित्य सम्बन्ध बन जाता है, तब उसको सर्व पदार्थ मात्र भगवद्रूप स्फुरित होते हैं, गोपीजनोंका कामभावनासे, भगवानसे जब

सम्बन्ध हुआ, तब उनको जगत् भी भगवन्मय देखनेमें आया तो अपनी आत्मा भगवन्मय देखनेमें आवे, इसमें किसी प्रकार आश्चर्य नहीं करना चाहिये और न इसमें शंकाशील होना चाहिये. कारणकि सर्वत्र भगवानके आवेश होनेसे, सर्वजगत् कैसे भगवन्मय हो जाता है वैसे ही आप भगवन्मय हो जाते हैं।।१५।।

जीवेऽन्तःकरणे चैव प्राणेष्विन्द्रियदेहयोः।
विषयेषु गृहेऽर्थे च पुत्रादिषु हरिर्यतः।।का.१।।
तादृशीं भावनां कुर्यात् कामक्रोधादिभिर्यथा।
पूर्वप्रपञ्चविलयो यथा ज्ञाने तथा यतः।।का.२।।

कारिकार्थः मनुष्य भगवान्की भावना करता है और वह भावना जब बढ़ कर चर्मसीमाको पहुंचती है तब उस(भावनावाले)के अपने जीव, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह, विषय, गृह, अर्थ तथा पुत्रादिमें भगवानका आवेश होता है, अतः काम-क्रोधादिसे भी वैसी तीव्रभावना करनी चाहिये जैसे ज्ञानीका ज्ञानसे प्रपञ्च लय हो जाता है वैसे ही भक्तका प्रपञ्च भी नष्ट हो जाए।।१-२।।

गोपियां मुक्त हुई हैं, इसमें कौनसा आश्चर्य है आगे बहुत ही इस प्रकार मुक्त होंगे इसका वर्णन १६वें श्लोकमें करते हैं:

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते।।१६।।

अजन्मा योगेश्वरोंके ईश्वर, ऐश्वर्य आदि छ भगवाले भगवान् श्रीकृष्णमें आप किसी प्रकारका आश्चर्य मत करो क्योंकि इससे जगत(स्थावर-जंगम सब)का मोक्ष होता है।।१६।।

हे नृप! आपको भगवान्में असंभावना बुद्धि रख कर ऐसा विस्मय नहीं करना चाहिये कि कामादिसे भगवानने गोपियोंको मुक्ति वा रसदान कैसे दिया होगा? क्योंकि असम्भावना बुद्धिसे सत्यकी स्फूर्ति न हो कर असत्य विचार(भाव) उत्पन्न होते हैं. आपको यह विचारना चाहिये कि यह भगवान् हैं अर्थात् षड्गुणोंसे युक्त होनेसे, ''कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं''.

मोक्ष प्राप्तिकेलिये जिस ज्ञानादिकी आवश्यकता होती है, वे सब भगवान्के पास हैं ही, यदि आप समझते हो, कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होगी तो ज्ञान तो भगवान्के पास सिद्ध ही है वह भी दे देगें और विशेष यह है कि आपके सिवाय कोई दूसरा जिसने भगवानका माहात्म्य न देखा हो वह तो विस्मय कर

सकता है आपको तो विस्मय करना ही नहीं चाहिये कारण कि आपने तो गर्भमें ही भगवानका माहात्म्य देखा है.

जो निर्दोष हैं, अर्थात् जिसमें कुछ भी दोष मात्र नहीं है वह सब कुछ कर सकता है, दोषोंकी जड़ 'जन्म' है, जिसमें वह नहीं है तो उसमें दोष भी नहीं है, इसलिये भगवान् अजन्मा होनेसे निर्दोष हैं भगवानके सिवाय दूसरे सब जन्म लेते हैं, वे(जन्म लेनेवाले) उन(गोपियोंकी वा जन्म लेनेवालों)की मुक्ति नहीं कर सकते हैं, कारण कि दोनों जन्म लेनेसे दोषी हैं अतः दोनों समान हैं.

और विशेष यह है कि जो साधन करता है वह मुक्त होता है, मन सर्व पदार्थोंमेंसे आसक्तिको छोड़ निवृत्त हो जाये तब वह 'साधन' बनता है वैसा मन तो योगसे बन सकता है उस योगका नियामक भी भगवान् ही हैं. किसी दूसरेका भी किसी भी साधनसे मोक्ष होता है तो वह भी भगवानकी इच्छासे ही होता है कारण कि उनको भी नियममें चलानेवाले भगवान् ही हैं, किञ्च(कुछ ओर) फलरूप तो सदानन्द भगवान् ही हैं. जो कोई प्रपञ्चसे मुक्त होगा वह भगवानको ही प्राप्त करेगा. अतः साधनोंसे भी ये(भगवान्) ही प्राप्त किये जाते हैं. वह भगवान् आप स्वयं ही यहां सम्बन्धवाले(गोपियोंके साथ सम्बन्धवाले) हुए हैं इसलिये यहां कुछ भी अयोग्य नहीं हुआ है. जिस(कृष्ण)से यह सारा प्रपञ्च मुक्ति पायेगा तो उसमें असम्भावना कैसी?

श्रीशुकदेवजी, इस प्रकार भगवानके माहात्म्यकी भावना तीव्र होनेसे अपनेको व्रजमें स्थित समझ कर कहने लगे, अथवा ज्ञान दृष्टिसे कहने लगे कि भगवान् कृष्ण साक्षात् स्वयं वा परम्परासे सबका मोक्ष करेंगे यह कथा आगे 'स्वमूर्त्या' इन दो श्लोकोंसे ११वें स्कन्धके अध्याय १में शुकदेवजी कहेंगे अथवा ''कृष्णं कान्तं परं विदुः'' इस श्लोकमें राजाने यह पूछा है कि गोपियोंने भगवान् कृष्णको अपना श्रेष्ठपति समझा था कि ब्रह्म, तब उनका संसार कैसे नाश हुआ? जिसका भाव यह है कि गोपियां सगुण(गुणवाली) नहीं हैं, क्योंकि सगुण वे होते हैं जिनको शास्त्र पढ़नेसे अन्तःकरणमें सत्वगुण उत्पन्न होकर, ज्ञान पैदा हुआ हो, किन्तु गोपियां तो आनन्द स्वरूप, अनन्त गुण प्रकट पुरुषोत्तमके सौन्दर्यादि गुणोंमें आसक्त होनेसे निर्गुण हैं. जब वे निर्गुण हैं, तो उनके गुणनिधि प्रवाह(संसार)का नाश हुआ यह कहना असंगत है, क्योंकि नाश उसका होता है, जिस वस्तुका अस्तित्व है. जो वस्तु है ही नहीं, उसका नाश कैसे होगा? गोपियां निर्गुण हैं,

अतः उनमें सत्वादि गुण हैं ही नहीं, अतः उनका (उनके गुणोंका) नाश भी नहीं हुआ है तो श्लोकमें इस प्रकार क्यों कहा गया है? राजाने शुकदेवजीको 'मुने' यह सम्बोधन इसलिये दिया है कि स्वयं शुकदेवजीको यह अनुभव है, कि जब अन्तःकरणमें सत्वगुण प्रकट होता है तब वह ज्ञानको उत्पन्न करता है सत्वगुणके अभावमें ज्ञान नहीं, जिसका आशय यह है कि गोपियोंमें सत्वगुण नहीं था, अतः उनमें यह भी ज्ञान न जगा कि कृष्ण ब्रह्म हैं इससे भी सिद्ध है कि वे सगुण नहीं थीं किन्तु निर्गुण थीं.

परीक्षितके इस प्रकारके प्रश्नका उत्तर १३वें श्लोक 'उक्तं'में शुकदेवजी देते हैं कि आपको सातवें स्कन्धमें इसका उत्तर दे चुका हूं, कि शिशुपाल द्वेषसे, गोपियां कामसे भगवानको प्राप्त हुई.

इस प्रकार कहनेका भावार्थ यह है जैसे शिशुपालकी बुद्धि तो गुणातीत भगवानमें निष्ठ थी, किन्तु भगवानसे द्वेष करनेके कारण, वह तामस(तमो)गुणवाला था, तो भी अपने अधिकारके अनुसार द्वेष करनेवाले शरीरके पतन(नाश) होते ही अपने अधिकारके अनुसार भगवानके चरणोंमें प्राप्त हुआ, वैसे (ही) अन्तर्गृहगता गोपीजन भी भगवानमें आसक्त चित्त होनेसे निर्गुण होते हुए भी जारबुद्धिके कारण, सगुण मानी जाती हैं, यह सगुणत्व सर्वात्मभाव होनेमें रुकावट डालता है, जिससे रस प्राप्तिमें विलम्ब होता है, किन्तु शिशुपालकी भांति, अपने अधिकारानुसार सगुणत्वके नाश हो जानेसे, सर्वात्मभाव प्रकट हुआ, जिससे वे अपने पति(भगवान्)का भजन करने लगीं, इसलिये इसमें किसी प्रकारकी शंका करना व्यर्थ है, क्योंकि, इसमें किसी प्रकारका दोष नहीं है. यदि इसको निर्दोष नहीं माना जायेगा, तो भगवानके ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'' इन वचनोंकी मर्यादा टूट जायेगी. शुकदेवजीने इन सब विषयोंको ध्यानमें रख कर कहा है, नृप! 'उक्तं पुरस्तात्' मैंने आपको यह प्रथम ही कह दिया है.

जब यह फल सर्वात्मभावसे शरण जाने पर मिलता है, तो इनको सर्वात्मभाव बिना यह फल क्यों मिला? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं, कि शिशुपाल भगवान्से मोक्ष फल नहीं चाहता था, किन्तु उनसे द्वेष ही करता था, जो द्वेष, मुक्तिका वैरी है, तो भी ज्ञानियोंको भी कष्टसे मिलनेवाली मुक्ति भगवानने शिशुपालको जैसे दी, वैसे (ही) जारबुद्धिसे भी अपने शरण आई हुई गोपियोंको

सर्वात्मभाववाला फल दिया. जिससे यह समझाया है कि जैसे मुक्ति तथा द्वेषमें विषमता है वैसे (ही) जारबुद्धिसे किये हुए भजन और भगवान्के रसमें भी विषमता है, तो भी भगवान्ने अपनी इच्छासे शिशुपालको मुक्ति गोपियोंको अपने रसका दान दिया है.

भगवानने अपनी क्रीड़ाके उपयोगमें आनेवाले गोकुलको अंगीकार किया है, जिससे गोकुलके सर्व, निर्गुण हैं तब इनको सगुण कैसे कहा जाता है? और जब भगवान् आगे चल कर सर्वात्मभावसे शरणागतको मिलनेवाला फल इनको देना ही चाहते थे, तब प्रथम ही उन(गोपियों)में वैसा ही भाव क्यों नहीं पैदा किया?

इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि, जिन(गोपियों)का भगवान्से साक्षात् सम्बन्ध था, उन समस्त गोपीजनोंके शरीर भी निर्गुण थे, यह जतानेकेलिये ही स्वयं भगवान्ने कितनीक गोपियोंकी देहोंको सगुण बनाया. पहली(साक्षात् सम्बन्धवाली) गोपियोंका भाव भी निर्गुण था अतः भगवान्ने इन(देहसे सगुण गोपियों)में भाव भी सगुण स्थापित किये और फिर उन सगुण देह तथा भावोंका नाश करनेवाले भी आप ही हैं कोई दूसरा नहीं, यह बतानेकेलिये ही भगवानने सगुण भावका नाश किया.

गोपियोंको भगवानके विरहसे प्राप्त दुःख, तथा संयोगसे मिला हुआ सुख कर्मोंसे नहीं हुआ है इसको समझानेकेलिये कर्मक्षयकी भांति अपनी प्राप्ति स्वयं कराई. (प्रभुचरण स्पष्ट कहते हैं कि) यह सब मेरे स्वामीने ही किया है. यह लीलाका विषय पुष्टिमार्गीय है. इसमें शंकाओंका परिहार(समाधान) भी पुष्टिमार्गीय रीतिसे किया गया है अतः मर्यादामार्गके अनुसार जो दोष देखनेमें आवें उनको यहां स्थान नहीं है. इसलिये श्रीशुकदेवजीने भी गोपियोंके सगुणदेहका त्याग ही कहा है. आगे गोपियोंको गुणातीत देह प्राप्त हुई यह योग्य होनेसे, स्पष्ट नहीं कहा. यदि निर्गुण देहकी प्राप्ति गोपियोंको, आगे होनेवाली न होती, तो श्रीशुकदेवजी कहते, कि उनके देह नष्ट हो गये यों न कह कर गुणमय विशेषण देनेका यही रहस्य है, कि गोपियोंकी सगुणता नाश कर उनमें निर्गुणता भगवानने स्थापित की अन्यथा 'गुणमय' पद जो शुकदेवजीने दिया है वह निरर्थक हो जाता।।१३।।

भगवानने यह समस्त लीला ऊपर कहे हुए कारणोंकेलिये ही की है, यह

आपका कहना हम कैसे मानें जब कि उसमें किसी प्रकार उपपत्ति नहीं दी गई है? इस प्रकारकी शंकाका निवारण करनेकेलिये 'नृणां निःश्रेयसार्थाय' श्लोक कहा है.

जो भक्त भगवानके साथ लीलामें स्थित हैं, और विशेषतया रासक्रीड़ा करनेवाले जो भक्त हैं, उनको तथा भगवान् एवं भगवानकी लीलाको, सगुण समझना एक प्रकारसे उनपर दोष मढनेके समान है. क्योंकि वे भक्त, भगवत् स्वरूप तथा लीला सब निर्गुण हैं, यदि वे सगुण होते तो मुक्तिमें प्रतिबन्धक(रुकावट करनेवाले) हो जाते जिससे वे(स्वरूप तथा लीला) मुक्तिदायी नहीं हो सकते, यदि उन्होंने मुक्ति नहीं दी, सगुण हो कर मुक्तिदानमें असमर्थ हो गये तो, भगवान्के प्राकट्यका कोई प्रयोजन नहीं हुआ और भगवान्की ये लीलाएं भी निरर्थक(बिना मतलबवाली, बेकार) हुई. भगवान्के प्रकट होनेकी इस(स्वरूपबलसे मुक्ति तथा रसदान करने)के सिवाय अन्य कोई उपपत्ति नहीं है, इस श्लोकका भावार्थ पहलेके समान ही है।।१४।।

अबतक भगवानने सगुण गोपियांसे जो लीलाएं की हैं वे लीलाएं तो मुक्तिमें प्रतिबन्धक हैं ही क्योंकि गोपियोंको जारभाव था, इस प्रकारकी शंकाका उत्तर 'कामंक्रोधं' इस १५वें श्लोकसे देते हैं.

शुकदेवजी राजाको कहते हैं, कि यह तो साधारण सिद्धान्त है कि जो कोई भगवानमें किसी भी प्रकार सम्बन्ध जोड़ता है और वह सम्बन्ध नित्य हो, तो सम्बन्ध जोड़नेवाला भगवन्मय हो जाता है. केवल गोपियोंकी भांति कामसे नहीं किन्तु क्रोध, भय और द्वेष अथवा स्नेह और ऐक्यसे भी सम्बन्ध करे तो वह निर्गुण बन कर भगवान्को पा लेता है. यदि केवल कामसे भगवान्की प्राप्ति होती है यह तात्पर्य होता, तो शुकदेवजीका क्रोध, भय और द्वेष आदिका इस प्रसंगमें कहना अयोग्य हो जाता. इसीलिये भगवान्को जो सगुणभावसे भजता है, भगवान् उसको अपने योग्य ही फल देते हैं यह जतानेकेलिये ही आपने यह लीला की है. यदि भगवान् इस प्रकार सगुणभावसे भजनेवालोंका संसार नष्टकर, उसको अधिकारानुसार मुक्तिका वा अपना रसदान नहीं करते, तो साधारणजनोंको यह निश्चय हो जाता कि मुक्ति आदि तो मुख्य उत्तमोंको ही भगवान् देते हैं तो हम प्रयत्न क्यों करें? जिससे साधारणोंकी भजनमें प्रवृत्ति न होनेसे, मुक्तिमार्ग ही लुप्त सा हो जाता, तो शास्त्रकी आवश्यकता ही नहीं रहती. क्योंकि उत्तमोंकी तो

अपने आप उसमें प्रवृत्ति हो जाती है.

भगवानका स्वरूप और लीलाएं कभी भी सगुण नहीं होती हैं अपितु (बल्कि) सगुणभक्त भी जब लीलाओंसे सम्बन्ध करते हैं तो वे भी निर्गुण हो जाते हैं कारणकि स्वरूप तथा लीलाएं उनको निर्गुण बना देती हैं, जैसे रोगको मिटा देनेवाली दवा रोगीसे मिलाप करनेसे कभी भी रोगवाली व रोगरूप नहीं बन जाती है प्रत्युत उस रोगीके रोगको मिटा कर उसको निरोग बना देती हैं वैसे (ही) स्वरूप तथा लीलाएं भी सगुणको निर्गुण बना देती हैं. भगवान्की लीलाएं भक्तोंके भावोंके अनुसार उन जैसी न बन कर अपने समान उनको बना देती हैं अतः एक ही वेणुनाद लीलासे, सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकारके भक्तोंका निरोध हो गया है. अन्यथा, यदि लीला सगुणके संगसे सगुण हो जाती, तो सगुण भक्तोंका निरोध सिद्ध न होता, जैसे क्रोध, आदिसे किया हुआ स्मृति, भजन साधारण कोटि है, वैसे (ही) कामसे किया हुआ भजन भी निम्नकोटिवाला(नीचे दर्जेका) है. इसको जतानेकेलिये श्लोकमें क्रोध आदिका निरूपण किया है. मूलश्लोक १५वेंमें जो 'तन्मयता' शब्द है, उसका भावार्थ है 'निर्गुणता' अर्थात् सगुण गोपियां भी, निर्गुण बन गई एवं क्रोध आदि भाववाले भी निर्गुण हो गये।।१५।।

श्रीशुकदेवजी जान गये कि राजाका अन्तःकरण विस्मय तथा सन्देहोंसे भर गया है, अतः उनको मिटाना आवश्यक है. उनको मिटानेकेलिये १६वें श्लोकमें 'न चैवं विस्मयः कार्यो' कह कर उनके विस्मय तथा शंकाओंको, हेतु दे कर मिटाया है.

(१)राजाको प्रथम यह अचम्भा हुआ कि जब गोपियोंका निर्गुण भगवानके साथ अंग-संग हुआ तो उस कालमें वे सगुण कैसे रह सकीं. लोकमें देखा जाता है, कि कपासका जिस वक्त अग्निसे संसर्ग होता है, उस समय उस(कपास)का वह स्वरूप नष्ट हो जाता है.

(२)गोपीजन लौकिकरीतिसे कामभाववाली थीं तो उन(लौकिक भाववालियों)से अलौकिक प्रभुने रमण कैसे किया?

(३)क्रोध आदि भाववालोंने उनका फल भोगा ही नहीं और उनको भगवत्प्राप्ति हो गई?

(४)और वह भी स्नेहवालोंके समान फल?

(५)गोपियोंका स्नेह यशोदानन्दनमें था, वह तो वनमें थे और गोपियां घरमें थीं.

घरमें बैठी हुई गोपियां उनका ध्यान कर उनको कैसे प्राप्त कर सकीं?

(६)उनको उस समय ही बिना साधनोंके निर्गुणदेहकी प्राप्ति हो गई, वह भी आश्चर्य जैसी बात है.

(७)जो लीला आगे की जानेवाली है उसका केवल सर्वात्मभाववालीओंको ही अनुभव है जबकि अन्य लीलाओंका अनुभव बिना सर्वात्मभावके भी.

इत्यादि अनेक विस्मयोंसे युक्त राजाको देख कर श्रीशुकदेवजी उनके विस्मय वा सन्देहोंको इस १६वें श्लोकसे मिटाते हैं.

प्रथम विस्मय, भगवानसे अंग-संग होते हुए भी सगुण देह कैसे रही? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि तुम्हारे सिवाय अन्य कोई वैसा संशय वा विस्मय करे, तो कर सकता है, तुम कैसे करते हो, जबकि तुमको इस विषयका अनुभव है कि जो कुछ हो रहा है, वह भगवान्‌की इच्छाशक्तिसे हो रहा है. भगवान्‌में सब प्रकारकी शक्ति है करनेकी, न करनेकी, करानेकी, न करानेकी, किन्तु कौनसी शक्तिसे कब काम लेते हैं वह आपकी इच्छाशक्तिके आधीन है. जैसेकि भगवानने आपको गर्भमें ब्रह्मास्त्रसे बचाया, क्योंकि उस समय तुमको बचा कर कार्य कराना था, किन्तु अब ऋषि बालकके शापसे तुम्हारी रक्षा नहीं करते हैं कारणकि तुमसे अब कार्य कराना नहीं है. जिसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि भगवानमें वह शक्ति नहीं है, शक्ति तो है, किन्तु आप(भगवान्‌)की तुमको बचानेकी इच्छा नहीं है, जैसे अग्नि मन्त्रादिसे प्रतिबन्ध होनेसे जलाती नहीं है इससे अग्निमें जलानेकी शक्ति नहीं है क्या? है, किन्तु मन्त्रसे प्रतिबन्ध होनेके कारण जलाती नहीं है वैसे (ही) भगवानमें बचानेकी वही शक्ति सदैव है, अब इस शक्तिसे काम लेनेकी भगवान्‌की इच्छा नहीं है, तुमको भगवान्‌का इस प्रकारका अनुभव है अतः तुम्हें तो इस विषयमें विस्मय नहीं करना चाहिये और समझना चाहिये कि जैसे मेरे साथ इच्छानुकूल कार्य किया है, वैसे(ही) अब भी इस विषयमें भगवान्‌ने ऊपर कहे हुए प्रयोजनोंके कारण साक्षात् अंगसंगके समय उन(गोपियों)की वह सगुण देह नाश नहीं की है.

द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ विस्मय लौकिक कामवालियोंके साथ अलौकिक भगवानने रमण कैसे किया? क्रोधादि भाववालोंने उनका फल भोगा ही नहीं और उनको भगवत्प्राप्ति हो गई और वह भी स्नेहवालोंके समान फल.

श्रीशुकदेवजी-इस विस्मय और क्रोध आदि करनेवालोंका भी उद्धार

करते हैं, उनमें भी जो विस्मय राजाको हुआ उन सब विस्मयोंका निवारण एक ही 'भगवति' (भगवान्में) शब्दसे करते हैं–कृष्णको भगवान् कह कर यह बताया है, कि श्रीकृष्णमें ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य छः गुण हैं, इन छ गुणोंका प्रभाव प्रकट दिखानेकेलिये इस प्रकारकी कृष्णने लीलाएं की हैं जैसेकि आप(भगवान्) ऐश्वर्ययुक्त होनेके कारण सर्वरस भोक्ता हैं इसलिये श्रुतिने कृष्णको 'सर्वरस' कहा है, कामशास्त्रमें सिद्ध किया गया है कि कामरसका अनुभव उनमेंसे किया जा सकता है, जो कामभाववाली हैं, अतः सर्वरसरूप षड् ऐश्वर्यवाले भगवानमें इस प्रकारका विस्मय नहीं करना चाहिये क्योंकि श्रीकृष्णमें यह(अंगसंग) लीला कर अपने 'ऐश्वर्य' धर्मका प्रभाव प्रकट कर दिखाया है.

क्रोध दोष, जिसको कोई भी नाश नहीं कर सकता है उसको भगवान्का सबसे उग्रवीर्य ही नाश करनेमें समर्थ है, अतः जिन्होंने भगवान्में क्रोधभावसे सम्बन्ध जोड़ा है उनके क्रोधको अपने वीर्यधर्मसे नष्ट कर सम्बन्ध होनेके कारण मुक्ति दे कर अपने 'वीर्य' धर्मका प्रभाव प्रकट किया है. अतः इस विषयका भी भगवानमें विस्मय नहीं करना चाहिये.

'यश' सामान्य धर्म नहीं है, अतः वह तभी मिलता है जब कोई महान् कर्म किया जाये. साधारण कर्म करनेसे यश नहीं बढता है अतः यदि भगवानसे जो स्नेह करे उनको ही केवल मुक्ति देवें और द्वेष करें उनको मुक्ति नहीं दें, तो भगवान्का यह कर्म साधारण होनेसे आपका यश न बढ़े अतः भगवान्में जैसा फल स्नेहवालोंको दिया है वैसा ही भय द्वेष आदि करनेवालोंको भी दिया है. इस प्रकार असाधारण कर्म करनेसे भगवानने 'यश' धर्मको प्रकट किया है. भगवान्का यह यश सहज ही है और यशको बतानेवाले धर्म भी भगवानमें सहज ही हैं अतः विस्मय नहीं करना चाहिये.

स्नेहमें क्या रस है इसको भगवान् जानते हैं, क्योंकि श्री(लक्ष्मी)को भगवान्ने अपने हृदयमें विराजमान किया तो भी, लक्ष्मी स्नेहके कारण वक्षःस्थल को न चाहती हुई, चरणोंके रजकी कामना करती हुई प्रत्येक अवतारमें, अवतार ले कर चरणोंकी सेवा करती है, अतः भगवान् स्नेही भक्तोंको स्वरूपदान देते हैं यह योग्य ही है. वैसा कर 'श्री' धर्म दिखाया है.

ज्ञान मार्ग पर चलनेवाले 'ऐक्य' चाहते हैं भगवान् उनको वैसा ही ऐक्य देते हैं, जिससे अपना 'ज्ञान' धर्म प्रकट किया है.

सखाभावमें सौहार्द होता है, वह सखाभाव उनमें होता है, जिनका स्वभाव, व्यसन आदि समान होवे, भगवान्ने कहा है कि मेरे भक्त(साधुओं)के सिवाय मैं अपनी तथा लक्ष्मीकी भी इच्छा नहीं करता हूं उनकी पराभक्ति आत्यन्तिक 'श्री' मैं हूं, भक्तोंका हृदय मुझमें है और मेरा हृदय भक्तोंमें है अथवा साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुओंका हृदय हूं वे मेरे सिवाय किसीको नहीं जानते हैं और मैं उनके सिवाय स्वल्प भी कुछ नहीं जानता हूं. एसे अनेक वाक्योंसे समझा जाता है, कि भगवान्का भक्तोंमें राग(प्रेम) है और भक्तोंके सिवाय अन्योंमें राग नहीं है, जिससे भगवान्ने अपना 'वैराग्य' धर्म प्रकट किया है और भक्तोंने भी इसी प्रकार वैराग्य दिखलाया है. भगवान्में राग अन्योंमें वैराग्य, अतः भगवान् सौहार्द(मित्रता) करने योग्य भक्तोंको मित्रताका दान देते हैं, भक्तोंमें जैसे वैराग्य धर्म है वैसे (ही) भगवान् भी उनसे वैराग्य युक्त मित्रता करते हैं, वैसा करना योग्य ही है. पञ्चम विस्मय गृहमें स्थित गोपियां वनमें स्थित कृष्णको कैसे ध्यानमें प्राप्त कर सकीं? जिससे वे मुक्त हुई, उनका प्रेम तो यशोदानन्दनमें था.

इसका उत्तर श्रीशुकदेवजी श्रीकृष्णको अज(जिसका जन्म नहीं हैं) कह कर देते हैं, अर्थात् भगवान् जीवके समान, जन्म नहीं लेते हैं वे तो सर्वत्र सदैव विद्यमान हैं, अतः वनमें स्थित होते हुए भी गोपियोंके ध्यान करते (ही) उनके हृदयमें प्रकट हो गये, भगवान्का प्राकट्य केवल इतना ही है, कि जिस मायाके पर्देके कारण हम आपका दर्शन नहीं कर सकते हैं उस मायाके पर्देको हटाना है. यशोदाके गृहमें भी अपनी इच्छासे मायाके आवरण(पर्दा)को दूर कर प्रकट हुए हैं, उसी प्रकार वनमें और गोपियोंके अन्तःकरणमें भी प्रकट हो गये हैं, अतः इसमें विस्मय नहीं करना चाहिये क्योंकि वह सर्वव्यापी तथा अजन्मा है. उनको उसी समय बिना साधनोंके निर्गुण देहकी प्राप्ति हो गई.

इस शंकाका उत्तर श्रीशुकदेवजी 'योगेश्वरेश्वरे' कह कर देते हैं, अर्थात् भगवान् योगी नहीं हैं किन्तु योगके जो ईश्वर हैं, उनके भी ईश्वर हैं अतः उसमें विस्मय नहीं करना चाहिये क्योंकि योगी भी योगबलसे भोगकेलिये क्षणमात्रमें एक साथ ही अनेक शरीर धारण कर सकते हैं जबकि उनका यह योगधर्म आगन्तुक है, भगवान् तो इन धर्मों(योगों)की रचना करनेवाले हैं और फलदाता हैं, जिससे वे योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं, इसलिये आप स्वाभाविक अनन्त शक्तिमान् हैं जिससे उन(व्रजभक्तों)की देहको अलौकिक बना देना भगवान्

केलिये कोई बड़ी बात नहीं है अतः इसमें विस्मित होनेका कोई कारण नहीं है.

जो लीला आगे की जानेवाली है उसका अनुभव केवल सर्वात्मभाव वालियोंको ही है जबकि अन्य लीला बिना सर्वात्मभावके भी अनुभूत होती है इसका समाधान योगेश्वरोंके ईश्वर होनेके साथ आप 'कृष्ण' भी हैं, अर्थात् सदा आनन्दरूप होनेसे, दोषरहित और गुणोंसे पूर्ण हैं जिसका भावार्थ है कि कृष्णके सिवाय अन्य वस्तु मात्र दोषवाली है, उन दोषवाली वस्तुओंसे स्वास्थ्य मिलेगा यों लोग समझते हैं वे भी दोषवाले ही हैं यह निश्चयसे समझना चाहिये.

सर्वात्मभावरहित गोपियां इस स्वरूपसे आनन्द देनेवाली लीलाकी अधिकारिणी न होनेसे, अनुभव नहीं कर सकती हैं तब भगवानका उनसे रमण करना विस्मयकारक है, वैसा विस्मय तुमको नहीं करना चाहिये, क्योंकि इन(गोपियों)को तो पहले कहा हुआ स्नेहरूप साधन था ही, जो कि गोकुलके वासी दिनको काममें लगे रहते थे और रात्रिको सो जाते थे किसी प्रकारका साधन नहीं करते थे, तो भी हर एकक्षणमें भगवानके स्वरूपमें ही लीन रहते थे (मुक्त होते थे) उनकी वैसी दशा भगवानने आगेकी लीलारसका अनुभव करानेकेलिये आप बार-बार उनको पृथक्(अलग) कर (मुक्तिसे निकालकर) उस लीलाका अनुभव कराते थे, भगवान् अचिन्त्य और अनन्त शक्तिमान् हैं अतः वे कुछ भी करें तो उसमें आश्चर्य नहीं है, इस आशयसे शुकदेवजी कहते हैं कि 'यत् एतद् विमुच्यते' जिससे यह गोकुल मुक्त होता है, श्रीशुकदेवजीने ये शब्द जो वर्तमान प्रयोगमें किये हैं जिसका कारण यह है, कि इस समय अन्य लीलाका अनुसन्धान (विचार) न होनेसे अपनेको गोकुलवनमें स्थित समझ कर ही कहे हैं और उस ही लीलाका अनुभव कर रहे हैं, इससे यह वर्णन सर्व दोषरहित है.

यहां शंका हो सकती है, कि जैसा कहा जा रहा है उससे विपरीत भी हो सकता है. अर्थात् ये अन्तर्गृहगता गोपियां भी उन गोपियां जैसी ही हैं, जो रासमें पहुंच सकीं. अतएव ८वें श्लोकमें कहा गया कि 'वै लौटी नहीं' परन्तु, ऐसा कैसे हो सकता था इसके समाधानकेलिये ९,१०,११ आदि श्लोक हैं. यहां आशय यह है, कि पहले तो केवल वचनोंसे ही रोका गया और इस तरह लौटना या नहीं लौटना यह स्वयं अपने पर निर्भर था. वह तो दूर रहा, क्योंकि उनके जैसे ही (इन) गोपियोंको तो पतियोंने जबरदस्तीसे रोका और तब जैसाकि, वे केवल देहको ही रोक सकते थे सो उस देहको त्याग कर वे भगवानसे जा मिली. इस तरह पहले

कही गई सभी गोपियां इनके जेसी ही हैं, अतः उनका न लौटना ठीक था.

एक और बात यह है कि 'तद्भावना युक्ता' इस पदमें 'तत्' पदसे पहले कहे गये भावको लेने पर पहलेवाली गोपियोंका भाव ही लिया जायेगा और तब इस तरह जो इनका भाव है वही पहलेवाली गोपियोंका भी भाव है यह मालूम होता है, और इस तरह जो भी गुण-धर्म यहां इनमें हैं वे वहां उनमें भी सिद्ध होंगे ही. इन अन्तर्गृहगताओंको मुक्ति दी गई तो वह गुणमय देहकी निवृत्तिकेलिये हो ही नहीं सकती, अतः वर्णन भी वैसा ही किया गया कि इनको पतियोंने रोक लिया फलतः देह त्याग कर ही भगवानसे मिल पाई. उन्हें तब मुक्ति नहीं दी अतः न तो रुकावट हुई और न देह त्यागकी ही अपेक्षा हुई. (अर्थात् इतना ही अन्तर है और इसके अतिरिक्त और कोई सगुण-निर्गुणका अन्तर नहीं है).

परन्तु ऐसी शंका दुराग्रह एवं मूढ़तामूलक है, क्योंकि यह विचाररहित बहिर्मुखता एवं असत्संगसे बोझिल मन(जो परोक्तिका अनुसन्धान नहीं कर सकता)में ही उठ सकती है. बात यह है कि जिस शंकाको दूर करनेकेलिये यह कथा कही गई और जो उसका आशय शंकाने दिखलाया, वहां यह प्रश्न होता है, कि क्या उक्तभावको समझानेकेलिये यह कथा यों ही घड़ ली गई है या वस्तुतः ऐतिहासिक घटनाका वर्णन है? और वहां भी यह प्रश्न है कि इन अन्तर्गृह-गताओंको आखिर रोका क्यों गया? ऐतिहासिक मान कर यह कहा जाये कि वे भगवानकी प्रिया होते हुए भी सगुण थीं और यही जतानेकेलिये हरिने उनके आगमनमें रुकावट उत्पन्न की तो वैसा विचार करते हुए तुम्हारा हृदय शतधा टूक-टूक क्यों नहीं होता जब मर्यादाभक्ति सम्बन्धी भजन भी निर्गुण है, तो जिन गोपियोंका भगवानके साथ अंग-संग हुआ है, वे सगुण कैसे होंगी और तुम उनको सगुण बतानेकी चेष्टा करते हो.

और विशेषमें प्रभुने कहा कि ये गोपियां सदैव मुझमें मनसे आसक्त हैं, प्राण भी उनके मुझमें हैं, मेरेलिये इन्होंने देहधर्म छोड़ दिये हैं. उद्धव भी 'एताः परं तनुभृत' इस श्लोकमें गोपिकाओंकी प्रशंसा करते हैं, जिस उद्धवकेलिये भगवान्ने कहा कि 'उद्धव अणुमात्र भी मुझसे कम नहीं' वह उद्धव जिनके चरणरजकी अभिलाषा करता हो, ऐसी गोपियोंमें कामोपाधि समझना और उनको सगुण कहना अनुचित है. गोपियोंमें काम तो क्या कामके गन्धकी शंका भी अयोग्य है.

मेरे कहनेका यह भाव नहीं कि वे कामवाली थीं किन्तु उनका भगवान्में

स्नेह कामोपाधिवाला था, यदि तुम यों कहते हो, तो यह भी तुम्हारा कहना गोपियोंके कहे हुए वाक्योंसे असिद्ध होता है, कारणकि गोपियोंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि हम आपसे कामपूर्तिकेलिये नहीं आई हैं, क्योंकि हम तो सर्व विषयोंको छोड़ कर आपके चरणोंके मूलमें आई हैं अर्थात् आपके चरणोंका आश्रय लिया है, कामकी अभिलाषावाली स्त्रियां कभी भी इस प्रकार नहीं कह सकती हैं यों कहना तो भक्त ही जानते हैं.

और विशेष इसका भी तुमको विचार करना चाहिये कि श्रीकृष्णने बाल्यकालमें जब पूतनाके प्राणरूप पयका पान किया था उस समय गोपियोंने वो भगवान्की गो पुच्छ आदिसे रक्षा की थी, उसका वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजीने गोपियोंको 'प्रणय बद्धभिः' विशेषण दे कर सिद्ध किया है, कि वे भगवानमें भक्तिसे उत्पन्न स्नेहवाली थीं इसके सिवाय जो कामवाली होती हैं वे जार वा पतिके पास शृंगारसे अपनेको सजाकर जाती हैं जैसे कुब्जा पूर्ण शृंगार कर भगवानके पास आई थीं, किन्तु गोपियां तो इससे विपरीत उलट-पुलट कपड़े आदिमें आई थीं.

वहां गोपियोंके आनेके अनन्तर जो रमण हुआ है, वह भी 'रसो वै सः' इस श्रुतिमें, कहे हुए ब्रह्मके रस स्वरूपसे भगवानने रसात्मक होनेसे रसरीतिसे रमण कर स्वरूपानन्दका ही दान किया है. जैसेकि कहा है कि आत्मासे जो सुख मिलता है वह सात्विक है, विषय भोगसे जो सुख प्राप्त होता है वह राजस है, मोह और दैन्यसे जो सुख मिलता है वह तामस है और मुझ(रसरूप कृष्ण)से जो सुख मिलता है वह निर्गुण है.(११ स्कन्ध)।।१६।।

(श्रीप्रभुचरणोंने १२ से १६ श्लोकोंमें जो राजा परीक्षितने शंकाएं की हैं उनके स्वतन्त्र लेखोंमें विशेष स्पष्टीकरण कर उत्तर दिए हैं जिनके पूर्णरीतिसे मनन करनेसे, ये शंकाएं जिसके भी हृदयमें होगी उसके हृदयसे मिट जाएगी. इन स्वतन्त्र लेखोंका अनुवाद यहां वैसे सरल स्पष्ट प्रकारसे दिया गया है जैसे पाठकोंको उनका भाव शीघ्र समझमें आ सके.)

इस प्रकार परीक्षितने जो इस प्रसंगके विषयमें शंका की थी उसको मिटा कर अब निम्न श्लोकसे श्रीशुकदेवजी फिर विषयका निरूपण करते हैं:

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।
अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन् ।।१७।।

बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण उन गोपियोंको निकट आई हुई देख कर वाणीके विलासोंसे उनको मोहित करते हुए बोले।।१७।।

भगवानके बुलानेसे जो गोपियां आई थीं, भगवान् उनको घर लौट जानेकेलिये नहीं कहते हैं, किन्तु जो विवाहित सगुण थीं और केवल नाद श्रवणसे आई थीं उनको शब्दसे ही लौट जानेकेलिये कहने लगे, कारणकि भक्तिमार्गमें उपाधि[१] सहित भजन करना योग्य नहीं है. भगवानको जो लीला करनी है उसका अधिकारी वह है जिसमें सर्वात्मभाव है कारणकि वह लीला सर्वात्मभावसे ही सिद्ध होती है. अतः जो गोपियां शब्द श्रवण मात्र कर दोहन आदि सर्व कार्य त्याग कर अपनेलिये ही आई थीं ऐसा निश्चय करके सर्वज्ञ सर्वसमर्थ भगवानने भी उनको लौटानेका निश्चय किया, वे व्रजांगनाएं भी इधर-उधर बाहर फिरनेवाली एवं निष्कपट थीं और अपनी थीं, अतः उनमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं थी फिर भी उनको मर्यादानुसार पातिव्रत्यधर्मका ज्ञान करानेकेलिये उपदेश भी देना चाहिये था सो इनको देख कर भगवान् बोलने लगे. जो गोपियां अपने पति आदिके कहनेको न मान कर यहां चली आई हैं वे इस कहनेसे कैसे लौट जायेंगी? इस शंकाका निवारण करनेकेलिये शुकदेवजी कहते हैं, कि भगवान् उनके पतियों जैसे बोलनेवाले नहीं हैं किन्तु जो भी बोलनेवाले हैं, उनमें श्रेष्ठ हैं अतः भगवान्के वचन हृदयमें जच जायेंगे, अतः जहां तक वचनसे लौट जानेकी हों तो कृतिमें नहीं लगाना चाहिये. भगवान्में उनको लौटानेकेलिये अलौकिक सामर्थ्य भी है, यह बतानेकेलिये श्रीशुकदेवजीने कहा है, कि वाणीकी सुन्दरतावाले शब्दोंसे अर्थात् शब्द सौन्दर्यसे, विशेष प्रकारसे, गोपियोंको मोहित करते हुए लौटनेकेलिये कहने लगे, अथवा भगवान् ऐसी सुन्दर वाणी बोले, जिससे वे जावें नहीं किन्तु यहां दृढ हो कर डटी रहें, यदि भगवान्की वाणीका वैसा भाव न होता तो वे लौट जातीं. भगवानके शब्दोंका अर्थ ऊपरसे तो जानेका समझमें आता था किन्तु उनका भीतरी भाव नहीं लौट जावें वैसा था।।१७।।

१.किसी प्रकारकी भी लौकिक वा अलौकिक(मोक्ष)की कामना उपाधि है.

अब शुकदेवजी वे वचन दश श्लोकोंमें कहते हैं, जो भगवान्ने दश प्रकारकी गोपियोंको निवारण(लौटजाने)केलिए कहे हैं:

श्रीभगवान् उवाच

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।

व्रजस्यानामयं कच्चित् ब्रूतागमनकारणम् ।।१८।।

भगवान् कहने लगे कि हे बढ़भागिनियों, आप भले आई, मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूं ? व्रजमें कुशल तो है ? आनेका कारण तो कहो ?।।१८।।

तमोरजःसत्वभेदाः स्वान्तपर्यवसानतः ।

निरूप्यन्ते स्त्रियस्तासु वाक्यान्यपि यथायथम् ।।का.१।।

तम, रज और सत्वगुणके मिले हुए, जितने प्रकार होते हैं, उतनी (ही) ये स्त्रियां(गोपियां) हैं उनका वर्णन किया जाता है. गुणोंके फलका अवसान भी बताया जाता है, जैसेकि तमका फल लय, रजका फल विशेषभावका उत्पादन और सत्त्वका फल उस भावका पालन करना है,

तम–प्रभुसे मिलाप करानेमें जो पदार्थ विलम्ब करावे उसका लय(नाश) कर देता है.

रज– प्रभुके मिलनेमें जो विलम्ब हो उस(विलम्ब)को जिस भावसे सहन न किया जा सके वैसे विशेष भावको उत्पन्न कर देता है.

सत्व– रज द्वारा उत्पन्न किए हुए भावकी रक्षा करता है.

उन (सगुण–निर्गुणभेदसे दशविध) स्त्रियां जैसे ही भगवानके दश वाक्य यथोचित हैं.

भगवान् क्रमशः गोपियोंको लौटानेकेलिये कहते हैं, जैसेकि प्रथम तामस–सात्विकीओंको, पश्चात् तामस–राजसियोंको, अनन्तर तामस–तामसियोंको, इस प्रकार आगे भी गोपियोंके विभाग करने चाहिये.

जो गोपियां भगवानके पास आई हैं भगवान् प्रथम उनका स्वागत करते हुए उनको कहते हैं, कि 'भले पधारो' इस प्रकार कहनेसे समझना चाहिये कि भगवानने उनसे कुशल प्रश्न किये हैं. आप सबोंका आना बहुत ही अच्छा है आप 'भले पधारे' यों कह कर स्तुतिपूर्वक कहते हैं कि आपका यहां आना बताता है कि आप 'बड़भागिनी' हो अतः आपका पधारना भाग्यका चिह्न है. ऐसा होते हुए भी उनसे पूछते हैं कि क्यों आई ? यह लोककी नीति है. वास्तविक आपका भगवानके समीप आना प्रतिबन्धरहित हुआ है. आई हुई गोपियोंका सत्कार करनेकेलिये भगवान् कहते हैं कि जो आपको प्रिय लगे वैसा कौनसा कार्य मैं करूं ? आपके आनेसे जाना जाता है कि आप कुछ मांगनेकेलिये आई हो, यदि वैसा हो (मांगनेकेलिये आई हो) तो वह मांग लो. भगवान्ने इस प्रकारके वचनोंसे

यह बता दिया कि (आपको) मैं स्वभावसे सहज प्रिय नहीं हूं किन्तु कामके कारण प्रिय हूं. वह तीन तरहका हो सकता है १.इष्ट प्राप्ति २.अनिष्टकी निवृत्ति ३.देश तथा कालसे दूर वैसे वस्तुकी कामना. उनमें भी तीन प्रकार हैं, इसलिये तीन वाक्य कहे हैं आप दौड़ती हुई आई हो तो क्या व्रजमें कोई उपद्रव हुआ है? जिसको बतानेकेलिये आना हुआ है? यदि पहली कही हुई बातोंको स्वीकार नहीं करो, तो आनेका कारण बताओ. प्रथम मैंने कहा कि आप पधारी हो आपका क्या प्रिय करूं, यदि प्रिय नहीं चाहती हो, अर्थात् उसकेलिये नहीं आई हो तो, दूसरी बात स्वीकार करो, क्या व्रजमें कोई उपद्रव हुआ है, जिसको मिटानेकेलिये दौड़ती(हुई) आई हो, यदि यों भी नहीं है तो तीसरा मेरा प्रश्न है कि आनेका कारण बताओ।।१८।।

भगवान्के इस प्रकार किए हुए प्रश्नोंका जब गोपियां उत्तर न दे कर मौन धारण कर रहीं, तब भगवान्को स्वयं यह विचार हुआ कि गोपियां कदाचित् यों कह दें कि जैसे आप आए हो वैसे (ही) हम भी आगई हैं अतः भगवान् अन्य ढंगसे(लौट जानेकेलिए) कहते हैं:

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ।।१९।।

यह घोर रात्रि है और इसमें डरानेवाले भयं कर जन्तु रहते हैं अतः हे युवतियों! व्रजको लौट जाओ. स्त्रियोंको यहां ठहरना नहीं चाहिए।।१९।।

यह रात्रि है, दिन नहीं है, यदि वनमें काम हो तो भी लोक वहां दिनको जाते हैं, इस समय आपके शरीरमें ताप है इसलिये आपने समझा है कि आकाशमें सूर्य है किन्तु यह सूर्य नहीं (यह) चन्द्रमा है.

यदि गोपियां कह दें कि भले रात्रि है किन्तु उजाला तो है इसलिये हमको आना ही चाहिये, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि भले उजाला है किन्तु यह रात्रि होनेसे घोररूप अर्थात् डरानेवाली है पुरुष भी रात्रिके समय उजाला हो तो भी जाते हुए डरते हैं क्योंकि रात्रिके समय बनमें घोर(हिंसा करनेवाले शेर आदि) पशु घूमते रहते हैं अतः यदि कोई साधारण प्राणी आ जाता है तो उसको घोर प्राणी मारते हैं, इसलिये आप तीन बातोंका विचार कर व्रज(में) चली जाओ. एक तो यह रात्रि है, दूसरा इसका स्वभाव ही घोर है, तीसरा इसमें घोर पशु फिरते हैं, इन तीनोंका विचार करोगी तो आप ही समझ जाओगी कि हमको व्रजमें लौट जाना चाहिये.

ये तीन बातें हैं, तो भी हम व्रजको क्यों लौटें? यहां ही आपके पास रह जायेंगी क्योंकि आप, हमारे परिचित ही हैं. इस प्रकार यदि गेपीजन कह दें तो भगवान् उसका भी उत्तर दे देते हैं कि यहां स्त्रियोंको नहीं रहना चाहिये, पुरुष हो तो वे रह सकते हैं कारणकि हम पुरुष हैं और यह रात्रिका समय है इसलिये स्त्रियोंको पुरुषके पास नहीं रहना चाहिये. यदि रात्रिके समय पुरुषके पास रहें तो दोनोंमें अवश्य विकार(विषय भावना) उत्पन्न होवे. किञ्च यदि आप वृद्ध होती वा बालिका होती तो भी रहनेमें कोई अड़चन नहीं किन्तु आप तो सुमध्यमा (युवती रसात्मिका) हो. अतः देहाध्यास होनेपर सर्वथा जाना ही उचित है.

शुकदेवजीने भगवान्को बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ कहा है, वह चातुर्य भगवान्ने इस श्लोकसे प्रकट किया है 'एषा रजनी अघोररूपा' यह रात्रि डरावनी नहीं है 'एषा रजनी अघोर सत्वनिवेषिता' इस रात्रिमें सात्विक प्राणी रहते हैं. 'व्रजं न प्रतियात'–आप व्रजको लौट कर मत जाओ. 'स्त्रीभिः इह स्थेयं'–आपको यहां रहना चाहिये. 'सुमध्यमाः'–क्योंकि आप रसात्मिका हैं।।१९।।

भगवान्के मनमें यह आया कि यदि ये कह दें कि हम अभिसारिकाएं हो कर आपके पास आई हैं आप हमको लौट जानेकेलिए कैसे कहते हो तो उसके उत्तरमें निम्न श्लोकसे दूसरी युक्ति देते हैं:

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्।।२०।।

तुम्हारे माता, पिता, पुत्र, भाई और पति तुम्हें न देख कर ढूंढ रहे हैं, इन सम्बन्धियोंको कष्ट मत दो।।२०।।

तुम्हारी माताएं तुम्हारी निगरानी करती हैं, वे तो तुम्हारे साथ नहीं आई हैं. तुम अकेली चली आई हो इसलिये वे तुमको ढूंढती होंगी, न मिलोगी तो उनको भय(चिन्ता) होगा? अतः आप जाओ उनको भयभीत मत करो.

यों भी आप मत समझो कि वे भी स्त्रियां हैं यहां तक न आवेंगी, यदि वे नहीं तो आपके पिता तो पुरुष हैं, वे रात्रिकी परवाह न कर आ जायेंगे क्योंकि उनको यह विचार होगा, कि हमारे कुलको कलंक न लग जाये, यदि कहो कि वे आ जायेंगे तो उनके साथ हम चली जायेंगी, तो उसका उत्तर दे देते हैं, कि गोकुलसे निकले हुओंको कृष्ण स्थानमें आनेकेलिये बीचमें अनेक मार्ग आते हैं वहां भगवान्की माया इसलिये खड़ी है कि जिससे कोई भी भगवान्के समीप न

पहुंच सके, अतः माया उनको दूसरे रास्ते भेज देती है जिससे वे यहां पहुंच नहीं सकते हैं. इसी प्रकार आपके पिता भी यहां न पहुंच कर ढूंढते ही रहेंगे और वहां न देख कर भय युक्त होंगे. यों कह कर भगवान्ने गोपियोंको बता दिया कि यहां रहनेमें इस प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये कि पिता आवेंगे.

माता-पिता आदिकी चिन्ताका विचार कर जैसे अन्य गोपियां यहां नहीं आईं वैसे नहीं आना चाहिये था. इस प्रकार रात्रिमें अकेली चल निकलनेसे कुलको कलंक लगेगा अतः नहीं आना चाहिये था.

भगवान्ने सोचा कि हमारे पिता स्त्री स्वभावको जानते हैं कि हम भगवान्के वास्ते आई हैं इसलिये वे नहीं आयेंगे ऐसा उत्तर ये दे देवें तो आप कहते हैं, कि यदि पिता नहीं आयेंगे तो 'पुत्र' तो आयेंगे क्योंकि पुत्रको सर्व प्रकारसे माताका रक्षण करना है, यदि माताएं कहीं चली जाये तो उनको अत्यन्त लज्जा आती है, पुत्रोंमें माताकेलिये प्रेम होनेसे, वे दयासे माताओंके भयको सहन नहीं कर सकते, अतः आपके भय मिटानेकेलिये पुत्र तो आयेंगे, इतना कहनेके अनन्तर भगवान्ने सोचा कि वे(पुत्र) बालक हैं अतः वे नहीं आयेंगे यों गोपियां कह दें, तो आप कहते हैं, कि भ्राता आयेंगे. वे तो बालक नहीं हैं किन्तु समर्थ हैं वे आयेंगे, भ्राताओंको ढूंढनेमें लज्जा आती है, यदि आपको उन्होंने न देखा तो कदाचित् लज्जाके कारण शरीरोंका भी त्याग कर दें, अतः भ्राताओंके स्नेहके कारण आपको लौट जाना चाहिये. फिर भगवानको विचार आया कि यदि गोपियां कह दें कि वे तरुण(जवान) हैं हम भी तरुणियां हैं अतः वे अपकीर्ति(निन्दा)के भयसे ढूंढनेकेलिये बाहर न निकलेंगे इस उत्तरका विचार कर भगवान्ने कह दिया कि यदि वे न आयेंगे तो पति तो आयेंगे कारणकि उनको भोगकेलिये तुम्हारी आवश्यकता है आपके सम्भोगसे जो रस उत्पन्न होगा वह रस उन(पतियों)का ही है अतः पराया धन अन्यको नहीं देना चाहिये तात्पर्य यह है, कि अपना रस अपने पतियोंको ही दो, आपको यदि भोगकी इच्छा है तो वह उनसे भी सिद्ध(प्राप्त) होगा. आप इस विषयको निश्चय समझ लो कि आपको घरमें न देख कर सर्व आपको ढूंढेंगे, ढूंढते हुए बहुत समय बीत जायेगा और आप उनको देखनेमें न आयेंगी तो वे समझेंगे, कि इनका नाश(मृत्यु) हो गया है वा इनको कोई चुराके ले गया है. आप यों भी मत कहना कि हम उनका त्याग कर आई हैं उनसे हमारा क्या सम्बन्ध है, चाहे कुछ भी समझें. यों समझना और

कहना ठीक नहीं है कारणकि वे सगे सम्बन्धी हैं, उनके साथ ही रहना है. आपके यहां ठहरनेमें बलवान् बाधाएं(अडचन) हैं अतः कैसे भी कर आपको जाना चाहिये और उनका भय तथा चिन्ताका निवारण करना चाहिये।।२०।।

भगवान्के इस प्रकार कहने पर वे गोपियां वनको चारोंतरफसे देखने लगीं, इस प्रकार भगवान् निम्न श्लोक कहने लगे:

दृष्टं वनं कुसुमित राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवमण्डितम्।।२१।।

चन्द्रमाकी किरणोंसे सुन्दर, कुसुमोंवाले और यमुनाजीके पवनकी मन्द गतिसे कम्पित वृक्षोंके पत्रोंसे शोभायमान वनको आपने देख लिया।।२१।।

(अब) राजस-राजसी इससे आगे राजस-तामसी व्रजभक्तोंको कहते हैं कि यदि तुम वन देखनेकेलिये आई हो तो वह देख लिया, अब घर लौट जाओ. इस प्रकार कहनेका भीतरी भाव यह है कि देखनेसे आपको मालूम हो गया होगा कि यह वन वैसा (ऐसा) है जिसमें किसी प्रकारके भयकी सम्भावना नहीं है, अतः घरको नहीं जाना चाहिये. आपको यदि घरकी अपेक्षा हो तो जाओ नहीं हो तो मत जाओ. जो वन अब तुमने देखा वह तो इस समय केवल पुष्पोंवाला है, भगवान् इस प्रकार वनकी शोभाका वर्णन रस बढ़ानेकेलिये करते हैं जिससे उन(गोपियों)की आसक्ति अन्यमें होने लगे. केवल पुष्पोंवाला है इस कहनेका तात्पर्य यह है, कि फल तो अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं अतः जबतक फल प्राप्ति हो तबतक कुसुमोंवाले वनमें ही रति करनी चाहिये. इस कहनेका भाव यह है, कि अब तो कुसुमादि उत्तम होनेसे रसके उद्दीपनमें सहायता हो गई है, अतः उस उद्दीपन भावकी(में) स्थिति करनेके रमणरूप फलकी प्राप्ति होगी इसलिये आपको यहां ही रहना चाहिये फल प्राप्ति बिना लौट कर नहीं जाना चाहिये.

भगवान्के अक्षरोंमें सर्वत्र दो बात मिली हुई दीखती है एक तरफ वनकी शोभा कह कर गोपियोंकी स्थिति वनमें करानी और दूसरी तरफ बाहरसे यों देखनेमें आता है कि गोपियोंको घर लौट जानेको कह रहे हैं. और विशेष, यह वन चन्द्रमाके किरणोंसे भी सुशोभित है, यह सर्व सामग्री उद्दीपक(रस बढानेवाली) है.

वन तामस है, पुष्प राजस है और चन्द्रकिरण सात्विक हैं यहां जो चन्द्रमा है वह षोडश कलाओंसे पूर्ण है अतः तुमको भी पूर्णभावयुक्त हो यहां ही ठहरना

चाहिये. यदि तुम्हारी बुद्धि मर्यादावाली हो जिससे मनमें यह भावना हो कि आज पूर्णमासी पर्वदिन है उस दिन रमणका निषेध है तो भले तुम घर लौट जाओ.

वनके वायुका भी वर्णन करते हैं, कि यमुनाके जलयुक्त वायु द्वारा धीरे-धीरे कम्पित वृक्षोंके पत्तोंसे भी सुशोभित यह वन है, इस प्रकार कह कर वायु(को) तीन गुणोंवाली सिद्ध किया है, जैसा कि १.जलसे मिलनेसे ठण्डी, २.मन्द-मन्द चलना और ३.वृक्षोंकी सुगन्धवाली, वैसी तीन गुणोंवाली वायु रसको जगानेमें सहायता देती है.

इस प्रकार कहनेका तात्पर्य यह है, कि तुम यहां रहोगी तो रस प्राप्त कर सकोगी. अन्यथा(जो जाओगी) तो रससे वञ्चित(रहित) रहोगी।।२१।।

प्रभुचरण 'अपेक्षा' शब्द पर विशेष स्पष्टीकरण करते हुए आज्ञा करते हैं कि शास्त्राज्ञानुसार जो घर छोड़ वनको गया हो वह यदि घरकी अपेक्षासे लौट कर घर जाना चाहे तो प्रायश्चित करे अर्थात् प्रायश्चित करनेके बिना वह घर नहीं जा सकता है, तात्पर्य यह है, कि भगवान् भी गोपियोंको कहते हैं कि यदि आपको घर जानेकी अपेक्षा है तो प्रथम प्रायश्चित करो पश्चात् जाओ.

इस प्रकार वनके वर्णनसे, अन्यमें आसक्ति बढाकर फिर इस निम्न श्लोकमें कहते है, कि आपको जाना चाहिए वा मत जाओ:

तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान्पाययत दुह्यत ।।२२।।

इसीलिए तुम जाओ देरी मत करो, हे सतिओं! जाकर पतियोंकी सेवा करो, बछड़े और बालक पुकार रहे हैं उनको दूध पिलाओ और गोओंका दोहन करो।।२२।।

वन देख लिया कार्यकी सिद्धि हो गई है अतः तुम जाओ, भगवान्के इन वचनोंका यह भी आशय समझा जाता है कि तुमने वन देख लिया कि ऐसा सुन्दर है, इसलिये ऐसे सुन्दर वनको(छोड़) कर 'मा यात' मत जाओ.

'मा चिरं' जानेमें देरी मत करो अथवा (चिरं मा यात) बहुत समय तक यहां ठहरो, जाओ नहीं, कारण कि कोई भी भगवानको छोड़ कर गोष्ठ(व्रज)में नहीं जाना चाहता है. भगवानके कहनेसे यह भी बाहरसे प्रकट होता है कि(गोष्ठं यात) व्रजमें जाओ क्योंकि वहां गौओंकी सेवा भी बनेगी और विशेष यह है कि वहां जाओगी तो तुम्हारा पातिव्रत धर्म भी सिद्ध होगा, वहां जाकर पति सेवा

करो, क्योंकि स्त्रियोंका धर्म पतिसेवा है, उसमें भी तुम पतिव्रताएं हो अथवा 'सतीः'(पतिव्रता) यह पतियोंका भी विशेष मान लो, तो पूर्वजन्ममें तुम्हारे पति पतिव्रता स्त्रियां थीं और तुम उनके 'पति' थीं अन्त समयमें उनको पुरुषभावका स्मरण हुआ, जिससे वे पुरुषरूपसे जन्मे हैं तुम उनकी स्त्रियां हुई हो. अतः उनकी सेवा करो, और आगे भी इस प्रकार विपरीतता होगी, इसलिये इस बातका विचारकर, पश्चात् व्रजमें लौट कर जाना, बिना विचार किये मत जाना, यह सोच लेना कि वहां जानेमें तो मर्यादाधर्मकी प्राप्ति होगी और यहां रहनेमें रसकी प्राप्ति होगी. श्लोकमें 'पतीन्' बहुवचन कहा है जिससे वहां जाना अधर्म है क्योंकि 'पति' एक होता है बहुत पतियोंका होना धर्मसे विरुद्ध है.

अथवा जो तुममें अपने(आप)को पतिव्रता समझें वे जावें, जो तुम सब वैसी पतिव्रता नहीं हो तो मत जाओ, भगवान् इनको स्पष्ट करते हैं कि जो लौकिक(मर्यादा)धर्म परायण पतिव्रताएं हैं वे तो यहां आवे ही नहीं तुम वैसी नहीं हो, तब तो आई हो, इस प्रकार भगवान् रससे भरे शब्दोंसे उनको व्रजमें लौट जानेके निषेधकी सूचना करते हैं.

और विशेष कहते हैं कि बछड़े वैसे ही बन्धे हुए हैं एवं बालक भूखे हैं वे पुकार रहे हैं, अतः उनका रोदन मिटानेकेलिये जाकर स्तन्य(दूध) पिलाओ और गौओंका दोहन करो जिससे बछड़े बन्धनसे छूट कर माताका दूध चूसे. तुम्हारा जीवन दूसरोंकेलिये है अपनेलिये नहीं है अतः जिनको सुखकी चाहना है उनको दुःखियोंके स्थानमें नहीं जाना चाहिये।।२२।।

इस प्रकार भगवान्के कहनेसे जिनके नेत्रोंमें प्रेम वृद्धिसे आंसू आगये, जिससे उनकी दृष्टि स्निग्ध हो गई है, निम्न श्लोक(२३वां) उनके प्रति कहते हैं:

अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं तत् प्रीयन्ते मम जन्तवः ।।२३।।

अथवा विशेष स्नेहसे आपका अन्तःकरण मेरेमें आसक्त हो गया है, जिससे आप मेरेलिए यहां आई हो, तब तो योग्य ही है, क्योंकि प्राणीमात्र मुझसे प्रेम करते हैं।।२३।।

मैंने इतने पूर्वपक्ष(शंकाएं) वृथा ही किये, आप तो मेरे दर्शनकेलिये ही आई हैं तो यह सिद्धान्त क्योंकि स्नेहके कारण तो आगमन है (वनमें भगवान्ने वेणुनाद किया अतः आई अर्थात् भगवान्के स्नेहके कारण आई हैं अन्यथा नहीं)

किन्तु यहां उसके विषयमें जो पूर्वपक्ष किया गया है वह केवल अनुवाद मात्र समझना चाहिये.

भगवानमें शुद्ध स्नेहात्मकभाव होना चाहिये यदि वह भाव गुणरूप अथवा दोषरूप उपाधिवाला है, तो वह भाव शुद्ध नहीं होनेसे फल नहीं देता है क्योंकि वह उपाधिवाला भाव लौकिकभाव हो जाता है. इसलिये लौकिकभाव का अनुवाद किया गया है.

आपका मेरेमें जो सर्वात्मभाव सहित स्नेह है जिससे आपका अन्तःकरण मेरी तरफ खिंच जाता है उस कारणसे ही, आप यहां मेरे पास आई हो वह योग्य ही है. भगवान्के मनमें विचार हुआ, कि मेरे इस कथन पर गोपियां कहेंगी जब आप यों समझते हो कि वास्तवमें हम स्नेहके कारण आई हैं, तो फिर आप विलम्ब क्यों कर रहे हो? इसका उत्तर देते हैं कि मैं कुछ नहीं करता हूं जो कुछ करते हैं वे मेरे सम्बन्धी प्यारे जीव स्वयं ही प्रेम करते हैं जिससे वे प्रसन्न होते हैं, क्योंकि मुझमें स्नेह ही है, किया नहीं है, अर्थात् मैं स्नेहीओंसे स्नेह ही करता हूं क्योंकि मुझमें स्नेहके सिवाय अन्य किसी प्रकारकी क्रिया नहीं है. इससे इस साधारण तात्पर्यको समझ कर लौट जाओ. गोपियां यहां रहें यह अर्थ तो स्पष्ट ही है. आप नहीं जाओगी, तो २२वें श्लोकमें 'मा यात' यह कहना सार्थक हो जायेगा. और जो स्नेहसे आया है उसको यदि लौट जानेकेलिये कहा जाये तो भी वह लौट कर नहीं जायेगा, कारणकि स्नेहने उसको वशीभूत कर लिया है, जब अन्तःकरण दूसरे (प्रेमी-भगवान्)के आधीन हो जाता है, तब शेष कुछ नहीं रहता है. दोनों तरफ निष्कपट(बिना कपटके) प्रेम करना ही कर्त्तव्य(करने योग्य) है।।२३।।

लालूभट्टजी 'योजना'में कहते हैं कि आप तो स्नेहके कारण मेरे दर्शनकेलिये आई हो किन्तु आप कहती नहीं हो कि हम दर्शनकेलिये आई हैं, कारणकि आप समझती हैं कि यदि हम यों कहेंगी तो फलकी प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि कहा है, कि 'धर्मः क्षरति कीर्तनात्' कहनेसे धर्म क्षीण हो जाता है वैसे (ही) पाप भी कहनेसे कम हो जाता है. इस भयसे आप चुप हो. (अतः मैं ही आपके आनेका वास्तविक कारण प्रकट कर देता हूं.)

गो. श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज 'प्रकाश'में कहते हैं कि लौकिक तथा वैदिक छोड़ कर स्नेहभावसे भावपूर्वक भगवान्के पास आने पर भी यदि उस भावमें यह भावना है, कि भगवान् हमारी कामनाएं पूर्ण करेंगे, तो वह भाव गुणरूप उपाधिवाला होता है और यदि उस भावमें यह भावना है, कि यह हमारा जार है अतः हमारी काम पूर्ति करेंगे तो

वह भाव दोषरूप उपाधिवाला हो जाता है, इस प्रकार उपाधिवाला होनेसे वह भाव लौकिक हो जाता है जिससे फल प्राप्ति नहीं होती है.

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ।।२४।।

हे कल्याणियों! स्त्रियोंका परम धर्म यही है, कि निष्कपट हो कर पतिकी सेवा करना, तथा उनके बान्धवोंकी सेवा और बालकोंको पालना धर्म है।।२४।।

राजसीका निरूपण कर सात्विकी व्रजभक्तोंका निरूपण करते हैं. स्वभावसे भगवान् ही जीवोंका पति है, उसमें भी जिन जीवोंको स्त्री शरीरकी प्राप्ति हुई है उनको तो भगवान् ही सेव्य हैं क्योंकि यदि वे भगवान्की सेवा नहीं करेंगे तो व्यभिचारी बनेंगे अतः वह दोष न लगे इसलिये उनको भगवान्की सेवा करनी योग्य हैं. लौकिकमें तो लोकानुसार जिससे विवाह हुआ है, उसको पति मान कर उसकी सेवा करनी चाहिये वह ही स्त्रियोंका उत्तमधर्म है, वह सेवा भी कपटरहित करनी चाहिये, यदि कपटसे की जायेगी तो उसका कोई फल नहीं होगा. दूसरे सर्वधर्म स्त्रीकेलिये नीची कक्षाके हैं. वे धर्म बताते हैं पतिके सम्बन्धी श्वसुर आदि बान्धवोंकी सेवा. गोपियोंको कल्याणी सम्बोधन(विशेषण) दे कर यह बताया है, कि आपके तो पतिके सम्बन्धी श्वशुर, जेठ, बालक आदि सब हैं अर्थात् आप भाग्यशाली हो, अतः आपको कल्याणी कहा गया है. प्रजाका पोषण जैसे पिता, पितृव्य(काके, या चाचे) आदि करते हैं वैसे(ही) माताओंको भी अन्नपान देकर और दूध पिलाकर प्रजा तथा पुत्रादिकोंका पालन करना चाहिये ।।२४।।

यदि पति योग्य न हो तो? उसका उत्तर इस(२५वें) श्लोकमें देते हैं:

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ।।२५।।

पति दुष्ट स्वभाववाला, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी और निर्धन हो तो भी जिन स्त्रियोंको इस लोकमें कीर्ति और परलोकमें सुखकी इच्छा है, तो उनको इस प्रकारके पतिका भी त्याग नहीं करना चाहिए केवल यदि पति पतितधर्म आदिके कारण जाति बहिष्कृत है, तो उस पतिका त्याग करें।।२५।।

जुवा आदि व्यसनवाले, दरिद्र, वृद्ध(जिसकी इन्द्रियां अशक्त हैं), मूर्ख, रोगी(असाध्य रोगवाला), दीन(गरीब) पतिमें ये छः दोष हों तो भी उस पतिका

त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि स्त्रीका आधार पति ही है. स्त्रियां तो निर्धन पतिको जब भाग्यवान् देखती हैं, तब इसी आशासे कि धनी बन जायेगा इसका त्याग नहीं करती हैं.

भगवान् ६ गुणोंवाले हैं और पति छः दोषवाला है, यह स्पष्ट विरोध देखनेमें आता है. शास्त्र कहता है कि 'भजेदपतितं पतिम्' जो पति पतित नहीं है उस पतिका त्याग न करे किन्तु उसकी सेवा करे वह कैसा भी हो और जिनको लोक और परलोकमें कीर्ति आदिकी अपेक्षा है वे तो पतिका त्याग न करें. यदि त्याग करेंगी तो अपकीर्ति(अपजस)को पायेंगी. अपकीर्ति मरणसे भी विशेष दुःखदाई है।।२५।।

जो कामरस लेना चाहती हैं उनकेलिए धर्म बाधक नहीं है, क्योंकि परपुरुषसे ही रसकी प्राप्ति होती है, इसके उत्तरमें निम्न श्लोक कहते हैं:

अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियः ।।२६।।

कुलकी स्त्रियोंकेलिए जार पुरुषका संग स्वर्गका नाश करनेवाला, यशको मिटानेवाला, तुच्छ, कष्ट देनेवाला, भय देनेवाला और सब प्रकार निन्दा करानेवाला है।।२६।।

हे कुलकी स्त्रियां! आपको समझना चाहिये कि यद्यपि जारसे सम्बन्ध रसाल(रस देनेवाला) है तो भी उसमें बहुत दोष(दूषण, ऐब) हैं, उनमेंसे छः दूषण बताते हैं–१.परलोकका नाश करनेवाला है, यदि सत्कर्मोंसे स्वर्ग मिलनेवाला हो तो भी इस दोषसे स्वर्ग प्राप्ति रुक जाती है(नहीं होती है). २.इस लोकमें यशका नाश करता है. ३.नरककी प्राप्ति करानेवाला है. ४.क्षणमात्र सुख देनेवाला है (यद्यपि परपुरुषसे भोग महान् रस देता है किन्तु वह भोग पूर्णतया नहीं हो सकता है क्योंकि समयकी सीमा है इसलिये पूर्णरसकी प्राप्ति नहीं होती है) ५.कष्टसे मिलता है, अर्थात् स्वल्प(थोडे) प्रयास करनेसे उस(जारसे भोग करने)की प्राप्ति नहीं होती है और अन्तमें उससे बहुत खराबियां उत्पन्न होती हैं. ६.निन्दनीय, निन्दा कराने लायक है.

इस प्रकार ६ दोषवाला तो है किन्तु साथमें अनुभव(भोग)के समयमें भी रस उत्पन्न नहीं कर सकता है, क्योंकि उस समय दोनोंके अन्तःकरणमें भय बना रहता है, भयानक रस, शृंगाररसका विरोधी है अर्थात् जिस समय भय होता है उस

समय आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती है अतः इस(जारसे किये हुए भोग)को वास्तविक भयानकरस माना जाता है जिससे उसको 'व्यभिचार' कहा जाता है. यह जार भोग कर्म, प्रारम्भसे ही भय उत्पन्न करता है(जैसेकि दोनों नायक(पुरुष) और नायिका(स्त्री)के मनमें यह भय रहता है कि कोई देख न ले, किसीको इस बातका पता न पड़ जाये, हमारी निन्दा न हो जाये, आदि भय बना रहता है) जिससे भोग समयमें भी डरके कारण स्वल्प काल लेनेसे, रसकी पूर्ण प्राप्ति नहीं होती है इत्यादि कारणोंसे यह रस आनन्द देनेवाला शृंगाररस नहीं है, किन्तु वास्तविक भयदाई भयानकरस है और विशेषमें यह जारकर्म सर्वत्र निन्दनीय है. कोई पुरुष श्रेष्ठधर्म दानादि कर्म करनेवाला है किन्तु यदि यह सर्वथा सदैव व्यभिचारी(जारकर्म करनेवाला) है तो उसका यश न हो कर निन्दा ही होती है.

इस कर्मको धर्म कहना यथार्थ नहीं है. इस प्रकार विचारपूर्वक देखनेसे, यह सिद्ध होता है कि इस कर्ममें बहुत दोष हैं अतः उत्तम कुलवाली स्त्रियोंको यह व्यभिचार कर्म करना योग्य नहीं है।।२६।।

इस प्रकार उपरोक्त श्लोकसे सगुणोंको उपदेश दे कर भगवान् अब निर्गुणोंको निम्न श्लोकसे उपदेश देते हैं:

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानाद् मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्।।२७।।

जैसा भाव मुझमें श्रवण, दर्शन, ध्यान और कीर्तनसे रहता है वैसा भाव पास रहनेसे नहीं होता है इस कारणसे तुम घर लौट जाओ और वहां परोक्षमें भक्ति करना।।२७।।

आपने जो दोष बताये हैं वे लौकिक दृष्टिमें हैं किन्तु भक्तिमार्ग व परमार्थकी दृष्टिसे देखा जाये तो ये दोष नहीं हैं क्योंकि आप तो 'पुरुषोत्तम' हैं, इस प्रकार गोपियां कहें तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि शास्त्रमें यों नहीं कहा है, कि भक्तिमार्गमें सम्बन्ध ही करना चाहिये. भक्ति तो श्रवण आदि नव प्रकार(श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण)की है और दसवीं प्रेमरूपा है. स्वतन्त्र(प्रेममार्गके) पक्षमें तो सम्बन्धकी बिलकुल अपेक्षा नहीं है, भगवान्में जो स्नेह होता है वह तो अलौकिक है. वह अलौकिक ही सबसे उत्तम है, लौकिक सम्बन्ध तो कामका अंग बननेसे हीन ही है. उस अलौकिकके तीन कारण हैं, १.श्रवण, २.दर्शन और ३.ध्यान.

१.श्रवण– जो पद अथवा वाक्य भगवान्का वर्णन करते हैं, उन(पद तथा वाक्यों)की शक्ति वा तात्पर्य भगवान्में ही है, ऐसी धारणा करनेको श्रवण कहा जाता है जब इस प्रकारका श्रवण किया जाता है तब लौकिक पदार्थ तथा विषय निवृत्त हो जाते हैं भगवान् ही विषय आदि बन जाते हैं, यदि वैसा श्रवण नहीं हो, तो भगवान्के सिवाय अन्य लौकिक पदार्थोंमें भी स्नेह रहता है. अतः इस प्रकार श्रवण करना चाहिये.

२.दर्शन– जो श्रवण किया है उसके अर्थ(तात्पर्य वा भाव)को अन्तःकरणमें अनुभव करना दर्शन है अथवा जैसे भगवान्ने कृपा कर नारदजीको दर्शन दे कर अपनेमें स्नेह कराया था, इसी प्रकार जिस कृपापात्र जीवको, भगवान् दर्शन कराके, अपनेमें स्नेह उत्पन्न कराते हैं वह साक्षात्कार दर्शन है.

३.ध्यान– योगकी रीतिसे मनको स्थिर कर भगवान्के चिन्तन करनेको ध्यान कहा जाता है.

इस प्रकार इस तीन श्रवण, दर्शन और ध्यानसे ही मुझमें भाव(रति, स्नेह) उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न हुआ भाव अनुकीर्तन(बार–बार करने)से दृढ होता है.

यह शास्त्रमें कहा हुआ उपाय जैसा उत्तम है भगवान्के पास निरन्तर रहना वह उपाय वैसा श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि वह लौकिक स्नेह है और वह(लौकिक स्नेह) कामरूप बन जाता है अतः उसको श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है. यह कह दिया है. इस सिद्धान्तको, समझ कर तुम घर लौट जाओ. अतः परमार्थ विचार करने पर भी यहां ठहरना नहीं चाहिये.

श्लोकमें दिये हुए 'तथा' शब्दका इतना ही तात्पर्य है, कि लौकिक स्नेह नहीं करना चाहिये, स्नेह स्वरूपसे महान् है, उसका निषेध नहीं किया है. घरमें रहनेवाले शास्त्रीय विहित भक्ति कर सकते हैं इसीलिये भगवान्ने गोपियोंको घर जानेकी आज्ञा दी है.

(घर जानेकी आज्ञा देकर यह कहा कि वहां विहितभक्ति कर सकेंगी स्वतन्त्र(प्रेमलक्षणा)भक्ति तो वहां न हो सकेगी, अतः जिनको स्वतन्त्र भक्ति करनी है वे घर न जावें, इस गूढाशयको आचार्यश्रीने स्पष्ट कर दिया है)।।२७।।

भगवान्की इस प्रकारकी आज्ञा सुन कर गोपियां कर्तव्य विमूढ हो गई. हमको अब क्या करना चाहिए जिसको समझ न सकीं. गोपियां विचार करने लगीं

कि हम घर आदि छोड़ आई हैं, अब फिर घर जावें यह तो वमन(उल्टी) कर फिर खानेके समान है और यहां भगवान्‌की आज्ञा भी उल्लंघन कैसे की जाए, दोनों तरफ कठिनाई है, तो शरीर त्याग दें? यह किया जाएगा तो भगवत्सम्बन्धसे प्राप्त आनन्द नहीं मिलेगा, इसी चिन्तामें मग्न हो गई.

श्रीशुक उवाच

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम्।
विषण्ण भग्नसंकल्पाः चिन्ताम् आपुर्दुरत्ययाम्।।२८।।

श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि गोपियां श्रीकृष्णके वैसे विप्रिय(कडे) वचन सुन कर विषाद(खेद)को प्राप्त हुई, संकल्प(मनकी कामना) नष्ट हो जानेसे अपार चिन्तामें पड गई।।२८।।

भगवान्‌के शब्द और उसका अर्थ दोनों गोपियोंको कड़े लगे, मनमें विचार करने लगीं कि हमारी परीक्षा लेनेकेलिये वैसे शब्द कहे हैं वा आपकी हमको घर लौटानेकी इच्छा है. भगवान्‌के शब्द पूर्णरीतिसे सुन कर उस वाक्यके तात्पर्यका निर्णय कर कहने लगीं, कि भगवान् हमको सचमुच जानेको ही कहते हैं, भगवान्‌के कहनेका यह(हम घर लौट जावें) तात्पर्य न भी हो, किन्तु वैसे शब्द क्यों कहे उसका क्या कारण है जिसको गोपीजन समझ न सकीं क्योंकि भोली हैं. हमारे स्वामी गोविन्दकी वाणी देवभाषा है अतः उनमें अनृत(झूठ)की शंका भी नहीं की जा सकती है और ईश्वर वाक्य हैं इस पर निर्णय देना भी अयोग्य है, अतः गोपियां मनमें अत्यन्त विषादको प्राप्त हुई. विषादका विशेष कारण यह था कि उन(गोपियों)को अपने मनके संकल्प नष्ट हो गये दीखने लगे. तब अत्यन्त चिन्ताको प्राप्त हुई.

गोपियां सोचने लगीं कि भगवत् वाक्य सुन कर हम जो उनका तात्पर्य समझ रही हैं और भगवान्‌ने वे वाक्य किस आशयसे कहे हैं यह भी समझमें आना कठिन है, अतः इसका निर्द्धारण(निर्णय) जन्मजन्मान्तरमें भी मिलना दुर्लभ है जिससे उनकी चिन्ता इतनी बढ़ गई जिसका अन्त ही नहीं है।।२८।।

गोपियोंकी चिन्तासे जो दशा हुई उसका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं:

कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्यद्
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि

तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्।।२९।।

शोकके निःश्वाससे जिनके बिम्बफल जैसे अधर सूख रहे हैं वैसे मुखोंको नीचे कर चरणोंके अंगूठोंसे पृथ्वीको लिखती हुई काजलयुक्त अश्रुपातसे स्तनोंके केसरको धोती हुई दुःखी गोपियां मौन कर खड़ी रहीं।।२९।।

पहले चिन्तासे मूर्छित हो गई, पश्चात् इसलिये मुख नीचे कर लिये कि किसीको भी अपना मुख दिखाने जैसी हम नहीं रही हैं. भगवान्के वचनोंसे जिन्होंने शोक प्राप्त किया है वैसी गोपियां शोकवाली हो गई, उनके जो श्वास चलते थे वे(श्वास) शोकसे मिले होनेसे तापवाले थे जिनसे गोपियोंके बिम्बफल जैसे लाल स्निग्ध भी अधर सूख रहे थे और इससे वे(गोपियां) चरणोंसे पृथ्वीको लिख रही थीं, वैसी दशामें इस प्रकारकी अवस्था हो जाती है. गोपियां इसी प्रकार पैरोंसे पृथ्वीको लिख रही थीं मानो पृथ्वीको प्रार्थना करती हैं कि आप हमको रहनेकेलिये कोई विवर दो जिसमें हम छिप जाएं क्योंकि अब हम किसीको भी मुख दिखाने जैसी नहीं रही हैं.

काले अश्रु बिन्दुओंसे स्तनोंकी केसरको धोती हुई चुपचाप खड़ी रहीं.

मुख नीचे करनेसे भक्तिका तिरोभाव हुआ,(दिखाया) ठण्डी श्वास लेनेसे प्राणोंकी पीड़ा प्रदर्शित की, शोकसे अन्तःकरणका दुःख दिखाया, बिम्ब समान लाल तथा स्निग्ध अधर शुष्क हो जानेसे कामरसका अभाव दिखलाया, पादोंसे भूमि खनन करनेसे शरीरकी पीड़ा बताई आंसु बहानेसे इन्द्रियोंका दर्द प्रकट किया, केसर धुल जानेसे कान्तिका तिरोहित होना बताया, शोकसे आनन्दका तिरोभाव बताया और मौन धारण करनेसे बता दिया कि हममें चैतन्य भी नहीं है. केवल स्थाणुके समान खड़ी रही हैं।।२९।।

गोपियां शोकाकुल हो नीचे मुखकर, मौन धारण कर शान्त रहीं, उनकी यह दशा देख कर भी जब भगवान्ने कुछ भी न कहा तब वे कुछ प्रार्थना करने लगीं जिसका वर्णन शुकदेवजी इस श्लोकमें करते हैं:

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं कृष्णं तदर्थ–विनिवर्तित–सर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित् संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः।।३०।।

जिसकेलिए सर्व कामनाओंका त्याग किया है वैसे अपने प्रियतम श्रीकृष्णको बिना प्रेमवालोंके समान बोलते देख, रोनेसे फूली हुई आंखोंको पोंछकर, उनको गद्–गद् वाणीसे रोषके साथ कुछ प्रार्थना करने लगीं।।३०।।

श्रीकृष्णने जो पहले शब्द कहे हैं वे ही शब्द इस दशामें भी कह रहे हैं कि ''तुम रुदन क्यों कर रहे हो? स्वस्थ हो जाओ और घर जाओ'', किन्तु कहते हुए हंस रहे हैं जिस(हंसने)से वे वचन अमृत जैसे हो कर (गोपियोंके) हृदयमें प्रविष्ट हुए, तब उन्होंने भी वैसे ही वाक्य कहनेकेलिये बनाये और भगवान् द्वारा उद्बोधित(प्रेरणा की हुई) उन्होंने(गोपियोंने) भगवान्के कहे हुए वाक्योंको पूर्वपक्ष बना दिया अर्थात् भगवान्के कहे हुए वे वाक्य सिद्धान्तरूपसे नहीं हैं, क्योंकि 'प्रेष्ठ' हैं. प्रियतम हैं, इसीलिये सर्व सामग्री(चन्द्र, मन, पुष्प, फल आदि) आपने ही नवीन उत्पन्न की है. यद्यपि अन्यप्रकार(अप्रिय जैसे तरीके)से बोलते हैं किन्तु स्वयं अप्रिय नहीं हैं, भगवान् कभी भी अप्रिय तो नहीं हो सकते हैं प्रिय ही बने रहते हैं, साथमें इतर(अप्रिय) भी हो जाते हैं कारणकि आप सर्वभवन सामर्थ्यवान् हैं. इतर(अप्रिय) होते हैं तो भी उसके प्रियत्वमें किसी प्रकार बाधा नहीं आती है. जैसे आप जगत्रूप (आधिभौतिक-सत्रूप) हैं उस रूपसे अन्य सच्चिदानन्दरूप भी उस समय ही हैं, जगद्रूप उस सच्चिदानन्दरूपमें बाधक नहीं होते हैं. वैसे ही यहां इतर भी बाधक नहीं हैं, इसलिये शुकदेवजीने कहा है कि 'प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं' भगवान् अपने प्रिय स्वरूपका तिरोधान नहीं करते हैं किन्तु जो कुछ कहते हैं जिससे समझमें आजाता है कि ये शब्द उस प्रिय फलात्मक स्वरूपसे न कह कर इतर स्वरूपसे कह रहे हैं, अतः इस इतर(दूसरे) स्वरूपसे तो वाद किया जा सकता है.

फल कभी साधन नहीं हो सकता है, 'मुझे वरो' वैसा भी वह(फल) नहीं कहते हैं, अतः हमको उस फलरूपकी प्राप्तिमें जो प्रतिबन्ध हैं उनका निराकरण(नाश) कर उसको प्राप्त ही करना है. यदि कहा जाये कि तुम इसको प्राप्त करनेकेलिये इतना आग्रह क्यों कर रही हो? इसके उत्तरमें कहती हैं कि वह 'कृष्ण' सदा आनन्द स्वरूप है, आनन्द प्राप्तिकेलिये तो आग्रह करना ही चाहिये. यदि कहो कि वे महान् हैं मानेंगे नहीं इसलिये किन्ही छोटोंकी कामना करो, इसके उत्तरमें कहती हैं कि छोटोंकी कामना करो, यह कहना अब निरर्थक(विना अर्थवाला, फिजूल) है कारणकि हमने छोटोंकी कामनाएं जो सिद्ध थीं उन सब कामनाओंका त्याग कर एक कृष्णकी ही दृढ कामना की है 'सब जाय कृष्ण पाय' यह निश्चित मत बना लिया है कारणकि भगवती श्रुति 'काममयश्चायं पुरुषः' कृष्णकेलिये ही कहती हैं अतः हमने कृष्णके पानेकेलिये जब सर्वस्वका

त्याग किया है तो अब छोटोंकी कामना हम कैसे कर सकतीं हैं, यदि घर लौट जाना होता तो कृष्णके कहनेसे घर चली जातीं. किन्तु हमने जो कृष्ण प्राप्तिका निश्चय किया है उससे अभी हटेगी नहीं. हमारे अन्तःकरणमें भगवत्सम्बन्धी कामके सिवाय कुछ कामना नहीं है, यदि भगवद्विषयक काम सिद्ध न हुआ तो स्वरूपकी ही हानि हुई, इस प्रकार निश्चयकर, फल प्राप्तिकेलिये मान नहीं करना चाहिये. वैसा दृढ संकल्प कर रोनेसे अश्रुपूर्ण नेत्रोंको पोंछके, सबकी पूर्ण व्यवस्था कर क्रोधपूर्वक वाद करनेकेलिये तैयार हुई. गोपीजनोंने समझ लिया कि भगवान् जो कुछ कह रहे हैं वह स्वरूपसे नहीं, किन्तु केवल वाणीसे कहते हैं, अतः जो वाणीसे कहा गया है उसका खण्डन करना ही चाहिये, जिसकेलिये गोपीजन प्रयत्न करने लगे, बहुत करके लोकमें मनुष्य उपाय कर अन्त तक पहुंच लौट आते हैं, किन्तु ये क्रोधके आवेशसे स्पष्ट न बोल सकीं अर्थात् गद्गद् वाणी हो गई, क्रोधके सिवाय वाणीके अस्पष्ट होनेका दूसरा कारण यह भी है कि वाणीको भगवान्के वचनोंके निराकरण(खण्डन) करनेमें भय होता था, किन्तु गोपीजनोंको तो भय नहीं है क्योंकि इनका भगवान्में अनुराग(प्रेम) है, प्रेम भयका विघातक(नाश करनेवाला) है, जहां स्वल्प भी प्रेम है वहां भय नहीं होता है अन्तः अनुरक्त(प्रेमवाली) गोपियां कहने लगीं।।३०।।

यहां तो एक ही स्वरूप देखनेमें आते हैं दूसरे स्वरूपसे यों कहते हैं यह शुकदेवजी कैसे कहते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं कि कृष्णने पहले 'प्रियं किं करवाणि वः' आपका क्या प्रिय करूं? वैसा कह कर जो पुनः अप्रिय वाक्य कहे हैं वे प्रिय प्रेष्ठ स्वरूपके नहीं हैं अतः शुकदेवजीने 'इतर' शब्द दिया है, प्रकाशका सार. (मर्यादा स्वरूपसे)

वाक्यानां बाधवाक्यानि तावन्ति प्रार्थनाधिका ।
एकादशविधास्तेन तासां वाचो जयन्ति हि ।।का.१।।

भगवान्के गोपियोंको दिए हुए उपदेशके वाक्य दश हैं उन दशोंको बाध(खण्डन) करनेवाले गोपियोंके भी उतने(दश) ही हैं, एक प्रार्थनाका विशेष है जिससे गोपियोंके वाक्योंकी जय(जीत) है।।१।।

गोपियां कहने लगीं कि जब हम आई तब भगवान्ने हमारे आनेका स्वागत करते हुए जो कहा कि 'स्वागतं वो महाभागाः' हे बड़भागिनिओं! आप भले आई. यह हमको घर लौट जानेके अभिप्रायसे भगवान्ने कहा था न कि

'आप मेरे पास आई हैं' इस वास्ते कहा था.

ऐसा आशय प्रकट होने पर, समझा जा सकता है कि वह कहना हमारी स्तुति नहीं थी किन्तु हमारेलिए वे वचन अतिक्रूर(दुःख देनेवाले) थे क्योंकि उनका फल अनिष्ट निकला है. यदि आप(कृष्ण) कह दो कि 'मैं क्या करूं' जो आप चाहती हैं वह अशक्य(होना कठिन) है तो हम क्या करें? यदि भगवान्! आप यों कहते हैं तो हमारी प्रार्थना सुनो:

श्रीगोप्यः ऊचुः

मैवं विभोर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयास्तंव पादमूलम्।
प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्।।३१।।

हे विभु! आपको वैसे क्रूर वचन नहीं कहने चाहिए? हम सर्वप्रकारसे सर्व विषयोंको छोड़कर, आपके चरणमूलमें आई हैं, हे दुराग्रही! आप हमको छोड़ो मत आपके पास प्राप्त हुई हमको वैसे भजो जैसे आदिपुरुष देव मुमुक्षुओं(मोक्ष चाहनेवालों)को भजता है।।३१।।

आप सबकुछ करनेमें समर्थ(शक्तिवाले) हैं, समर्थ हो कर भी यदि कोई कहे कि हम क्या करें, यह कार्य करना(होना) कठिन है तो यह उसका कहना दयारहित(क्रूर) है, जिसमें दया विद्यमान होती है वह वैसे क्रूर वचन नहीं कह सकता है. और जो आपने पूछा कि व्रजमें तो सर्व कुशल हैं न? तो उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि हम सब विषयों(व्रजका सर्वप्रकारसे सम्बन्ध)को त्याग कर आपके चरणमूलमें प्राप्त हुई हैं, विषयोंमें त्यागके बिना आपके चरणोंकी प्राप्ति नहीं होती है. इसलिये जिसका त्याग किया उसका पुनः ग्रहण करना योग्य नहीं है, यों भी आप मत समझना कि हम आपके पास जारभावसे (अर्थात् काम विषय भोगनेकेलिये) आई हैं क्योंकि जो वासना सहित सर्व इन्द्रियोंके विषयोंको त्यागते हैं उनको कामभोगकी इच्छा भी नहीं रहती है उसका प्रमाण यह है, कि हम आपके चरणमें प्राप्त हुई हैं. आपने हमसे आनेका कारण पूछा है? इसका उत्तर यह है कि 'भजस्व' आप हमको भजो, यदि कहो कि भजन तो हम नहीं करेंगे दूसरा कोई कर्त्तव्य कहो तो वह किया जाये, इसके उत्तरमें गोपियां आवेशमें आकर कहती हैं कि ऐसा कहना 'दुष्ट आग्रह' है यह आपका आग्रह जीवोंके समान है जीव अन्य सर्वकर्म करते हैं तब नहीं कहते हैं कि यह वा वह कार्य कठिन है किन्तु यदि भगवद् भजनकेलिये कहा जाये तो शीघ्र कह देते हैं

यह तो कठिन है हमसे कैसे होगा हम नहीं कर सकते हैं आदि, इसी प्रकार आप भी जीवकी भांति अब दुराग्रही हुए हैं, आप अपने गीता वाक्यका अनुसरण तो यहां नहीं करते हो कि 'जो जैसे मेरा भजन करता है मैं भी उसी प्रकार उसको भजता हूं' क्या यह भूल गये हैं यदि नहीं भूले हैं तो जैसे हम भजती(त्याग नहीं करती) हैं वैसे आप भी हमको भजो और हमारा त्याग मत करो.

हम जो भजन चाहती हैं वह लौकिक काम विषयभोगके समान नहीं है किन्तु अन्य प्रकारका(अलौकिककी भांति) है. उसको विशेष समझानेमें अपनेको असक्त समझ कर दृष्टान्तसे समझाती हैं, कि जैसे देव सर्वको भजता है सर्वको फल देता है नहीं तो शास्त्रका कहना निरर्थक(व्यर्थ) है (हो जावे). जब पूर्वकाण्डमें (कर्ममार्गमें यज्ञ द्वारा) देवका भजन किया जाता है तब भी देव द्वारा फल प्राप्त होता है. वहां(कर्ममार्गके पूज्य देवोंमें) भी आदिपुरुष विराजमान हैं, वह(आदिपुरुष ही) फल देता है. इसी प्रकार उत्तरकाण्ड(ज्ञान–भक्ति प्रतिपादक काण्ड)में तो भगवान् स्वयं उनका उचित फल देते हैं. आदिपुरुष(भगवान्) तो सर्वथा सर्वदा सेव्य(भजन करने योग्य) है ही, क्योंकि वह देव भी है, देवके भजनको कोई भी(लोक वा शास्त्र) व्यभिचार(परपुरुष वा परस्त्रीसे विषयभोग) नहीं कहता है. यदि कोई स्त्री परपुरुषसे व्यभिचार करती है तो भी वह क्या विवाहित प्रथम पतिसे भोग नहीं कर सकती है? कर सकती है. यद्यपि पति वैसी स्त्रीका त्याग कर सकता है किन्तु पतिसे तो भोग कर सकती है, जिसका निषेध नहीं है, लोकमें जैसे पति अपनी स्त्रीका परपुरुषसे सम्बन्ध सहन नहीं कर सकता है इसलिये उस सम्बन्धको छुड़ा कर उससे रमण करता है वैसे ही आपको भी करना चाहिये वहां उनके पास(जो परपुरुष हैं) भेजना योग्य नहीं है. सर्व जीवोंका(हमारा भी) प्रथम सच्चा पति तो आप(भगवान्) ही हैं फिर आप देव भी हैं, भगवान्को 'देव' इसलिये कहते हैं कि वह सदैव क्रीड़ा ही करते हैं 'दिव' धातुका अर्थ रमण करना है जिससे 'देव' बना है अतः यथायोग्य अधिकारानुसार भगवान् सबसे रमण करते हैं. जिससे जीवका भगवान्के साथ रमण करना व्यभिचार नहीं है.

भगवान्ने कहा है कि 'प्रियं किं करवाणि वः' आपका प्रिय क्या करें? इसलिये कहती हैं कि जैसे मुमुक्षुओंको आप अपनी आत्मा समझ उनको भजते हो जिससे वे भी आपको अपनी आत्मा समझते हैं, ऐसी अवस्था बनाके अपना

आनन्द उनको देते हैं इसलिये भगवति श्रुति भी कहती है कि 'एष ह्येवानन्दयाती' यह(परमात्मा) ही आनन्द देते हैं. 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं ही' इस ब्रह्मसूत्रमें कहा है कि १.सुषुप्ति, २.मुक्ति इनमेंसे किसी अवस्थामें पर भगवान् प्रकट होते हैं, अतः इस सूत्रके अनुसार सिद्ध है कि भगवान् मुमुक्षुजनोंकेलिये प्रकट हो कर उनको भजते हैं (आनन्द दान देते हैं) यदि वैसा न हो तो मानना पड़े कि मुमुक्षु भगवान्को भजते हैं. किन्तु भगवान् मुमुक्षुओंको नहीं भजते हैं. अतः भगवान् फलदान कर उनका भजन करते हैं जिससे उन(मुमुक्षुओं)की फिर प्रथम अवस्था नहीं करते हैं, और सदैव अपनेमें स्थापित करते हैं, उसी प्रकार हमारेलिये प्रकट हो कर हमको भी अपने आनन्दसे युक्त करो अर्थात् स्वरूपानन्द दे कर हमारा भी भजन करो, यही हमारा प्रिय करो.

गोपियोंने प्रार्थनासे यह कहा अतः एकबार अंगीकार कर फिर चुप रह कर अपरिचित जैसे शान्त हो जाओ यह भी योग्य नहीं है. आगे जो घर जानेकी आज्ञा की है और गृहस्थिति वह वियोगमें रह कर 'रसका पोषण करे' इसीलिये दी है।।३१।।

यत्पत्यपत्यसुहृदाम् अनुवृत्तिरङ्ग! स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा।।३२।।

हे अंग! धर्मको जाननेवाले आपने जो कहा कि पति, सन्तान और सुहृदों(सम्बन्धियों)की सेवा करनी स्त्रियोंका स्वधर्म है, यह आपके उपदेशके वचन आप(ईश)में ही चरितार्थ(सफल) हो, क्योंकि देहधारियोंके आप ही प्रेष्ठ, प्रिय, बन्धु तथा आत्मा हैं।।३२।।

जो कि आप(भगवान्)ने कहा 'स्त्रियोंको अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिये', इसलिये यह घोर रात्रि है, यहां(वनमें परपुरुषके पास) आपको नहीं रहना चाहिये. इसपर गोपियां कहती हैं कि पति, सन्तान और सम्बन्धी इनकी सेवा स्त्रियोंकेलिये स्वधर्म(अपनाधर्म) है, यह जो धर्मज्ञ आपने धर्मशास्त्र जाननेवालोंका मत कहा है, वे धर्मशास्त्र जाननेवाले बहिर्मुख हैं वे शरीर सम्बन्धी धर्मको ही धर्म कहते हैं, आत्मधर्म और भगवद्धर्मका वर्णन नहीं करते हैं, कारणकि वे आत्मज्ञानी नहीं हैं. धर्मज्ञ आपने भी यों ही कह दिया है, हमारा वा आत्माका विचार करके नहीं कहा है.

हम इस विषयका निर्णय करती हैं उसको दूषित नहीं करती हैं, आपने जो

कहा कि स्त्रियोंको अपने धर्मका पालन करना चाहिये, हम भी इन वचनोंको मानती हैं कि वैसे ही करना चाहिये.

पति आदि धर्मके स्वरूप नहीं हैं और न धर्मके आश्रय हैं, केवल निमित्त हैं. वह धर्म दो प्रकारका है, एक जो कार्यमें लाया जाये वह अनुष्ठीयमान धर्म है, उस धर्ममें पुत्र आदि निमित्त हैं, और दूसरा जानने योग्य वह प्रमीयमाण धर्म है, उस धर्ममें निमित्त गुरु है. अतः प्रथम गुरुकी सेवा करनी चाहिये, यदि प्रथम गुरुकी सेवाकर, ज्ञानकी प्राप्ति नहीं की जायेगी तो धर्मका ज्ञान कैसे होगा? धर्मके ज्ञानके बिना उसका आचरण कैसे होगा? भगवान्के वचन अनुवादक(गौण) नहीं हैं, मुख्य हैं किन्तु भगवान्के इस उपदेशसे पहले हम(गोपियों)को धर्मका ज्ञान नहीं था, यदि होता तो उसके अनुसार हम धर्मका पालन करतीं. किन्तु वह धर्म जो आप(भगवान्)ने अब कहा है उस धर्मकी स्फूर्ति भी सेवाके बिना नहीं होती है, यदि सेवाके सिवाय, केवल शब्द सुननेसे स्फूर्ति होती, तो हम घर लौट जातीं, इसलिये जो उपदेश मिला है उसकी सिद्धिकेलिये प्रथम आप(गुरु) अपनी सेवा कराओ. उपदेशका आश्रय कर्ता ही होता है अर्थात् जो उपदेश करनेवाला है उपदेश उसमें ही रहता है अतः उन(गुरु)की सेवासे उपदेश सफल होगा.

हे अंग! यह प्रेमयुक्त कोमल सम्बोधन देकर, गोपियोंने यह बताया है, कि हम जो कुछ कहती हैं वह उपदेशके प्रतिकूल(विरुद्ध) नहीं है, किञ्च स्वधर्म अनेक प्रकारका है, कोई अपनेसे उत्तम विषयके हैं, कोई समान विषयके हैं और कोई हीन विषयके हैं. इन तीन प्रकारके धर्मोंमें तीसरे(हीन)से दूसरा(समान) उत्तम है, दूसरे(समान)से प्रथम उत्तम है. अपने समान पति पुत्रादिकोंकी सेवा स्त्रियोंका धर्म है इस प्रकार अपने नियामक ईश्वरकी सेवा भी सबकेलिये मुख्यधर्म है. वह मुख्यधर्म है क्योंकि ईश्वर उत्तम है, इसलिये यह मुख्य है, यदि ईश्वर प्रेरणा न करें, तो पति सेवा आदि धर्ममें प्रवृत्ति ही न होवे, अतः इस समय आप प्रकट हो, तो भी आप ईश्वर तथा अन्तर्यामी हो, वैसा होते हुए भी पति पुत्रादिकेलिये प्रेरणा नहीं करते हो, किन्तु अपनी सेवाकेलिये प्रेरणा दे रहे हो, इसलिये आपके वाक्योंमें कहे हुए धर्मकी सिद्धिकेलिये प्रथम आपकी सेवा करनी चाहिये. किञ्च(कुछओर) धर्मकी जड़ धर्मी है, इसलिये धर्मोंसे जो विरुद्ध न हो, वैसा धर्म पालना चाहिये और वह(धर्म) फल प्राप्तिकेलिये पालना चाहिये, यदि इस प्रकार

नहीं किया तो अर्थात् धर्मीसे विरुद्धधर्मका पालन करनेसे परिणाम यह निकलेगा कि वेद जो आप्त(प्रमाणरूप) है वह पुरुषको अनिष्टमें(जिसका कोई फल नहीं है उसमें) प्रवृत्ति कराता है जिससे वह(वेद) अनाप्त(अप्रमाण) बन जायेगा. इसी कारणसे धर्मशास्त्रमें शरीर ही प्रिय समझ, उस(शरीर)के धर्मका अनुरोध(आग्रह) किया है.

'द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीयः' अर्थात् द्रव्य(धर्मी) और संस्कार (धर्म) इन दोनोंका जहां विरोध देखनेमें आवे वहां द्रव्य(धर्मी)को बलवान् मानना चाहिये. लोकमें किसीको देह प्रिय है, किसीको आत्मा प्यारी है, किसीको परमात्मा प्यारे लगते हैं, किसीको निर्वाहक(पालक) प्यारा लगता है, किन्तु आप तो 'प्रेष्ठ' अर्थात् परमप्रेमी आनन्ददायक हो, कारणकि आप सर्वरूप हो, अतः बन्धु भी हो, आत्मा भी हो निर्वाहक भी हो, और विशेषमें आप केवल हमारे ही प्रेष्ठ नहीं हो, किन्तु सकल देहधारियोंके परमप्रेमका आश्रय स्थान भी आप ही हो ('भवाय नाशाय' यहां यह दिखलाया था कि आपका दिया हुआ शरीर ही जो प्रयोजक आपने विचारा हो उसकेलिये जीव गृहण कर रखता है. अतः उस भगवदीय देहको भगवान्ने ही स्थापित किया है, भगवान्को ही निवेदित करना चाहिये, भगवान्केलिये अनुपयोगी होने पर, अन्यको दिया जा सकता है. चेतनको प्रेरणा होती है, अतः जब तक भगवानकेलिये उपयोगी दीखता हो तब तक अन्यको नहीं दिया जायेगा, चाहे कोई कितना भी समझाये या बहकाये) प्रेष्ठको ही प्रिय पदार्थ देना चाहिये, इसमें अन्य प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि श्लोकमें 'किल' शब्द दे कर कह दिया है, कि इसकी सर्वत्र 'प्रसिद्धि' ही प्रमाण है. आपने केवल देह दी है यों नहीं है, किन्तु उस(देह)का प्रयत्न कर पालन भी करते हो, अतः आप बन्धु भी हैं, उसका धारक(धारण करनेवाले) होनेसे 'आत्मा' भी आप ही हैं, अतः 'अन्तरंग-बहिरंग न्याय' तथा 'नित्य-अनित्य न्याय'के अनुसार, भगवान्की सेवा ही मुख्य है. जब वह आपके उपयोगकी नहीं रहेगी और तब भी जब आप प्रेरणा करोगे तो दूसरेको देंगे! नहीं तो(आप प्रेरणा न करोगे चाहे आपके उपयोगमें न भी आवे, तो भी) नहीं देंगे. धर्मसे धर्मीका विचार विशेष है, अर्थात् धर्म न रहे तो परवाह नहीं होनी चाहिये. किन्तु धर्मी तो किसी भी अवस्थामें आपके पास होना ही चाहिये. आपके अंगीकार न करनेसे सर्वनाश हो जायेगा इसलिये हम प्रार्थना कर रही हैं, आप

सर्वरूप हो अतः आप सेव्य हो.

सर्वरूप होनेसे, पति आदिकी सेवा भी आपकी सेवासे सिद्ध हो जाती है, दूसरे(पति आदि)में एक ही समय सर्व सेवा प्राप्त हो तो भी, वह पूर्ण हो नहीं सकती है, कारणकि उसमें बाध आता है जैसेकि पतिकी सेवाके समयमें पुत्र आदिकी सेवा नहीं हो सकती है, वैसे (ही) पुत्रकी सेवाके समयमें अन्यकी सेवा नहीं बनती है, इस विषयमें कोई नियममें रखनेवाला प्रमाण नहीं है. अतः जिसका काल आदि बाध कर सकते हैं वह 'धर्म' नहीं है, तथा जो अशक्य है(बन नहीं सके) वह भी धर्म नहीं है, प्रमाण कभी भी विरुद्ध नहीं करता है, इसलिए पति आदिकी सेवाका विधान करनेवाला शास्त्र आपकी सेवाका ही विधान करता है. अतः अनुवादपक्षमें अथवा स्वतन्त्रपक्षमें भगवान्(आप)की सेवा करनी ही उचित है।।३२।।

स्त्री पतिकी सेवा स्वतः करना चाहती है उस सेवाका शास्त्रमें विधान किया है उस(विधान)को अनुवाद कहते हैं, अतः वह अनुवादपक्ष है.

स्त्री पतिकी सेवा शास्त्रमें आज्ञा होनेसे करती है, इसे नियमविधि कहते हैं. अतः वह शास्त्रका विधान स्वतन्त्र होनेसे स्वतन्त्रपक्ष कहा जाता है. इसे अपूर्वविधि कहते हैं. यहां यह आशय है कि पति आदिकी सेवाका विधान जो नियमविधि हो तो भी सेवा अंशतः बाधित होनेके कारण और लौकिक स्वभाववश भी स्वतः सिद्ध होनेके कारण विधानका विषय नहीं बनती अतः सेव्य भगवान् ही रह जाते हैं. यदि पति आदिकी सेवाके विधानको अपूर्व विधि माना जाये तो इस अपूर्व धर्मोपदेशके कारण भी गुरुके रूपमें पहले भगवान्की ही सेवा होनी चाहिये तभी धर्मज्ञान स्थिर होगा.

शुकदेवजी इस प्रकार राजसी गोपियोंने जो कुछ कहा उसका निरूपण कर अब सात्त्विकीओंके वचनोंका निरूपण 'कुर्वन्ति हि' श्लोकसे करते हैं:

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद वरदेश्वर मा स्म छिन्द्या आशां धृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ।।३३।।

सबके आत्मरूप हो इसी कारणसे कुशल(चतुर) पुरुष, निरन्तर प्रिय तथा अपने आत्मरूप आपमें प्रीति करते है, पीड़ा देनेवाले पति-पुत्रमें प्रेम करनेसे क्या लाभ है? अतः हे वर देनेवालोंके ईश्वर! हे कमलनयन! आप हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ और कृपा करो, जिससे आपमें बहुत समयकी धरी हुई आशा

सफल हो जाए टूटे नहीं अर्थात् हमारी इस आशाको तोड़ो नहीं।।३३।।

जो कि आपने हमको कहा कि माता-पिता आदि तुमको ढूंढेंगे, अतः लौट जाओ उनको दुःखी भयभीत मत करो, क्या इस प्रकार प्रथम हमने ही किया है, या दूसरेने भी किया है? उसमें भी आप बताइये कि माता आदिकी सेवा अधमजन करते हैं, वा उत्तम करते हैं, वे उत्तम आपकी सेवा करनेमें समर्थ हैं वा असमर्थ हैं, इस पर विचार कर निर्णय करना चाहिये. इस विषयका निर्णय करनेवाला, महापुरुषोंका चरित्र होता है उसको गोपियां कहती हैं कि जो कुशल महापुरुष हैं, वे आत्माके ही हितको चाहते हैं न कि देह और इन्द्रियोंके सुखकी इच्छा करते हैं अतः वे तुममें ही प्रेम करते हैं. स्नेहसे ही क्रिया(भगवान्की सेवा) होती है. भगवान्में का स्नेह ही लौट कर जीवात्मामें हो जाता है. इसको 'तच्चात्मने प्रतिमुखस्य' श्लोकमें सिद्ध किया है और सेवा प्रीतिसे होती है, जो पुत्र आदिकी सेवा भी धर्म होती, तो उससे पुरुषार्थ सिद्ध हो कर आत्मारूप फलकी प्राप्ति होनी चाहिये वह नहीं होती है, इसलिये महापुरुष पुत्रादिकी सेवा न कर आपकी प्रेमसे सेवा करते हैं यही उनमें चातुर्य है, वे समझते हैं कि प्रवृत्तिसे निवृत्ति उत्तम है, पुत्रादि सेवा प्रवृत्तिधर्म है, उससे पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है, भगवत्सेवा निवृत्तिधर्म है उससे पुरुषार्थ सिद्ध होता है. मनुष्य भगवत्सेवा न कर पुत्रादिकी सेवा अपना कर्त्तव्य समझते हैं उसका कारण यह है, कि उन मनुष्योंने इन्द्रियोंको अपने वशमें नहीं किया है किन्तु स्वयं इन्द्रियोंके वश होनेसे आत्मधर्मको भूल जाते हैं, देहधर्मको मुख्यधर्म समझते हैं, अपने वशमें की हुई इन्द्रियां ही भगवान्की तरफ जाती हैं, इसलिये 'यतो यतो निवर्तेत' इस श्लोकमें कहा है कि मनुष्य, जहां-जहांसे निवृत्त होता है वहां-वहांसे बन्धनसे छूट जाता है. वे वश की हुई इन्द्रियां भी, जब आपके उपयोगमें आती हैं तब आत्मगामिनी बनती हैं, अतः केवल इन्द्रियोंको वश करनेवालोंसे भी जो आपसे रति(प्रेम) करते हैं वे कुशल(चतुर) हैं इसलिये श्लोकमें 'हि' शब्द दिया है. श्लोकमें 'त्वयि' यह एकवचन दे कर यह आशय प्रकट किया है, कि पूर्वकी भांति आपमें ही सर्व(पति आदि)का सम्भव(उत्पत्ति) है, किञ्च आप ही स्वरूपभूत अपनी(सबकी) आत्मा हैं, आप अध्यासन्यायसे हमारी(सबकी) आत्मा नहीं हो, किन्तु वास्तविक आत्मा हो. प्रियकी ही 'सेवा' करनी चाहिये किन्तु वह प्रिय कालसे परिच्छिन्न(सीमित) न होवे, अर्थात् वह नित्य हो वैसे आप ही हैं, नहीं

तो जारकी सेवा भी धर्म हो जायेगी जैसे जन्म वैसे ही दिन भी परिच्छिन्न होनेसे अनित्य हैं उनसे प्रेम तथा उनकी सेवा 'धर्म' नहीं है और पति-पुत्र आदि धर्मके कारण नहीं बन सकते हैं, क्योंकि धर्मके कारण वे होते हैं, जो आनन्द प्राप्ति करावें, वे तो दुःख देनेवाले हैं, यदि ये धर्मके कारण होते तो इनसे प्रीति करनेसे एवं इनकी सेवा करनेसे संसार(अहन्ता-ममता) न होना चाहिये, किन्तु होता है, इसलिये इन(पति आदि)से क्या लाभ है? इनसे तो भय अथवा कोई दुःख हो. अतः इनसे कोई प्रयोजन नहीं है, चाहे इनको भय दुःख आदि कुछ भी हो.

हम तो एक ही वस्तु चाहती हैं वह वस्तु ऐसी है जिससे होनेसे सर्वशास्त्र तथा युक्तियां सार्थक हैं, यदि वह नहीं हैं, तो सकल शास्त्र एवं सर्व युक्तियां व्यर्थ हैं, उस वस्तुको देनेकेलिये भगवान्की प्रार्थना करती हैं, कि आप हम पर प्रसन्न हों, अर्थात् कृपा करो, आपकी कृपाके बिना ही लोक भ्रममें पड़ कर दुःखके देनेवाले कार्योंमें प्रवृत्ति करते हैं, हमारी यह दशा न होवे, इसीलिये हम पर प्रसन्न हों कृपा करो. यदि आप कहो, कि आपने वैसा कौनसा साधन किया है? जिससे मैं प्रसन्न हो जाऊं, कृपा करूं? इस पर गोपियां कहती हैं, कि हमने कोई साधन नहीं किया है, हम निःसाधन हैं किन्तु आप 'वरदेश्वर' हो, वर देनेवालोंके भी स्वामी हो, वर देनेवाले दयालु होते हैं, दुःखियोंके दुःखको जान कर उनको मिटानेकेलिये स्वयं वर दे देते हैं यदि उनमें दया न हो तो तपस्या करने पर भी वर न देवें, उनके भी आप ईश्वर हैं अतः आप तो महादयालु हैं अतः उन वर दाताओंके द्वारा भी आप ही सर्वका क्लेश नष्ट करते हो, अतः हम बहुत क्लिष्ट हैं यों तो हम अन्य साधन हीन हैं किन्तु हमारा क्लेश ही तपस्याकी भांति साधन समझ लो, हमारा क्लेश लौकिक क्लेश नहीं है किन्तु आपकेलिये जो ताप है वही हमारा क्लेश है. हमारे क्लेशमें, किसी प्रकारका निषिद्धभाव है ऐसा आप मत समझो. गोपियां कहती हैं कि आप यों कह दो कि जैसे आपने इतने समय तक पति सेवा की है वैसे ही अब भी करती रहो, गौण कर्म भी यदि प्रारम्भ किया जाये तो आवेशमें उसका त्याग नहीं करना चाहिये इसलिये कोई विशेष विचार न कर पति सेवा करती रहो, इसका उत्तर यह है, कि हमने जो पति सेवा की है वह भी आपकी आशासे की है, कि जब तक आप न मिलें तब तककी स्थितिका निर्वाह होता रहे इसलिये ही वहां रही थीं, अब तो यहां आपके चरणमूलमें प्राप्त हो गई हैं अभी जो हमारी अभिलाषा पूर्ण न होगी, तो इतने दिनोंसे जिस आशाको धारण

कर रखा, वह टूट जायेगी तो उसके टूट जानेपर प्राण ही चले जायेंगे, अतः हमारे इतने दिनकी धारण की हुई आशाको मत टालो, अतः किसी स्त्री हृदयको जाननेवाले अनुभवी विद्वान्ने कहा है कि 'हृदयकी गति बन्ध न हो जाये उसको रोकने(टिकाने)वाली आशा ही है' इस विषयकी जड़, स्त्रीशास्त्रमें मिलेगी, यह आशा अभीकी नहीं है, बहुत समयकी धारण की हुई है यदि वह टूट गई, तो आश्रय(आधार) चले जानेसे, हम नीचे पड़ जायेंगी, इस प्रकार आशा टूट जानेसे पड़ जाना प्रसिद्ध है, श्लोकमें 'स्म' शब्द दे कर इस विषयके प्रसिद्धिकी सूचना दी है, गोपियांने भगवान्को 'अरविन्दनेत्र ' यह सम्बोधन दे कर यह भाव प्रकट किया है, कि आपके नेत्र कमल जैसे हैं अतः कमलके सदृश आप भी भक्तोंके तापको शान्त कर आनन्द दे तृप्त करते हैं इसीसे ही हम अब तक जीवित रह सकी हैं, क्योंकि आपकी इस प्रकारकी दृष्टिसे आशा दृढ़ हो जाती है, कि आप हमारा त्याग न कर अवश्य रस दान करेंगे।।३३।।

आपने हमको कहा, कि क्या वन देखने आई हो? यों कह कर वनकी शोभाका भी वर्णन किया, इसके उत्तरमें हम निम्न श्लोक कहती हैं:

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेपि यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ।।३४।।

हमारा जो चित्त अब तक घरमें लगता था उसको आपने हर लिया है, और जो हाथ, घरका काम करते थे, वे भी आपने वहांसे हटा कर अपने पास खेंच लिए हैं, शेष जानेवाले पैर, वे भी आपके चरणकमलको छोड़ना नहीं चाहते हैं. तो आप बताइये कि व्रजको किस प्रकार जावें, वा क्या करें।।३४।।

चित्त अपनेमें हो, तो वह(चित्त) वनके दर्शनकी इच्छा कर सकता है, चित्तको तो आपने अपने पास हरण कर लिया है, आपको चित्त चुरानेमें किसी प्रकार प्रयास करना भी नहीं पड़ा, यदि प्रयास होता तो, समग्र चित्त आप नहीं हरण कर सकते, किन्तु परिश्रम बिना सुखपूर्वक हरण हुआ इसीलिये सम्पूर्ण चित्त आपने चुरा लिया है अतः जब चित्त रहा ही नहीं तो वनके देखनेकी इच्छा कौन करे? जिससे हम वन देखने नहीं आई हैं, आप आनन्द(सुख)रूप हैं इसलिये चित्त भी आनन्द देते हुए हरण कर लिया है, जब हरणमें, साक्षात् परमानन्द कारण है, तब कोई भी पाक्षिक साधनको कारण नहीं मानता है. आपके द्वारा चित्त हरण हो जाने पर, वन देखनेकेलिये इच्छा तो दूर रही, किन्तु घरके कामोंमें भी रुचि नहीं

होती है. यह(चित्त हरण) कह कर गोपीजनोंने बताया, कि आपने चित्त मात्र नहीं हरण किया है, किन्तु ज्ञानशक्तिका हरण किया है.

वनमें किसी कामकेलिये (वस्तु आदि ले जानेकेलिये) हम आई हैं यों भी नहीं है, कारणकि कोई भी काम क्रियाशक्तिसे होता है, उस क्रियाशक्तिके आश्रय स्थान करों(हाथों)का भी आपने हरण कर लिया है, इसलिये जब हाथ घरका भी काम नहीं कर सकते हैं तो वनमें कार्यकेलिये हम क्यों आवें? काम(आपसे मिलनेकी इच्छा)ने बलका हरण कर लिया है, जिससे हस्त निर्जीव(अशक्त) हो गये हैं, अब आपके स्पर्श होने पर भी वे सजीव(शक्तिमान्) होंगे, नहीं तो मरे हुए हैं, अतः हस्तोंके अभावसे सेवाका करना भी रुक गया है. कोई भी, बिना हाथ काम नहीं कर सकता है.

आपने जो कहा, कि वन देख लिया अब लौट कर व्रजमें जाओ, वह भी होना असम्भव है, कारणकि हमारे दो पैर भी आपके चरणमूलमें प्राप्त हुए हैं, वहांसे एक पैर भी नहीं चल सकते हैं अर्थात् दूसरी जगह नहीं जा सकते हैं, कारणकि गमन करनेवाले हमारे पैरोंके मूलभूत(जड) आपके चरण हैं उन आपके चरणोंकी मूलमें ये हमारे पैर प्राप्त हो गये हैं अर्थात्, हम जब पैरोंसे हीन हो गई हैं तब दूसरी जगह कैसे जावें? बिना पैरवाली हम जा सकती हैं, तो वृक्ष भी इधर-उधर चल सकें, अतः हम इस स्थानसे तो, तब चल सकती हैं जब आप यहांसे चलें. आपके सिवाय हम चल ही नहीं सकतीं हैं इस कारणसे, लौट जाना भी असम्भव है. यदि आप कहो, कि पैरोंसे नहीं जा सकती हो तो रथमें बैठ कर जाओ, इसके उत्तरमें हमारा कहना है, कि रथसे जावें भी किन्तु वहां जाकर करें क्या? जानेकेलिए तो रथ साधन है, किन्तु कार्य करनेकेलिए हाथका प्रतिनिधि कोई साधन नहीं है, केवल जानेसे कोई प्रयोजन नहीं है प्रयोजन तो यह है कि वहां जाकर पिता आदिकी सेवा करें वह तो हो नहीं सकती अतः जाना व्यर्थ(बेकार) है, यह सारा भाव गोपीजनोंने 'अथो किं करवाम' पंक्तिसे कहा है. यहां तो भगवद्भावके आवेशसे दूसरे प्रकारसे(हाथोंके बिना) भी कार्य हो सकेगा. यों कह कर यह भी कह दिया, कि बालकोंको स्तनपान कराना भी कठिन है, कारणकि जब हम आप(भगवान्)के बिना वहां जायेंगी तो हमारी आशाएं नष्ट होनेसे, हम सर्व प्रकारसे शुष्क हो जायेंगी, तो बच्चोंको भी, दूध सूख जानेसे नहीं मिलेगा अतः हमारा वहां जाना व्यर्थ ही होगा।।३४।।

भगवान्ने गोपियोंको कहा 'शीघ्रं गच्छत' जल्दी जाओ, इसके उत्तरमें निम्न 'सिञ्चाङ्ग' श्लोक कहती हैं:

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृत–पूरकेण हासावलोक–कलगीत–जहृच्छयाग्निम्।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपभुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ।।३५।।

हे प्रिय! आपके हास्यपूर्वक अवलोकन(देखने)से और मधुरगीतसे पैदा हुई हमारी कामाग्निको, आप अपने अधरामृतके पूर(पिचकारी)से सिञ्चन कर शान्त करो, हे सखा! नहीं तो हम विरहसे उत्पन्न अग्निसे, देहको दग्ध(जला) कर, ध्यान द्वारा आपके चरणोंकी पदवीको प्राप्त करेंगी।।३५।।

जो आप प्रतिबन्ध(रुकावट) न करोगे तो हम शीघ्र ही(आपके पास) जायेंगी, वहां भी यदि आप मौन धारण कर बैठेंगे बुलावेंगे नहीं तो? निश्चय हमारा मरण ही होगा. घर लौट जानेमें तो कुछ भी कहना नहीं है.

हे अंग! जिस अग्निको आपने पैदा किया है उस अग्निको आप अपने अधरामृतरूप जलके प्रवाहसे सिंचन(शान्त) करो, इस कामाग्निको कैसे उत्पन्न किया उसका प्रकार कहती हैं कि आपके हास्य(मुसक्यान)ने कामको उत्पन्न किया, कटाक्षोंने उस(काम)को तेज किया और कलगीतरूप वायुने उसको चारोंतरफ सकल अंगोंमें फैला दिया है तो भी वह हृदयमें ही पूर्णरूपसे रहा है अतः उसको शान्त करनेकेलिये वह वस्तु चाहिये जो हृदयमें पहुंच सके, वह हृदयमें पहुंचनेवाली वस्तु तो आपका अधरामृत पूर ही वस्तुको खेंच ले जाता है, गोपियोंने उस अधरामृत पूरके सिंचन करनेका कह कर अग्निका महत्व बताया है, अतः सिंचनकी उक्ति(सिंचन करनेको कहना) योग्य है, कारणकि अलौकिक अग्नि अलौकिक भगवान्के अधरामृत(न कि देवोंके अमृत)से शांत होती है.

मरा हुआ काम, अग्निका रूप धारण कर जलाता रहता है वह(काम) जब जीवित होता है, तब अग्निरूपका त्याग करता है, अन्य प्रकारसे अग्निरूपको नहीं छोड़ता है. वह अमृतसे ही जीवित होता है, किन्तु वह अमृत देवोंका अमृत नहीं, यदि उस अमृतसे जीता होता तो, देव ही उसको जिला देते. (काम) सृष्टि उत्पन्न करनेमें कारण है अतः उसका मोक्ष नहीं होता है, जब उसका मोक्ष नहीं होता है तब उसको अतिगुप्त, आपके अधरामृतसे उसको जिला दो इसीलिये सिञ्चन कहा, नहीं तो मार डालनेकी प्रार्थना करतीं, मार डालनेकी प्रार्थना इसलिये नहीं की, कि गोपियोंको यह निश्चय था कि कामके जीनेसे हम जीवित

रहेंगी, नहीं तो मरा हुआ, वह स्वयं जलता हुआ दूसरोंको भी जलायेगा.

हे सखे! यदि आप मन्त्र जाननेवालेके समान अधरामृतका सिञ्चन कर उसको जीवित न करोगे, तो विरहसे उत्पन्न अग्निसे अपनी देहको जला कर ध्यान पूर्वक आपके चरणोंका अनुसरण करेंगी. हमको तो यह ज्ञान है ही नहीं, किस मार्गसे जाना चाहिये अतः आप सखा हैं, आप जिस रास्तेसे चलेंगे हम भी वह ही रास्ता स्वीकार करेंगी(चलेंगी). गोपियोंके इस कथनके अभिप्रायको प्रभुचरणने यों स्पष्ट किया है कि गोपियां भगवान्को कहती हैं कि जैसे अब हमको आप दुःख दे रहे हैं, वैसे ही हम भी वैसी ही बनकर, आपके पश्चातापका कारण बनेंगी अर्थात् आपको आर्ति (मर कर आपको विरह दुःख) देंगी.

गोपियां कहती हैं, कि यह देह चली जायेगी, तब अन्तर्यामी भी कहां चला जायेगा, हमारे कर्म बीज, तो विरहाग्निसे जल गये हैं, दूसरी देहकी प्राप्ति तो होगी नहीं. महादेवजीने कामको जला दिया जिससे वह उत्पन्न तो नहीं होता है, किन्तु महादेवजीसे विपरीत होता है, जैसा कि महादेवजी 'हर' कहलाते हैं यह 'रह'(काम) कहलाता है, उसमें भी विशेषता यह है, कि जहां एकान्तका अभाव है वहां रहता है जिससे 'विरह' कहलाता है, इससे गोपियोंने यह भाव बता दिया, कि आपसे एकान्तमें न मिलनेसे 'विरह' ही रहेगा. प्रथम विरहको अग्नि कहा है, उससे दाह तो हो सकता है किन्तु वह जल कर भस्म नहीं कर सकती है जबतक कि वह सब अंगोमें और सूक्ष्म अवयवोंमें भी फैल कर जागृत नहीं होती है. जैसे अग्निके सम्बन्धसे, शुष्क काष्ठ ही जलता है, सर्व उपाधियोंके चले जाने पर ही, आपके चरणोंमें जाना होता है, किन्तु यहां तो हममें आपका स्नेह(उपाधि) रह गया है, जिससे वह(विरह) भी जल्दी हमको जला नहीं सकता है, अतः आप जल्दी अधरामृत सींच कर जिला दो, नहीं तो मरणका समय आ गया है तो, व्रजमें कौन लौट जायेगा और हमारा मरण होगा तो, हमारी भांति आपको भी आर्ति भोगनी पड़ेगी।।३५।।

आपने 'मेरेमें स्नेह होनेसे आप आई हो' यह कह कर जो हमारे स्नेहकी प्रशंसा की है उस विषयकी सत्यता सुनो, वह सच्चाई इस श्लोकमें वर्णन करती है:

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया दत्तक्षणं क्वचिद् अरण्यजन–प्रियस्य ।
अस्प्राक्ष्म तत् प्रभृति नान्यसमक्षमञ्जः स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः ।।३६।।

हे कमलनेत्र! वनमें रहनेवालोंके प्रिय, आपके चरणारविन्दकी सेवा, लक्ष्मीजीको भी किसी समय मिलती है. उनका जबसे हमने स्पर्श किया है और आपसे आनन्दकी प्राप्ति हुई है तबसे दूसरोंके सामने स्थित रहनेमें हम सर्वथा असमर्थ हैं।।३६।।

हे प्रिय! आप कमल जैसे नेत्रवाले होनेसे, दृष्टिसे तापको नाश करते हैं. जिस समयसे आपके चरण तकका स्पर्श किया है, उस दिनसे ले कर दूसरेके सामने हम पूर्णरूपसे ठहर नहीं सकती हैं. आपके चरणका साक्षात् स्पर्श दुर्लभ है, जहां आपके चरणोंके चिह्न पड़े हैं, उस आकृतिको पादतल कहते हैं, लक्ष्मीजी भी इस पादतलसे ही अपना जीवन धारण करती हैं, और नागपत्नियोंसे भी कहती हैं, कि जिस पादरेणुकी अभिलाषासे लक्ष्मीजी तपस्या करती हैं, उस रजके स्पर्श करनेका अधिकार कालीयको प्राप्त हुआ है इसलिये यह चरणरज फलरूप है. लक्ष्मीजीको भी उस रजने क्षणिक सुख दिया, वह पाद कभी लक्ष्मीजीके हृदय पर आता है, सुख, हृदयमें ही होता है.

हमको तो पृथ्वी पर पड़े हुए चरणतलका स्पर्श ही प्राप्त होता है, लक्ष्मीजीके समान हृदय पर चरणतलका स्पर्श नहीं हुआ अतः हमने विचारा कि जब लक्ष्मीजीको तपस्या तथा चञ्चलता छोड़नेसे इस पादतलकी प्राप्ति हुई है, तब हम भी इस प्रकार करें तो हमको भी प्राप्त होंगे, यों विचार कर चञ्चलता (गोप आदिमें मन आदिका जाना) त्याग आपके चरणोंमें निष्ठा(विश्वास) कर ली, अर्थात् लौकिक काम त्याग किया, और आपको अरण्यवासी(सर्व त्याग कर अरण्यमें रहनेवाले) प्रिय हैं इसलिये हमको भी सर्व त्याग कर आपके पास रहना चाहिये, संगका अभाव ही, आपके प्राप्त होनेका कारण है इसलिये हम सर्वसंग छोड़, इस अरण्यमें आपके पास आई हैं जिससे हम पर प्रसन्न हो जाओ. अरण्य सात्विक और वैष्णव है अतः अरण्यमें रहनेवाले सतोगुणी एवं वैष्णव होते हैं जिससे वे आपको प्रिय हैं. अतः आपकी प्राप्तिकेलिये दूसरेके पास हम स्थित रह नहीं सकती हैं. अन्यके पास वह स्थित हो सकता है, जिसने आपकी शरण नहीं ली है. हम आपकी शरण आई हैं जिससे आपके धर्मोंने हममें प्रवेश किया है, अतः आपके अथवा आपके सेवकोंके सिवाय दूसरोंके यहां स्थिति करनेकी हममें अब शक्तिका अभाव है.

जो जिसका घातक(मारनेवाला) है उस(मारनेवाले)के पास वह ठहर

नहीं सकता है, जैसे देहका अभिमानी बाघके पास ठहर नहीं सकता है क्योंकि बाघ उसका नाश करेगा, इसी प्रकार भगवान्का भक्त, अभक्त(लौकिक–लोकमें आसक्त–भगवद्विमुख)के पास नहीं ठहरना चाहता है, कारणकि वह अभक्त, भक्तके भावको नष्ट कर देता है जहां वैसी सूक्ष्मदृष्टि(विचार) है वहां अन्यके स्थानमें जाना और उसको देव मानना तो दूर ही रहा.

आपने जो हमारे स्नेहकी स्तुति की है वह कुछ नहीं है, हम तो लक्ष्मीके समान अनन्य भाववाली हैं और जब लक्ष्मी सर्व त्याग कर आपके शरण आई हैं तो आपने आनन्द दे कर उनसे रमण किया, वैसे ही हम भी सब छोड़ कर आपके पास आई हैं, तब आपने हमसे भी रमण किया है और हम सर्वदा ही स्वप्नमें आपसे सम्बन्ध प्राप्त करती हैं, यदि यों सम्बन्ध न होवे तो हमारा जीवन ही न रहे. इस प्रकार जिनसे आपने पहले रमण किया है उनको दूसरे स्थान भेजना योग्य नहीं है।।३६।।

गो.विट्ठलनाथजी प्रभुचरण स्वतन्त्र लेखमें 'अरण्यजन प्रियका भाव' अथवा कह कर इस प्रकार समझाते हैं, कि उस समय गोपियोंको पुलिन्दीओंकी स्मृति हो आई, पुलिन्दीओंको भगवान्के साक्षात् चरणोंकी प्राप्ति तो नहीं हुई थी, किन्तु भगवान्के चरणतलका कुंकुम जो घास पर लगा हुआ था, उस प्रसादी कुंकुमको उन्होंने हृदय पर लगाया, जिससे वे प्रभुकी प्रियाएं बनीं, इससे यह सिद्ध है कि पादतल सहज(स्वभावसे) फलदाता फलरूप है एवं प्रभुमें प्रीतिका साधन भी है, हम भी अपनेको पुलिन्दीके समान मानती हैं, यह भाव विशेष स्पष्ट कहा नहीं जा सकता है, इसलिये इतना ही कहा.

गोपियोंके चित्तमें यह शंका हुई कि भगवान् यों कह दें, कि तुम लक्ष्मीसे अपनी समानता मत करो, कारणकि लक्ष्मीजीका तो दैवगतिसे प्रथम ही मेरे साथ सम्बन्ध हुआ है और तुमको प्रथम दूसरों(गोपों)से हुआ है जिससे आप लक्ष्मीकी समानता मत करो, इसका उत्तर इस 'श्री' श्लोकमें कहती हैं:

श्रीर्यत्पदाम्बुज–रजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासः तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः।।३७।।

जिस लक्ष्मीजीके कटाक्ष अपने पर पड़नेकेलिए अन्य देवता प्रयास करते हैं, लक्ष्मी स्वयं आपके वक्षःस्थलमें सौतरहित स्थान पाकर भी, आपके चरणरज की इच्छा करती है, जिस रजमें सौत तुलसीका भी भाग है और जिस रजका सेवन सर्व दास भी करते हैं, वह रज लक्ष्मीजीके समान हमने भी प्राप्त कर ली है।।३७।।

लक्ष्मीजीने आपको दैवगतिसे नहीं पाया है किन्तु आपके चरणारविन्द की प्राप्तिकेलिये महती तपस्या की है, यह तपस्या स्त्री सम्बन्ध करनेकेलिये नहीं की है किन्तु भक्त बननेकेलिये की है, यदि तपस्या भक्त बननेकेलिये न होती तो स्वतन्त्र वक्षःस्थल(छाती) प्राप्त करके भी तुलसीसे सापत्न्य(सौत)भाव होते हुए चरणरजकी कामना नहीं करती, चरणरज पर तुलसीका अधिकार है वह तो प्रसिद्ध ही है, और लक्ष्मीजी चरणरूप भक्तिकी भक्त हैं यह प्रथम स्कन्धमें कहा ही है.

भगवान्के चरणरजका माहात्म्य वर्णन करती हुई गोपियां कहती हैं कि आपकी चरणरज सेवकोंने सदा सेवन की है और यह प्रसिद्ध ही है कि सेवकोंके शरीर रजसे ही बने हैं, सब भक्त आपके चरणरजसे देहवाले हुए हैं, अतः चरणरजमें एवं चरणरजसे बने हुए शरीरोंमें, तुलसी भक्तिरूपमें स्थित रहती है, जिनको वह रज प्राप्त हुई है, वे ही आपके सेवक बनते हैं और आपकी सेवा करते हैं, अतः लक्ष्मी अन्तःकरणमें स्थान प्राप्त करके भी जो आपकी चरणरज चाहती है उसका कारण यह है कि लक्ष्मीजीको भय(चिन्ता) था कि दूसरे मुझे चाहेंगे, अतः रज पा कर निश्चिन्त बन जाऊं, जिससे वे मुझे न चाहें और न पा सकें.

लक्ष्मीजीको इतना भय इसलिये है कि ब्रह्मादिक 'लक्ष्मी हमको देखें' इसलिये तपस्या कर रहे हैं क्योंकि लक्ष्मीकी कृपाके बिना कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है, बहुतोंने इस प्रकार लक्ष्मीजीके मिलनेकेलिये प्रार्थनाएं की, जिससे वह डर गई. कोई अत्यन्त तपस्या करे, उस तपस्यासे न जाने कौन क्या कर डाले, भगवान्के चरणरजकी कामना करने पर यह शंका(किसी प्रकार भय) न रहेगी. चरणरजकी प्राप्ति हुई तो, कोई मेरा स्पर्शमात्र कर सके, वैसी शंका भी न रहेगी. इस प्रकार चरणरजकी प्राप्ति जिनको हुई वे अनन्य हो जाते हैं जैसे लक्ष्मीजी अनन्य होनेसे निर्भय बन गई, वैसे ही हम भी आपके चरणरज प्राप्तिसे अनन्य हो, निर्भय हो गई हैं. यों तो, हमको भी बहुत चाहते हैं उनके भयसे, हमने भी प्रथम ही चरणरजका स्पर्श कर लिया जिससे देह भी, उस चरणरजसे बन गया है, इस प्रकार सर्वथा आपके चरणरजकी शरण ली है. श्लोकमें 'च' शब्द आया है, उसका भाव बताती हैं कि जो अब नहीं आई है अथवा जो महीषीएं हैं वे भी इस प्रकारके शरीरवाली ही हैं अर्थात् उनके शरीर भी रजसे बने हैं. अतः आप हमारेलिये ही आये हो, अपनेको छुपाओ मत, और आप छिप भी न सकोगे, इसलिये आप

आग्रह मत करो।।३७।।

इस प्रकार अपने शरीरका उपभोग करनेवाले एक भगवान् ही हैं और अन्य कोई नहीं हो सकता है यह सिद्ध कर अब 'तन्नः प्रसीद' इस श्लोकमें प्रार्थना करती है:

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेंघ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वद्युपासनाशाः।
त्वत्सुन्दर–स्मित–निरीक्षण–तीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहिदास्यम्।।३८।।

हे दुःख दूर करनेवाले! हम पर कृपा करो, कारणकि आपके चरणोंकी सेवाकी आशासे घरबार छोड कर आपके चरणोंकी मूलमें आकर हम पडी हैं. हे पुरुषभूषण! आपके सुन्दर मन्द मुस्कान सहित निरीक्षणसे उत्पन्न कामने हमको सन्तप्त कर दिया है अतः आप हमारेलिए दास्यका दान कीजिए।।३८।।

आपने हमको पति सेवा करनेकी जो विधि बताई थी, उसका खण्डन हमने प्रथम श्लोकसे ही कर दिया है, और उन(पतियों)का त्याग नहीं करना चाहिये इसका भी पूर्णरूपसे खण्डन उस श्लोकसे ही हो गया है, इस श्लोकमें भी उन(पतियों)के त्याग न करनेके पक्षका खण्डन प्रार्थनारूपसे करती हैं. वैसे(लौकिक) पतियोंसे सम्बन्ध तो तब होता है, जब आपकी कृपा नहीं होती है, जिन पर आपकी कृपा नहीं है, वे ही उनसे सम्बन्ध रखना चाहती हैं. हम तो समझती हैं, कि आपकी कृपा सबसे अधिक है क्योंकि आपकी कृपा संसार छुड़ाती है और अन्य प्रमाण संसारमें पटकते हैं, अतः हम पर कृपा करो. आपकी कृपा हुई आप प्रसन्न हुए तो सर्वकी सिद्धि हो जायेगी.

हम कृपा करें, किन्तु आपका अदृष्ट(भाग्य) प्रतिकूल है जो आपको दुःख दे रहा है, जिससे हम प्रसन्न हो कर कृपा क्या करें? यदि आप यों कहो तो उसका उत्तर यह है, कि भले हमारा भाग्य उलटा हो, वह हमें दुःख दे, किन्तु मनुष्यको किसी भी पापसे दुःख प्राप्त होता है तो, उसको आप नाश करते हो इसीलिये आपका नाम 'वृजिनार्दन' है, अतः आप प्रसन्न हो कृपा करो.

हम आप पर प्रसन्न हों कृपा करें, उसका कोई कारण होना चाहिये, कारण बिना कार्य नहीं बनता है यदि आप कारण मांगते हैं तो प्रसन्न होनेका प्रबल कारण हम बताती हैं, कि हम आपके चरणमूलमें प्राप्त हुई हैं, जो चरणमूलको पाता है, वह प्रसादको भी पाता है. वह कृपा वैसी नहीं चाहिये जैसी अन्य लौकिक मनुष्य, पशु, पुत्र, धन आदिको मांगते हैं, क्यों हम उन जैसी नहीं हैं, वे

तो गृहस्थमें आसक्त हैं हम तो वासना सहित गृहसे सम्बन्ध रखनेवाले सर्व पदार्थोंकी आशा त्याग कर आपके पास आई हैं अर्थात् केवल गृह नहीं किन्तु गृहस्थाश्रम भी छोड़ दिया है अतः हमारा अधिकार उन लौकिकों जैसा नहीं है. यदि आप(भगवान्) पूछें कि घर क्यों छोडा? क्यों कोई घरमें दुःख था? इसके उत्तरमें कहती हैं, कि हमने घर किसी प्रकारके लौकिक दुःख होनेके कारणसे नहीं छोडा है, किन्तु आपकी सेवा प्राप्त हो इसी आशा मात्रसे, पहले बना हुआ गृहस्थाश्रम त्याग दिया है. गृह सर्व प्रकारसे छोड़ कर जिन्होंने आपके चरणकमल पा लिये हैं उनको फिर घरसे सम्बन्ध करनेको कहना वृथा है. अब गोपियां उसकी प्रार्थना करती हैं, जिसकी उनको कामना है, वे कहती हैं कि हे प्रभु आप पुरुषोंमें भूषणरूप हो, क्योंकि आपका स्वरूप अनन्तकोटि(करोड) कामदेवोंके समान सुन्दरतावाला है, और ऐसे सुन्दर लावण्यवाले स्वरूपके मन्द मुस्कानसे उत्पन्न परम आनन्दरूप कटाक्षोंमें जो हमारे अन्तःकरणमें तीव्र ताप पैदा किया है उसकी शान्तिकेलिये स्वतः पुरुषार्थरूप दास्य दो. श्रीप्रभुचरणोंके यहां दिये हुए स्वतन्त्र लेखका भावानुवाद.

गोपियां भगवान्से जिस दास्यका दान मांगती हैं, उसका स्वरूप, अपने अन्तःकरणमें भगवान्केलिये उत्पन्न कामको कह कर बता दिया है, अर्थात् हमको वह दास्य दो, जिससे हमारा काम शान्त हो जावे, और वह दास्य सिद्ध तब होता है, जब प्रभुको जिस वस्तुकी अपेक्षा हो, वह प्रभुको अर्पण की जावे, अन्य प्रकार सिद्ध नहीं होती है. अतः उस तापकी शान्तिकेलिये हमको आपकी आवश्यकता है. वैसे आपको हमारी अपेक्षा हो तो आपको स्वयं प्रयत्नकर, हमारा उपभोग करना चाहिये, नहीं तो, दास्य जीवकी कृतिसे सिद्ध हो सकता है वैसे मानने पर हम जो दास्यका दान आपसे मांग रही हैं, वह हमारा कथन अयोग्य हो जायेगा. इसलिये ही भगवान्को पुरुषभूषण सम्बोधन दिया है जिसका भावार्थ है कि आप पुरुष हो कर भूषणरूप हो, वह(भूषण) कण्ठ आदि सर्व अंगोंमें धारण किया जाता है. आप भी इस प्रकार भूषण हो हमारे अंग-अंगमें व्याप्त(फैलना) हो जाऔ वैसा दास्य दो. भूषणोंमें मणियोंके जड़ावसे भूषणोंकी शोभा बढ़ती है, वैसे सुन्दर आभूषण महान् पुरुष धारण करते हैं किन्तु उनके धारण करनेकेलिये तुच्छ लाखको भी धारण करते हैं उसी प्रकार(लाखके समान) यहां काम है वह दास्यवरण कामोपाधिकृत नहीं है इसलिये स्त्रीत्वसे वरणका दान न मांगकर,

दास्यसे जो वरण मांगा है वह शुद्ध स्नेहात्मक काम है. हे प्रेष्ठ! हम दास्य ही चाहती हैं, आपसे विवाह करना नहीं चाहती हैं, अतः जनोई आदि संस्कारोंकी अपेक्षा भी लोक व्यवहारके समान नहीं करनी चाहिये।।३८।।

सालोक्य आदि मुक्तियां फलरूप विद्यमान हैं तब आप सब दास्यसे वरण क्यों मांग रही हो? इसका क्या कारण है? इसके उत्तरमें 'वीक्ष्यालकावृतं' श्लोक कहती हैं:

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रिगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाय दास्यः ।।३९।।

अलकोंसे आच्छादित, कुण्डलोंसे सुशोभित, गण्डस्थलों पर रसवाले, तथा अधरमें सुधावाले, हास्ययुक्त दृष्टिवाले आपके श्रीमुखको तथा आपके अभय देनेवाले भुजदण्डको एवं लक्ष्मीजीके ही रमणस्थली आपकी छातीको देखकर, हम आपकी दासियां हुई हैं।।३९।।

भगवान्ने गोपियोंको कहा था, कि जिनको इसलोक एवं परलोकमें कीर्ति तथा सुखकी इच्छा है, उनको पतियोंका त्याग नहीं करना चाहिये उसका उत्तर इस श्लोकमें देती हैं.

लोकमें तीन पुरुषार्थ हैं १.चतुर्विध(चार प्रकारका) मोक्ष, २.इन्द्र आदि ऐश्वर्यभावसे स्वर्गकी प्राप्ति, ३.इसलोकमें अतिशय धन, ये तीन ही दास्यमें विशेष रीतिसे और उत्तम मिलते हैं, जिनको गोपियां इस श्लोकमें सिद्ध करती हैं.

पहले, जो मोक्षके चार प्रकार सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य कहे हैं, वे दास्यके आगे व्यर्थ हैं, कारणकि भगवान्के मुखारविन्दके दर्शन करनेसे मोक्षकी कामना ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि भक्तिरूप मुखारविन्दमें मोक्षसे भी उत्तमधर्म(परम और अनन्त आनन्द) है, जिसका वर्णन गोपियां इस प्रकार करती हैं कि,

१.सारूप्यमुक्तिसे भी मुखारविन्दमें उत्कृष्ट आनन्द होनेसे ही जिन भक्तोंने सारूप्य मुक्ति पाई थी, तो भी उनके अन्तःकरणमें भक्तिरसकी इच्छा रह जानेसे वे भगवान्के अलकरूप बन कर मुखारविन्दका आनन्द दे रहे हैं, जैसे भ्रमर कमलरस पीनेकेलिये कथनको आच्छादित कर देते हैं, वैसे ही ये भक्त भी अलकरूप भ्रमर बनकर, भगवान्के मुखारविन्दका रसपानकर, सारूप्यमुक्तिसे विशेष आनन्द प्राप्त कर रहे हैं. इससे जाना जाता है कि जब जीवको मुक्त होनेपर

भी, भगवान्के रस प्राप्तिकी कामना शेषरूपसे रह जाती है, तो वैसी सारूप्य मुक्तिकी प्राप्तिसे क्या लाभ? अतः हम सब दास्य मांगती हैं.

२.सामीप्यमुक्तिसे भी दास्यकी विशेषता बताती हैं, कि भगवान्के मुखसे कुण्डलोंसे (सांख्य-योग)की शोभा है अथवा कुण्डलोंसे मुखकी शोभा हो रही है, दोनों प्रकारसे अर्थ करनेसे, यही भाव प्रकट होता है कि सामीप्यमुक्तिमें भी, जीवको इतनी भगवान्की समीपता नहीं मिलती है कि जितनी कुण्डलोंको कानमें स्थिति करनेसे मिलती है, यों कहनेका स्पष्ट आशय वह है, कि सांख्य और योग भागवत्, भगवद्गीता आदि प्रमाणोंका आश्रय करते हैं और भगवान्की आज्ञानुसार कार्य करते हैं कि फिर यहां कुण्डलरूपसे भगवान्के मुखका निरीक्षण करते हैं, इसी प्रकार जो जीव भागवतादि शास्त्रोंका आश्रय कर उनमें की हुई भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलते हुए भगवान्के मुखारविन्दका दर्शन करते हैं, उनको सामीप्यमुक्तिसे विशेष समीपता कुण्डलोंके समान मिलती है, जिससे वे दास्य प्राप्त कर अत्यन्त समीप रहते हुए मुखारविन्दका आनन्द लूटते हैं और फिर सामीप्यमुक्तिकी लेश भी उनको इच्छा तो रहती ही नहीं, किन्तु उसको इस आनन्दके आगे तुच्छ समझते हैं.

३.सालोक्यमुक्तिसे भी दास्यकी विशेषता प्रकट करती हैं भगवान्के मुखारविन्दमें जो कपोल हैं वे विशाल हैं और अधर है उसमें 'सुधारस' भरा हुआ है, सालोक्यमुक्तिमें तो केवल आनन्द और अक्षरके गणितानन्दरूप अमृतका पान मिलता है, किन्तु यहां तो भगवान्के विशाल गण्डस्थलोंमें स्थित रह कर कपोल चुम्बनादि रसकी प्राप्तिके साथ अधरसुधाका रसपान किया जाता है, जो अधरसुधारस अक्षररससे उत्तम है, क्योंकि अक्षररस गणित आनन्दवाला है और अधरसुधारस अगणित(अनन्त) आनन्ददाई है, श्लोकमें 'कुण्डलश्रि', 'गण्डस्थलाधरसुधं' दोनों पृथक् हैं किन्तु यदि इसको साथमें ले कर इस प्रकार अर्थ किया जाये कि कुण्डलोंकी शोभासे युक्त गण्डस्थल है, तो भी कुण्डल, गण्डस्थलके अंग होते हैं जिससे सामीप्यमुक्ति भक्तिका अंग हो जाती है, अतः सामीप्यमुक्तिसे भी भक्तिमें शास्त्रीयरस अर्थात् भगवद्गुणगानरूप रस अधिक कहा जाता है, अधररस, तो अक्षरके रससे विशेष है वह तो स्पष्ट ही है. अब सायुज्यसे उत्तमता बताती है,

भगवान्के मुखारविन्दमें हास्ययुक्त अवलोकन है अर्थात् भगवान्के

मुखके जब दर्शन करते हैं तब आपकी मन्द मुस्कानवाले कटाक्षसे जो अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, वह सायुज्यमें नहीं है, कारणकि, ब्रह्मानन्दमें जो लीन हो जाते हैं उनको भक्तिमें जो विलास(आनन्दरस) है उसकी प्राप्ति नहीं होती है, भगवान्‌की मन्द मुस्कान ही सर्वरसोंको जागृत करती है और ज्ञानको भी प्रकट करती है. ब्रह्मानन्दमें तो दोनों (रस तथा ज्ञान) ही छिपे रहते हैं जैसे जलमें डूबा हुआ, न जलका पान कर सकता है और न उसको उस जलके रसका ज्ञान हो सकता है. सायुज्यमुक्तको भी न ब्रह्मके आनन्दका ज्ञान होता है और न उसके रसका स्वाद प्राप्त होता है. ब्रह्मके स्वरूपके ज्ञानका तथा उसके रसका अनुभव उस अक्षरमें मिल जाने पर नहीं होता है किन्तु अलग स्थितिमें ही होता है, अतः भक्तिरूप मुखका जिसमें दर्शन होता है वैसा दास्य ही फल है और मोक्ष फल नहीं है. इस प्रकार लोकमें तीन फलोंमेंसे, एक मुख्यफल मोक्षका निराकरण(भक्तिसे हीनता दिखा)कर, अब दूसरे स्वर्गफलकी हीनता सिद्ध करती हैं, स्वर्गमें परमफल 'इन्द्र' पदवी है, वे इन्द्र आदि देव भी स्वयं निर्भय नहीं हैं, उनके भयको मिटानेवाली भगवान्‌की भुजाएं हैं, वे भुजाएं इस दास्यमें स्वतः प्राप्त होती हैं, तो फिर उन(भुजाओं)को छोड़ कर इन्द्रादि पदकेलिये स्वर्गसे क्या लाभ अर्थात् उसकी कौनसी आवश्यकता है? किसी प्रकार भी नहीं है.

श्लोकमें जो 'च' शब्द दिया है उसका आशय यह है, कि भगवान् देवोंको केवल अभयदान नहीं देते हैं किन्तु क्रियाशक्ति(यज्ञ आदि)से 'हवि' भी देते हैं जिससे इन्द्र अधिकार पूर्ण होते ही मुक्त हो जाये. श्लोकमें भुजाओंकेलिये केवल 'भुज' नहीं कहा है, किन्तु 'भुजदण्ड' कहा है जिसका भावार्थ यह है कि भुजाएं दण्डके समान हैं जिससे इन्द्रादिको भयभीत करनेवाले दैत्य भी भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकते हैं तथा यदि ब्राह्मण भी वेदकी आज्ञानुसार यज्ञ नहीं करें तो उनको भी उनसे शिक्षा करते हैं, इस प्रकार भुजदण्डोंसे भगवान् एकतरफ ऐहिक दुःख दूर करते हैं, दूसरीतरफ पारलौकिक सुख देते हैं. जिससे सर्व प्रकारसे दैत्योंका नाश होता है.

तीसरे पुरुषार्थ(उत्कृष्ट लक्ष्मी)की भी तुच्छता बताती हैं.

जिस लक्ष्मीके प्राप्त होनेसे मनुष्य आनन्द भोग सकते हैं जो लक्ष्मी लोकोंके रमणका साधन है वह लक्ष्मी जिस आपके वक्षःस्थलको अपने रमणका स्थल बना रही है और जिस वक्षःस्थलमें लक्ष्मीकी प्राप्तिका साधन धर्म बिराजता

है, उस वक्षःस्थलको देखकर, हम आपकी दासी बनी हैं, अतः वैसे वक्षःस्थलके दर्शन करनेवाली हमको न लक्ष्मीकी और न धनकी आकांक्षा(इच्छा) है. उपरोक्त, विवेचनसे यह बताया कि हम तीनों पुरुषार्थोंको दास्यसे अल्प फल समझती हैं, अतः दास्यकी प्रार्थना की है.

श्रीप्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजी इस श्लोक पर लिखे हुए स्वतन्त्र लेखमें आज्ञा करते हैं जिसमें प्रेम है उनको भगवान्के रसात्मक अलौकिक (आधिदैविक) श्रीअंगोंका दर्शन होगा और श्रीअंगोंके वैसे दर्शन होनेसे ही, दास्य भावना जागृत होगी जिससे दास्य ही मागेंगी. यह इस प्रकार अलौकिक वेदाज्ञाके पालन करनेसे नहीं हुआ है जिससे गोपियोंने घर लौट जानेकी विधि(शास्त्रज्ञा)को माना नहीं वह योग्य ही है. स्त्रियोंकेलिये पतिका त्याग कर अन्य(मेरा-प्रभु)का भजन व्यभिचार है, जिसमें छ दोष हैं वे दोष भी भगवान्के दर्शनसे प्राप्त छ गुणोंसे निवारण हो गये. वह कार्य कभी भी पाप नहीं हो सकता है, जो परम पुरुषार्थोंको सिद्ध कर सकता है. पाप वह होता है जिसका फल दुःख होता है, दुःखरूप फल होनेके कारण ही, पापकी निन्दा की जाती है, दास्यसे तो परम आनन्द फल मिलता है जिससे उसकी निन्दा तो नहीं होती है, किन्तु प्रशंसा होती है. अतः दास्य ही परमफल है हम उसको ही चाहती हैं।।३९।।

आश्रयका तात्पर्य यह है कि शास्त्र सांख्य और योगका माहात्म्य दिखाते हुए कहते हैं, कि इनके करनेसे मोक्ष आदिकी प्राप्ति होगी, जो जीव सांख्य और योगका सेवन करते हैं, उन जीवोंको वे(सांख्य तथा योग) संसारसे छुड़ा कर उच्चपद दिलाते हैं इस प्रकार जब सांख्य और योगमें दी हुई आज्ञाका पालन करते हैं, तब भगवान्ने इनको अपने कुण्डल बना कर यह आनन्द दिया है.

गोपियां भगवान्को कहती हैं, कि यदि आप यह कह दो, कि सन्मार्गकी रक्षाकेलिए आपने जो कहा वह प्रमाणसे सिद्ध भी है, तो भी आपको यों नहीं करना चाहिए कारणकि जो स्त्रियां अपने जारके पास रमणार्थ जाती हैं, उनकी लोकमें निन्दा होती है, अतः आपको हमारा श्रवण, दर्शन आदि करना चाहिए, इस पर हमारा यह उत्तर है जो, हम इस 'का स्त्र्यंग' श्लोकमें कहती हैं:

का स्त्र्यङ्ग ते कल-पदामृत-वेणुगीत-
सम्मोहितार्य-चरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्य-सौभगम् इदं च निरीक्ष्य रूपं

यद्‌गो–द्विज–द्रुम–मृगाः पुलकान्यबिभ्रन्‌।।४०।।

हे अंग! आपने जिन स्त्रियोंको अव्यक्त मधुर अमृतसे भरे हुए वेणुगीतसे मोहित कर लिया है, वे तो सब आर्यचरित(पतिव्रताधर्म)से डिगेगी ही, जबकि आपके त्रैलोक्य स्वरूपको देखते ही पक्षी, वृक्ष और मृग भी पुलकित हो जाते हैं।।४०।।

हे प्रिय! आपने जो हमको उपदेश दिया है, कि घर लौट जाओ वहां रह कर ही मेरा श्रवण आदि करना, यह धर्मोपदेश पुरुषोंको करना चाहिये स्त्रियोंको वैसा उपदेश सार्थक नहीं है. क्योंकि स्त्रियोंसे वह धर्म पालन होना असम्भव है, जो असम्भव है वह धर्म नहीं कहा जाता है. आपका दास्य स्वीकार करनेसे जो पातिव्रत्य धर्मका नाश हुआ है, उसमें कारण, धर्मकी स्थापना करनेवाला आपका स्वरूप ही है, क्योंकि आपका स्वरूप अद्‌भुतकर्मका कर्ता है (प्रभुचरण यहां स्वतन्त्र लेखमें विशेष स्पष्टीकरण करते हैं, जिन भक्तोंका सम्बन्ध भगवान्‌के स्वरूपके साथ है उनके धर्मोंकी रक्षा स्वरूपसे करते हैं. और वह रक्षण है, अन्य भावोंसे रक्षण एवं इस भावका पोषण. जिन भक्तोंका सम्बन्ध भगवान्‌के धर्मोंसे है उनकी रक्षा धर्मोंसे ही करते हैं इसमें सर्व उचित ही है यही भाव बताया है, इस प्रकार अपने रक्षणसे यह बताया है कि भगवान् सर्वके (अन्तरंग हैं) अतएव गोपियोंने 'अंग!' इस सम्बोधनसे भगवान्‌को यह भी बताया कि हम आपको ठगतीं नहीं हैं.

गोपियोंने श्लोकमें 'त्रिलोक्यां' तीनलोकमें कह कर यह बताया है कि तमोगुण, रजोगुण तथा सतोगुणसे बने हुए इसलोकमें तीन प्रकारकी स्त्रियां हैं, तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी, ये तीनों ही आर्यपथसे विचलित हो जाती हैं, तमोगुणी मूढतासे विचलित हो जाती हैं, रजोगुणी स्वभावसे चञ्चल होनेसे विचलित होती हैं और सतोगुणी यद्यपि धर्ममें बुद्धिवाली होती हैं किन्तु वे भी विचलित हो जाती हैं, कारणकि आपके अव्यक्त मधुरपदोंमें स्थित अर्थरूप अमृतको वेणु द्वारा गाये हुए गीतसे(पानकर) सब मोहित हो गई हैं इस प्रकार मोहको प्राप्त हुई सब प्रकारकी स्त्रियां आर्यपथसे अवश्य विचलित होती हैं. यों तो साधारण रीतिसे मोहको अविद्याके पांचपर्व(अन्तःकरणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास, स्वरूपविस्मृति) उत्पन्न करते हैं किन्तु गोपियोंको तो, भगवान्‌के सम्बन्धके कारण अविद्याके पंचपर्वोंने मोहित नहीं किया है.

अपितु(बल्कि) भगवान्के वेणु, अमृत, पद, गीत और कल इन पांचोंने मोहित किया है, क्योंकि इन पांचोंमें भगवद् बल है उस बलने मोह उत्पन्न किया है. इन पांचोंने किस प्रकार किस-किस अंगमें मोहको जागृत किया है उसका वर्णन करते हैं, कि गीतने देहमें मोह जगाया, श्रुति कहती है कि 'स्त्रियां गानेवालेको चाहती हैं' स्त्री तो देह ही है. वेणुने इन्द्रियोंको मोहित किया क्योंकि वह रसमय है, अमृतने प्राणोंमें मोह उत्पन्न किया, पदोंने अन्तःकरणमें मोहको पैदा किया और अव्यक्तने आत्मामें मोहको जागृत किया इस प्रकार गोपियां सम्पूर्ण रीतिसे मोहित होग गई.

वस्तुका विचार दो प्रकारसे करनेमें आता है, एक प्रमाणबलसे दूसरा प्रमेयबलसे, इनमें आर्यपुरुष प्रमाणबलसे विचार करते हैं जैसेकि इन्द्र और महेन्द्र एक हैं, तो भी प्रमाणबलसे आर्य यज्ञमें इन्द्र और महेन्द्रको पृथक् मानते हैं तथा अलग-अलग स्थित देवोंको भी भिन्न समझते हैं, यदि भिन्न नहीं माने जायें तो भेदके कारण, केवल इन्द्रकेलिये यज्ञ करनेवालोंको वर्षके अन्तमें(इसकेलिये) प्रायश्चित करना न पड़े.

देहसे अतिरिक्त, स्वरूपसे उपस्थित आत्माके धर्ममें प्रमाणबलसे विरोध होता है, जिससे धर्मका पूर्णरीतिसे वे(प्रमाणबलवाले) निर्णय नहीं कर सकते हैं, वस्तुका सत्य एवं पूर्ण विचार तो प्रमेयबलसे ही होता है, नहीं तो, विधि(यह करना चाहिये ऐसी आज्ञा) और निषेध(यह नहीं करना चाहिये) दोनों व्यर्थ हो जावें, जिसका निर्णय एकादश स्कन्धमें होगा, अतः एक(प्रमाण-मर्यादा)मार्गसे यदि किसी कार्यमें विरोध हो तो वह विरोध दूसरे(प्रमेय)मार्गमें नहीं माना जाता है जैसाकि प्रमाणमार्गमें स्त्री पतिका त्याग करे यह कार्य धर्म विरुद्ध है किन्तु प्रमेय(पुष्टि)मार्गमें शुद्ध ब्रह्मवादानुसार भगवान् सर्वके आत्मा हैं, सर्वरूप हैं अतः भगवान् ही वास्तविक नित्य पति है जिससे सर्व त्यागकर(कल्पित अनित्य पति आदिका त्यागकर) भगवान्को ही पति मान उससे प्रेम करना धर्मके विरुद्ध नहीं है, इसलिये प्रमेयमार्गमें लौकिक मर्यादाको तोड़ना दोष(दूषण) नहीं है. इसका उत्तर दे कर विशेष स्पष्टीकरण श्रीशुकदेवजी रास हो जानेके अनन्तर 'धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः' श्लोकसे करेंगे. इससे यहां हमको फलकी प्राप्ति हो गई है, जिससे साधन दृष्टिसे जो हमारी अपकीर्ति होती है, वा होगी, वह हमारे इस कार्यमें प्रतिबन्ध(रुकावट) नहीं कर सकती है और यह मर्यादाभंग न केवल नामसे

किया है, किन्तु स्वरूपसे भी किया है, जिसको गोपियां 'त्रैलोक्यसौभगं' पदसे कहती हैं कि जैसे सूर्यसे दिनमें सुन्दरता आती है, चन्द्रमासे रात्रिकी सुन्दरता होती है वैसे ही भगवान्के रूपसे त्रिलोकी सुन्दर बनी हुई है, वैसे भगवान्के सुन्दररूप और रसको जागृत करनेवाले कटाक्षोंको सुन कर तथा देख कर कौन सी स्त्री है जो आर्यपथसे विचलित न हो.

प्रमाणबलकी मर्यादा, भगवान्के स्वरूपके आगे निर्बल है केवल इसीलिये स्त्रियां आर्यमार्गसे विचलित नहीं होती हैं, किन्तु दूसरे प्रकारसे भी विचलित हो सकती हैं, भगवान्का ऐसा अनुपम सुन्दररूप है जिसके दर्शनसे जहां प्रमेयमार्गकी मर्यादा भी नहीं रह सकती है वहां मर्यादामार्गकी मर्यादा कैसे रहेगी? इसको स्पष्ट समझानेकेलिये 'यद्गोद्विजद्रुममृगाः' पद दिया है जिसका आशय है, कि जो गौ(बैल) शास्त्रके प्रमाणकी वार्ता भी नहीं जानते हैं, जिससे मातासे भी सम्भोग करते हैं, पक्षी सबकुछ खा लेते हैं, पेड़ चल नहीं सकते हैं, कोई कहते हैं कि उन(वृक्षों)को इन्द्रियां नहीं हैं, इसलिये वे दुःखका अनुभव नहीं करते हैं, मृग सबसे सदा डरते हैं, ऐसे ये भी, भगवान्के अद्भुत सुन्दर स्वरूपसे तथा उनके गीतसे रसमग्न हो पुलकित(रोमांचवाले) हो जाते हैं अर्थात् जिस प्रकार भगवान्के स्वरूप एवं गीतसे रसिक मनुष्योंके शरीरमें रोमांच होते हैं वैसे उनके शरीरोंमें भी मनुष्य धर्म प्रकट हो जाते हैं, जिन गौ आदिको दूसरे प्रकारसे बनाया है, स्त्रियां तो स्वभावके कारण ही अन्यथा(विचलित) होती हैं, अतः इसमें किसी प्रकारका आश्चर्य नहीं है, कि हम आपके स्वरूप सौन्दर्य तथा गीतसे अपने मर्यादाधर्मसे विचलित हुई हैं।।४०।।

इस प्रकार भगवान्ने जो वचन(प्रमाण-मर्यादामार्गानुसार) कहे थे उनका खण्डन पुष्टि(प्रमेय)मार्गके अनुसार दश श्लोकमें किया, अब यह पुष्टिमार्गका सिद्धान्त जीवके अन्तःकरणमें तब स्थिर होता है और उसमें तब विश्वास होता है जब भगवान्की कृपा होवे, क्योंकि यह मार्ग कृपासाध्य है न कि साधनसाध्य है, अतः गोपियां इस 'व्यक्तं भवान्' श्लोकमें भगवान्को कृपादान करनेकेलिए प्रार्थना करती हैं:

व्यक्तं भवान् व्रज-भयार्तिहरोऽभिजातो देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्।।४१।।

जैसे आदिपुरुष नारायण देव, देवताओंकी रक्षा करता है वैसे ही आप

व्रजके भय तथा आर्तिको हरण करनेकेलिए प्रकट हुए हैं, अतः हे आर्तोंके बन्धु! हम दासियोंके तप्त स्तनों पर और मस्तकों पर अपने करकमलोंको धरो।।४१।।

आपने जो वचन(पति आदिकी सेवा और घर लौट जाना) कहे और उनके जो उत्तर हमने दिये उनमें कोई वचन साधक वा बाधक नहीं है, इन दोनों पर ध्यान न दे कर आपको हम पर कृपा करनी चाहिये. भगवान्के प्राकट्यके कारण स्पष्ट कर बताती हैं, कि आप व्रजके भय और आर्ति(दुःख)को हरनेकेलिये ही प्रकट हुए हो, अतः आपको ही व्रजकी आर्ति तथा भय दूर करना चाहिये, यदि वह न हुआ अर्थात् आपने व्रजकी आर्ति और भय दूर नहीं किया, तो भगवान्के साक्षात् स्वयं प्रकट होनेका कोई अन्य कारण हम नहीं देखती हैं. अन्य कार्य तो आप अपने अंशरूप व्यूह द्वारा करते हैं. जैसे पृथ्वीका भार संकर्षण अंशसे, वसुदेवादिकोंका प्रिय प्रद्युम्न अंशसे और धर्मकी रक्षा अनिरुद्ध अंशसे करते हो, यदि आपने स्वयं साक्षात् प्रकट हो कर भी व्रजकी आर्ति तथा भयका निवारण नहीं किया तो आप पुरुषोत्तम स्वरूपसे दूसरा कौन सा कार्य करोगे? जिससे समझमें आता है, कि आप व्रजके भय और आर्तिके हर्तारूपसे ही प्रकट हुए हैं.

इस समय जैसी आर्ति हमको हो रही है, वैसी आगे कभी भी नहीं हुई है, अतः इस आर्तिको नाश करो, यदि यह हमारी आर्ति नाश नहीं करोगे, तो हम नाश हो जायेंगी जिससे व्रजको अत्यन्त दुःख होगा.

गोपियां विचार करने लगीं, कि भगवान् यों कह देवें कि आपकी आर्तिका नाश, मर्यादासे करना योग्य है, न कि मर्यादाका त्याग कर आर्तिका हरण करना योग्य है. मर्यादासे करने पर, आपके कामकी भी शान्ति होगी और आपको ज्ञान भी हो जायेगा, इस प्रकार कह दें, तो कहनेसे पूर्व ही उसका उत्तर दे देती हैं, कि 'देवो यथादिपुरुषः' जैसे आदिपुरुष देव हैं, भगवान्(आप) ब्रह्मरूप हैं इसलिये ब्रह्म सबको समान दृष्टिसे देखते हैं, तो भी इन्द्र आदि देवोंपर कृपा कर दैत्योंका नाश करते हैं, जिससे आप विषमता(असमानता)को अंगीकार करते हो, न कि देवोंको ज्ञान देते हो. जहां स्वरूपकी समानताका त्याग कर सकते हो, तो अब वाणी(वेदरूप वाणीने जो कुछ मर्यादा कही है उसको) बदलनेमें आपको कौन सी बड़ी बात है इसलिये जैसे क्रीड़ाशील आदिपुरुषने क्रीड़ाकेलिये देवलोकोंकी रक्षा की है, वैसे ही आप भी धर्ममर्यादाके रक्षा करनेवाले हो, तो भी हमारे साथ आत्मसम्बन्ध करो, क्योंकि अब भी आप क्रीड़ाशील हो और

क्रीड़ाकेलिये ही तो प्रकट हुए हो.

वही बात रसके पोषणकेलिये बहानेसे कहती हैं कि 'तन्नो निधेहि' 'इसलिये हमारे पर धरो' प्रथम हमारे शिर पर हाथ धरो, जिससे हमको अभयकी प्राप्ति हो जाये, अर्थात् हम निडर बन जायें, पश्चात् हृदयके तापको मिटानेकेलिये स्तनों पर अमृत वर्षानेवाला और तापनाशक करकमल धरो, इसमें किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है, क्योंकि हम आपकी शक्तियां हैं, अथवा स्तनों पर हाथ धर कर हमारी परीक्षा ले लो कि ताप है वा नहीं, और हम सम्बन्ध योग्य हैं वा नहीं, यह रसकी उक्ति है, अर्थात् यह(इस प्रकार) कहना रसको प्रकट करता है।।४१।।

गोपियोंने जब इस प्रकार भगवान्को प्रार्थनाकी, तब भगवान्ने जो कुछ किया वह श्रीशुकदेवजी निम्न श्लोकोंमें वर्णन करते हैं:

श्रीशुक उवाच

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोप्यरीरमत्।।४२।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि, इस प्रकार गोपियोंके घबराहटवाले वचन सुनकर योगेश्वरोंके ईश्वर आत्माराम होते हुए भी हंसकर दयायुक्त हो गोपियोंको रमण कराने लगे।।४२।।

आचार्यश्री कारिकाओंमें भगवान्ने जिस प्रकार गोपियोंसे रमण कर उनको रसदान दिया उसका स्पष्टीकरण करते हैं,

षड्गुणैश्वर्यभावेन षोढा रेमे हरिः स्वयम्।
स्वरूपेणापि शृङ्गारो द्विविधोऽपि निरूपितः।।का.१।।

भगवान् षड्(छः)गुणवाले हैं अतः छः गुणों द्वारा साधारण रमण किया, जिस समय जिस गुणसे रमण करना था उस समय उस गुणको प्रकट कर रमण किया, इस प्रकार स्वयं हरिने छः गुणों द्वारा संयोगात्मक शृंगाररूपसे छः प्रकारका रमण किया, और विप्रयोगात्मक शृंगारस्वरूपसे भी रमण किया, इसी भांति दो प्रकारसे रमण इसलिए हुआ क्योंकि भगवान् द्विविध शृंगाररूप हैं।।१।।

सामान्यरमणं पूर्वं विशेषे मेलनं पुरा।
बाह्येन रमणं पश्चात् आन्तरं च ततः परम्।।का.२।।

प्रथम सामान्य रमणका वर्णन ४२वें श्लोकमें किया है. विशेष रमण बाह्य

और आन्तर भेदसे दो प्रकारका है. विशेष रमणकेलिए प्रथम ४३वें श्लोकमें गोपियोंका भगवान्‌से मिलन हुआ, जिसका वर्णन है. पश्चात् ४४वें श्लोकमें भगवान्‌ने बाह्यरमण(अंगके स्पर्शके बिना) गति, कटाक्षादि क्रियासे गोपियोंमें कामको जागृत कराके जो रमण किया उसका वर्णन किया है. उस बाह्यरमणके अनन्तर ४५वें श्लोकमें आन्तररमणका वर्णन है।।२।।

ततो नानाविलासेन जातकेलिविभेदतः।
विप्रलम्भस्य सिद्ध्यर्थं तासां मानमुदीर्यते ।।का. ३।।
तिरोभावस्ततश्चापि नायं लौकिककामुकः।

पश्चात् केलि(क्रीडाका विहार) दो प्रकारकी होती है, एक वह जिसमें, कामक्रीड़ा नहीं होती है उसको अजातस्मरकेलि कहते हैं दूसरी जिसमें कामक्रीड़ा होती है उसको जातस्मरकेलि कहते हैं. भगवान्‌ने अनेक विलासोंसे केलिक्रीड़ाएं की जिसका वर्णन ४५वें व ४६वें श्लोकोमें किया है, ४७वें श्लोकमें विप्रलम्भ शृंगारके सिद्ध्यर्थ गोपियोंके मनका वर्णन है।।३।।

४८वें श्लोकमें यह वर्णन है, कि भगवान् तिरोहित हो जाते हैं, क्योंकि भगवान् लौकिक पुरुषोंके समान कामी नहीं हैं.

टिप्पणीका सारांश–यदि उनके समान कामी होते तो लौकिक पुरुषोंके समान झूठे प्यारके वचनोंसे उनका मान छुड़ा देते. ऐसा न कर जो आप छिप गए उसका कारण यह है, कि जैसे लौकिक पुरुषोंमें स्त्रियोंको देख कर काम उत्पन्न होता है, जिससे शरीरके अंगोंमें विकार होता है वैसे आपमें नहीं हुआ, यदि होता तो आपका भी लौकिक पुरुषोंके समान पतन(नाश) हो जाता वह नहीं हुआ, अतः आपने छिप कर अपना श्रुति सिद्ध 'रसो वै सः' मैं पुरुषोत्तम स्वरूप हूं, यह बता दिया, अर्थात् रसस्वरूप आपमें, रसशास्त्रमें जितने रसके भेदोंका वर्णन है, सब आपके स्वरूपके रूप ही हैं, अतः इसमें किसी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं है, जैसे दैत्योंकेलिए वीर्यरूपसे प्रकट होते हैं क्योंकि उन(दैत्यों)का वैसा अधिकार है, वैसे ही यहां भी जैसा अधिकार वैसे गुण स्वरूपोंसे आविर्भूत हो कर रमण किया है, यह भाव है.

शुकदेवजी, प्रथम गोपीजनोंके तापको मिटानेकेलिए भगवान्‌ने जो सामान्य लीला की उसका वर्णन करते हैं,

इस प्रकार गोपीजनोंके घबराहटवाले दीन वचन सुन कर हंसे, हंस कर गोपियोंसे रमण करने लगे. भगवान्‌के इन्द्रियां तो हैं ही नहीं, तो बिना इन्द्रियोंके कैसे रमण किया? इस शंकाको मिटानेकेलिए भगवान्‌को 'योगेश्वरेश्वरः'

विशेषण दिया है, कि जो योगेश्वर हैं उनके भी ईश्वर हैं, योगादि जिनके सिद्ध हैं जैसे उनके यहां सर्व पदार्थ स्वयं प्रकट दीखते हैं और अणिमा आदि सिद्धि भी सामने खड़ी हो जाती हैं, जिनसे बिना इन्द्रियोंके सर्व क्रियाएं वे सिद्ध कर लेते हैं वैसे ही उसी रमण समयमें, भगवान्ने स्वरूपको इन्द्रियादि भावमें प्रकट कर दिया, यह इन्द्रियरूपसे भगवान्का प्राकट्य अपने कामके वास्ते नहीं है, किन्तु गोपियोंको अपने रसस्वरूपके रसका दान करनेकेलिए है, यदि भगवान् कामी पुरुषोंके समान अपनी काम तृप्तिकेलिए वैसा(इन्द्रियोंका प्राकट्य) करते तो रमण करते ही वीर्य पतन हो जाता और कामकी शान्ति हो जाती, यों तो हुआ नहीं है, क्योंकि भगवान्में लौकिक काम नहीं है जिससे वीर्य पतन हो और काम शान्त हो जावे. गोपियोंके जो भाव हैं भगवान्के रस प्राप्तिके भाव तो कभी भी जानेवाले नहीं हैं इसलिए भगवान् खूब हंसने लगे. यह अच्छी तरह हंसना उन(गोपियों)के तापको मिटानेकेलिए था, न कि, गोपियोंको अपनेसे पृथक् समझ कर उनको मर्यादामें डाल कर उनके प्रेममार्गके भावोंको नाश करनेकेलिए था. अतः दयायुक्त हो कर भगवान् गोपियोंको रमण कराने लगे, आप(भगवान्) तो आत्माराम हैं अर्थात् भगवान् अपने स्वरूपसे ही रमण करनेवाले हैं, अतः उन(भगवान्)को रमण करनेकी अपनेलिए आवश्यकता नहीं थी, अथवा भगवान्ने दया कर गोपीजनोंको अपने रसका आधार बनाया जिससे उन(गोपियों)का नायिकाभाव सिद्ध हुआ.

क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते ।।का.४।।
तासां कामस्य सम्पूर्तिर्निष्कामेनेति तास्तथा ।
कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटः ।।का.५।।
कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न संशयः ।
अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च ।।का.६।।
अत एतच्छ्रुतौ लोको निष्कामः सर्वथा भवेत् ।
भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते ।।का.७।।
अतः कामस्य नोद्बोधः ततः शुकवचः स्फुटम् ।

रासलीलामें लौकिक काम नहीं है इसको स्पष्टरीतिसे समझाते हैं कि, यहां रासलीलामें वह समस्त(सब) क्रियाएं(नमूने) हैं जो लौकिक कामक्रीड़ामें होते हैं (जिसका वर्णन ४६वें श्लोकमें होगा) किन्तु यहां (रासलीलामें) 'काम'

नहीं है, गोपीजनोंमें जो काम है उस कामकी पूर्ति(समाप्ति) भगवान्के अलौकिक कामसे होती है इसलिए गोपियोंका काम भी अलौकिक था, नहीं होता (लौकिक होता) तो उसकी अलौकिककामसे समाप्ति नहीं हो सकती, अतः गोपीजन भी निष्काम(लौकिक कामरहित) थीं।।४।।

गोपीजनोंमें लौकिककाम होता और उसकी पूर्ति भगवान् लौकिक कामसे करते तो पुत्र आदि संसारमें सृष्टि होती वह हुई नहीं है अतः भगवान् तथा गोपीजनोंका काम लौकिक नहीं था, भगवान्में भी कामके अभावसे ही गोपियां भी पूर्ण निष्काम बन गई जिसमें कोई संशय नहीं है।।५।।

इस कारणसे रासलीलामें किसी प्रकारकी मर्यादाका भंग नहीं हुआ है, और यह लीला मोक्षफल देनेवाली भी है, इसलिए इसके श्रवणसे मनुष्य निष्काम हो जाता है, अर्थात् उस सुननेवालेका काम भी नाश हो जाता है।।६।।

भगवान्की सब लीलाएं निष्काम हैं अतः उनके सुननेसे मनुष्योंके हृदयका रोग(काम) नाश होता है ये शुकदेवजीके वचन हैं।।७।।

मूलश्लोकमें शुकदेवजीने 'अपि' शब्द दिया है, उसका भाव यह है कि भगवान् यद्यपि आत्माराम हैं तो भी यहां अपनेमें रमण न कर गोपियोंसे बहुप्रकार रमण किया है, बहुप्रकार रमण करते हुए उत्तरोत्तर रसकी अधिकता प्रकट की है।।४२।।

इस प्रकार सामान्य लीलाका वर्णन कर अब निम्न तीन श्लोकोंसे विशेष लीलाका वर्णन करते है:

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः ।।४३।।

प्रियके दर्शनसे जिनके मुख खिल गए हैं ऐसी आई हुई गोपियोंसे घिरे हुए, जिनके उदार हाससे युक्त दान्त कुन्द पुष्पवत् शोभा दे रहे हैं वैसे अच्युत भगवान् नक्षत्रोंसे वेष्टित चन्द्रमाकी भांति सुशोभित हो रहे थे।।४३।।

जिन गोपियोंको अबतक कामक्रीड़ाका अनुभव नहीं हुआ है, वैसी गोपियोंका भगवान्के साथ यह पहला समागम हुआ है, इसलिये पहले तो भयके कारण, भगवान्से दूर अलग खड़ी रहीं, पश्चात् भगवान्ने जब रस विषयक (रसको उत्पन्न करनेवाली) उदार चेष्टाएं की, अर्थात् कामशास्त्रमें रस(काम) उत्पन्न करानेकेलिये जो क्रियाएं लिखी हैं, वे सब भगवान्ने की, उनसे उनके

अन्दर पूर्ण कामरस जागृत हुआ जिससे वे रससे पूर्ण हो गई, अतः प्यारे (भगवान्के) दर्शनकेलिये उनके मुखकमल ऐसे खिल गये, जैसे सूर्य दर्शनसे कमल खिलते हैं, वास्तवमें उनके मुखकमल, अधरामृत रसपान करनेकेलिये खिल गये थे, यदि गोपियोंके मुखकमल अधरामृत रसपानकेलिये खिल गये हैं तो भगवान्के रसको ये पान कर लेंगी, तो भगवान्से रसकी निवृत्ति हो जायेगी, भगवान् नीरस हो जायेंगे? ऐसी शंकाका निवारण करनेकेलिये शुकदेवजीने भगवान्का नाम 'अच्युत' दिया है जिसका भावार्थ यह है, कि भगवान् सदैव सर्व रसादिसे पूर्ण हैं उनकी 'च्युति' होती नहीं है, गोपीजनोंने अधरामृतके रसका पान अपनी, हृदयमें प्रज्वलित, कामाग्निको शान्त करनेकेलिये किया है, इतना ही नहीं, किन्तु भगवान्का हास्य उदार है, जिसका भी भाव यह है, कि आपके हास्यसे गोपियोंमेंसे भी रसकी समाप्ति नहीं होगी. वे भी पूर्णकाम ही रहेंगी, तो भगवान्का रस कैसे कम हो जायेगा? कभी नहीं, क्योंकि वे तो अच्युत ही हैं.

भगवान्ने हास युक्त कुन्दके समान अपने दान्त खोल कर उनकी किरणोंसे गोपियोंमें मोह उत्पन्न कर अपनेमें दृढ स्नेह इसीलिये कराया, कि मेरे साथ सम्पर्क होनेसे, मेरा माहात्म्य देख कर मुझसे गोपियोंको भय न हो जाये, यदि भय हुआ तो, रसके रंगमें भंग हो जायेगा, मुझमें मोह होनेसे यों नहीं होगा.(श्रीगुसांईजीका लेखः पहले तो उपाधिरहित स्नेह था परन्तु भगवान्ने रसशास्त्रमें कही गई रीतके अनुसार स्वरूपानन्दका दान करनेकेलिये तत्सजातीय कामोपाधिक स्नेह उत्पन्न किया यही जतानेकेलिये जो स्नेहरूप दान्तोंकेलिये 'द्विजं' पदका प्रयोग किया गया)

दान्तोंको जब कुन्द पुष्प जैसे कहा है तो फल भोगसे उनकी कान्ति (तेज) चली जायेगी? इस प्रकारकी शंका न हो इसलिये शुकदेवजीने श्लोकमें 'दीधितिः' पद दिया है, जिसका भाव है, कि उनमें किरणें हैं जिससे उनकी शोभा नष्ट न होगी.

यद्यपि भगवान्ने जगत्के दोषोंका निवारण करनेकेलिये तथा गोपियोंके आग्रहके कारण ही रमण किया है, न कि अपने आप ही अपने स्वार्थ वा इच्छाकेलिये रमण किया है, तो भी भगवान्ने लौकिक नायकके समान पूर्णरीतिसे रमण किया, दृष्टान्त समझाते हैं कि जैसे नक्षत्रोंसे चन्द्रमा शोभता है वैसे ही भगवान् गोपियोंसे शोभा पाने लगे, इस श्लोकमें बन्धके अतिरिक्त की हुई सब

बाह्य लीलाएं कही हैं।।४३।।

प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि चन्द्रमा जैसे पूर्ण हो कर अपूर्ण होता है पश्चात् पुनः पूर्ण हो जाता है सदा पूर्णरूप नहीं रहता है वैसे पूर्ण भगवान् भी लीलार्थ अपूर्ण बने हैं पुनः पूर्ण हो जायेंगे किन्तु भगवान् सदा पूर्ण हैं.

इस प्रथम की हुई विशेष लीलाने गोपियोंके बाधक कामको निवृत्त कर दिया अब दूसरी विशेषलीलाके उद्बोधार्थ जो पूर्ण सामग्री चाहिए उसको इस श्लोकमें वर्णन करते हैं:

उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः।
मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम्।।४४।।

सैंकड़ों स्त्रियोंके यूथपति, गोपीजन जिनका गान कर रही हैं और जिनके कण्ठमें वैजयन्तीमाला धारण की है वैसे भगवान् ऊंचे स्वरसे गान करते और अपनी गतिसे वनकी शोभा बढाते हुए फिरने लगे।।४४।।

गोपियोंने भगवान्के निकट उनका गान(गुणगान) किया तो भगवान् भी उसी समय जोरसे गान करने लगे, पश्चात् अनेक यूथोंके रक्षक हुए.

भगवान्ने उन स्त्रियोंके स्वयंके, अनेक यूथ बनवाये, प्रत्येक यूथमें, इतनी वनिताएं साथमें लीं जितनीसे रस प्राप्त हो सके अर्थात् रस उत्पन्न हो सके. भगवान्ने इनकी रक्षा, आश्वासन दे कर दूरसे ही की है, भगवान् गाते हुए जब गति विलास करते थे, उस समयके स्वरूपका वर्णन करते हुए कहते हैं कि नवरत्नोंसे जटित, ऐश्वर्य प्रकट करनेवाली, कीर्तिमयी वैजयन्तीमाला आपके गलेको सुशोभित कर रही थी, आप समस्त वनको सुशोभित करते हुए वैसी गतिसे विचरने लगे जिससे गोपियोंमें कामकी जागृति होने लगी, और उनके कामकी पूर्ति करनेवाले भी वे ही भगवान् हैं, भगवान् इस गतिसे वन वनमें फिरने लगे।।४४।।

इस प्रकार जब गोपियोंमें काम जग गया तब भगवान्ने रसशास्त्रानुसार बन्द आदि प्रकारसे गोपियोंके साथ रमण किया, जिसका वर्णन इस निम्न श्लोकमें श्रीशुकदेवजी करते हैं:

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम्।
रेमे तत्तरलानन्दिकुमुदामोदवायुना।।४५।।

ठंडी बालुके रेतवाली, तरंगोसे आनन्द देनेवाली और कुमुदके पुष्पोंके

सुगन्धियुक्त वायुवाली श्रीयमुनाजीके तट पर पधार कर भगवान्ने गोपियोंसे रमण किया।।४५।।

श्रीयमुनाजीके स्वच्छ तथा कोमल तट पर पूर्णतः प्रवेशकर, भगवान्ने रमणार्थ उस तटको रेतीके बन्धोंसे कोमल बना कर अनेक प्रकारकी गोपियोंसे वे रमण करने लगे. वह रेत वैसी ठण्डी थी जो उसके नीचे भी ठण्डक थी, बाहर ठण्डक होनेका कारण बताते हैं कि श्रीयमुनाजीके चंचल तरंगोके संसर्गसे रेत ठंडी होनेसे तट आनन्द देनेवाला हो गया था, और वायु भी तरंगोके कारण ठण्डी तथा कुमुदोंके सुगन्धसे युक्त होनेसे सुगन्धवाली आनन्ददाई थीं, वायुके आनन्ददाई होनेमें अन्य कारण यह था, कि वह मन्द-मन्द चलती थी. रमणके समय जब महाबन्ध होता है तब वायुकी भी अपेक्षा रहती है. अतः सर्वभावसे (सर्व सामग्री सिद्धकर) गोपियोंकी दूसरी विशेष कामक्रीड़ा(जातस्मरकेलि) पूर्ण की।।४५।।

भक्तोंसे की हुई विशेषकेलिके अन्तर आठ प्रकारके आलिंगन तथा कामकी चेष्टासे युक्त जो भगवान्ने रासविलास चरित्र किए उनका वर्णन इस 'बाहुप्रसार' श्लोकमें करते हैं:

बाहुप्रसार-परिरम्भकरालकोरु-नीवीस्तनालभन-नर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणाम् उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार।।४६।।

भुजाओंको पसारना, आलिंगन करना, हाथ, अलक, जांघ, नीवी और स्तन इनका स्पर्श, हास्य वचन, नखोंके अग्र भाग चुभोना, क्रीड़ा, देखना और हंसना आदि लीला करनेसे व्रजभक्तोंके कामका उद्दीपन कर भगवान् उन(गोपियों)को रमण कराने लगे।।४६।।

दूर खड़ी हुई गोपी वा उसके अंगका स्पर्श करनेकेलिये भगवान्ने अपनी बाहु(हाथ)को पसारा(लम्बा किया), पश्चात् भगवानने बलपूर्वक(जबर्दस्तीसे) गोपीको आलिंगन किया, अनन्तर(पीछे) गोपीके हाथ, अलक, जांघ, नीवी और स्तनोंका हाथसे स्पर्श किया. हाथसे हाथको पकड़ना इसको पुरुषायितलीला अथवा सम्बन्ध कहा जाता है, इसप्रकार बालोंको ऊपर करनेकेलिये अर्थात् ठीक करनेकेलिये अलकोंका स्पर्श किया बाहुबन्धकेलिये जंघाओंका स्पर्श किया, रसके पुष्ट होने पर नीवी(नाडा)की गांठ खोलनेकेलिये उस(नीवी)का स्पर्श किया, रस बढानेकेलिये स्तनोंको छूआ अर्थात् मर्दन किया, इस प्रकार कामशास्त्रमें कहे हुए पांच स्पर्श किये पश्चात् कामके स्तम्भनकेलिये कोमल

(परिहासके) वचन कहने लगे, उसके बाद कामकी लड़ाई हो रही है वैसा दिखानेकेलिये नख तथा दांतोंसे ताड़ना करने लगे, यों ताड़ना करनेसे जहां-जहां अर्थात् जिस-जिस अंगमें काम शान्त हो वह काम जागृत हो जाये जैसे सेनाके वध होने पर, राजा स्वयं लड़ाईके मैदानमें आता है वैसे ही यहां भी नख तथा दन्तोंसे ताड़ित हुए अंग शिथिल हो जाते हैं तब कामराजा स्वयं प्रकट होता है. क्ष्वेलि(रसको स्थापित करनेवाली क्रीडा)पूर्वक अवलोकन(देखना) तथा हास्य करते थे, इस प्रकारकी लीला(क्रीड़ाकृति)से द्वादश(बारह) अंगोंमें स्थित द्वादश प्रकारका काम जागृत होता है, इसलिये श्लोकमें 'व्रजसुन्दरीणाम् उत्तम्भयन्' पद दिया है जिसका भावार्थ है कि व्रजकी सुन्दरियोंके कामको बढाते थे.

संयोगदशामें जो काम होता है वह 'रतिपति' कहलाता है, और वियोग दशावाला काम 'अग्नि' कहलाता है, इस प्रकार आधिदैविक कामको जागृत कर भगवान्ने गोपियोंको रमण कराया. जिससे भगवान्ने गोपियोंको आनन्दकी प्राप्ति कराई, न कि कामके अन्तमें वैराग्य(सम्भोगकी इच्छाका नाश) कराया।।४६।।

इस प्रकार संयोग शृंगारकी सिद्धि कर अब विप्रयोग शृंगार सिद्धिकेलिए भगवान्ने उन(गोपियों)में अहंकार उत्पन्न किया जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी इस निम्न श्लोकमें करते हैं:

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धकामा महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योभ्यधिकं भुवि ।।४७।।

इस प्रकार महात्मा श्रीकृष्णसे गोपियोंने अपने मनोरथ पूर्ण किए जिससे उनको अहंकार हुआ, कि हम पृथ्वीपर जो स्त्रियां हैं उन सबसे अधिक(उत्तम) हैं।।४७।।

आगे कहे हुए प्रकारसे सदानन्द फलरूप सर्वरस देनेमें समर्थ भगवान् कृष्णसे अपनी कामना पूर्ण कर लेनेसे अपनेको ही पूर्ण समझने लगीं, भगवान्को भी पूर्ण नहीं समझा और हम उनके द्वारा ही पूर्ण हुई हैं यों भी नहीं मानने लगीं.

भगवान्ने उनको पूर्ण क्यों बनाया? क्यों नहीं उनमें कुछ कमी रखी? इस शंकाको मिटानेकेलिये कृष्णको 'महात्मा' कहा है, भगवान् महती आत्मा हैं, जो अगाधजलमें प्रवेश करता है वह गीला हो जाता है शुष्क नहीं रहता है अथवा डूब जाता है एवं जो घट उसमें पड़ता है वह पूर्ण हो कर ही बाहर आता है. और उन्होंने अपनेको पृथ्वी पर तथा समस्त स्त्रियोंसे उत्तम माना, इसलिये वे अहंकारिणी

(अभिमानवाली) हो गई, जिससे समझने और कहने लगीं कि हमारे समान दूसरी कोई नहीं है, अतः भगवान् जब प्रार्थना करेंगे तब हम उनको रस देंगी, इस प्रकार मान करने लगीं, भगवान्के धर्म उनमें आ गये, इसलिये जैसे प्रथम हमने प्रार्थना की तब भगवान् वश हुए वैसे हम भी तब वश होंगे, जब भगवान् हमको प्रार्थना करेंगे, इस प्रकार उनका कहना रसकेलिये ही था अतः दोषरूप नहीं था, क्योंकि उनमें यह मान भगवद्भावके कारण हुआ है।।४७।।

भगवान्की इच्छा हुई कि गोपियोंसे एक हो कर ही रसदान दूं अतः बाहरसे तिरोहित हो गए(छिप गए) जिसका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं:

तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत।।४८।।

गोपियोंका वह सौभाग्य मद देख कर उस(मद)को शान्त करनेकेलिए तथा उन(गोपियों) पर कृपा करनेकेलिए भगवान् वहां ही अन्तर्हित(छिप गए) हो गए।।४८।।

गोपियोंने अपनेको पूर्ण समझा, जिससे उनमें जो मद उद्भव(पैदा) हुआ वह दोषरूप नहीं था किन्तु अपनेको स्त्रियों तथा पृथ्वी पर श्रेष्ठ समझने लगीं वह(अभिमान) दोषरूप था, शुकदेवजीने श्लोकमें इस दोषरूप अभिमानका अनुवाद किया है अतः इस दोषरूप मदको नाश करनेकेलिये भगवान् तिरोहित हो गये जिसका वर्णन करते हैं उनका वह प्रसिद्ध पहले कहा हुआ हम सबसे उत्तम हैं वैसा सौभाग्य मद(अभिमान) देख कर उनको शान्त करनेकेलिये भगवान् तिरोहित हो गये.

भगवान्ने गोपियोंसे रमण किया जिससे ही उनमें इस भाव(मद)की उत्पत्ति हुई, अतः भगवान्ने स्वयं वैसा भाव पैदा किया फिर आप उस भावको शान्त करनेकेलिये तिरोहित हुए? इस शंकाके उत्तरमें शुकदेवजीने श्लोकमें कहा है कि मान दे कर उन पर कृपा करनेकेलिये वहां ही (गोपियोंके अन्तःकरणमें अथवा गोपियोंके यूथोंके मध्यमें) अन्तर्हित हो गये, अभिमानका भी नाश करना ही चाहिये, क्योंकि वह रमणमें प्रतिबन्धक होता है, मान तो आन्तरधर्म है, अतः भगवान् बाहरसे अन्तर्धान हो कर अन्तःकरणमें प्रविष्ट हो गये, जो अशक्त होते हैं वे बाहरसे ही मानको मर्दन करनेका प्रयत्न करते हैं, भगवान् सशक्त हैं अतः अन्तःकरणमें प्रविष्ट हो कर उनका मानमर्दन करने लगे अर्थात् अन्तःप्रविष्ट हो

कर उनको वश करने लगे और उन पर कृपा भी की. इस प्रकार भगवान्ने अपने धर्मको प्रकट किया. पश्चात् आप भी उनके वश होंगे.

भगवान्ने गोपियोंके अभिमान, और मानकी उपेक्षा क्यों नहीं की? इसके उत्तरमें शुकदेवजीने भगवान्का नाम 'केशव' ले कर समझाया है कि भगवान्ने जैसे ब्रह्माके रजोगुणको मिटा कर उसको मुक्ति दी है और शंकरके तमोगुणको नाश कर उसको मुक्ति दी है वैसे ही इनका भी मदादि मिटा कर इनको मुक्ति दान देनेकेलिये तिरोहित हुए हैं अतः उपेक्षा नहीं की है.

भगवान्का यह तिरोभाव कायिक है अर्थात् भगवान्ने अपने भी अंगको छिपा लिया, कारणकि गोपियां अभी तक प्रथम कक्षाकी अधिकारिणियां हैं क्योंकि तामस हैं जिससे उनको विरहानुभव कायाके तिरोधानसे ही होनेवाला था अतः भगवान् बाहरसे तिरोहित हो कर गोपियोंके अन्तःकरणमें रस स्वरूप स्थित हो गये।।४८।।

योजना: अन्तःकरणमें लीलासहित प्रभुक्रीड़ा, अलौकिकी लीला है. यूथके मध्यमें छिप जाना यह लौकिक प्रकार है. तीसरापक्ष कहते हैं कि भगवान् जबतक छिपे थे तबतक छिपे. तबतक व्यापि वैकुण्ठमें लक्ष्मीजीके साथ रमण करते थे. विप्रयोगानुसार शृंगाररसका अनुभव ही गोपियोंकेलिये 'मुक्ति' है.

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धके २६वें अध्यायकी
(प्रचलित क्रमानुसार अध्याय २९ की) श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत
श्रीसुबोधिनी 'संस्कृत टीका'के तामस फल अवान्तर प्रकरणके
प्रथम अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण।

अध्याय २७

श्रीकृष्णके विरहमें गोपियोंकी दशा

स्वानन्दस्थापनार्थाय लीला भगवता कृता।
स बाह्यो जनितः पुष्टो यथान्तर्निविशेत्पुनः ।।का.१।।
तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोऽविशत्।
चत्वारोऽत्र निरूप्यार्थाः रसासक्तिहरेः क्रियाः ।।का.२।।
गर्वाभावश्च तत्रादौ निरूप्यन्ते क्रमात् त्रयः।
उद्देशतो लक्षणतः फलतश्च यथायथम् ।।का.३।।
सप्तविंशे तिरोधानाद् लीलान्वेषणतत्पराः।
रसमन्तर्गतं चक्रुर्गोपिका इति रूप्यते ।।का.४।।

भगवान्ने अपने आनन्दकी स्थापना गोपीजनमें करनेकेलिए(२६वें अध्यायमें) लीला की है, जिस लीलासे वह आनन्द(रस) बाहर प्रकट हुआ, यह देख कर भगवान् उस रसको अन्दर(इन्द्रियों आदि सर्वमें व्याप्त करनेकेलिए) पुष्ट करनेकेलिए, लीलासहित गोपीजनके अन्तःकरणमें प्रविष्ट हो गए।।१।।

इस लीलामें चार अर्थ अर्थात् विषय निरूपण करते हैं १.रसमें आसक्ति २.हरिकी क्रिया ३.गर्वका अभाव ४.भगवद्गुणगान. इन चारोंमेंसे प्रथम, उद्देश्य, लक्षण और फल ये तीन क्रमसे जैसे हैं, वैसे वर्णन किए जाएंगे।।२-३।।

सताईसवें अध्यायमें रसासक्त गोपियोंमें भगवान्के तिरोहित हो जानेसे, उनकी खोज करनेमें तत्पर हो कर उस रसको भीतर स्थित करने लगीं, इसका वर्णन किया जाता है।।४।।

कारिका व्याख्या: २६वें अध्यायमें भगवान्ने जो कामलीला गोपियोंके साथ की है, वह लौकिक कामलीलाके समान नहीं है. लौकिक कामलीला, अनित्य तथा विकारवाली है किन्तु भगवान् द्वारा की हुई यह लीला, नित्य एवं अविकृत तथा रसरूपा है, क्योंकि भगवान् नित्य एवं अविकृत तथा रसरूप हैं अतः उनसे की गई लीला भी वैसी ही है, और गोपियां भी श्रुतिरूपाएं हैं, संयोगावस्थामें वह रस(आनन्द) बाहर आनन्द देता है किन्तु विरह अवस्थामें भीतर सर्व इन्द्रियादिमें प्रविष्ट हो कर सबको आनन्द देता है अथवा आनन्दरूप बना देता है.

इस २७वें अध्यायके प्रथम तीन श्लोकोंमें रसासक्ति, हरिकी क्रिया और गर्वका अभाव इनके उद्देश्य संक्षेपमें कहे हैं, किन्तु गुणगानके स्वरूप तथा लक्षण नहीं कहे हैं.

गोपियोंने भगवान्की खोज की है, यह उनके १.रसासक्तिका लक्षण है, २.हरिकी क्रिया अर्थात् गोपियोंने कृष्णकी लीलाएं स्वयं की हैं, यह हरिकी क्रियाका लक्षण है, ३.गर्वाभावका लक्षण यह है कि गोपियोंने अपनी सौतिनकी बड़ाई की है.

उपरोक्त तीनोंका फल भगवान्की खोजका फल, चरणारविन्दोंके दर्शन हुए. हरिकी लीला करनेका फल–गोपियोंमें भगवान्की लीलाओंके आवेश होनेसे, लक्ष्मी आदिसे की हुई लीलाओंका वर्णन करना और भगवान्में दोषदृष्टि का अभाव होता है.

सबको भूल कर भगवान्की खोजमें ही प्रयत्नशीला होना गर्वके अभावका फल है.

गुणगानका साधारण वर्णन इस अध्यायके अन्तिम श्लोकमें है तथा विशेष वर्णन २८वें अध्यायमें किया हुआ है.

आभास: २६वें अध्यायके अन्तमें, भगवान् तिरोहित हो गए यों कहा गया है, जिसमें रसमें आसक्त चित्तवाले गोपीजनोंको, भगवद्दर्शन न होनेसे महान् ताप(दु:ख) हुआ, जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी इस श्लोकसे करते हैं:

श्रीशुक उवाच

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः ।

अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ।।१।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि अचानक भगवान्के अन्तर्हित होने पर व्रजांगाएं वैसे तापको प्राप्त हुईं जैसे हथनियां यूथपति गजराजके बिना सन्तप्त होती हैं।।१।।

व्याख्यार्थ: षड् ऐश्वर्यादि गुणसहित स्वरूपसे, श्रीकृष्ण गोपियोंके अन्दर प्रविष्ट हो गये, जिससे बाहर प्रत्यक्ष दर्शन आदि गोपियोंको न होने लगा, उससे उनको अचानक ताप हुआ, कारणकि इन व्रजकी स्त्रियोंकेलिये भगवान्का बहिःप्रकट रूप ही मुख्य है इसलिये इनको आन्तररूपका विचार ही नहीं अतः भगवान् ही आन्तर स्थितिसे सन्तुष्ट हो जाएं ऐसी ये गोपीजन नहीं हैं. फलतः

वैसी दृढ आग्रही गोपियां उस वहीं प्रकट स्वरूपको न देखकर, यह विचार भी न कर सकीं, कि वे हमारे भीतर होंगे, अतः वे सन्तप्त हो गईं, उन लोगोंमें सहज कामरूप ताप, जो सदैव रहता है, उसकी शान्ति भगवान्के इस स्वरूपके दर्शन और स्पर्श आदिसे होती थी, अब उनको यह विचार हुआ, कि अब हमारे इस तापको कौन शान्त करेगा? जब तक यह स्वरूप प्रकट न होगा, तब तक हमारे तापकी शान्ति नहीं होगी. उनका यों ताप करना योग्य ही है. कारणकि उनकेलिये भगवान्का स्पर्श ही मुख्य है, यह जतानेकेलिये श्रीशुकदेवजीने हथनियोंका दृष्टान्त दिया है. हथनियोंके यूथके पति हाथीके चले जाने पर, जैसे हथनियां दुःखी हो कर डरती हैं, क्योंकि वनमें सिंह रहते हैं, किसीने हस्तीको मार तो नहीं दिया है? उसके जाने पर हमारी रतिका मर्दन कौन करेगा? इससे वे हथनियां सन्तप्त होती हैं. वात्स्यायनने कहा है कि 'रति करना हाथी ही जानता है' और 'रति(भोग)का मर्दन भी हाथी करता है'. इसी प्रकार हथनियोंकी भांति गोपियोंको भी इसी विचारसे बहुत ताप हुआ कि कृष्णके बिना हमारे सहज तापको शान्त करनेवाला अन्य कोई नहीं है, क्या वह काल आ गया है? जिससे अवतार लीला सम्पूर्ण हुई? इसी चिन्तासे वे(गोपियां) दुःखी होने लगीं।।१।।

गोपियोंका वह ताप फिर भीतर प्रवेश करनेकी इच्छा करने लगा इतनेमें अन्तःप्रविष्ट भगवान्की लीला तापको दूर कर स्वयं प्रकट हो गई जिसका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं:

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः।।२।।

भगवान्की गति, अनुराग, मन्द मुस्कुराहट, विलाससहित ईक्षण मनोहर भाषण, वनके विहार और विलासोंसे जिनके चित्तका हरण हो गया वैसी गोपीजन भगवद्रूप बन कर उन(भगवान्)की लीलाओंका अनुसरण करती हुई वैसी क्रीड़ा(लीला) करने लगीं।।२।।

भगवदीय काया, वाणी और मनकी चेष्टाओंसे वशीकृत हो जानेसे, उनको भगवद्भाव प्राप्त हो गया जिससे वे भगवान्की उन-उन चेष्टाओंको करने लगीं.

शुकदेवजी उस(वशीकृत होने)का प्रकार बताते हुए कहते हैं कि प्रथम भगवान्की कायाकी चेष्टा(गति-चाल)से गोपियां वश हुई, पश्चात् भगवान्की

इन्द्रियों सहित मनसे की हुई चेष्टासे वश हो गई, यह 'अनुराग' शब्दसे कहा है, कारणकि, अनुराग(स्नेह) मनका धर्म है, उस मानसधर्म स्नेहके साथ किया हुआ स्मित(मन्द मुस्कुराहट) और विलास(हावभाव(कटाक्षों)से ईक्षण) किया, वह इसीलिये किया, कि गोपियोंकी भगवान्के भजनमें जो शेष(बाकी) रही हुई निष्ठा भी समाप्त हो जाये, यदि भगवान्ने इस आशयसे हावभाव कर ईक्षण(देखना) न किया होता तो, भगवान्के ईक्षणसे ज्ञान उत्पन्न हो जाता, वह न हो कर ईक्षणने गोपियोंके प्रमदाभावको जगा कर मानादि भाव जो उद्भव किये उनसे समझा जाता है कि भगवान्का ईक्षण इस प्रकारका था, मन्द मुसक्यानसे मोह उत्पन्न होनेसे गोपीजन, न बाहर जा सकीं और न भीतर ठहर सकीं अर्थात् गोपीजनोंमें उस समय न भगवद्धर्ममें और न भगवत्स्वरूपमें स्थिर निष्ठा रही कारणकि उस समय मध्यमें गोपीजन अन्तःकरणमें स्फुरित भगवान्में तथा उसके धर्ममें पहुंच गई थीं.

श्रीशुकदेवजी 'मनोरमालाप' आदि शब्दोंसे कहते हैं कि भगवान्ने वाणीसे भी गोपियोंको विमोहित किया है, मनको जो आनन्द देता है वा मनमें जो रमण करता है उसको मनोरम कहते हैं. वैसा मनोरम आलाप(वाणी) अर्थात् भगवान्के गुप्तभाषण हैं, किन्तु केवल वाक्योंसे चित्तका आकर्षण नहीं होगा. और स्त्रियां भगवान्के वचन प्रमाण हैं इसे अन्य प्रकारसे समझ न सकेंगी इसलिये 'मनोरम' शब्दसे प्रथम आलापका फल बता दिया है, कि भगवान्के वाक्य सुख(आनन्द) उत्पन्न करनेकेलिये हैं भगवान्के वचन उसी वक्त(कहनेके समय) ही आनन्द उत्पन्न करते हैं.

'विहार' शब्दसे यह आशय प्रकट करते हैं कि वे आलाप(शब्द) लीलाके उपयोगी कभी बन्ध आदिका बोध कराते हैं, उसमें भी 'विभ्रम' (विलास) शब्दसे बन्ध आदिके अवान्तरभेद भी बताते हैं जैसे उत्तानक बन्धमें ग्राम्य आदि बन्ध होते हैं. वे बन्ध तीन प्रकारके(सात्विक, राजस और तामस) हैं जो प्रथम भगवान्ने भक्तोंसे किये हैं, जिनसे गोपियोंके तीनों प्रकारके चित्त भगवान्में खिंच गये हैं अर्थात् आसक्त हो गये हैं अतः गोपीजनोंको अब ताप नहीं रहा है.

गोपियोंको प्रमदा कहा, उसका आशय(प्रभुचरणके अनुसार) यह है, कि मद यहां कोई लौकिकमद नहीं किन्तु आन्तर एवं बाह्य अनुसन्धानको भुला

देनेवाला अति उत्कठ एक विलक्षण रसभाव यहां 'मद' पदसे कहा जा रहा है. इसीसे प्रभुकी लीलाका अनुकरण जो गोपियोंने किया वह भी संगत हो जाता है. दूसरी बात यह भी है कि इनका यह विलक्षण–प्रकृष्ट मद स्वभाव भी है(अर्थात् चित्ताक्षेप एवं स्वभाव दोनों कारणोंसे वे प्रमदा थीं) अन्यथा दास्यभावसे कैसे अलग हो पातीं! तब केवल भगवान्की लीला(गोचारणादिरूपा) जो इनकेलिये उपयोगिनी नहीं थी सो उसका अनुभव नहीं हुआ अतः लक्ष्मी सहित भगवान्की लीलाका अनुभव हुआ अर्थात् लक्ष्मीके सहित जो भगवान्का विलास है उसका अनुकरण करने लगीं.

एक ही(लक्ष्मी अथवा लीला)की भी अनेक चेष्टा है अतः उन सभी चेष्टाओंका निरूपण किया गया. ईश्वर–स्वामीके धर्मोंका अनुकरण करना तो दासियोंकेलिये निषिद्ध है, इसके उत्तरमें शुकदेवजी कहते हैं कि 'तदात्मिकाः' भगवान् उनके आत्मामें प्रकट हो गये हैं अर्थात् गोपियां उनका ही रूप हो गई हैं अथवा भगवान् ही अन्दर स्थित हो कर उन लीलाओंको कर रहे हैं अतः यह लीला ताप मिटानेके उद्देशसे यहां कही गई है. और इसका विस्तार आगे कहेंगे. उन लीलाओंके क्रमका कारण कहा जायेगा।।२।।

गोपियोंने भगवान्के धर्मोंको ग्रहण करनेके अनन्तर भगवत्स्वरूपको भी ग्रहण कर लिया, उसका वर्णन 'गतिस्मित' श्लोकसे करते हैं:

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिकाः न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ।।३।।

प्यारे श्रीकृष्णकी गति(चाल) स्मित प्रकृष्ट रीतिसे ईक्षण(देखना) और भाषण आदिमें गोपियोंने अपने स्वरूपका आरोपण कर दिया अर्थात् तद्रूप हो गई थीं, तद्रूप बनी हुई गोपियां अबलाएं थीं, तो भी प्रियाएं होनेके कारण कृष्णकी भांति विहार तथा विलास करती हुई कहने लगीं कि मैं श्रीकृष्ण हूं।।३।।

भगवान्के धर्म और गोपीजनोंके धर्म परस्पर विरुद्ध हैं अतः जब भगवान्के धर्म भी गोपीजनोंमें आये तो इस विरुद्धताको समझ कर गोपियोंने अपने धर्मोंको भगवान्में स्थापित कर दिया जिससे विरोध नष्ट हो गया. शरीर, वाणी, मन और ईक्षण इनके चार मुख्यधर्म हैं उन सभीमें गोपियोंने अनेक स्वरूपकी स्थापना की और भगवान्के धर्मोंमें अपने स्वरूपका आरोप कर दिया. यदि गोपीजन इस प्रकार न करते तो विलास(क्रीडा–हावभाव अंग चालन आदि)

पूर्णरीतिसे नहीं हो सकता था क्योंकि एक दूसरेके धर्मोंके आग्रहके बिना भलीभांति विलास नहीं हो पाता अतः शुकदेवजीने 'गति, स्मित आदि' शब्दोंसे इन मुख्य चार धर्मोंका वर्णन किया है जैसे कि 'गति' शब्दसे शरीरके धर्म, 'स्मित' शब्दसे मनके धर्म, 'प्र+ईक्षण' शब्दसे नेत्र इन्द्रियके धर्म और भाषण वाणीके धर्म कहे हैं. इन उपरोक्त धर्मों(क्रियाओं) द्वारा जितने विलास बन्ध वगैर जो रतिरूप हैं उनसे अपने प्रीतमके साथ स्वामिनियां भोग करने लगीं तो रस विशेष होनेसे वे(गोपीजन जो स्त्रीरूपा थीं) विपरीत दशा(पुरुष भाव)को प्राप्त हो गई, कारणकि वात्स्याने कहा है कि स्त्रियोंको भोगके समय जब विशेष रस प्राप्त होता है तब पुम्भाव प्रकट हो जाता है.

ऊपर जो कहा है उसका आशय यह है कि गोपियोंने कृष्ण बनकर, जो कृष्णकी लीलाएं की हैं, वे इस प्रकार हैं, कि प्रथम भगवान्के धर्मोंमें अपने स्वरूपको विलीन किया और भगवान्के स्वरूपमें अपने धर्मोंको लय कर दिया जिससे गोपियोंके स्वरूप तथा धर्मोंका अस्तित्व न रहा केवल भगवान्के धर्म तथा स्वरूप ही रहे अतः उस स्वरूपसे और धर्मोंसे वे लीलाएं होने लगीं जिससे गोपियोंमें यही भावना जागृत रही कि ये लीलाएं श्रीकृष्ण ही कर रहे हैं.

जिन गोपियोंकेलिये भगवान् पहले अल्प व्यवहित कुछ दूर हुए वे पूछने लगीं कि भगवान् कहां हैं? किन्तु अपनेमें अन्तर्हित छिपे हुए भगवान्के ज्ञान न हो पानेसे उत्तर देने लगीं 'यह कृष्ण है' 'मैं कृष्ण हूं' अथवा 'जिसकी खोज चल रही है वह मैं हूं'.

गोपीजनोंका इस प्रकार कहना वैसा नहीं है जैसे खेलमें नट कपटवेश बना कर कहता है कि मैं राजा आदि हूं, किन्तु यह वास्तविक कहना है क्योंकि गोपीजन निर्बल स्त्रियां हैं वे भगवद्रूप बनानेमें असमर्थ हैं. स्त्री तथा पुरुषमें जो विलक्षणता(भेद) है वह स्पष्ट देखनेमें आ जाती है, फिर भी इस प्रकार कहनेमें किसीको प्रतारणा(छल) देखनेमें आता हो तो उस संशयको मिटानेकेलिये शुकदेवजी 'तदात्मिका' शब्द कह कर उस संशयको मिटा देते हैं कि ये गोपीजन धर्म तथा धर्मीरूपसे कृष्णमय हैं जिससे इस कहनेमें किसी प्रकार प्रतारणा नहीं है. वाणी और मन आदिसे जो विलास है वह कृष्णवत् ही है, अर्थात् कृष्ण ही कर रहे हैं।।३।।

उपरोक्त प्रकारसे गोपियोंको ताप विशेष होने लगा तब भगवान्की

लीलाओंने उनमें प्रवेश किया जिससे उन्होंने भगवान्के स्वरूपको स्वीकार किया यों करनेसे गोपियोंमें रसकी आसक्ति, भगवान्की लीलाएं एवं गर्वके अभावका सम्बन्ध हुआ. गोपीजन प्रथम अपने तापको मिटानेकेलिए भगवान्को ढूंढ़ने लगीं जिसका वर्णन निम्न 'गायन्त्य' इस श्लोकमें करते हैं. जैसे सत्व आदि तीन गुण एक दूसरेका उपमर्दन[१] करते हैं, वैसे ही ये तीन(ताप, लीला और भगवद्रूप) भी परस्पर एक दूसरेको दबाते हैं और जिसके आविर्भाव होनेकेलिए भगवदिच्छा होती है उसका आविर्भाव होता है, इसलिए एक दूसरेके कार्यमें किसी प्रकार रुकावट नहीं होती है, अतः जब गोपियोंको जगत्का ज्ञान होता था तब भगवान्केलिए पूछती थीं वह श्रीशुकदेवजी 'गायन्त्यः' श्लोकसे वर्णन करते हैं: गोपियोंका यह गान मिश्रभावसे[२] है.

१.दूसरेके धर्मको दबा कर अपना प्रकट करना.

२. गोपीजनोंको कभी जगत्का ज्ञान होता था कभी नहीं होता था, तात्पर्य यह है कि गोपियां उस समय संयोग(संगम) और वियोग दोनोंका क्रमशः क्षण-क्षणमें अनुभव करती थीं.

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्।।४।।

सब गोपीजन मिल कर उच्च स्वरसे भगवान्के गुणोंको गाते हुए उन्मत्तकी भांति एक वनसे दूसरे वनमें श्यामसुन्दर प्यारेको ढूंढने लगीं. आकाशकी तरह सर्व भूतोंमें भीतर और बाहिर व्यापक पुरुषकेलिए वनस्पतियोंसे पूछने लगीं।।४।।

शब्दो हि धूमवल्लोके बाह्याभ्यन्तरयोगतः।
विराजते विनिर्गच्छन् तारतम्यं च गच्छति।
अतोऽत्र धर्मिधर्माणामाधिक्याज्ज्ञानमुत्तमम्।।का.१।।

जैसे लोकमें गीली लकड़ियोंके भीतर रही हुई अग्निको बाहरकी अग्नि स्पर्श करे, तो भी वह उन लकड़ियोंसे अग्निको प्रकट न कर, धूमको प्रकट करती है, वैसे ही गोपीजनोंकी विरहाग्नि भी हृदय स्थित वियोग स्वरूपात्मक आनन्दाग्निको प्रकट न कर, बाहिर जगत्के संवेदन(ज्ञान)रूप आर्द्रता(गीलापन) के कारण, गुणगानरूप धूमको प्रकट करती है, वह गुणगान धूम्रवत् भीतर और बाहर व्याप्त हो जाता है और उस गुणगानमें उसीकी तरह तारतम्य भी रहता है,

अर्थात् गोपियोंको एकक्षणमें भीतरका भान और अन्यक्षणमें बाहरकी सुधि होती है, जिससे वह शब्द जब बाहर आता है, तब विविध भावोंको प्रकट करता है और गानका रूप धारण कर लेता है. धर्मी स्वरूप भगवान् तथा उनके धर्म रसात्मक हैं अतः वे(भगवान् तथा उनके धर्म) जीव तथा उसके धर्मोंमे उत्तम हैं, किन्तु गोपियां अब तदात्मिकता हो गई हैं, अतः गोपियोंको जो यह कृष्ण, मैं कृष्ण, इस प्रकारका ज्ञान हो गया था वह उत्तम ज्ञान था, कारणकि, यह ज्ञान साधन साध्य नहीं है, किन्तु भगवान्की कृपासे प्राप्त होता है।।१।।

यथा भगवतो गानात् स्वयमागत्य सङ्गताः।
एवं स्वयं भगवत आगत्यर्थं जगुः स्फुटम्।।का.२।।

गोपीजनने यह गान इसी भावसे किया कि जिस प्रकार हम भगवान्के गानको श्रवण कर उनके पास आ गई हैं वैसे ही वह भी गानको सुन कर हमारे पास आ जावे।।२।।

कृत्रिमत्वात्तु भावस्य मिलिताश्च स्वतोऽन्यतः।
ततो विशेष विज्ञानात् तिरोभावोऽस्फुरत् स्फुटः।।का.३।।

गोपीजनमें तो तदात्मिकता(मैं कृष्ण हूं इस प्रकारका भाव आदि) उत्पन्न हुई थी वह केवल विरहके कारण उद्भूत(पैदा) हुई थी जिससे वह कृत्रिम(बनावटी) थी, उसके तिरोहित(छिपना) हो जाने पर जब वे आपसमें मिलने लगीं तब विशेष ज्ञान होनेसे उनको भगवान् तिरोधान हो गए यह भान हुआ जिससे ढूंढने लगीं।।३।।

गोपीजन भगवान् कहां चले(छिप) गये इसकी पूछताछ करने लगीं, किन्तु अभी तक गोपीजनोंको भगवान्के छिप जानेकी सम्पूर्ण स्फूर्ति नहीं हुई थी, जिससे ढूंढनेमें भी उनकी एक सी वृत्ति नहीं होने पाई, इसलिये श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि पागलकी तरह ढूंढने लगीं, जैसे पागलको अपने-परायेका ज्ञान नहीं रहता है, और अपने शरीर पर वस्त्र हैं या नहीं, इसकी भी सुधि नहीं रहती है, वैसी दशा इनकी भी हो गई है वैसे ही दशामें, पागलोंकी तरह एक वनसे दूसरे वनमें भटकती हुई न केवल ढूंढनेका कार्य करने लगीं किन्तु उन्मत्तोंकी तरह पूछने लगीं.

श्रीशुकदेवजी भगवान्के स्वरूपके स्वरूपको जाननेवाले थे, अतः आनन्द मात्र करपादमुखउदर आदिवाले श्रीकृष्णको, सर्वत्र विद्यमान देखते हैं, यदि भक्ति सहित ज्ञान, दूसरेमें प्रकट हो, तो वह भी इस प्रकार दर्शन कर सकता

है, क्योंकि उनकी दृष्टिमें तिरोधानका नाश हो जाता है. गोपियां वैसे सर्वत्र व्यापक अपरिच्छिन्न आनन्दरूप भगवान्‌को परिच्छिन्न समझ कर उनकेलिये पूछती हैं. इससे श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि जैसे आकाश भीतर बाहर सर्वत्र व्यापक है, श्रीकृष्ण भी वैसे ही सर्वत्र व्यापक हैं. आकाशको इसलिये ही ब्रह्मका लिंग कहा गया है. वैसे (ही) सर्वत्र विद्यमान(मौजुद) कृष्णको न देख कर और आत्मामें भी विचार न कर तथा चेतनोंसे न पूछ कर स्थावरों(जडों, वृक्षादि)से पूछने लगीं. गोपियोंने जो वनस्पतियोंसे पूछा उसका कारण यह है कि शास्त्रोंमें कहा हैं कि 'वैष्णवाः वै वनस्पतयः' वनस्पति(वृक्ष, लता आदि) वैष्णव हैं, मूर्ख हो तो भी, वैष्णव ही निश्चयसे विष्णुकी गतिको जानते हैं, किन्तु अवैष्णव विद्‌वान् हो तो भी उनकी गतिको नहीं जानते हैं।।४।।

उनमें भी प्रथम, उन पीपल, पाकुर और बड़ नामवाले वृक्षोंसे पूछती हैं जो ब्रह्मा, विष्णु और महादेवके रूप हैं.

श्रीगोप्यः ऊचुः

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः ।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ।।५।।

हे पीपल! हे पाकुर! हे बड़! प्रेम और हाससे विलसित अवलोकनसे, हमारे मनको चुरा कर जा रहे, नन्दके पुत्रको आपने देखा।।५।।

गोपीजन उन्मत्त दशामें भगवान्‌की पूछताछ करनेकेलिये चलीं तो प्रथम उनकी दृष्टि पीपल वृक्षपर पड़ी उनके मनमें विचार हुआ कि यह पीपल वैष्णव है, इसका देवता विष्णु है इसलिये यह नन्दसूनु(पुत्र)को जानते होंगे कि कहां है? किन्तु यह तो स्तब्ध(खडा) है, कुछ उत्तर नहीं देता है, इसको अभिमान है कि में उत्तम हूं, क्योंकि वैष्णव हूं, इस अभिमानके कारण इसको पता नहीं होगा. अभिमानीको भगवान् अपना ज्ञान नहीं कराते हैं और इसके अभिमानका कारण इसके नामसे भी प्रकट होता है. 'अश्वत्थ' नामका अर्थ है कि घोड़ा इसमें स्थिति करता है, जगत्‌में मनुष्य घोड़े पर स्थिति करते हैं किन्तु यहां उससे विपरीत घोड़ा इसमें स्थिति करता है, जिस बातकी पुष्टि श्रुति भी करती है, भगवान् अश्वरूप[१] धारण कर पीपलसे स्थिति करते हैं इसलिये पीपलको 'अश्वत्थ' कहा जाता है.

१.'अश्वोरूपं कृत्वा यद् अश्वत्थे अतिष्ठत्' श्रुतिः.

जब वह उत्तर नहीं दे कर स्तब्ध होके खड़ा है तो चलें प्लक्षसे पूछें जो

सामने बाजूमें ही खड़ा है जिसका देव प्रजापति है, प्रश्न करने पर भी, जब उससे भी कोई उत्तर नहीं मिला तब कहने लगीं कि, यह कुछ जानता ही नहीं है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति अज्ञानसे हुई है, वह अज्ञानी कैसे जानेगा? जैसाकि कहते है 'मनुष्यको मूर्ख बनानेकेलिये, उसमें जो पवित्रता थी उसको निकाल ली अनन्तर यह पाकुर वृक्ष बना, जिसका विशेष वर्णन यों है कि 'पशुसे देव स्वर्गमें गये उनको विचार हुआ कि जैसे हम स्वर्गमें जा रहे हैं, वैसे ही मनुष्य भी आ जायेंगे, इसी भावसे देवोंने पशुका शिर काट लिया जिसमें लोहूकी धारा बहने लगी, उससे यह 'पाकुर' बना है अतः पाकुर अपवित्र और अज्ञानी है, वह क्या उत्तर देगा? अपवित्र एवं अज्ञानीको भगवान्का ज्ञान होता ही नहीं है, इसकी आशा छोड़ अब कर्मसे जिसका सम्बन्ध नहीं है और जो वैष्णव धर्मके उपदेशक, महादेव हैं, उस महादेवका रूप यह 'बड़'का पेड है, इससे पूछना चाहिये, हे न्यग्रोध! यों पुकार कर पूछने लगीं किन्तु वहां भी स्तब्धता पाई, तब समझ गई कि, इसमें भी कोई दोष है, विचार करने पर समझ गई कि यह 'बड' ऊंचे जानेवाली शाखाओंका अधःपात करता है, अर्थात् अन्तमें इसकी गति नीचेकी ही है, जो अन्तमें उत्तम(उच्च)की गति नीची कर दे वह, स्वयं कैसे ज्ञानी होगा? जो भगवान्को जान कर कह सके, वास्तवमें भगवान् तो आगे ही पधारे हैं. फिर भी पूछने लगीं, कि आपका जो सम्बन्धी भगवान् है उनको आपने देखा? श्लोकमें 'कच्चित्' यह शब्द प्रश्नार्थक है.

यदि वृक्ष कह दे, कि हमने भगवान्को कितनी ही बार देखा है और देख रहे हैं, इस विषयमें आप क्यों पूछती हैं? जिसके उत्तरमें गोपियां कहती हैं, कि हम इसलिये पूछती हैं कि वह हमारा मन चुराके ले गये हैं, यदि वृक्ष कह देवे, कि विष्णु कभी भी चोरी नहीं करता है, जिसके उत्तरमें कहते हैं, कि विष्णु चोरी करते हैं, हम कहती हैं, कि जो चोरी कर गया है वह नन्दजीका सूनु(पुत्र) है इसलिए वह चोर है क्योंकि जैसे कुलमें उत्पन्न है, वह कुल ग्वालोंका है. ग्वाले सदैव क्षीर आदिकी चोरी करते हैं, इसने तो हमारे मनको चुराया है इसमें किसी प्रकार विशेष विरोध नहीं है वे दूध-दही चुराते हैं यह मन चुराते हैं चोर कर्म तो वे भी करते हैं तो इनने भी उस कार्य (चौर्यकार्य)में कमी नहीं की है अथवा शास्त्रानुसार पतिका नाम नहीं लेना चाहिये इसलिये 'नन्दसूनु' कहा है, जिससे यह निश्चय हो जाता है, कि गोपियां भगवान्को अपना पति ही मानती हैं. और साथमें राजाका पुत्र भी

मानती हैं, चोर नहीं समझतीं, क्योंकि राजाका पुत्र कभी चोरी नहीं करेगा, वैसा उनको निश्चय था, जब वे मन चुराके गये तब उन्होंने भगवान्‌को चोर समझा, यदि चोर न हो, तो भोगका त्यागकर, क्यों भाग जावें? अतः यह भगवान् चोर हैं.

मन तो भीतर रहता है उसको कैसे चुराके ले गये? उत्तरमें कहती हैं, कि मनको तीन प्रकार अपने प्रेम, हास और अवलोकन, इन तीन धर्मोंसे चुराया, जैसा कि, प्रेमसे अन्तःकरणमें प्रविष्ट हुए, हास्यसे मनको पकड़ लिया और अवलोकनसे चुराके ले गये. यों करनेसे सात्विक(प्रेमसे अन्तःकरणमें प्रवेश), राजस(हास्यसे मनको पकड़ना) और तामस(अवलोकनसे चुराना) ये तीन भाव प्रकट किये।।५।।

गोपीजनको जब पीपल, पा कर और बड़से उत्तर नहीं मिला तब वे समझ गई कि इनके जो फल हैं, वे श्रेष्ठोंकेलिए उपयोगी नहीं हैं, अतः वायस(काक, कव्वे) ही उनको खाते हैं यद्यपि ये वृक्ष बड़े है किन्तु कामके नहीं हैं इसलिए अपन उन बड़े वृक्षोंसे पूछें, जो फल पुष्पवाले हैं वैसे पेड़ कुरबक आदि हैं यों विचार कर पूछनेकेलिए उनके पास गई जिसका वर्णन 'कच्चित् कुरबक' श्लोकमें करते हैं:

कच्चित् कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः ।
रामानुजो मानिनीनां गतो दर्पहरस्मितः ।।६।।

हे कुरबक! हे अशोक! हे नागकेशर! हे पुन्नांग! हे चम्पक! जिनका मन्द हास्य(मुस्कुराहट) मानवतियोंके मानको हरण करता है वैसे रामके छोटेभाईको यहांसे पधारते हुए आपने देखा?।।६।।

कुरबक और अशोक ये दोनों बड़े वृक्ष कामको उद्दीपन करनेवाले हैं. ये कामदेवके बाणके पुष्प हैं, नागकेशर, पुनांग और चम्पकके वृक्षोंके पुष्पोंको भी कामी सुगन्धि लेते हैं उनका चित्त दूसरी वस्तुओंसे हट जाता है, अतः ये पांच पेड़ इस बातको अवश्य जानते होंगे कि भगवान् कहां पधारे हैं? इसलिये उनसे पूछती हैं, हे कुरबक! हे अशोक! हे नाग! हे पुनाङ्ग! हे चम्पे! बताओ तो सही कि रामके छोटे भाईको आपने देखा है? आप क्यों पूछती हैं? यदि वैसा प्रश्न करें तो प्रथम ही उसके उत्तरमें पहलेकी तरह वे सब कारण बता देती हैं और विशेषमें यह भी कहती हैं कि भगवान् तो व्यर्थ ही चले गये? यदि हमने मान(अभिमान) किया तो आप उसको वहां ही उतार सकते थे, इतने परिश्रमकी आवश्यकता ही नहीं थी, भगवान्‌की मन्द मुस्कानमें मानिनियोंके मदको चूर करनेकी शक्ति है, केवल

हमारे सामने वह मन्द मुस्कान करते तो, हमारा गर्व कपूरवत् उड़ जाता. इस परिश्रम करनेसे छूट जाते, वे बलरामके भ्राता हैं अतः निर्भय तो हैं ही, यहां भी बलरामके भ्राता कहनेसे यह बताया है, कि हम पत्नियां हैं वह भर्ता हैं, हम सब अब भी मानवाली हैं अतः हमारे अभिमानको नाश करनेकेलिये गये हैं.

गोपियां पुनः कहती हैं, कि हम समझती हैं, कि इन वृक्षोंने भी भगवान्के दर्शन नहीं किये हैं कारणकि, इनके गुण वैसे ही हैं अर्थात् भगवद्दर्शनके योग्य नहीं हैं, जैसेकि कुरबक, नामसे ज्ञात हो जाता है, कि इस वृक्षको नीच रव(ध्वनि वा शब्द)से आनन्द आता है, 'नाग'से तो स्पष्ट अर्थ निकलता है कि यह भय देनेवाला है क्योंकि नाग(सांप) है, अथवा नागका अर्थ हस्ती लिया जाये तो भी भयानक है, पुनांग पुरुषनाग भी भयप्रद है, चम्पक भी परिणाममें रसप्रद नहीं है वे वृक्ष भी दोषवाले हैं तथा फलरहित हैं।।६।।

प्रथम(पांचवे श्लोकमें) कहे हुए वृक्ष पुष्परहित हैं और ये(छठे श्लोकमें कहे हुए) वृक्ष फलरहित हैं, अतः दोनोंको भगवान्का ज्ञान नहीं है, कारणकि इनके फल और पुष्प अनेक प्रकारके विनियोगमें आते हैं, इसलिए अब जो भगवदीया हैं तथा जिसके फल तथा पुष्पोंका विविध विनियोग अथवा दोनों प्रकारसे विनियोग अन्यत्र नहीं होता है और वह चरणसेविका होनेसे, भगवदीया है, चाहे उसने हम जैसा रस ग्रहण नहीं किया है तो भी यह जानती होगी इससे पूछना चाहिए, इस प्रकार विचार कर 'कच्चित्तुलसि कल्याणि' श्लोकसे पूछती हैं:

कच्चित् तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये ।
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रत् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ।।७।।

हे कल्याणी! हे तुलसी! हे गोविन्दके चरणोंमें प्रेम करनेवाली! भ्रमरोंके साथ तुझे धारण करनेवाले तेरे, अतिप्रिय अच्युतको तुमने देखा?।।७।।

गोपियां तुलसीको अपनी सखी समझ कर हे तुलसी! इस प्रकार सम्बोधन करती हैं, और दूसरा सम्बोधन हे कल्याणि! कहनेका भावार्थ यह है कि गोपियां तुलसीको भगवान्की पत्नी समझती हैं, यदि प्रथम सम्बन्ध स्मरण करे, तुलसी भगवान्की केवल भक्त ही हैं, माना जाये तो, रस पुष्ट न होवे, अतः पत्नी समझ यह(हे कल्याणि) विशेषण वा सम्बोधन दिया है. पत्नीभाव होते हुए भी उसमें भक्तिभाव विशेष है इसलिये हमसे यह तुलसी उत्तम हैं, जिस(उत्कृष्टता) को बतानेकेलिये 'गोविन्द चरणप्रिये' विशेषण दिया है अर्थात् तुलसी भगवान्के

चरणोंमें प्रेमवाली होनेसे हमसे विशेष है, मनमें विचारती है कि तुलसी कह दे कि मुझसे क्यों पूछती हो, तो उसका उत्तर स्वयं दे देती हैं, कि आपकी जातिवाली (तुलसी) प्रभुके चरणोंमें, सदैव रहती है उसको देख आप भी वहां जानेकी इच्छा करती हैं, क्योंकि एक जातिवाला कहीं भी अपनी जातिवालेको देखता है, तो उससे मिलनेकी चाहना करता है और इसके सिवाय, भगवान् भ्रमरोंके कुलोंको भी, आपके साथ ही धारण करते हैं, इसलिये भी आपने उन(भगवान्)को देखा होगा. तथा आपको भगवान् बहुत प्रिय हैं, अतः यदि भगवान् इस मार्गसे पधारे होंगे, तो निश्चय आपने दर्शन किये होंगे।।७।।

तुलसीसे भी कुछ उत्तर न मिलने पर, गोपियोंने समझा कि यह सौतिकी तरह अपना उत्कर्ष जतानेकेलिए अन्योंको कैसे बताएंगी? अतः अपनेलिए तो साधारण स्त्रियां ही उपकार करनेवाली बनेंगी, इसलिए उनसे पूछना चाहिए यह निर्णय कर निम्न 'मालत्यदर्शि' श्लोकसे साधारण वनस्पतियोंसे पूछती हैं:

मालत्यदर्शि वः कच्चित् मल्लिके जाति यूथिके।
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ।।८।।

हे मालति! हे मल्लिके! हे जाति! हे यूथिके! हस्त स्पर्शसे प्रीतिको उत्पन्न करते हुए माधव इस मार्गसे पधारे थे उनको आपने देखा?।।८।।

हे मालति! हे मल्लिके! हे जाति! हे यूथिके! अनेक रूपवाली आप सबने भगवान्को देखा? ये चार लताएं अत्यन्त सुगन्धिवाले पुष्प उत्पन्न करती हैं एवं भगवत्प्रिय भी हैं, अतः भगवान् अपने करकमलोंसे पुष्प चयन करते(तोडते) हुए आपका स्पर्श कर प्रेमको उत्पन्न करते हैं. उन(भगवान्)को पुष्प चयन इसलिये आवश्यक था, कि उस समय आपके साथ लक्ष्मीजी थीं उन(लक्ष्मीजी) की चोटी(जूडा) गूंथनेकेलिये पुष्प चाहिये थे।।८।।

ये लताएं स्त्रियां हैं और निष्फल हैं अर्थात् इनसे कोई लाभ नहीं है, ये न छाया कर सकती हैं और न फल खिला सकती हैं केवल लक्ष्मीका पक्ष करती हैं, उनकी चोटी गूंथनेकेलिए पुष्प दे सकती हैं, अतः ये भी भगवान्का पता अपनको नहीं बताएंगी, इसलिए इन अल्पों(स्वार्थियों)को छोड़ो, चलो तो महान् आम्रादि वृक्षोंसे पूछो, यह विचार कर निम्न श्लोक 'चूत प्रियाल'में उनसे पूछती हैं:

चूत–प्रियाल–पनसाशन–कोविदार–जम्ब्वर्क–बिल्व–बकुलाम्रकदम्बनीपाः।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ।।९।।

हे चूत(चूसे जानेवाले आम)! हे प्रियाल! हे पनस! हे अशन! हे कोविदार! हे जामुन! हे अर्क(मंदार)! हे बिल्व! हे बकुल! हे आम्र! हे कदंब! हे नीप! और अन्य जो यमुनाजीके तट पर परोपकारकेलिए उत्पन्न हुए हो अतः हम, जो श्रीकृष्णके बिना आत्मारहित बन गई हैं, उनको श्रीकृष्णका पता बताओ ।।९।।

आम दो प्रकारके होते हैं एक मीठे और दूसरे खट्टे, मीठे आमको चूत कहते हैं, जो रसवाले होनेसे चूसे भी जाते हैं और दूसरे जो साधारण तथा मीठे न हो कर खट्टे होते हैं, उनको आम्र कहते हैं, अथवा अलग-अलग समयसे उत्पन्न होनेसे एकको चूत दूसरेको आम्र कहते हैं. 'प्रियाल'के बीजोंमें भी अधिक रस भरा रहता है, 'पनस'के फल बडे होते हैं, अन्य 'अशन' आदि वृक्षोंमें पुष्प तथा फल मुख्य हैं, विशेष क्या कहें. अन्य भी जो मधूक आदि वृक्ष हैं, वे सब परोपकारकेलिये ही उद्भूत हुए हैं, किञ्च, यद्यपि सब वृक्ष परोपकारकेलिये ही जन्मे हैं तो, भी जिसका जन्म, श्रीयमुनाजीके तट पर हुआ है, वे तपस्वियोंके समान वहां रहते हैं, वे अवश्य भगवान्को देखते हैं और अन्योंको भी ज्ञान कराते हैं, अतः हे वृक्षों सदानन्द भगवान्का पता बताओ, कि भगवान् किस मार्गसे गये हैं, जिससे हम उनको पा सकें, गोपियां वृक्षोंको अपनी दीन स्थिति बताती हैं, कि हे वृक्षों हम आत्मासे रहित हैं, जगत्में कितने बिना गृहके, वा बिना धनके अथवा बिना देहके होंगे, किन्तु हम ही हैं, जो आत्माके बिना हैं अतः हम सर्वथा दयाके पात्र हैं इसलिये हमको कृष्णका पता बतावो।।९।।

इस प्रकार जब गोपियोंमें दीनता प्रकट हुई, तब उन्होंने पृथ्वी पर भगवान्के चरण चिन्ह देखे, देखते ही निम्न श्लोक 'कि ते कृतं' से पृथ्वीकी स्तुति करने लगीं:

किं ते कृतं क्षिति तपो बल केशवांघ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यंघ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ।।१०।।

हे पृथ्वी! तूने कौनसा तप किया है? जिससे भगवान्के चरणस्पर्श होनेसे तेरे रोमांच हो गए हैं और तू अत्यन्त शोभा पा रही है, क्या इस समय हुए भगवान्के चरणस्पर्शसे यह आनन्द हुआ है? या वामनावतारमें नापनेके समय जो चरणस्पर्श हुआ उसका आनन्द है, अथवा वराहअवतारके समय पातालसे लाते हुए जो तुमने भगवान्से आलिंगन किया उस समयका आनन्द है, यह स्पष्ट बता

दें।।१०।।

हे पृथ्वी! तुमने किस प्रकार तप किया है? हमने भी तो तप किया है, किन्तु जिस फलका अनुभव तू ले रही है, उस प्रकारके फलका अनुभव हम नहीं कर रही हैं. हां हमने समझ लिया कि पुण्यके बिना इष्ट(इच्छित फल)की सिद्धि नहीं होती है, उसमें भी भगवत्सम्बन्धी इष्टसिद्धि जिससे भगवान्का पता लग जावे, वह तो विशेष पुण्यके बिना नहीं हो सकती है, गोपियोंने इस प्रकारके फलका अनुभव न होनेसे, अपना खेद प्रकट करनेकेलिये मूलमें खेदवाचक 'बत' शब्द दिया है, हे पृथ्वी! तुमने केवल चरणस्पर्शका अनुभव नहीं किया है, किन्तु उस स्पर्शसे उत्पन्न अन्य पुलक आदि विकारोंका भी अनुभव किया है, 'केशव' नामका भावार्थ, यह है कि श्रीकृष्ण ब्रह्मा और महादेवको भी मोक्ष देनेवाले हैं, उनकी प्रार्थनासे, आप पृथ्वी पर पधारे हैं, जिससे उनके चरणारविन्दके स्पर्शका आनन्द तुमने प्राप्त किया है, उस आनन्दके उत्सवको मनाते हुए तुमको पसीना हुआ जिससे तू वैसी आर्द्र हो गई है कि प्रभुके चरणारविन्दके चिह्न तुम पर अंकित हो गये हैं अन्यथा यदि तुझे पसीना न आया होता, तू शुष्क रहती तो ये चरणचिह्न अंकित न होते, यह तुम्हारी आर्द्रता सात्विकभावको प्रकट करती है, और इसके अतिरिक्त तुझे उस आनन्दसे पुलक हुए वे(पुलक) दूर्वारूपमें प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं उनसे तुम्हारी शोभा विशेष बढ रही है, अथवा चरणस्पर्शसे उत्पन्न आनन्दसे, ये सब विकार हुए हैं, जिनसे तुम्हारी शोभा हो रही है. पृथ्वीमें यह पुलक तो सर्वत्र देखनेमें आती है, यदि अबके चरणस्पर्शसे हुई होती तो पसीनेकी तरह एक स्थान पर होती, सर्वत्र न होती, इस शंकाके निवारणकेलिये अन्य कारण कहती हैं कि वामनावतारमें भगवान्ने पृथ्वी नापते हुए अपने चरणका समग्र पृथ्वीको स्पर्श कराया था इस समय चरणस्पर्शसे यह स्मृति हो गई है, जिससे पृथ्वीमें सर्वत्र पुलकरूप दूर्वा उद्भूत हुई है, केवल चरणस्पर्शसे तो इतना आनन्द नहीं होता है जिससे पुलक हो जाये, किन्तु वह तब होता है, जब आलिंगन और चुम्बन आदि क्रियापूर्वक भोग होता है इसका उत्तर देती है, कि जब वराहरूप धारण किया था तब आलिंगन आदि हुए थे, जिससे पुलक आदि होनेमें किसी प्रकार संशय नहीं है और वे प्रत्यक्ष देखनेमें आ रहे हैं. इन कारणोंसे हे पृथ्वी! तुम और हम दोनों समान हैं।।१०।।

इस प्रकार स्थावरोंसे पूछ कर अब चेतन प्राणियोंसे पूछती हैं जिसका

वर्णन श्रीशुकदेवजी 'अप्येण' श्लोकसे कहते हैं:

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रैस्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः ।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः।।११

हे हरिणी! हे सखी! किसी प्यारीके साथ घूमते हुए और अपने अवयवों से तुमको आनन्द देते हुए भगवान्को इस मार्ग जाते तुमने देखे? उनके गलेमें वह कनेरके फूलोंकी माला है, जिसमें प्रियाके अंग-संग करते समय उसके कुचोंका चन्दन लग रहा है यहां उनकी सुगंध युक्त वायु आ रही है।।११।।

हे कृष्णसार मृगकी पत्नी! हे सखी! अपनी प्रिया(लक्ष्मी अथवा अन्य) के साथ, इस-इस मार्गसे जाते हुए अपने श्रीअंगोंके अवयवोंसे, तुम्हारी दृष्टिको आनन्द देते हुए क्या तुमने भगवान्को देखे? इस मार्गसे ही पधार रहे हैं इसका निश्चय भगवान्के चरणचिह्न देखनेसे हुआ है. यदि देखे हो तो हमको भी बता दो, तो हम भी देख सकें, तू तो अन्यकी पत्नी है और हमारी सखी है, सखी होनेके कारण बताती हैं, जैसी हमारी कृष्णमें प्रीति है, वैसे तेरी भी है, तेरे नेत्र भी हमारे नेत्रोंके समान हैं तथा जैसे तु डरपोक हैं वैसे हम भी डरपोक हैं, तूने भगवान्के दर्शन किये हैं इसका प्रमाण यह है, कि तेरे नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं यदि दर्शन न किये होते तो, कदाचित् वैसे नेत्र नहीं होते. वे अकेले तो नहीं थे स्वामिनीके साथ थे, अतः लीला भी अवश्य की होगी, ऐसा कहने पर गोपियोंके मनमें शंका हुई, कि हरिणी कह देगी, कि जब उन्होंने लीला करनी है, तो फिर उनसे मिलनेकेलिये क्यों पूछती हो? इसके उत्तरमें कहती हैं, कि जिसकेलिये हम पूछ रही हैं, वह 'अच्युत' हैं अर्थात् वह रमण कर लेनेपर च्युत(कम शक्तिमान्) नहीं होते हैं अतः रमण करनेके अनन्तर, फिर भी रमण कर सकते हैं. यदि हरिणी पूछ ले, कि वे स्त्रीके साथ थे, यह कैसे कहती हो?(तो) इसके उत्तरमें कहती हैं, कि यहां उस मालाकी सुगन्धि आ रही है, जिस कुन्दमालामें प्रियाके स्तनों पर चर्चित चन्दन लगा हुआ है, क्योंकि वह गीला है, वह माला आपने कण्ठमें धारण की है, जिससे जाना जाता है कि आपके साथ प्रियाजी भी हैं।।११।।

गोपियोंने जान लिया, कि यह हरिणी पतिके साथ होनेसे, हमारे प्रश्नका उत्तर नहीं दे सकेंगी, अतः हमको उन वृक्षोंसे पूछना चाहिए जिनकी स्तुति स्वयं भगवान्ने की है, यह निश्चय कर 'बाहुं प्रियांस' श्लोकसे उनसे पूछती हैं:

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।

अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ।।१२।।

हे वृक्षों! एक हाथ प्यारीके कंधे पर धर, दूसरे हाथमें कमल लिए हुए यहां विचरते हुए और जिनके पीछे तुलसीकी गन्धसे मत्त भ्रमर जा रहे हैं वैसे रामके छोटे भ्राताने स्नेहपूर्वक अवलोकनोंसे तुम्हारे प्रणामको स्वीकार किया व नहीं।।१२।।

बलदेवजीके अनन्तर प्रकट होनेके कारण जो निर्भय हैं, तुलसीके सम्बन्धी भ्रमर जिसके पीछे आ रहे हैं, वैसे भगवान् प्यारीके कन्धे पर एक हस्तको धर, दूसरे हस्तमें कमलको ले कर जो विचरण कर रहे हैं, हे वृक्षों! जिन्होंने आपके भक्त होनेके सम्बन्धसे, पूर्वस्तुति की है, जिससे तुमने भगवान्को, जो अब प्रणाम किया उसको उन्होंने स्वीकृत किया वा नहीं? वह बताओ,

भगवान् एवं प्रियाकी पद पंक्ति साथ-साथ इसलिये जा रही है, जो भगवान्ने अपने श्रीहस्तको प्यारीके कन्धे पर धरा है जिससे निश्चय है, कि दोनों मिल कर इकट्ठे हो साथमें जा रहे हैं, कहीं-कहीं भगवान्के चरणकी गति टेढी देखनेमें आती है, उसका कारण यह है, कि १.चञ्चल गतिसे चलना, २.भ्रमरोंके उपद्रवसे उनको दूर करना, अन्यथा तो दोनोंकी चाल समान है.

वृक्ष नम्र स्वभाववाले होते हैं, अतः इन्होंने भेटकेलिये फल ले कर पृथ्वी तक नत मस्तक होके भगवान्को प्रणाम किया है, किन्तु वे(भगवान्) तो चले गये हैं, अब तक इनके मस्तक पृथ्वी पर क्यों हैं? जिससे संशय उत्पन्न होता है, कि यह पृथ्वी पर मस्तक प्रणामके कारणसे हैं वा अन्य किसी कारणसे हैं, अर्थात् इन्होंने(वृक्षोंने) प्रणाम किया है वा नहीं? प्रणामके अनन्तर तो मस्तक, अपने स्थान पर होना चाहिये, वह नहीं होनेसे, प्रणामके विषयमें शंका होती है और इनका प्रणाम भगवान्ने वाणीसे वा इंगितसे स्वीकार किया या नहीं? भगवान् जा रहे थे इसलिये इन्होंने प्रणाम किया यह ध्यानमें न भी आया हो, हम उस समय पास तो थीं नहीं जो जान सकें, पासवालोंने जाना होगा. हे वृक्षों! इत्यादि कारणोंसे सन्देह होनेसे, हम आपसे पूछती हैं।।१२।।

वृक्ष तो ज्ञानी हैं, वे स्त्रियोंसे सम्भाषण नहीं करेंगे, अतः इनकी स्त्रियोंसे 'पृच्छतेमा' श्लोकमें पूछती हैं:

पृच्छतेमा लता बाहुनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः ।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ।।१३।।

ये लताएं वृक्षके डालियोंरूप भुजाओंको आलिंगन कर रही हैं तो भी, भगवान्‌के नख स्पर्शसे इनमें पुलक हो गई हैं, जिससे ये भगवान्‌का पता बता सकेंगी अतः इनसे पूछें।।१३।।

यद्यपि ये वेल वृक्षोंके बाहुसे आश्लिष्ट हैं तो भी, इनसे पूछो, जो कि इनको भी उत्तर देनेका अवसर(मोका) तो है नहीं, कारणकि एक तो ये पतिओंसे आलिंगित हैं, और दूसरे पुष्प चयन करते हुए भगवान्‌के नख स्पर्शसे इनके रोमाञ्च खड़े हो गये हैं, उस रसमें ये, छकी हुई हैं अतः एक रसमें मग्न, दूसरे रस ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करते हैं, जिससे जाना जाता है, कि भगवान्‌का रस सब रसोंका मर्दन करनेवाला होनेसे, सबसे उत्तम श्रेष्ठ है.

इस प्रकार सबसे पूछने पर किसीने भी कोई उत्तर नहीं दिया, तब वे मूर्छित सी हो गई, इसी तरह प्रश्न करनेवाली नौ प्रकारकी गोपियां थीं, दशमी तो भगवान्‌के साथ गई हुई थीं, यहां तक प्रश्नकी वार्ता हुई, जो कि प्रश्नोंका उत्तर गोपियोंको नहीं मिला किन्तु इस भांति प्रश्न करनेसे इन(गोपियों)को यह फल मिला कि उनमें रस स्थिर हो गया।।१३।।

गोपियोंने तापको मिटानेकेलिए इस प्रकार प्रयत्न किया किन्तु उससे केवल रस पुष्ट हुआ ताप नहीं मिटा, अब तापको मिटानेवाली भगवल्लीला प्रकट हुई, जिसके विलासका वर्णन करनेकेलिए पूर्व विषयका उपसंहारकर, उसका उपक्रम(प्रारम्भ) 'इत्युन्मत्त' श्लोकसे करते हैं:

श्रीशुक उवाच

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिका।।१४।।

इस प्रकार उन्मत्तकी भांति वचन कहती हुई, भगवान्‌को ढूंढनेसे दीन हुई गोपियां तद्रूप हो गईं, जिससे भगवान् द्वारा की हुई, वे लीलाएं स्वयं करने लगीं।।१४।।

मूलश्लोकमें 'इति' शब्द दिया है, उसका अर्थ 'प्रकार' है, गोपियोंके वचन उन्मत्त जैसे थे, इस प्रकार कहनेका आशय यह है कि गोपियोंने उनसे ऐसे प्रश्न किये जो प्रश्न करने योग्य नहीं थे, जिससे जाना गया है, कि गोपियां उन्मत्तवत् बोल रही हैं, और कृष्णका अन्वेषण करती हुई दीन बन गई हैं जिससे शरीर तथा वाणी भी थक गई किन्तु मनमें तो तीनों(ताप, लीला और भगवान्) ही

हैं, एक(ताप)के जाने पर दूसरे(लीला)का आविर्भाव हुआ जिसकेलिये श्रीशुकदेवजीने मूलमें 'लीला' शब्द दिया है, गोपियां तद्रूप(भगवद्रूप) होकर, वे ये लीलाएं जिनका अनुभव किया था, करने लगीं. मूलमें जो 'वचः' कहा है वह वैदिक व्याकरण नियमानुसार छान्दस प्रयोग है, यदि इस शब्दको छान्दस न माना जाये तो इसका अर्थ इस प्रकार कहना चाहिये 'इति' अब तक जो कहा गया है वह 'उन्मत्त वचः=उन्मत्तस्य वचः[१]' उन्मत्तका वचन (कहना) है.

१. 'वचसू' शब्द मान कर यह अर्थ किया जा सकता है.

गोपियां भगवान्का अन्वेषण करती करती दीन बन गई. भगवान्की स्वाभाविकी छः प्रकारकी लीलाएं हैं उनमें भी अनेक प्रकार हैं इसलिए मूलमें 'ताः ताः' 'वे वे' शब्द दे कर उनकी विविधता प्रकट की है इसी भांति अर्थ करना योग्य है. गोपियोंके हृदयमें भावात्मक भगवान् अकेले नहीं पधारे, किन्तु लीलासहित पधारे हैं. जब-जब भगवान् अवतार लेते हैं, तब-तब पूतनाके प्राण सहित पयःपान आदि लीलाएं करते हैं, वैसे ही पुरुषोत्तम मासमें और संवत्सर लीलाओंमें ये सब उत्सव किये जाते हैं यह प्रसिद्ध है.

भगवान्ने गोपीजनोंके मनमें प्रकट हो कर जो जो लीलाएं की हैं उनका साक्षात्कार दर्शन होना अशक्य है. इसलिए भावनासे ही आविर्भूत हुए हैं जिससे गोपियोंने लीलाओंका अनुकरण मात्र किया है अर्थात् जैसे लोकमें कोई कुछ कार्य करता है उसको देख कर अन्य वही कार्य उसी प्रकार करने लगे, तो कहा जाता है कि इसने उसका अनुकरण किया है, वैसे ही यहां गोपियोंने लीलाएं की हैं वे भी अनुकरण मात्र हैं, कारणकि भगवान् गोपियोंमें भावनासे ही प्रकट हुए ।।१४।।

जबकि, सब गोपीजनोंका भगवान्में समान प्रेम था, तो सब गोपियोंमें एक ही समय समान लीलाओंका प्रादुर्भाव न हो कर पृथक् क्यों हुआ? इस शंकाकी निवृत्ति आचार्यश्री निम्न तीन कारिकाओं द्वारा करते हैं:

भक्त्यातिमत्तास्तद्भावमीषन्मत्तांस्तु रोषतः ।
द्वेषभावं समाश्रित्य क्रीडन्त्यो जातमत्सराः ।।का.१।।
सत्वादिगुणभावेन नवलीलाः प्रपेदिरे ।
अतो न न्यूनभावोऽत्र ह्याविष्टाः शकटार्दिभिः ।।का.२।।
सर्वत्र हरिबुद्ध्या वा पादस्पर्शेच्छया पुनः ।

उलूखलादिभावोऽपि तत्सम्बन्धप्रसिद्धये ।।का.३।।

भगवान्में समान प्रेम होते हुए भी, भावके भेदसे, लीलामें भेदकी प्रतीति होती है, जो गोपी भक्तिसे अतिमत्त हो गई हैं, उसमें केवल भगवद्भाव(ज्ञान) ही रहता है, और जो गोपी भक्तिसे स्वल्पमत्त हुई हैं, उसमें भगवद्भावके साथ उनके सम्बन्धवाले पदार्थोंका भी भाव(ज्ञान) रहता है, अतः भगवान्, भगवल्लीला तथा भगवत्सम्बन्धी पदार्थ इन तीनोंमेंसे जिसका भाव हृदयमें उद्भूत होता है, उस समय वह गोपी तद्रूप बन जाती है, इसलिए भक्तिसे, जो अतिमत्त हो गई थीं, जिसको भगवान्के सिवाय अन्य किसीका ज्ञान न रहा था, उसको भगवद्भाव प्राप्त हुआ अर्थात् उसने अपनेको 'मैं कृष्ण हूं' यों समझा, और जिसको स्वल्पमत्तताके कारण, अन्यका भी ज्ञान रहा था, उसको पूतना आदि भाव जगा, जिससे उसने अपनेको पूतना समझा इसलिए क्रोध आदि धारण क्रीड़ा करने लगी. सत्त्व, रज और तम गुणके कारण, गोपियोंने नौ लीलाएं की हैं जिनका वर्णन १५ से २३ श्लोकोंमें पृथक्-पृथक् प्रकारसे किया गया है।।१।।

जिन गोपियोंको भगवद्भाव न होकर, पूतनाभाव हुआ, वे भगवद्भाव वालियोंसे न्यूनकक्षाकी गिनी जाएंगी वैसी शंका हो तो उसका समाधान यह है कि उनको न्यूनकक्षावाली नहीं समझना चाहिये कारणकि, भगवान् और भगवान्की लीलासे सम्बन्धित पदार्थ सब समान ही हैं, अतः पूतनादि भाववाली तथा शकटादि भाववाली गोपियां भगवद्भाववाली गोपियोंसे न्यून नहीं हैं सब समान हैं. केवल वर्णन करनेमें अन्तर देखनेमें आता है कारण कि, यहां एक लीलाका प्राकट्य होता है, वहां उस समय दूसरी लीलाके दर्शन नहीं होते हैं, जिससे प्रकट लीलाका ही वर्णन किया जाता है, अतः इन सब लीलाओंमें समान भाव ही है, कहीं भी किसीमें भी(लीलामें वा लीलाकर्तामें) भेद वा न्यूनता नहीं है।।२।।

यद्यपि सब गोपियां समान हैं तो भी जिनमें पुनः भगवान्के चरणस्पर्श करनेकी अत्यन्त आर्ति जागृत हुई है, जिससे उन्होंने, उलूखल, शकट आदि होनेका भाव उत्पन्न होते ही, वे उलूखलादि बन, भगवान्के चरणारविन्दका इस प्रकार स्पर्श करती हैं, वे भगवद्भाववालियोंसे उत्तम हैं:

कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम्।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहन् शकटायतीम्।।१५।।

जो गोपी कृष्ण बनीं, उसने पूतनारूप बनी गोपीका स्तनपान किया और

जो गोपी, बालक बनी, उसने रोते हुए शकटरूप गोपीको लात मारी जिससे वह उलट गई।।१५।।

भगवान्ने पूतनाका दूध पीते हुए प्राण चूंस लिये. भगवान्का यह चरित्र पहला है, कोई गोपी पूतना बनी दूसरी गोपी 'मैं कृष्ण हूं' यों कहने लगीं, तब जो गोपी पूतना बनी थीं उसने दूसरी गोपीको कृष्ण समझ कर गोदमें ले लिया, गोदमें लेते ही कृष्णरूप गोपी पूतना हुई गोपीका स्तनपान करने लगी, उस समय पूतना बनी गोपीको यह भावना नहीं हुई, कि मैं मरी, अतः मरी नहीं, और पूतनाके समान मरनेका अनुकरण भी नहीं कर सकी तथा कृष्ण बनी हुई गोपीने भी केवल स्तनपान करनेकी क्रिया मात्रकी, कारणकि उसमें कृष्णवत् कोई अलौकिक सामर्थ्य तो नहीं थीं, इसलिये यहां केवल स्तनपान कहा है, प्राणपान नहीं कहा है, यदि असुपान हो तो, मृत्यु हो जावे जिससे अमंगल होवे अतः अमंगलताकी निवृत्तिकेलिये केवल स्तनपान कहा गया है.

शकटभंगलीला–एक गोपी बालक बन शकट बनी हुई गोपीको लात मारने लगी जिससे वह ओंधी हो कर गिर गई।।१५।।

इस 'दैत्यायित्वा' श्लोकमें तृणावर्तकी लीला कहते हैं:

दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम् ।
रिङ्गयामास काप्यंघ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ।।१६।।

एक बालकृष्ण बन बैठी, दूसरी अपनेको दैत्य(तृणावर्त) बना कर उस(बालकृष्णवाली)को हर ले गई, कोई कटिमेखलाके किंकिणियोंकी ध्वनि करती दोनों पैरोंको घसीटती हुई घुटनोंसे रेंगने लगी।।१६।।

कोई कृष्णको बालक समझ अपनेको दैत्य जानकर, बालकृष्णरूप बनी हुई गोपीको हरण कर गई, कोई गोपी करधनीकी घूगरियोंकी ध्वनि करती हुई दोनों पैरोंको घसीटती हुई, घुटनोंसे रेंगने लगी, इस प्रकार एक गोपीने मुग्ध और भीत कृष्णकी रिंगणलीलाका अनुकरण किया.

पूर्वश्लोकमें दो लीलाएं कहीं, उनमें जो लीला करनेवाली चार गोपियां थीं वे तामस–तामसी थीं, इस श्लोकमें लीला करनेवाली जो तीन गोपियां हैं, वे राजस–तामसी हैं.

श्रीकृष्णकी लीलाओंमें जो विशेष भेद हुए हैं, उनको भी यहां जान लेना चाहिये, अथवा दोनों श्लोकोंमें लीला करनेवाली गोपियां सात हैं, उनमेंसे एक तो

गुणातीत हैं, जिसने एक रिंगणलीला की है, शेष छ रहीं, उनके तीन युगल(जोडे) हुए, एक युगल वह जिसने पूतना और कृष्ण बन कर लीला की, दूसरा युगल वह जिसने बालक और शकट बन कर लीला की और तीसरा युगल वह जिसने दैत्य (तृणावर्त) और बालक बन कर लीला की है.

फिर अन्य प्रकारसे एक भाववाली अनेक गोपियां भगवदिच्छासे प्रधान गुणको प्राप्त कर रजोगुणसे उत्पन्न विक्षेपके कारण अनेकरूप बन गई।।१६।।

तीनों युगलोंका विवेचन और प्रधानसे अनेकरूप बन गईं तकका स्पष्टीकरण योजनाकार पं.लालूभट्टजीने किया है, जिनमेंसे युगलोंका विवेचन अनुवादमें दिया है शेष प्रधान अनेकरूप बन गईका स्पष्टीकरण यहां दिया जाता है 'प्रधानगुणभावं' दो गोपियां श्रीकृष्ण तथा बलदेव भावको प्राप्त हुईं, शेष शृंगाररसके सम्बन्धवाले रजोगुणरूप भाव विशेषसे विक्षिप्त(व्याकुल) होनेसे अनेकरूप हो गईं, अर्थात् श्रीकृष्णरूप, बलदेवरूप, गोप बालकरूप भेदसे अनेक गोपरूप हो गईं।।१६।।

गोपियां वृन्दावनकी क्रीड़ाका अनुकरण करते समय, कोई वत्स बनीं और कितनीक गोप बनीं, जिसका वर्णन 'कृष्णरामायिते' निम्न श्लोकमें करते हैं:

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ।।१७।।

दो गोपियोंने तो राम और कृष्णकारूप धारण किया, कितनीक गोप बनीं, एक गोपीने वत्स बनी हुई गोपीको मारा तो दूसरीने बक बनी हुईको मारा।।१७।।

दो गोपियां राम और कृष्ण बनीं, श्लोकमें 'गोप' शब्द जातिवाचक है अतः कितनीक गोपजातिके बालक बन गई और कितनी वत्सरूप हो गई. 'च' का अर्थ समुच्चय है अर्थात् बहुत गोपियां बछड़ोंकारूप धारण कर इकट्ठी हो गई, इसमेंसे जिसने वत्सासुरकारूप धारण किया उसको एक गोपी कृष्ण बनी हुईने मारा और जो गोपी बक बनी थीं, उसको दूसरी गोपी जो बलराम बनी उसने मारा, दूसरे 'च'का आशय है, कि एक(कृष्ण बनी गोपी)ने ताड़के फल भी गिराये. लोकमें, यों भी प्रसिद्ध है, कि वत्सासुरको बलभद्रजीने मारा, इसलिये एकने वत्सासुरको दूसरीने बकासुरको मारा, इस प्रकार अर्थ कर लेना।।१७।।

इसके पश्चात् वृन्दावनमें जो गोपरूपसे लीलाएं कीं, उनका वर्णन

'आहूय' इस श्लोकमें करते हैं:

आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतीम् ।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ।।१८।।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण दूरसे गोऔंको बुलाते थे, वैसे ही जब एक गोपी भी, उनका अनुकरण करती हुई वेणु बजाती हुई गौओंको बुलाती थी, तब उसकी अन्य सखियां वाह-वाह कर उसकी प्रशंसा करती थीं।।१८।।

कितनी गोपियोंने गौरूप धारण किया, कितनीक गोपरूप बनीं. जैसे कृष्ण, दूर गई हुई गौओंको बुलाकर, वेणु बजाते हुए क्रीड़ा करते थे, वैसे ही कृष्णरूप बनीं हुई गोपी, दूर गई हुई गोपियोंको बुलाकर, वेणु बजाके नानाविध क्रीड़ा करने लगीं, जिसको देख कर गोपरूप बनी गोपियोंने वाह-वाह कर उसकी प्रशंसा की।।१८।।

जिस लीलाको भगवान्ने क्रीड़ा करते हुए किया था, उसका भाव जागृत होनेसे, एक गोपीने लीला की, यद्यपि भागवतमें कही हुई लीलाओंमें इस लीलाका वर्णन नहीं है, जिसका वर्णन निम्न 'कस्यांचित्' श्लोकमें करते हैं:

कस्याञ्चित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु ।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ।।१९।।

किसी एक(निर्गुण) गोपीके कन्धे पर गोपरूप दूसरी गोपीने अपनी भुजाको रखा और चलते-चलते अन्य गोपियोंसे कहने लगीं, कि 'मैं कृष्ण हूं' मेरी सुन्दर गतिको देखो. इस प्रकारका कहना तन्मयताके कारण था।।१९।।

इन तीन(१७-१९) श्लोकोंमें वर्णन की हुई वृन्दावनकी लीलामें भी, तीन युगल हैं, शेष चौथी यह एक है, कृष्ण और रामके बने हुए दो युगल तीसरा युगल वह है, जिसमें एक गोपी वेणु बजाती हुई क्रीड़ा करती है, अन्य उसकी प्रशंसा करती हैं, यह चौथी निर्गुण है, उसने किसी गोपरूप गोपीके कन्धे पर हाथ धर कर चलते-चलते दूसरीको कहा है कि 'मैं कृष्ण हूं' मेरी सुन्दर गतिको देखो, शुकदेवजी 'तन्मनाः'(कृष्णमें आसक्त चित्तवाली) कह कर बताते हैं, कि यह निर्दोष है, अतः 'मैं कृष्ण हूं' यों कहनेमें कोई दोष नहीं है, इस गोपीने प्रथम केवल शरीरकी चेष्टा की थी, अब वाणीके साथ कायाकी चेष्टा भी करती है ।।१९।।

श्रीमान् लालूभट्टजी इन तीन युगलोंको स्पष्ट कह कर समझाते हैं:

१.एक युगल–एक गोपी 'कृष्ण' और एक गोपी 'बक' बनी.
२.दूसरा युगल–एक गोपी बलरामरूप और एक गोपी वत्सासुररूप बनी.
३.तीसरा युगल–एक गोपी कृष्णरूप बनी और एक गोपी वाह–वाह करने लगी.
४.निर्गुण–एक, जिसने किसी गोपरूपके कन्धे पर भुजा धरी वह कृष्णरूपा एक गोपी 'निर्गुण' थीं.

शुकदेवजी प्रकारान्तर(दूसरे तरीकेसे) चार प्रकारकी गोपियोंका निम्न श्लोकमें वर्णन करते हैं:

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन नयन्त्युन्निदधेऽम्बरम्।।२०।।

पवन और वर्षासे मत डरो, उनसे तुम्हारी रक्षा मैंने की है, यों कह कर प्रयत्नपूर्वक अपने एक हस्त वस्त्रको ऊंचा उठाया।।२०।।

इस श्लोकमें कही हुई लीलामें वस्त्रको पर्वतके समान ऊंचा करनेवाली गोपी निर्गुणा है.

कितनी गोपियां गौ बनीं, और कितनी गोपरूप बनीं तथा कुछ गोपीरूपमें ही रहीं, इस प्रकारकी तीनोंने वायु और वर्षासे डरनेका स्वांग किया तब कृष्णरूप बनी गोपीने उनको कहा कि पवन, वर्षासे डरो मत मैंने तुम्हारा रक्षण कर लिया है, यों कह कर प्रयत्नपूर्वक एक ही हाथसे गोवर्धनके समान वस्त्रको ऊपर ऊंचा धारण कर गोवर्धनधारणलीलाका अनुकरण करने लगीं।।२०।।

सात्विकी गोपीने जो चेष्टा की, जिसका वर्णन 'आरुह्यै कां' श्लोकमें करते हैं:

आरुह्यैकां पदाक्रम्य शिरस्याहापरां नृप।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक्।।२१।।

एक गोपी दूसरीके सिर पर चढ पैरसे दबा कर कहने लगी कि हे दुष्ट सर्प! चला जा समझ ले कि दुष्टोंको दण्ड देनेवाला मैं प्रकट हो गया हूं।।२१।।

एक गोपी दूसरी पर चढ, पैरसे उसके शिर पर प्रहार करने लगी और कहने लगी, कि हे दुष्ट सर्प! यहांसे चला जा, कारणकि दुष्टोंको दण्ड देनेवाला मैं प्रकट हो गया हूं. श्लोकमें जो 'ननु' शब्द है वह यहां शंका धर्ममें नहीं है किन्तु सम्बोधनमें है जिसका आशय है कि मैं तुझे मारूंगा नहीं केवल यहांसे निकालूंगा. यहां परीक्षितको हे नृप! इस प्रकार सम्बोधन करनेका आशय यह है, कि

शुकदेवजीके वचनोंमें परीक्षितकी श्रद्धा है, अतः शुकदेवजी कहते हैं.

यह लीला कठिन जैसी लगती है अतः कदाचित्(शायद) किसी वृक्षकी डालीको पकड़के दूसरीके मस्तक पर पैर धरा हो अथवा जिस प्रकार भगवान्ने की थी वैसे ही की हो. (श्रीप्रभुचरण यहां आज्ञा करते हैं यथार्थ तो यह है कि यह लीला वैसे ही की गई है जिस प्रकार प्रभुने की थी, वृक्षके आश्रयकी कोई आवश्यकता नहीं थी.)

'तत्रैकोवाच' श्लोकमें दावाग्नि लीलाके अनुकरणको कहते हैं:

तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम्।
चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा।।२२।।

वहां एक गोपी कहने लगी, कि हे गोप! भयं कर दावाग्निको देखो जल्दी आंखोंको बन्द कर दो, मैं तुम्हारी रक्षा शीघ्रतासे करूंगा।।२२।।

वहां एक राजसी गोपी बनी, कितनीक गोपी गोरूप बनीं, गोपरूपवाली गोपियोंको कृष्णरूप बनी हुई गोपी कहने लगी, कि हे गोपों इस भयं कर दावाग्निको देखो, यह दावाग्नि किनको देखनेमें आई, जिसका स्पष्टीकरण यह है कि जिन गोपियोंके अन्तःकरणमें उत्कट विरहभाव था, उनको यह दावाग्नि देखनेमें आई थीं, और जिनमें पूर्ण लीलाभावना जागृत थी उनको भी देखनेमें आई थी, अन्योंको नहीं आई.

भगवान्की सकल लीलाएं जो भगवद्रूपा हैं वहां प्रवेश करते हैं, अर्थात् उनको देखनेमें आती है, जहां पूर्ण भावना होती है जैसे दावाग्निका भी उस(पूर्णभाववाली)को दर्शन हुआ है.

जिन अन्योंको, उस गोपीमें भगवद्भाव नहीं था, उन्होंने अपनी रक्षाकेलिये प्रार्थना नहीं की है, इस प्रकार २०वें श्लोकमें वायु और वर्षासे भी उन्होंने प्रार्थना नहीं की थी.

सारांश यह है कि जो भगवद्भावसे अतिमत्त हैं उनमें ही लीलाका आवेश होता है जिससे उनको ही दर्शन होते हैं।।२२।।

तामसी की हुई लीलाका वर्णन इस 'बद्धाऽन्यया' श्लोकसे करते हैं:

बद्धाऽन्यया स्रजा काचित् तन्वी तत्र ह्युलूखले।
भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम्।।२३।।

वहां एक तन्वो(पतली) गोपीको दूसरी गोपीने पुष्पमालासे ऊखलमें

बांध दिया तब वह डर कर अपने मुखको बन्द करने लगी जिससे उसने भयका पूर्ण अनुकरण कर दिखाया।।२३।।

इस लीलाको करनेवाली तीन गोपियां थीं, एक वह गोपी जो कृष्णरूप बनी, दूसरी वह जिसने ऊखलका रूप धारण किया और तीसरी यशोदाका रूप बनीं, इस प्रकार बननेके अनन्तर एक गोपी(यशोदारूप गोपी)ने दूसरी गोपी(कृष्णरूप बनी हुई गोपी)को ऊखलरूप गोपीके साथ पुष्पमालासे बान्ध दिया, तब बन्धी हुई कृष्णरूप गोपीने भयभीत होनेका स्वांग रचा. उनकी दृष्टि सुन्दर थी इसलिये अपने मुखको आच्छादित कर दिया और भयभीत होनेका अनुकरण कर दिखाया.

ये जो लीलाएं गोपियोंने की हैं, उनका प्रेरक गुण है, अतः अधिकार अनुसार, वे-वे लीलाएं होती हैं, लीलाएं तब तक होती ही रहती हैं जब तक भगवान् वशमें नहीं होते हैं, कारणकि भगवान् लीलाओं द्वारा ही वशमें होते हैं, भगवान्के वशमें हो जानेके अनन्तर, लीला करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है, अतः यह लीला अन्तमें हुई है कारणकि इस लीलामें भक्ताधीन भगवान्ने भक्त द्वारा अपनेको बन्धनमें डलवा कर अपनी भक्तवश्यता सिद्ध कर दिखाई है. भीतिसे, भगवद्भावका प्राकट्य दिखाकर सब लीलाएं उसमें तिरोहित कर ली, जिससे लीलाओंका जो आवेश हुआ वह बन्द हो गया.

अनन्तर पहलेकी भांति, गोपियोंको प्रश्न करना ही रहा क्योंकि वह क्रिया ज्ञानपूर्वक होती थी, मध्यमें जो वे लीलाएं हुईं वे आवेशसे हुई थीं, अतः इनमें बाहरका ज्ञान नहीं था, इसलिये वृक्षोंसे पूछनेकी क्रियारूप शोधन(ढूंढनेकी) लीलाका तिरोधान नहीं हुआ है. जिससे यहां ही स्थित थीं और पुनः पूछने लगीं।।२३।।

'इत्युन्मत्तवचः' श्लोकेमें वचनोंका ही उपसंहार किया प्रश्नका नहीं अतः मध्यमें लीलाका वर्णन करके गोपियां आवेशवाली लीलाओंके तिरोधान हो जानेसे, पुनः निम्न 'एवं कृष्णं' श्लोकमें बेल और वृक्षोंसे पूछने लगीं.

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून्।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ।।२४।।

इस प्रकार वृन्दावनकी लता और वृक्षोंसे, कृष्ण सम्बन्धी प्रश्न पूछती-पूछती आगे गईं, तो गोपियोंने वनमें परमात्माके चरणोंको देखा ।।२४।।

मूलश्लोकमें जो 'व्यचक्षत' पद दिया है, उसका आशय यह है कि गोपियोंने वृन्दावनके पेड़ और लताओंसे कृष्णके सम्बन्धमें जो प्रश्न किये उनका उन्होंने जब कुछ भी उत्तर नहीं दिया तब भक्तवत्सल भगवान् स्वयं गोपियोंमें आविष्ठ हो कर उनका मोह दूर कर उनको सबका ज्ञान कराने लगे, विरह ताप मिटानेकेलिये तीन उपाय हैं:

१.भगवान्को ढूंढना, २.लीलाका आवेश और, ३.भगवदावेश, इन तीनोंमें प्रश्न करना(पूछना) अन्तरंग उपाय है, इसलिये उसका सर्वत्र अनुवाद किया जाता है. वृन्दावनकी लताओं और वृक्षोंसे पूछती–पूछती आगे गईं, तो वनकी भूमि पर भगवान्के चरण देखे.

मूलमें दिये हुए 'परमात्मन' पदसे यह भाव प्रकट होता है, कि भगवान्के पदारविन्द परम पुरुषार्थरूप हैं,

जब जीवमें, भगवान्का आवेश(प्रवेश) होता है, तब वह सर्वज्ञ हो जाता है. जब जो जीव आवेशसे सर्वज्ञ होते हैं, तब वे भगवान्के चरणोंका दर्शन कर सकते हैं अन्यथा नहीं. इस विषयमें श्रुतिका प्रमाण देते हैं 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' श्रुतिका भावार्थ ज्ञानी और भक्त, विष्णुके परमपदका सदा दर्शन करते हैं।।२४।।

वे गोपियां भी पहलेकी भांति, सगुण निर्गुण भेदसे दश प्रकारकी हैं, उनके वचन भी उतने ही प्रकारके हैं. चरण तो सब देख सकते हैं, किन्तु ये यथार्थ भगवान्के हैं वा नहीं, यहां सिद्ध करना है, अतः प्रथम 'पदानि व्यक्तं' इस श्लोकमें उसकी सिद्धि करते हैं:

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजांभोजचक्रांकुशयवादिभिः।।२५।।

ये चरण तो स्पष्ट(सत्य) महात्मा नन्दजीके पुत्र(श्रीकृष्ण)के ही हैं, कारणकि इनमें ध्वज, कमल, वज्र, अंकुश और यव आदि सब चिह्न देखनेमें आते हैं।।२५।।

ये चरण नन्दजीके पुत्रके ही हैं, इसमें किसी प्रकार संशय नहीं है, क्योंकि स्पष्ट, उनके चरण देखनेमें आते हैं अतः हमारा यों मानना सत्य है, इन चरणोंमें वे चिह्न देखे जाते हैं, जिनसे विशेष निश्चयपूर्वक हम कहती हैं वा समझती हैं, वैसे चिह्न साधारणोंके पैरोंमें नहीं होते हैं केवल महानोंकी भी आत्मा वा ब्रह्मरूप हैं

उनके ही चरणोंमें होते हैं.

वे, वैसे चिह्न क्यों धारण करते हैं? उसके उत्तरमें कहते हैं, कि वे जो-जो कार्य उनको करते हैं उन-उन कार्योंका इन चिह्नों द्वारा संकेत करते हैं जैसेकि, ध्वजसे भक्तोंको संकेत करते हैं कि हे भक्तगण! तुम निर्भय रहो, कमलके चिह्नसे कहते हैं कि जैसे कमल ताप निवारक एवं सुख तथा आनन्ददाई है, वैसे ही मेरी सेवा करनेसे सुखकी ही प्राप्ति होती है, तथा ताप निवृत्त हो जाते हैं, चक्र चिह्नसे यह सूचित करते हैं कि यह मैंने भक्तोंकी रक्षाकेलिये धारण किया है, भक्तोंके मन मातंग(हाथी)का निरोध करनेकेलिये अंकुशका चिह्न रखा है, यवका चिह्न भक्तके यश विस्तारकेलिये है, 'आदि' शब्दसे वज्र आदि चिह्न समझने चाहिये, वज्रका चिह्न भक्तोंके पापरूप पर्वतोंको तोड़नेकेलिये है इसी प्रकार अन्य भी हैं. इन चिह्नोंको प्रकट इसीलिये किया है कि उपरोक्त कार्य अब भी(इस लीलामें अवतारमें) भगवान्को करने हैं, इन असाधारण चिह्नोंसे ही भगवान्के ये चरण हैं, यह निश्चित सत्य अनुमान हमारे विचारोंको पुष्ट करते हैं, लोकमें भी इन धर्मोंकी प्रसिद्धि है कि भगवान्के चरणोंमें ये चिह्न इसलिये हैं।।२५।।

इस असाधारण धर्मोंसे ये चरण भगवान्के ही हैं यह निश्चय होनेसे समझ गईं, कि भगवान् इस मार्गसे ही पधारे हैं जिसका वर्णन 'तैस्तैः पदैः' निम्न श्लोकसे करती हैं:

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन्।।२६।।

उन-उन चरणोंके पीछे चलती आगे भगवान्के मार्गको ढूंढ़ती हुई गोपियोंने एक वधु(स्त्री)के चरणोंके साथ भगवान्के चरण देखे, जिससे दुःखी हो बोलने लगीं।।२६।।

ज्ञान हो जानेके अनन्तर क्रियाका प्रारम्भ होता है, अर्थात् जिस वस्तुकी चाहना होती है उस वस्तुका जब पता लग जाता है, कि यह वस्तु यहां है, तब उसको पानेकेलिये प्रयत्न प्रारम्भ किया जाता है, अतः गोपियोंको, अब यह ज्ञान हुआ, कि भगवान् इस मार्गसे पधारे हैं हम भी इस पथसे जायेंगे तो भगवान् मिलेंगे, यह निश्चय कर गोपियोंने, उस रास्तेसे, भगवान्से मिलनेकेलिये जानेकी क्रिया प्रारम्भ की, अर्थात् भगवान्से मिलनेकेलिये आगे चलने लगीं, किन्तु

मध्यमें उस(जाने)में प्रतिबन्ध पड़ा, कारणकि गोपियोंमें अभी तक मत्सरदोष विद्यमान था उस दोषके कारण ही यह रुकावट आई, भगवान्से मिल न सकीं, यदि यह दोष न होता, तो उसी समय भगवान्के पास पहुंच जातीं, श्रीशुकदेवजी उस प्रतिबन्धका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जब वे ढूंढनेकी क्रिया प्रारम्भ कर आगे चलीं तो उन्होंने भगवान्के चरण एक वधु(स्त्री)के पैरोंके साथ मिल कर जाते हुए देखे, उनको देखते ही, उनमें मत्सर दोष जागृत हुआ जिससे वे दुःखी हुईं और उनके ज्ञान और क्रिया दोनोंका साथ छोड़ कर वाणीका सहारा लेते हुए परस्पर बातें करने लग गईं, नहीं तो शीघ्र जाकर भगवान्से मिल जातीं।।२६।।

'कस्या पदानि' इस निम्न श्लोकमें गोपियोंने जो मत्सरके कारण वचन कहे श्रीशुकदेवजी उनका वर्णन करते हैं:

श्रीगोप्यः ऊचुः

कस्याः पदानि चैतानि यातायानन्दसूनुना।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा।।२७।।

नन्दजीके पुत्रके साथ जानेवाली, यह स्त्री कौन है? जिसके ये पैर हैं, जिस प्रकार हस्ति हथिनी पर अपना हाथ(सूंड) रखता है वैसे ही भगवान्ने इसके कन्धेपर अपना प्रकोष्ठ(कोहनीसे नीचेका भाग) धरा है।।२७।।

यहां(वृन्दावनमें) भगवान्के सिवाय अन्य पुरुष होनेकी सम्भावना नहीं है तथा अन्य ग्रामकी स्त्रियां भी यहां हो, वैसी भी सम्भावना नहीं है, इस प्रकार प्रश्न पूर्वक पूछनेका तात्पर्य यह है कि निश्चय हो जावे कि यह स्त्री कौन है? अनुमानसे हम तो समझती हैं कि हममेंसे ही कोई होनी चाहिये, कारणकि ये पैरोंके जो चिह्न दीखते हैं, वे हमारी सखियोंमेंसे ही किसी स्त्रीके हैं, और ये चिह्न बताते हैं कि यहां भगवान् तथा उस स्त्रीके आपसमें चेष्टा(क्रीडा) भी हुई है, इस आशयको बतानेकेलिये श्लोकमें 'च' है.

वहीं नन्दजीके सुतको साथ ले कर गई होगीं, नहीं तो भगवान् हमको त्याग कर नहीं जाते, बहुतकर, वह ही समझा-बुझा कर उनको ले गई हैं, इससे निश्चय, वह हमसे विशेष भाग्यवती हैं. विशेष भाग्यकी पुष्टिमें कारण बताती हैं, कि भगवान्ने उसके कन्धे पर अपने प्रकोष्ठको धरा है, जिससे श्रीहस्तका किसी अंगसे सम्बन्ध होना भी बताया है, इसलिये ही दोनोंके पाद भी परस्पर(आपसमें) मिले हुए हैं, किञ्च(कुछ ओर) मध्यमें उन(भगवान् और सखी)में रसका भी

आविर्भाव(प्राकट्य) हुआ है, जिसको हाथीके दृष्टान्तसे समझाते हैं, हस्ति जब हस्तिनीके कन्धे पर अपना हाथ(सूंड) धरता है तब दोनोंके पैर मिल जाते हैं, दोनों परस्पर सामने आ जाते हैं. हाथीके गलेको हथिनी रगड़ती है, इस प्रकार स्पर्शसे परस्पर रस उत्पन्न होता है, स्पर्श सुख हस्ती ही लेना जानता है, इसलिये हस्तीका दृष्टान्त दे कर गोपियोंने दिखाया है कि इस सखीने भी इस समय भगवान्के स्पर्श होनेसे परस्पर सुख लिया है, अतः यह हमसे विशेष भाग्यवाली है, इस प्रकार तीन प्रकारकी सात्विक प्रधान गोपियोंका वर्णन कहा।।२७।।

अब दो श्लोकोंमें गुणातीताके दोषोंके अभावको समझानेवाले और गुणोंको बतानेवाले दो वाक्य कहते हैं, तामस तामसीमें भगवान्का आवेश नहीं होता है (इसलिए उनका कोई वचन नहीं है) यह 'अनयाराधितः' श्लोकसे कहते हैं:

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो तामनयद्रहः ।।२८।।

भगवान्, हरि ईश्वरका आराधन निश्चयसे इसने ही किया है यों जाना जाता है, जिससे हमको छोड़ कर उसको एकान्तमें ले गए हैं।।२८।।

गोपियां प्रथम यह सिद्ध करती हैं, कि उसके साथ जो एकान्तमें विशेष रमण किया है, उसका कारण उसका भाग्य तथा उसके पुण्य हैं, जैसा कि उसने भगवान्की आराधना निश्चित सच्ची की है, यद्यपि हमने भी सेवा की है, किन्तु वैसी साक्षात् नहीं की है.

भगवान् फलरूप हैं, किन्तु जो भक्त भगवान्की साक्षात् आराधना (सेवा) नहीं करते हैं, दूसरेकी आराधना द्वारा उस फलको चाहते हैं, उनको भी भगवान्से सम्बन्ध तो होता है, अर्थात् भगवान् मिल तो जाते हैं, बल्कि जैसे साक्षात् सेवा करनेवालोंको प्राप्त हो कर वश होते हैं, उस प्रकार वश नहीं होते हैं.

उस(साक्षात् आराधन करनेपर भी फल)में तारतम्य(भेद) है, जब कर्म (सेवा) समान हैं फिर फलमें भेद क्यों? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वह 'भगवान्' हैं, सामग्रीके भेदसे सर्वत्र कर्म(सेवाएं) विलक्षण(पृथक्-पृथक् भावसे) होते हैं जिससे फलमें तारतम्य होता है, इसको(तारतम्य-भेद वा विलक्षणताको) भगवान् ही जानते हैं अतः वे(भगवान्) ही कर्म अनुसार फल देते हैं, जब यों है, तो उन(भगवान्)को इसका ज्ञान हमको नहीं कराना था, जिससे हम दुःखी हुई हैं,

इसका समाधान करनेकेलिये कहा है, कि वे 'हरि' दुःखोंके हरनेवाले हैं अतः आपको जो (मत्सर दोषके कारण) दुःख हुआ है उसको वे मिटा देंगे, यह ज्ञान इसलिये कराया है, कि भक्तिमें वैलक्षण्य है अतः जो भक्त, जिस प्रकारके कर्मसे भक्ति करता है, उस भक्तको उसी प्रकारका फल मिलता है. तुम लोगोंकी भक्ति और जो मेरे साथ गोपी हैं उसकी आराधनामें, कर्मसे भेद है, जिससे वह मेरे साथ रह(एकान्तमें) रस प्राप्त्यर्थ आई है, तुम रह गई हो.

जब भक्ति तुल्य(समान) है तो भक्तिके अनुसार फल भी समान क्यों नहीं दिया? इसके उत्तरमें कहते हैं कि (वे) ईश्वर हैं, ईश्वर स्वतन्त्र होते हैं, अतः वे अपनी इच्छानुसार कभी भक्तिसे, कभी कर्म और कभी तो दोनोंका विचार न कर स्वेच्छासे जो चाहे वह फल दे देते हैं सारांश यह है, कि गोपियां कहती हैं, कि हमारा अंगीकार भक्तिमार्गमें किया है, न कि कर्ममार्गमें, इसलिये हमको छोड़ कर साधारण(सबका) इन्द्र होते हुए भी प्रेमयुक्त हो कर उसको ही ले गये.

कामरस बहुत स्त्रियोंकी अपेक्षा एक स्त्रीमें विशेष उत्पन्न होता है, यों करनेका(ले जानेका) मुख्य कारण प्रेम है, और प्रेममें भक्तिका कर्म कारण है।।२८।।

इस प्रकार गोपियोंने भगवान्के साथ गई हुई गोपीके भाग्यकी बखान की, हृदयमें मत्सर छिपा हुआ हो तो भी कभी-कभी अभिनन्दन करना पड़ता है अतः मात्सर्यसे हमने यों कहा है इस शंकाको मिटानेकेलिए अपने भाग्यका भी अभिनन्दन करती हैं:

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्रब्जरेणवः ।
यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ।।२९।।

हे सखियों! ये भगवान्के चरणकमलके रजकण धन्य हैं, जिनको ब्रह्मा शिव और लक्ष्मी देवी अपने पाप मिटानेकेलिए शिर पर धारण करती हैं।।२९।।

श्लोकमें 'अहो' शब्द आश्चर्यकी सूचना करनेकेलिये दिया गया है. हे सखियों! ये भगवान्के चरणकमलकी रेणु धन्य(भाग्यवाली) हैं. रेणुका अभिनन्दन कर अपने मात्सर्य दोषके अभावको प्रकट किया है, कि जेसे रेणु भगवान्के चरणके संसर्गसे धन्य हुए हैं, वैसे ही वह गोपी भी भगवान्के संसर्गसे धन्य हुई हैं, यह(निर्गुण) गोपी अन्य गोपियोंको 'आल्य' हे सखियों! इस प्रकार संबोधन दे कर कहती हैं कि मैं जो कुछ कह रही हूं वह सत्य कहती हूं आपको

धोखा देनेकेलिये नहीं कह रही हूं, क्योंकि तुम मेरी सखियां हो और सखियोंको कोई धोखा नहीं देता है इसलिये मेरे वचनों पर आपको विश्वास करना चाहिये. इसलिये हम लोगोंको भी ये रेणु दोष निवृत्तिकेलिये मस्तक पर धारण करने चाहिये, ये रेणु आगे भी यहां स्थित थे, तब इनका यह उत्कर्ष इतना नहीं था, कारणकि तब भगवान्के चरणका इनको स्पर्श नहीं हुआ था, अब भगवत् चरणकमलोंके स्पर्शसे इनका उत्कर्ष हो गया है, अर्थात् ये रेणु धनवान् हो गये हैं, वह धन श्रीकृष्ण हैं जो हमारे हैं, जैसे इन्द्र देवोंका है, वैसे ही कृष्ण हमारे हैं, धनसे तो केवल सर्व वस्तु प्राप्त हो सकती है किन्तु इस कृष्णरूप धनसे तो लौकिक ही नहीं किन्तु पारलौकिक अलौकिक गुप्त सर्व पदार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं. इसको समझाने(सिद्ध करने)केलिये कहती हैं, कि जिन रेणूको ब्रह्मा, शिव और लक्ष्मी, देवतारूप पालिका शक्ति भी अपने अधिकारसे उत्पन्न दोषोंके निवारणकेलिये मस्तक पर धारण करते हैं, यहां जो 'लक्ष्मी' शब्द है वह ब्रह्मानन्दरूप लक्ष्मी नहीं है, इसका ज्ञान करानेकेलिये लक्ष्मीका विशेषण देवता दिया है. अतः हम भी इस रेणुको मस्तकपर धारण करें, तो निर्दोष हो कर उस गोपीके समान हो जावें।।२९।।

रजोगुणवाली गोपियां अपने विचार इस निम्न 'तस्या अमूनि' श्लोकमें कहती हैं:

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
एकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम्।।३०।।

उसके(जो भगवान्को साथ ले गई हैं) ये पैर हमको बहुत दुःख देते हैं, कारणकि वह अकेली, जो भगवान् सब गोपियोंके हैं उन(भगवान्)को उड़ा ले गई हैं और ले जाकर एकान्तमें अच्युतका अधरामृत जो सबका है, उसका भी अकेली पान कर रही हैं।।३०।।

भगवान्के चरणरजकी महिमा तो वैसी ही है, किन्तु उस गोपीके चरण भगवान्के साथ देख कर हमको बहुत क्षोभ(घबराहट-दुःख) होता है, वह दुःख भी स्वल्प नहीं, किन्तु अत्यन्त हो रहा है,

गोपी भगवान्के साथ गई, जिससे दुःख करनेका कोई कारण नहीं है, क्योंकि भगवान्के साथ एक सहायक अवश्य होना चाहिये, अतः तुमको तो भक्तिमार्गके अनुसार प्रसन्न होना चाहिये क्षोभ क्यों करती हो? इसके उत्तरमें

कहती हैं, कि वह भगवान्के साथ गई हैं, इसलिये हमको घबराहट वा दुःख नहीं है, किञ्च सब गोपियोंका जो धन है, जिसमें सबका समान भाग है(हिस्सा), उस अधरामृत धनके रसको हमारी सम्मति लिये बिना अकेली एकान्तमें स्वयं पान कर रही है, उससे हमको अत्यन्त क्षोभ है.

भगवान् तो बहुत स्त्रियोंसे भोग करनेके कारण अब भोगसे उदासीन हुए होंगे, वह इससे भोग कैसे करेंगे? इस शंकाको मिटानेकेलिये, भगवान्का नाम 'अच्युत' दिया है जिसका तात्पर्य यह है, कि वह कितनी भी स्त्रियोंसे भोग करें तो भी वे विरत नहीं होते हैं. अतः यह शंका करनी व्यर्थ है, क्योंकि उदासीनता अपूर्णमें होती है भगवान् अच्युत होनेसे, विरत नहीं होते हैं. क्योंकि भगवान् पूर्णकाम हैं. अतः वे गोपीको रसदान करते हैं, जिससे हमको बहुत क्षोभ हो रहा है।।३०।।

फिर अन्य गोपियां उससे भी विशेष खेद प्रकट करने लगीं जिसका वर्णन 'न लक्ष्यन्ते' श्लोकमें करते हैं:

न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः ।
खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ।।३१।।

यहां तो उसके चरण देखनेमें नहीं आते हैं उसका कारण यह होगा कि तृणके अंकुरोंसे उसके चरणकमल पीड़ित हुए हैं जिससे प्यारे भगवान्ने उसको उठा लिया है क्योंकि उनकी प्रेयसी(अत्यन्त प्यारी) है।।३१।।

ये गोपियां अन्य गोपियोंको कहती हैं, कि अरे वह गोपी अधरामृतका पान करती है, जिसका खेद क्यों करती हो? यह तो साधारण है किन्तु खेद तो विशेषका करना चाहिये, देखो तो सही, इतने तक तो पैर देखनेमें आते थे, अब तो वे भी देखनेमें नहीं आते हैं, अनुमानसे जाना जाता है, कि इस गोपीके चरणोंमें तृणके अंकुरोंके चुभनेसे पीड़ा हुई होगी, जिससे भगवान्ने उसको कटि वा कन्धे पर उठा लिया होगा, वैसा हो, तो भी महान् खेद न होवे, किन्तु भगवान्ने उसको हाथोंसे ऊपर उठा लिया है जिससे हमको महान् खेद होता है.

भगवान्ने उसको हाथोंसे कैसे ऊपर उठाया होगा? इस पर कहती हैं, कि निश्चय है कि हाथोंसे ऊपर ले लिया है, कारणकि वह प्रेयसी है और आप प्यारे हैं इससे जाना जाता है, कि उसको कन्धे पर नहीं किन्तु हाथोंसे उठाया है।।३१।।

भगवान्ने हाथोंसे ऊपर(हाथों पर) ले लिया है जिससे इस प्रकार बहुत

दूर तक ले जाना नहीं बन सकता, अतः मध्यमें विश्राम किया है और उस समय प्रेयसीकेलिए पुष्पोंका भी चयन किया है जिसका वर्णन 'अत्र' इस निम्न श्लोकमें करती हैं:

अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे।।३२।।

यहां प्यारेने प्यारीकेलिए फूल चुने हैं देखों, एड़ीको उंचे करनेसे, भगवान्के पैर पृथ्वी पर आधे ही देखनेमें आते हैं।।३२।।

भगवान्ने वृक्षोंसे पुष्पोंको उतारा, अर्थात् पुष्पोंको चुना, यह कार्य (फूलोंका चुनना) भगवान्ने प्यारीकेलिये किया है, क्योंकि भगवान्ने विचारा, कि प्यारी एक तो छोटे कद की है और थकी हुई है, अतः वह इतना परिश्रम नहीं कर सकेगी, इसलिये, मैं ही उतार लेता हूं, जिससे भगवान्को पैरोंके अग्र भाग पर खड़ा रहना पड़ा है, इसी कारणसे पृथ्वी पर पैरोंके एड़ीका भाग देखनेमें नहीं आता है. जिसका प्रमाण यह है, कि पृथ्वी पर भगवान्के समग्र पैर नहीं हैं, तुम देख कर निर्णय कर लो. देखनेसे संशय होगा तो मिट जायेगा।।३२।।

दूसरी इससे भी विशेष 'केशप्रसाधनं' श्लोकमें कहती है:

केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम्।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम्।।३३।।

यहां कामी(भगवान्)ने कामिनीकी चोटी गूंथी है, उस(चोटी)में फूल गूंथनेकेलिए भगवान्को यहां अवश्य कान्ताके पास बैठना पड़ा है।।३३।।

भगवान्ने यहां प्रथम प्रत्येक केशको नखोंसे पृथक्-पृथक् कर अनन्तर उनको वेणी(चोटी)के आकारमें वा आपीड़(चोटीको गोल करने)के आकारमें गूंथा है वा सजाया है, यदि कोई कहे कि चोटी गूंथनेकेलिये वा उसमें पुष्प लगानेकेलिये नहीं बिराजे हैं, किन्तु ज्ञान देनेकेलिये बिराजे हैं, इस शंकाके मिटानेकेलिये मूलश्लोकमें 'तु' शब्द दिया है, जिसका आशय है, कि ज्ञानके वास्ते नहीं किन्तु चोटीमें फूल गूंथनेकेलिये बैठे हैं, यहां इस समय ज्ञानका उपदेश बन नहीं सकता है, क्योंकि एकान्तमें कामी और कामिनी मिलें, वहां ज्ञानकी वार्ता असम्भव है. इस समय काम सम्बन्धी विषय होते हैं, अतः यहां कामीने कामिनीका केश प्रसाधन(चोटी कर उसमें फूल गूंथनेका कार्य) किया है, यह कार्य खड़े रह कर भी किया जा सकता है बैठनेकी आवश्यकता नहीं है, वहां

कहती हैं, कि केवल चोटी गूंथनेका कार्य तो खड़े हो कर किया जा सकता है, किन्तु उसमें फूल लगानेका कार्य बैठे बिना नहीं हो सकता है, कारणकि उस कार्यकेलिये फूल अपने पास गोदमें रखने पड़ते हैं, उनमेंसे एक-एक फूल ले कर उसमें लगाया जाता है, यह इतना कार्य खड़ा रह कर नहीं हो सकता है, अतः उन पुष्पोंको लगाते समय आप कान्ताको पास ले कर विराजे हैं, यह निश्चय सत्य है, आकृतिसे पहचान हो जाती है।।३३।।

इस प्रकार रस सिद्धिकेलिए उस गोपीको साथ ले जाना रमणकी सर्व सामग्रीको सिद्ध करना तथा चोटी गूंथ उसमें पुष्प सजाना आदिसे प्रेयसीको सुशोभित करना आदि कार्य भगवान्ने जो किए उनका वर्णन ऊपरके श्लोकमें कर, अब जिस कार्यकेलिए इतने कार्य किए उसका वर्णन 'रेमे तया' इस निम्न श्लोकमें करती हैं:

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ।।३४।।

भगवान् आत्माराम होनेसे, आत्मामें ही अनुरक्त हैं, स्त्रियोंके विलास उनको खण्डित(च्युत) नहीं कर सकते हैं, तो भी कामी पुरुषोंकी दीनता और स्त्रियोंकी दुष्टता दिखानेकेलिए उस गोपीसे रमण करने लगे।।३४।।

तब भगवान् आत्मामें ही रमण करनेवाले होते हुए भी उस गोपीसे रमण करने लगे, मूलश्लोकमें 'च' कहनेके ये भाव हैं, उस समय १.लक्ष्मीसे भी रमण किया अथवा २.अन्तर्गृहगता जिनका भगवान्के साथ सायुज्य हुआ था, वे भगवान्के हृदयमें स्थित हैं, उनसे भी रमण किया, अथवा गोपीने भी रमण किया. जिनकी भगवान्में रति थी उनकी उस रतिकी पूर्तिकेलिये स्वयं निष्काम रह कर उनसे रमण किया है अर्थात्, इस रमण दशामें भी आप आत्मरत अर्थात् अपनी आत्मा(स्वरूप)में अनुरक्त हैं, केवल उसकी उस रतिको आधार बना कर उसमें आत्माको[ं] स्थापित किया है, जिस भगवान्की अपनेमें ही मुख्य रति है और अपनेमें ही रमण है, अतः इन्द्रियोंसे अन्तःकरणोंसे अथवा विषयोंसे आप अखण्डित रहते हैं, यदि भगवान्का आनन्द अपनी आत्माके सिवाय अन्यत्र चला जाये तो उसमें(दूसरेमें जहां आनन्द गया हो उसमें) रत(आसक्त) हो जाना चाहिये, वह तो हुआ नहीं है अतः आप रमण करते हुए भी अखण्डित, आत्माराम तथा आत्मरत हैं.

१.टिप्पणीजीका आशय है रतिवाली गोपी शृंगारका आधार होनेसे उसमें अपनी आत्मा (शृंगार स्थायीभाव)को स्थापित किया. अन्यथा इस भगवद् रसका अनुभव नहीं हो सकता है.

यदि यों है, तो इतना परिश्रमकर, वैसे असमीचीन स्थानमें रमण क्यों किया? जिसका कारण बताते हैं, कि भगवान्को यह कामलीला कर लोकमें कामियोंकी दीनता दिखलानी थी, कि कामसे पीड़ित मनुष्य, इस प्रकार प्रकृतिके वश हो दीन बनते हैं अर्थात् उन(स्त्रियों)के आधीन बन जाते हैं इसलिये भगवान्ने उनका अनुकरण कर दिखाया है, यदि भगवान् यों अनुकरण न करें, तो उन(कामियों)का भगवान्में निरोध नहीं होवे, इसके सिवाय दूसरा प्रयोजन भी है, वह यह है कि स्त्रियोंकी दुष्टता दिखाना, जैसाकि कोई भी क्रूर कर्म हो, तो भी वे कर सकती हैं, तथा वे इस काम विषयक कार्योंमें सुकोमल चित्तवाली नहीं हैं, उसकी पूर्तिकेलिये वे हर प्रकारके साहस करनेसे चूकती नहीं हैं श्रुतिमें इनको 'गीदड़का हृदय' कहा है।।३४।।

इस प्रकार जब हृदयमें भगवान् पधारते हैं तब सर्व वस्तुओंके वास्तविक स्वरूपकी स्फूर्ति होती है. गोपियोंके हृदयमें भगवान् पधारे जिससे उनको भी सर्व लीलाओंके स्वरूपकी वास्तविक स्फूर्ति हुई, उसका वर्णन कर अब इस लीलाका संवरण करते हैं, अर्थात् लीलाको समेटते हैं, जिसका वर्णन 'इत्येव' आधे श्लोकमें करते हैं:

श्रीशुक उवाच

इत्येवं दशर्यन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः ।।३४।।

इस प्रकार अचेत वे गोपियां, भगवान्की लीलाएं दिखलाती हुई घूम रही थीं।।३४।।

इस प्रकार वे गोपियां भगवान्की लीलाएं दिखलाती अचेत विचरती थीं, वे गोपियां अनेक प्रकारकी थीं इसलिये मूलश्लोकमें 'गोप्यः' बहुवचनमें दिया है, वे गोपियां शास्त्र पढ़ कर भगवदीया नहीं बनी थीं, किन्तु सहज स्वभावसे ही भगवान्की सेविकाएं थीं. स्वभाव एक प्रकारका नहीं होता है, अतः गोपियां भी स्वभावानुसार अनेक प्रकारकी थीं, यों होना उपपन्न(उचित-मुनासिब) ही है, ये गोपियां जो कुछ बोल रही हैं, वह ज्ञान प्राप्त कर समझसे नहीं बोल रही हैं, किन्तु अस्थिर(पागल-विक्षिप्त) चित्तसे कह रही हैं, अथवा यों लीलाओंको दिखलाते

हुए पागल सी हो गई हैं, क्योंकि तीनों[१] कारणोंकी समाप्ति हो गई है, जिससे बोलनेकी शक्ति तथा चलनेकी गति रुक गई है।।३४,१/२।।

१.(१)रसासक्ति (२)भगवत् क्रिया (३) गर्वाभाव.

इस प्रकार जिनको वनमें छोड़ आए थे उन गोपियोंके चरित्र(स्वरूप)का वर्णन कर अब जिस गोपीको भगवान् स्वयं ले आए थे उसके स्वरूप तथा कार्य वर्णन साढे तीन श्लोकोंमें करते हैं:

यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ।।३५।।
सा च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् ।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ।।३६।।
ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् ।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ।।३७।।
एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्धमारुह्यतामिति ।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ।।३८।।

भगवान् अन्य स्त्रियों(गोपियों)को वनमें छोड़, जिसको साथ ले गए, वह तब अपनेको सब स्त्रियोंमें 'वरिष्ठ' मानने लगी, क्योंकि जो स्त्रियां भगवान्को चाहती थीं, उनको छोड़ कर ये प्यारे मेरा भजन करते हैं(मुझसे रमण करते हैं) इसलिए वह गर्वयुक्त हुईं, और आगे वन प्रदेशमें जाकर कहने लगीं, कि मैं चलनेमें असमर्थ हूं, अतः आपको जहां ले जाना हो, मुझे उठा कर ले चलो. इस तरह कहे जाने पर भगवान्ने प्रियाको कहा 'कन्धों पर चढो' और इसके अनन्तर वे अन्तर्हित हो गए और वह वधु अनुताप करने लगी।।३५-३८।।

दोषोऽभिमानवचनं वचनोत्तरमेव च ।
पूर्ववच्च तिरोभावो विज्ञेयं दोषदर्शने ।।का.१।।

१.दोष २.अभिमान वचन ३.वचनका उत्तर और पहलेकी तरह ४.तिरोभाव, जिससे सभीको अपने दोषोंका दर्शन हो. अर्थात् इस गोपीके त्यागसे अन्य सभी गोपिकाओंको अपने दोषोंकी स्फूर्ति होगी कि हमको भी भगवान्ने हमारे दोषोंके कारण ही छोडा. इसकेलिए प्रथम मूलमें श्लोक पंक्ति 'यां गोपीम्'से 'भजते प्रियः' तक दोषका वर्णन है. 'ततो गत्वा' अर्थात् ३७वें श्लोकमें 'अभिमान वचन'का वर्णन है. ३८वें श्लोकके पूर्वार्धमें, वचनोत्तरका वर्णन है. एवं उत्तरार्धमें 'तिरोभाव'का वर्णन इस तरह चारों बातोंका वर्णन यहां हुआ.

वह गोपी जिससे, कोई भी दोष नहीं हुवा अतएव उसे भगवान् ले गये. भगवान् उसे इसलिये ले गये, क्योंकि वे कृष्ण–सदानन्द हैं और उस गोपीमें भी उन्हें आनन्द स्थापित करना था. अन्य जिन्हें साथ नहीं ले गये वे तो स्त्रियां हुईं अर्थात् स्त्री स्वभाववाली थी. जब कि यह जिसे लाये वह मुग्धा ही है. अतः उनको वनमें छोड़ कर इसे ले आये क्योंकि वनमें रहनेवालोंको विवेक उत्पन्न होता है।।३५।।

मानको दोष माना क्योंकि मानके कारण प्रियतमके साथ बहिःसम्बन्धमें, अन्तराय उपस्थित होता है. परन्तु दोनों इस गोपीके एवं पहलेवाली गोपियोंके उदाहरणमें रस तो समान ही है, फिर उनको मान हुआ और इसे नहीं, और अब इसे भी हुआ यों इस विषमताका कारण समझाते हैं,

स्वयं त्वयुक्तकरणात् प्रकुत्याद्यधिकारिणः।
बुद्धिं रस नाशयामासुः साप्यन्येवाभवत्ततः ।।का.१।।

कारिकार्थ: नायिकाओंकी प्रकृति सदा मानिनी होनेकी रहती है. प्रकृतमें अभी तक इस नायिकाने नायकके अधीन होना स्वीकारा अतः वह नायिकाकी प्रकृति(स्वभाव)की जो रीति होती है उसके योग्य नहीं था कि नायकके अधीन रहे अतः नायिकाके स्वभाव–व्यवहारके नियामक जो प्रौढ़भाव हैं उन्होंने पहलेके कोमलभावोंका नाश कर दिया. तो पहले ही इस स्वामिनीको भी मान क्यों नहीं हुआ? कहते हैं भगवान् भक्तोंको भजनानन्दकेलिए लीला करते हैं और उसीमें स्वयं भी रसानुभव करते हैं. यों बहुतसी प्रियाओंके रहते हुए भी एकके साथ, अलग ले जाकर विशेष रमणमें जो रसानुभूति है वह समूहमें नहीं. और यह मान भी तो भगवदभावात्मक है अतः कोई अनुपपत्ति नहीं. और पहले मान नहीं हुआ इसका कारण तो स्वामिनियोंने ही बता दिया था 'अनयाराधितो नूनम' स्थल पर यों फिर यह स्वामिनी भी अन्योंकी तरह हो गई.

व्याख्यार्थ: उस मानका वर्णन करते हैं तब उसने भी सभी स्त्रियोंमें अपने आपको 'वरिष्ठ' माना. यहां 'सा च मेने' में 'च' आता है जिसका अर्थ है 'पहले जो कहा उसके साथ' अर्थात् 'भी'के अर्थमें. पहले उसमें अभिमान नहीं था अर्थात् अब ही हुआ, इससे सिद्ध हुआ कि समुदायके दोषसे भगवान् त्याग नहीं करते, किन्तु व्यक्तिगत दोषसे. उसके अभिमानका कारण यह है, कि भगवान्को चाहनेवाली सभी गोपियोंको छोड़कर, भगवान् इसीका भजन करने लगे, और वह

भी प्रिय हो कर अर्थात् जैसे इसे प्रिय लगे वैसे ही सब कुछ करने लगे. कहीं भी कुछ भी, अप्रिय नहीं किया. अतः उसे प्रतीत हुआ, कि मैं वरिष्ठ हूं अन्यथा इन सारी बातोंकी अन्य क्या व्याख्या हो सकती है ।।३६।।

दोष न होनेसे ही उत्तमता है. अन्य किसी धर्मके कारण नहीं. अतः अन्य कारणोंसे अपने आपको यह वरिष्ठ मानना भ्रम है. इसी भ्रमके कारण इसने कहा उसको 'ततो गत्वा'में वर्णन करते हैं. वहां भोग स्थान-रमण स्थलसे आगे जाकर अब अतिसुन्दर वन प्रदेश आया तो विचार उठा कि 'प्रिय अपने कार्यकेलिये जा रहे हैं मेरे कार्यकेलिये नहीं, तो फिर अन्यकेलिये मैं क्यों खेद-श्रम करूं' यह भाव अभिमानिनीका है. यह गोपी अन्योंको जो कृपा प्राप्त हुई वैसी कृपाकी अधिकारिणी नहीं है(अर्थात् उनसे विलक्षण कृपाकी अधिकारिणी है) और जो प्रसाद अब तक प्राप्त हुआ उसीका पचना इतना कठिन है कि मानों अधिक कृपाके भोगके कारण अजीर्ण सा हो गया हो ऐसी हो गई. ब्रह्मा, शिव आदिको भी मोक्ष देनेवाले देह, इन्द्रिय आदि सभीसे रहित परमानन्दरूप केशवको कहने लगी 'मैं चलनेमें समर्थ नहीं'. तो भी जहां जाना है वहां तो चलना ही पड़ेगा 'तो जहां मन हो वहां आप ही मुझे उठा कर ले चलेंगे'।।३७।।

यहां प्रियाको भ्रम हुआ है, परन्तु यह भ्रम क्या है? प्राकृत कामी पुरुषकी तरह क्योंकि प्रभुने भी अलौकिक कामको उत्पन्न किया है अतः वे भी कामाधीन हो कर सामान्य कामी पुरुषकी तरह नायिकाके अधीन हैं यह लीला भी करेंगे. अतः शक्ति रहने पर भी अशक्ति जताऊं तो अपने कन्धों पर उठाके ले चलेंगे. यह जो भाव उदित हुआ वह भ्रम है. भगवद्रमणमें कोई भी दोष (लौकिक रमणकी तरह) नहीं होता, अपने सौभाग्यके बारेमें मद-मान जो भी होते हैं वे भगवद्भावात्मक ही हैं. इसका निरूपण 'तासां तत्सौभगमिदं' किया है. वैसे ही यहां भी अभी तक जो रसदान प्रभुने किया, वह नायिकाके अधीन होकर, अतएव भाव भी वैसे ही उदित हो रहे हैं, कि 'प्रभु मेरे अधीन हैं' यह दोषरूप नहीं है. 'हित्वा गोपीः'में इसी भाव प्रतिबिम्बका वर्णन है (पहले गर्व है पश्चात् अशक्ति यों दोनों भगवान्से यहां आये हैं)

अभिमान दर्प यहां मर्यादारहित होनेके अर्थमें है. अर्थात् जैसा कि कहा गया निरवधि रसके दाता प्रभुकी रसदानमें संकोचकी इच्छा रस मर्यादासे मेल नहीं खाती और वैसे भावका उदय जब प्रियामें भी हुआ तो उसे दृप्ता-अभिमानिनी

कहा जा रहा है.

रजस् एवं तमसके अधिष्ठाता ब्रह्मा शिवादिके भी राजस–तामसभाव दूर करके मोक्ष–अमृतको देनेवाले ये भगवान् हैं. यों यहां भी पूर्णरसके दानकेलिये ही प्रियामें वैसे भाव उत्पन्न कर रहे हैं और फिर स्वयं तिरोहित हो गये. यही दिखलानेकेलिये यहां भगवान्का 'केशव' पदसे शुकदेवजी वर्णन करते हैं. यों अन्ततः विचार करने पर यह फलित होता है कि दर्प जगाना, एवं तिरोहित हो जाना इन सबका लक्ष्य है तो पूर्ण रसदान ही अतः इस ऐसी संयोग रसदानके संकोचकी इच्छाका रसमर्यादामें होना भी सिद्ध हो सकता है.

विप्रयोगात्मक रसका अनुभव जब तक न हो जाये तब तक रसदानकी पूर्णता नहीं बन पाती, अतः प्रभुने संयोग रसदानकी इच्छा संकुचित की. 'न पारयेहं'में इसी क्रियाशक्तिके संकोचका भाव है. अन्यथा यह मिथ्याभाषण हो जायेगा. जबकि भगवदियोंका भगवान्से मिथ्याभाषण सम्भव नहीं है. पूर्णरसके अत्यन्त आविर्भावसे भी यह चलनेमें असामर्थ्यरूप स्तम्भरूप सात्विकभाव उदित हो सकता है.

''स्वामिन्यामपि संयोगजनकभाव दूरी करणाय दृप्ताय दोष भावजननम्'' अर्थात् जिन भावोंके कारण संयोगरस प्राप्त होता है, वे भाव यदि बने रहें, तो संयोग रस भी निरन्तर रहे, फलतः उत्तर दल विप्रयोगात्मक रसदान न हो पायेगा. इसलिये स्वामिनीमें भी, संयोगरस–दानेच्छाके संकोचके भाव जो प्रभुमें थे, सो एकान्त हुए. फलतः स्वामिनी भी विप्रयोगाभिनय चाहने लगीं कि प्रभु मेरा विप्रयोगानुभव करें।।३७।।

भगवान् तो अतिचतुर हैं और ये भगवान्की प्रिया हैं, सो भगवान्ने उत्तर दिया 'कन्धों पर चढ़ो'. अपनेमें समागतरसको अभिनीत करनेकेलिये प्रिया नृत्य करना चाहती हैं. इस नृत्याभिनयसे आन्तर अनुभवके रस समुद्रके लहरानेके बजाय सूखनेकी सम्भावना अधिक, यदि रसामृतको आन्तर भूमिसे बाध्य भूमि पर लाया गया तो. अतः यह अशक्य कार्य तभी हो सकता है जब अपने कन्धों पर चढ़नेका अशक्य कार्य करो. निश्चयेन जो अपने कन्धों पर चढ़ कर नाचता हो वह कुशलतम नर्तक होगा यह अशक्त कार्यका विधान इसलिये किया कि अशक्य वस्तुके बारेमें ही प्रार्थना की गई. भगवान्का मन(लौकिक नायककी तरह नायिकाके अधीन हो कर वियोग रसानुभवका नहीं किन्तु) अलौकिक

रसाभिनयमें है. यह अलौकिक रसाभिनय यदि नायिका लौकिकरीतिसे नायकको अपने आधीन बना कर स्वयंका वियोगानुभव कराना चाहे तो सम्भव नहीं है(यदि अभिनय करना भी हो तो अलौकिक रसका ही करना चाहिये अर्थात् प्रभुके अधीन हो कर विरहानुभव करते हुए आर्ति आदिको प्रकट करना न कि लौकिकरीतिसे नायकको विरहार्त देखनेका). परन्तु यदि स्वतः इतनी अशक्त होती तो न तो यह कहती कि 'विप्रयोगाभिनय मुझे करने दो' और न यह कि 'चलना हो तो गोदमें उठा कर चलो फिर जहां भी आपका मन हो चलनेको तैयार हूं'. (क्योंकि दोनों कल्पोंमें एक जगह अभिनयके कारण प्रभुसे दूर होना है तो दूसरी जगह स्वयं प्रभुकी विप्रयोगदानकी इच्छाके कारण ही. यों दोनों विकल्पमें स्वतः अशक्त होती तो कहनेका अवसर नहीं आता परन्तु प्रियकी इच्छाके अनुरूप ही अशक्ति हुई है) अतः मेरा मन तो विप्रयोगके अनुभव करानेमें ही है जिसका मेल स्वामिनी वचनसे स्वस्कन्धारोहणकी तरह अशक्त है. यदि स्वस्कन्धारोहणका अशक्त कार्य स्वामिनी कर दिखलाये तो प्रभु भी स्वामिनीको अभिनयके धरातल पर जाने देंगे या ले जावेंगे अथवा गोदमें ले जाते हुए भी अपने मनके अनुसार अन्तर्हित भी हो जायेंगे. अन्यथा विप्रयोगरसके अभिनयकी अनधिकारिणीको प्रभु क्यों अभिनय भूमि पर जाने दें और क्यों स्वयं वियोगानुभव करें. इसी तरह संयोगरसको निरन्तर रखनेके कल्पमें भी दर्प, क्रियाशक्तिके संकोच आदिको उत्पन्न करके जब अनधिकारिणी बनाया ही है तो गोदमें लिये हुए चलनेके साथ-साथ स्वयं भी अन्तर्हित हों ऐसी अशक्त लीलामें क्यों स्वामिनीको ले जायें?

भगवान् कोई मिथ्या भाषण तो करते नहीं हैं, कि अपने कन्धों पर चढ़नेको कहें और प्रिया वैसा करने जाये, तब तिरोहित हो जायें अतः यहां भगवान्ने अपने कन्धों पर चढ़नेको कहा इस अर्थकी सम्भावना नहीं है. हां स्वामिनीने मोह भगवान्से प्रार्थना या आग्रह स्वीकार लिया यों समझ करके कारण समझा कि प्रियतमके कन्धों पर चढ़ना है, और वैसा ही करने जा रही थी कि प्रिय अन्तर्हित हो गये क्योंकि ये 'कृष्+ण=सत्+आनन्द' है. तब वह भी अन्य गोपिकाओंकी तरह हो गई. यह अनन्यपूर्वा एवं व्रत करनेवालियोंमेंसे है और उनमें भी गुणातीत अतः अनुताप करने लगी।।३८।।

नट नृत्यमेंके अभिनयकी चेष्टाओं द्वारा अपने अन्दर रहे हुए रसका

अनुभव दर्शकको कराता है. इसी समानताको ले कर यहां नृत्यका कथन है. इससे पहले प्रभुने प्रियाके अधीन हो कर रसदान किया और वह रस प्रियामें अवस्थित हुआ तो अब स्वयं उस रसका अनुभव प्रभुको करानेकेलिये वचन एवं व्यवहार द्वारा प्रिया प्रकृत हो रही है यहां प्रथम प्रभुने रसाभिनय किया जिसका रसानुभव प्रियाने किया. अब प्रिया रसाभिनय करके प्रियको रसानुभव कराना चाहती है. यह रस शृंगार है जिसके पूर्वदलका अभिनय प्रभु कर चुके हैं और प्रिया अनुभव. अतः जो उत्तरदलका अभिनय प्रभु करना चाहते हैं, सो वह भाव भी प्रियामें प्रतिबिम्बित हुआ और उसके अनुसार ही प्रियामें प्रथम अपने आपको वरिष्ठ भावना, दूसरे प्रभुको अपने अधीन मानना और तीसरे प्रभुको अपना विप्रयोगानुभव करानेकी इच्छा यों क्रमशः जो प्रभुके भाव थे वे प्रतिबिम्बित हुए.

यहां १.अपने आपको वरिष्ठ मानना अर्थात् गर्व तो अग्रिम विप्रयोगात्मक रसदानमें निमित्त है सो हुआ ही किन्तु शिष्ट दो अर्थात् २.लौकिक कामीपुरुषकी तरह प्रभुका कामवश नायिकाके अधीन बनना तथा ३.नायकका दर्शक(अनुभव करनेवाला) बन कर स्वामिनीका रसाभिनय करना और वह भी रसके अन्तर दलका अभिनय ये दो अशक्य हैं (१)स्वस्कन्धारोहणकी तरह. (२)इसलिये अशक्य है कि प्रभु भक्तस्नेहवश ही भक्तोंके वशीभूत हो कर रमण करते हैं कामाधीन हो कर नहीं. अतः प्रकृतमें नायिकाका 'न पारयेहं' कहना स्नेहकी रीतिके विरुद्ध है. नायकका कामवश नायिकाके अधीन होना तो रसमार्गसे विरुद्ध नहीं है तब फिर क्या आपत्ति है? इसका उत्तर यह है कि प्रभुको लौकिक नायककी तरह अपने अधीन माननेका(जो प्रभुके अब तक अधीन हो कर रसदान करनेसे) भाव जो उत्पन्न हुआ है उसकी परिणति होगी प्रभुके स्वामिनीको विप्रयोग रसदानके भावका भी स्वामिनीमें प्रतिबिम्ब, अर्थात् प्रभुको अपना विप्रयोग-रसानुभव कराना तथा स्वयं विप्रयोग रसाभिनय करना. यही (३)भाव है. किन्तु अनुभव एवं अभिनयके धरातल परस्पर भिन्न-भिन्न हैं. अनुभव आन्तर है जबकि अभिनय बाह्य. अनुभवके धरातल पर बने रहनेसे रसामृतका समुद्र अन्दर उत्तरोत्तर भाव तरंगों द्वारा लहराता रहता है. इसे 'ऊर्ध्वभाव' कहते हैं. जबकि अभिनयके धरातल पर रसको लानेकी चेष्टामें रस स्वभावके कारण अन्तःस्थित रसके ढुलक जानेकी सम्भावना है. और यदि आन्तर रस समुद्र बाहर ढुल जाये तो प्रिया किसका तो अभिनय करेगी और प्रभु

किसका अनुभव? रसामृतके समुद्रमें न तो वह ऊर्ध्वभाव ही रह पायेगा और न वह स्वयं ही. अर्थात् रसके स्वरूपतः नष्ट होनेकी सम्भावना है. और ऐसा होने पर प्रभुको जो आगे चल कर स्वयं विप्रयोगके दानसे स्वामिनीके रसानुभवको पूर्णता तक पहुंचाना है उसमें भी प्रतिबन्ध उपस्थित हो जायेंगे. प्रभु भी विप्रयोग-रसाभिनय चाहते हैं और स्वामिनी भी, अब दोनोंकी इच्छाओंका संवाद कैसे सम्भव है? एकको तो रसानुभवके धरातल पर रहना ही पड़ेगा. अब यदि (२)भावके कारण अर्थात् प्रौढीभावसे लौकिक नायिकाकी तरह प्रभु-नायकको अपने अधीन बना कर स्वयं रसाभिनयमें प्रवृत होनेका भाव रखे तो वह तो सम्भव नहीं है, यह बता ही दिया है. और कोई तो उपाय ही नहीं है.

यहां यह ज्ञातव्य है कि स्वयं प्रिया यह चाहती है कि प्रभु संयोगरस दानमें संकोचकी इच्छा नहीं करें. क्योंकि ये अपने आपको विप्रयोगरस दानकी कृपाकी अधिकारिणी नहीं मानती है. किन्तु जब भगवान्ने पूर्ण अपने रसका दान किया ही है जिसके कारण सारे भगवन्निष्ठ भाव हृदयमें स्फुरित हो रहे हैं तो सर्वतः अपना आधिक्य-वरिष्ठता, विप्रयोगरस दानकी इच्छा आदि सभी यहां भी प्रतिबिम्बित हुए हैं. किन्तु पूर्वदलको गरिमाके कारण अब रस उच्छलित होनेकी अवस्थामें है. आन्तर रसानुभवका बाह्य रसाभिनय करना चाहती है. अतएव ऐसे भाव उदित हुए कि ऐसे सुन्दर वनमें प्रिय यदि मुझे ढूंढें तो रसकी चमत्कृति कैसी हो इसी भावको दर्प कहा गया है.

यों 'नय मां यत्र ते मनः'से दो तरहकी भावना व्यक्त हो रही है १.क्रियाशक्ति संयोगरस(पूर्वदलके नैरन्तर्य)की अथवा २.विप्रयोगात्मक रसाभिनयकी अर्थात् रसानुभवकी नहीं. यह स्वामिनीका विप्रयोग रसाभिनय लौकिकरीतिके बिना सम्भव नहीं है. लौकिकरीति नायकके अलौकिक होनेसे सम्भव नहीं है. जैसे अपने कन्धों पर चढ़ना अशक्य है वैसे ही प्रभुके सामनेसे प्रियाका अन्तर्हित होना भी अशक्य है. पूर्णज्ञान शक्तिवाले प्रभुकेलिये कौनसी वस्तु ज्ञानपरिधिके बाहर हो सकती है? यद्यपि विरुद्धसर्वधर्माश्रय होनेके कारण एवं रसात्मक होनेके कारण जानते हुवे भी अनजान बन सकते हैं. परन्तु सर्वसमर्थ प्रभु अपनी प्रिया-अत्यन्त प्रिय स्वामिनीको एकक्षण भी बिन देखे रहनेमें असमर्थ हैं. यही तो कारण है कि उत्तर भी दिया अन्यथा चुप रह जाते या चुपचाप अन्तर्ध्यान हो जाते. प्रिया होनेके कारण स्वामिनीका भगवान्के सामनेसे छुप

सकना कठिन है अतः प्रभुको ही अन्तर्हित होना पड़ेगा. इस तरह प्रियाकी प्रार्थना क्योंकि प्रियाने की है इसीलिये स्वीकृत न हो पायी. और जहां तक (१)विकल्पका प्रश्न है तो क्रिया शक्तिकी स्वीकृति भी स्वस्कन्धारोहणकी तरह अशक्य ही है क्योंकि अन्यथा रसानुभवकी पूर्णता नहीं होगी. स्वामिनीको यह वृत्तान्तकी सुध नहीं है सो पहलेकी तरह अब भी क्रियाशक्ति दे कर संयोग रसाभिनय निरन्तर रखेंगे यों साजाकर प्रार्थना की 'नय मां' किन्तु अनजाने यह भी कह दिया कि 'यत्र ते मनः' प्रभुका मन विप्रयोग दानमें है अतः दोनोंका संवाद पुनः स्वस्कन्धारोहणकी तरह अशक्य है. जो रस आगे देना है उसका ख्याल करके प्रभुने अपने आशयको चतुराईसे ढक दिया कि 'कन्धों पर चढ़ो' किन्तु किसके यह खुलासा नहीं किया. स्वामिनीने विचारा कि संयोगरसके दानको निरन्तर रखनेकी बात मान ली गयी और अपने कन्धों पर चढ़नेको प्रभु कह रहे हैं परन्तु वैसा करते समय प्रभु अन्तर्हित हो गये. ऐसा क्यों किया इसका कारण प्रभुके नाममें ही निहित है यह सुबोधिनीमें कृष्णका अर्थ सच्चिदानन्द दे कर दिखलाया है. यह आशय है, कि प्रभु आनन्दात्मकरूपमें प्रकट रहते हैं अब यह प्राकट्यके दो भेद हैं, आन्तर एवं बाह्य, आन्तरलीला अब करनी है सो बाह्यमें तिरोहित हुए. इसी तरह अब इस दशामें रस पोषण करना है।।३८।।

इस गोपीको केवल भीतर अनुताप नहीं हुआ किन्तु उनसे बाहिर भी हुआ जिससे विलाप करने लगी, उसका वर्णन 'हा नाथ' श्लोकमें करते हैं:

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्।।३९।।

हा नाथ! हा रमण! हा प्यारे! हा महाभुज! तुम कहां हो? कहां हो? हे सखा! मैं जो आपकी दीन दासी हूं उसको सन्निधिमें दर्शन दीजिए।।३९।।

गोपीने 'हा' शब्द कह कर अपना पछतावा प्रकट किया है, कि मैंने जो किया वह अयुक्त है तो भी हे नाथ आप स्वामी हैं, अतः मेरा किया हुआ दोष नष्ट कीजिये, न कि मेरा त्याग करना चाहिये, यदि भगवान् कह दें, कि विचार मत करो, मैं तुम्हें छोडूंगा नहीं, दूरसे ही पालन करता रहूंगा, जिसके उत्तरमें प्रथम ही कह देती हैं, कि हे रमण! आप रतिको बढानेवाले भोक्ता हैं और हम आपकी भोग्यरूप हैं अतः आपको निकट(पासमें) ही रहना चाहिये.

और यदि भगवान् कह दें, कि मुझे भोगकी इच्छा नहीं है. भोग्यकी

इच्छासे भोक्ता भोग नहीं करता है अपनी ही इच्छासे करता है, तो भी यदि तुम्हारा अनुरोध(आग्रह व प्रार्थना) है तो केवल पालन करता रहूंगा, इसका उत्तर प्रथम ही दे देती हैं, कि आप हमारे 'प्यारे' प्रीतिके विषय हैं अन्य कोई प्रीतिका विषय नहीं है, जिससे हम जीवन धारण कर सकेंगी, यों कहते-कहते वह अत्यन्त व्याकुल हो गई(घबरा गई) तब कहने लगी, कि कहां हो? कहां हो? मोह वश होनेसे देख न सकी एवं गिर गई. अनन्तर उठानेकेलिये प्रार्थना करती हुई कहती है कि हे महाभुज! हे महाभुजा(क्रियाशक्ति)वाले आप सर्व शक्तिमान हैं अतः दोषको ही दूर करना चाहिये, मुझे तो अपने पास ही रखिये, कारण कि मैं दासी हूं, उसमें भी आपकी ही दीन दासी हूं, वह दासीपन वैसा है, जो बिना कुछ विचार किये जो जचे वह मांग लेती हूं, अतः मेरे वचनका अन्यथा(उल्टा) भाव न समझाना चाहिये. इस प्रकार जब उसने प्रार्थना की, तब परम कृपालुने अदृश्य रूपसे(दर्शन न देते हुए) उसको उठा कर सावधान किया, जब भगवान्ने उठा कर सावधान किया तब पुनः प्रार्थना करने लगी, कि हे सखा आप मेरे सखा हो, सखाके शील व्यसन आदि समान होते हैं, अतः स्पर्शसे अपने धर्मोंका मुझमें आरोप(मान) कर अपनी सन्निधिसे दर्शन दो, आप निकट तो हैं, तो भी जैसे सामीप्यमें दर्शन हो, वैसा करनेकी कृपा करो, इस प्रकार ही कहती हुई वहां खड़ी रही, भगवान् भी वहां ही स्थित हो गये।।३९।।

अनन्तर जो हुआ उसका वर्णन श्रीशुकदेवजी 'अन्विच्छन्त्यो' श्लोकमें करते हैं:

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्यो विचेतसः।
ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम्।।४०।।

भगवान्के मार्गको ढूंढ़ती हुई, उन विह्वल चित्तवाली गोपियोंने प्यारेसे वियोग हो जानेके कारण, मूर्छित तथा दुःखी हुई सखीको देखा।।४०।।

भगवान्के जानेवाले मार्गको ढूंढती हुई गोपियोंने निकट ही, जो भगवान्के साथ गई थी, उस गोपीको देखा, देखने पर उस पर क्रोध करना चाहिये था, किन्तु उनमें क्रोध उत्पन्न न हुआ, कारणकि देखनेसे उनको मालूम हो गया, कि यह भी हमारे समान दुःखी है, दुःखी पर क्रोध नहीं होता है. क्रोध करनेका अन्य भी कारण था, वह कहते हैं, कि वह भी हमारी भांति प्यारेके बिछुड़नेसे मूर्च्छित है, इस पर क्रोध क्या करें? और फिर उनकी सखी थी, जिससे भी उस पर

क्रोध करना योग्य नहीं था. अतः सख्यभावसे बहुत गोपियोंने उसको जगाया, जगने पर, अपनी सखियोंके मिलनेसे, उसका दुःख कम हो गया, क्योंकि शास्त्रमें कहा है, कि 'न दुःखं पञ्चभिः सह' पांचोके साथ मिलनेसे दुःख नहीं रहता है ।।४०।।

जो गोपियां भगवान्को ढूंढ रही थीं, उन्होंने प्रथम यों समझा था, कि भगवान् कौतुक(तमाशे)केलिए अन्तर्ध्यान हुए हैं, हममें दोष देख कर अन्तर्हित हुए हैं यों नहीं समझा था, यदि यों समझती, तो उस दोषके निवारणकेलिए प्रयत्न करती, अपने दोषका भान भगवत्कृपासे होता है, भगवान्को यह बात उनको समझानी थी, कि तुममें दोष देख कर ही हम अन्तर्ध्यान हुए हैं, इसके जतानेकेलिए उस(मुग्ध) गोपीको साथ ले गए थे, पुनः उसका त्याग भी दोष जतानेकेलिए हुआ, जिससे, यह उनको बता देवे, अतः भगवान्की इच्छासे, उसने सब बता दिया, इस प्रकार कहनेमें जो प्रयोजक वाक्य हैं वे 'तया कथितं' श्लोकसे कहे हैं:

तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात् ।
अवमानं च दौरात्म्याद्विस्मयं परमं ययुः ।।४१।।

उस गोपीने जो कुछ कहा, वह सुन कर इन गोपियोंने निश्चयपूर्वक जान लिया, कि भगवान्के गुणोंसे, मान मिलता है और यदि अहंकारसे अपना दौरात्म्य प्रकट किया जाता है तो भगवान् सहसा त्याग कर देते हैं, इस प्रकार ज्ञान होने पर अत्यन्त आश्चर्यको प्राप्त हुई।।४१।।

मानकी प्राप्ति तो भगवान् माधवसे है. यह उनके स्वकीय गुणोंसे होती है, हमारे गुणोंके कारण मान नहीं मिलता है. ये गोपियां लक्ष्मीकी अंश हैं भगवान्, लक्ष्मीपति हैं इस कारणसे, मान मिला है, किन्तु अब मान(तिरस्कार, त्याग) तो हमारे दौरात्म्य(दुष्टता, अभिमान आदि)से प्राप्त होता है, और उस दौरात्म्य(दुष्टता, अभिमान आदि)के कारण खेद और भ्रम आदिकी भी प्राप्ति होती है, इस प्रकार भगवान्का अलौकिक सामर्थ्य देखकर, अत्यन्त विस्मयको प्राप्त हुई, वैसे उसके वाक्योंसे पदार्थका निर्णय हुआ, क्या निर्णय हुआ उसको स्पष्ट करते हैं, कि गोपियोंको निश्चय हुआ, कि हम जो ढूंढनेका प्रयत्न कर रही हैं उससे भगवान्की प्राप्ति नहीं हो सकती है, अर्थात् भगवान् जब कृपा कर अपनेको जनावे(जतावे-दिखावे) तब प्राप्त होते हैं।।४१।।

इसके अनन्तर विचार करने लगीं, कि भगवान्के अनुग्रह होनेमें हेतु क्या है? अर्थात् भगवान्के दर्शन, क्या करनेसे मिलते हैं, विचारसे यह निश्चय किया कि, देहत्याग तक सर्वका त्याग ही साधन है अर्थात् देहसे ले कर सबका प्रभुमें समर्पण कर देना ही साधन है इस निश्चयको कार्यरूपमें लानेकेलिए वैसा करने लगीं:

ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते ।
तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुर्हरेः ।।४२।।

उसके पश्चात् जब तक चांदनी रही तब तक वे सब वनमें जाती रहीं, अन्धकार होता देख, ये हरिकी प्रियाएं पीछे लौट आई।।४२।।

पश्चात् उन्होंने मोहकी निवृत्तिकेलिये वनमें प्रवेश किया, यदि वनमें गये हुए मनुष्योंको मोह होवे तो वनमें जानेसे क्या लाभ? अर्थात् जाना ही निरर्थक है, जबतक वहां चन्द्रमाकी चांदनी खिल रही थी, तबतक वे दूर-दूर चली गईं. अत्यन्त घने वनमें तो प्रविष्ट नहीं हुई, जब देखा कि यह वन वैसा है जिसमें भीतर चन्द्रकी किरणोंका प्रवेश नहीं हो सकता है, वहां अन्धकार है यों जान कर वहांसे पीछे लौट आईं. प्रथम, जिस उद्योगसे वनमें गई, वह(उद्यम) न कर, क्यों लौट आईं? जिसके उत्तरमें कहा है कि हरिकी सम्बन्धिनी हैं, इस कारणसे लौट आईं, जो भगवदीय होते हैं वे अन्धकार(अज्ञान)में प्रवेश नहीं करते हैं उनको भगवान्ने ही लौटाया है।।४२।।

वनसे लौट आने पर घर गई होगी? इस शंकाके निवारणकेलिए 'तन्मनस्का' श्लोक कहते हैं:

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ।।४३।।

उनको घरकी स्मृति नहीं हुई, क्योंकि उनका मन भगवान्में ही लग रहा था, भगवत्सम्बन्धी ही भाषण करती थीं, शरीरकी क्रिया भी भगवन्मय थी, कृष्णको ही अपनी आत्मा समझती थीं और उनके गुणोंको गाती हुई अपनी आत्मा तथा घरोंको भूल गई थी।।४३।।

वे अपनी देहको तथा अपने घरको भूल गई थीं, उनसे सम्बन्धवाली वस्तु तो याद ही नहीं थी तो वहां किस कारण जायेंगी, उन(देह, घर और सम्बन्धी वस्तुओं)को इस प्रकार असल भूल जानेके ५ कारणोंको कहते हैं:

१.किसीकी भी स्मृति मनसे होती है वह मन तो केवल भगवान्में ही लग गया था, तो अन्यकी(उनकी) स्मृति कैसे होगी? अतः भगवान्में मन पिरो जानेसे देह, घर आदिको याद ही न करती थीं.

२.मनसे नहीं तो अन्य किसीके द्वारा वार्तालापसे स्मरण हो जायेगा, तो कहते हैं कि सभीकी वाणी भी भगवान्में आसक्त हो जानेसे उससे भी कभी उनका प्रसंग ही न होता था जिससे वाणी द्वारा स्मरण हो जाये, उन सबकी वाणी द्वारा भगवत् सम्बन्धी चर्चाके सिवाय अन्य कोई चर्चा हो नहीं सकती थी.

३.क्षुधा(भोजनकी इच्छा) और तृष्णा(पानी पीनेकी इच्छा)से देह सम्बन्धी क्रिया तो अवश्य होती होगी, जिससे देहादिक स्मरण भी तो होता होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि वे गोपियां पहलेकी भांति भगवान्की चेष्टाओंसे, आविष्ट(आवेशयुक्त), थीं, अतः देहादिक क्रिया करनेका अवसर ही नहीं है.

४.देह आदिकका स्मरण, इस प्रकारसे भी तो होता है, जैसे सब प्रकारके ज्ञानोंमें आत्माका अंश 'मैं'का स्फुरण होता है, 'मैं घड़ेको जानता हूं, मैं पटको जानता हूं', अतः आत्माकी स्फूर्ति कैसे? अर्थात् नहीं होगी, इस पर कहते हैं कि 'तदात्मिकाः' जिन(गोपियों)का वह ही आत्मा है, अर्थात् उनके चित्तमें सर्वदा स्वाभाविक कृष्ण ही हमारी आत्मा हैं वैसी भावना रहती है, अतः आत्मापनेसे उनको भगवान्की ही सर्वत्र सर्वदा स्फूर्ति होती है जिससे देहादिका स्फुरण नहीं होता है.

५.स्मृति होनेके कारण सदृश पदार्थ, अदृष्ट और चिन्तन आदि हैं इस न्याय सिद्धान्तके अनुसार अदृष्टसे इनको गृहादिकी स्मृति होनी ही चाहिये अदृष्ट तो इनके साथ भी है तो स्मृति क्यों न हो? इस शंकाको मिटानेकेलिये कहते हैं कि 'तद्गुणानेव गायन्त्यः' भगवान्के गुणोंको ही गान कर रही थीं, जिससे उनका बुरा प्रारब्ध नाश हो गया है. इसलिये अदृष्टसे भी इनको देहादिकी स्मृति नहीं हुई है, और वे यदि चुप कर बैठ अन्य कार्यमें निरुद्ध न हों, तो स्मृति हो सकती है, किन्तु वे तो अन्यकार्य(भगवद्गुणगान)के परायण हैं, इसलिये उनको देहादिका भान नहीं हुआ है।।४३।।

जब वे घर नहीं गईं, तब क्या हुआ? अर्थात् उन्होंने क्या किया? जो किया उसका वर्णन 'पुनः पुलिन' श्लोकमें करते हैं:

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षया।।४४।।

जहां प्रथम श्रीयमुनाजीके तट पर थीं, फिर वहां ही आकर, कृष्णमें भावनावाली और भगवान्के पधारनेकी आकांक्षावाली वे गोपियां आपसमें सब मिल कर कृष्णका गान करने लगीं।।४४।।

जहां पहले श्रीयमुनाजीके पुलिन पर स्थित थीं वहां ही फिर आ गईं, उनमें विवेक तो था नहीं, फिर वहां कैसे आईं? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि वे कृष्णमें भावनावाली थीं, जिससे भगवान्की इच्छासे, वा प्रेरणासे, उनके मनमें स्फूर्ति हुई, कि भगवान् वहां ही रति करेंगे, ऐसा निश्चय कर जाना, कि वह ही स्थान हमारा हित करनेवाला है इसलिये वहां आईं पश्चात् यह सन्देह हुआ, कि न जाने भगवान् किसके भाग्यसे, अथवा स्नेह या कृपाके कारण पधारेंगे? जिससे सब साथमें मिल गईं. मिल कर विचार करने लगीं, कि क्या साधन करें जिससे प्यारा शीघ्र पधारे. दोष नाश करनेकेलिये कृष्णके गुणगान करनेके सिवाय, अन्य कोई साधन नहीं है, यों समझ, निश्चय कर 'कृष्णका गुणगान' करने लगीं, उन्होंने समझा कि गुणगानसे हमारे देष नष्ट होंगे तब स्वतः स्वयं पधारेंगे।।४४।।

श्रीकृष्णगोपिकास्तत्र द्विविधा नवधा गुणैः।
समुदायेन भिन्ना वा गतगर्वा असाधनाः।।का.१।।

वहां(श्रीयुमनाजीके पुलिनमें) जो आकर मिली, वे श्रीकृष्णकी गोपियां दो प्रकारकी हैं:

१. अन्यपूर्वा(जिनका विवाह हुवा है)

अन्यपूर्वा सात्विकादि गुणोंके कारण नौ प्रकारकी है.

२.अनन्यपूर्वा(जिनका विवाह नहीं हुआ है कुमारिकाएं हैं)

अनन्यपूर्वा भी सात्विकादि गुणोंके कारण नौ प्रकारकी है.

इस प्रकार गोपियोंके १८ भेद हुए और १ भेद उपलक्षण विधिसे माना जाता है, जिससे १९ भेद हुए.

यह भेद एक-एकसे भी है, अथवा यूथसे भी समझना चाहिए, अर्थात् यूथ भी १९ प्रकारके हैं. अन्यपूर्वा-विवाह की हुईं:

१. सात्त्विक,

सात्विक-सात्विकी, सात्विक -राजसी, सात्विक-तामसी.

२. राजस

राजस: राजस–सात्विकी, राजस–राजसी, राजस–तामसी.

३. तामस

तामस–सात्विकी, तामस–राजसी, तामस–तामसी.

अनन्यपूर्वा–जिनका विवाह नहीं हुआ है, वे भी इसी प्रकार (९)नौ भेदवाली है, अतः दोनों मिल कर १८ प्रकार की हुईं और एक भेद उपलक्षण विधिसे है जिससे गोपियां १९ प्रकारकी समझी जाती हैं.

विशेष भिन्न प्रकारका वर्णन २८वें अध्यायकी कारिकाओंमें स्पष्ट किया जाएगा. भगवान्के अन्तर्हित होनेसे गोपियोंका गर्व तो नष्ट हो गया और भगवान्के पुनः दर्शनकेलिए जो साधन(ढूंढना, वृक्षादिसे पूछना) किए उनसे, भगवान्के दर्शन न हुए तब दीन और निःसाधन हो गईं।।१।।

हरेर्गानं प्रियं मत्वा जीवनार्थमपि प्रियाः।
स्वसन्देहात्तु मिलिता जगुर्नानाविधैर्गुणैः।।का.२।।

तब विचार करने लगीं, कि यदि प्यारेके दर्शन नही होंगे, तो हमारे प्राण नहीं रहेंगे, अतः प्यारेके दर्शन होवें तो हमारा जीवन टिक सके, इसका एक ही साधन प्यारेके गुणोंका गान करना है, यह निश्चयकर, सब इकट्ठी होके भगवान्के अनेक प्रकारके गुणोंको गाने लगीं. इकट्ठी इसलिए हुईं, कि उनको अपनेमें संदेह था, कि न जाने किसको भगवान् दर्शन दें. यदि साथमें होंगी तो भगवान्के प्रकट होते(ही) सब दर्शन कर लेंगी।।२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धके २७वें अध्यायकी
(प्रचलित क्रमानुसार अध्याय ३० की) श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्रीसुबोधिनी
'संस्कृत टीका'के तामस फल अवान्तर प्रकरणके
दूसरे अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण।

अध्याय २८

गोपिका गीत

अष्टाविंशे हरेर्गानं स्वभावादपराधतः ।
कृतावज्ञा गोपिका हि स्तोत्रं चक्रुरितीर्यते ।।का.१।।

इस २८वें अध्यायमें प्रथम गोपियोंने जो, गुणगानरूप स्तोत्र किया है, उसका कारण बताते हैं पहला कारण है, स्वभाव–गोपियां सहज स्वभावसे भगवान्में प्रेमवाली थीं, अतः भगवान्के वियोगमें, उनका गुणगान ही जीवन है, जिससे उन्होंने गुणगान किया, तथा शृंगाररसमार्गमें नायिका ही आलम्बनविभाव होती है यहां गोपियां आलम्बनविभाव हैं अतः आलम्बनविभावमें, जो मान होता है, वह इन गोपियोंको भी हुआ है, जिससे नायक(कृष्ण) अप्रसन्न हुए हैं उनको प्रसन्न करनेका उपाय प्रीतमका गुणगान करना ही है, इसलिए भी उन्होंने गुणगान करना योग्य समझा.

दूसरा कारण, अभिमानरूप अपराध है, गोपियोंको यह अभिमान हुआ कि हमारे समान अन्य कोई नहीं है, अतः हम प्यारेको रसदान तब करेंगी, जब वह हमको प्रार्थना करेंगे. इस प्रकार गोपियोंका दर्प देख, दर्पहारी दामोदर, अन्तर्हित हो गए, जिससे उनको दुःख हुआ, उसको मिटानेकेलिए साधन किए. साधनान्तर उनको ज्ञान हुआ कि साधनोंसे प्रीतमकी प्राप्ति नहीं होगी वे तो स्वयं जब प्रसन्न होंगे तब कृपा कर दर्शन देंगे, उनको प्रसन्न करनेका एक ही साधन, जो गुणगान है इसलिए हमको मिल कर उनको जो स्तुति प्यारी है, वह करनी चाहिए.

इस प्रकार विचारपूर्वक निश्चय कर अपराधसे की हुई, अवज्ञाके निवारणार्थ और स्वभावसे गुणगानरूप स्तुति करने लगीं।।१।।

एकोनविंशतिविधा गोप्यः स्वस्याधिकारतः ।
एकोनविंशतिविधां स्तुतिं चक्रुर्हरेः प्रियाम् ।।का.२।।

उन्नीस प्रकारकी गोपियां हैं, प्रत्येकने अपने–अपने अधिकारानुसार, जिस प्रकारकी स्तुति भगवान्को प्रिय थी, वैसी ही की है. गोपियोंके स्वभाव उन्नीस प्रकारके थे अतः स्तुति भी उन्नीस प्रकारसे हुई है, जिससे इस अध्यायमें १९ श्लोक हैं।।२।।

राजसी तामसी चैव सात्विकी निर्गुणा तथा ।

एवं चतुर्विधा गोप्यः पतिमत्यो निरूपिताः ।।का.३।।

जिन गोपियोंका विवाह हुआ, उनको अन्यपूर्वा कहते हैं, वे गोपियां १.राजसी, २.तामसी, ३.सात्विकी और ४.निर्गुण होनेसे ४ प्रकारकी हैं, उन्होंने सात्विक क्रमपूर्वक उत्तम गुणगान किया है जैसेकि,

पहला श्लोक गानेवाली गोपियां अथवा उनका यूथ सात्विक-राजस है, दूसरा श्लोक गानेवाली गोपियां अथवा उनका यूथ सात्विक-तामस है, तीसरा श्लोक गानेवाली गोपियां अथवा उनका यूथ सात्विक-सात्विक है और चौथा श्लोक गानेवाली गोपियां अथवा उनका यूथ निर्गुण है।।३।।

तथैवानन्यपूर्वाश्च प्रार्थनामाहुरुत्तमम् ।

गुणातीताः सात्विकीश्च तामसी राजसीस्त्था ।।का.४।।

इसी प्रकार जिनका विवाह अन्य किसीसे नहीं हुआ है, जो कुमारिकाएं है उनके भी गुणातीता, सात्विकी, तामसी और राजसी भेदसे ४ प्रकार हैं. उन्होंने भी अन्यपूर्वा गोपियोंके समान सात्विक क्रमसे उत्तम गान किया है जैसे कि, पांचवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ सात्विक-सात्विक है. छठवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ सात्विक-तामस है. सातवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ सात्विक-राजस है. आठवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ निर्गुण है।।४।।

कृष्णभावनया सिद्धा विशेषेणाह ताः शुकः ।

अनन्यपूर्विका एव पुनस्तिस्रो मुदा जगुः ।।का.५।।

शुकदेवजी कहते हैं कि फिर राजस क्रमसे तीन श्लोक विशेष प्रकारसे अनन्यपूर्वा ही प्रसन्नतासे गाती हैं, कारणकि वे, कृष्णकी भावनासे सिद्ध हो गई हैं. नवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ राजस-सात्विक है. दसवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ राजस-तामस है. ग्याहरवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ राजस-राजस है।।५।।

सात्विकी तामसी चैव राजसी चेति विश्रुताः ।

सपूर्वाश्च ततस्तिस्रः तामसी राजसी परा ।।का.६।।

पश्चात् अन्यपूर्वा १२वेंसे १४वें तकके श्लोकोंमें राजस क्रमसे गान करती हैं और १५वेंसे १७वें तक तामस क्रमसे गाती हैं.

इस प्रकारके गानमें १२वें श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ

राजस–तामस है, १३वां श्लोक गानेवाली गोपियां राजस–राजस हैं और १४वां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ राजस–सात्विक है।।६।।

पुनस्ता एव त्रिविधा अटतीत्यादिभिस्त्रिभिः।
राजसी तामसी चैव सात्विकीति विभेदतः ।।का.७।।

पुनः वे ही अन्यपूर्वा जो १५वें श्लोकसे १७वें श्लोक तक तामस क्रमसे गान करती हैं उनका प्रकार सुबोधिनीके आभासके अनुसार यह है कि, पन्द्रहवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ तामस–सात्विक है. सोलहवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ तामस–तामस है. सतरहवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ तामस–राजस है।।७।।

आभासके अनुसार १५वां श्लोक 'अटति' यह कहलानेवाली(गोपियां) देव निन्दक तामस सात्विक हैं, १६वां श्लोक 'पति सुतान्वये' कहनेवाली व्रजभक्त भगवान्की निन्दा करनेवाली तामस–तामसी हैं, और १७वां श्लोक 'रहसि संविद' गानेवाली गोपियां अपनी निन्दा करनेवाली तामस–राजसी हैं.

कारिकासे क्रमानुसार १५वां श्लोक कहनेवाली देवनिन्दक राजस–तामसी हैं १६वां श्लोक कहनेवाली भगवन्निन्दक यहां भी तामस–तामसी हैं, और १७वां श्लोक कहनेवाली अपनी निन्दा करनेवाली है जैसाकि कारिकामें कहा है कि 'राजसी–तामसी चैव सात्विकीति विभेदतः'.

आभासानुसार कारिका क्रम यहां अविवक्षित है, कारिकामें इस प्रकार कहनेका कोई अन्य तात्पर्य होगा. यों समझ दोनों पक्षोंकी व्यवस्था करना चाहिए. (प.भ.निर्भयरामजी भट्टके कारिकार्थ व्याख्यासे)

लेखकार गो.वल्लभजी महाराज कहते हैं कि राजसीति 'अत्र सत्वादि क्रमो न विवक्षितः' इति ज्ञेयम्, ७वीं कारिकामें 'राजसीति' कह कर जो क्रम दिया है वह यहां विवक्षित नहीं है.

अनन्यपूर्वा द्विविधा राजसी सात्विकी तथा।
तमसा तामसी तत्र नास्तीत्येकोनविंशतिः ।।का.८।।

अन्यपूर्वा गोपिकाओंने १७वें श्लोकमें अपने कथनका उपसंहार कर लिया, अतः अब तामस क्रमसे १८वां श्लोक और १९वां श्लोक अनन्यपूर्वा गाती हैं कारण कि, इनमें तामस–तामसी गोपियां तथा वैसा यूथ नहीं है, जिससे दो श्लोक कहे हैं

अठारहवां श्लोक गानेवाली(अनन्यपूर्वा) गोपियां तथा उनका यूथ तामस-सात्विकी है. उन्नीसवां श्लोक गानेवाली वे गोपियां तथा उनका यूथ तामस राजस है. अतः उन्नीस श्लोक गानेवाली सर्व गोपियां तथा उनके यूथ भी उन्नीस प्रकारके हैं।।८।।

अथवा प्रार्थनाद्याया: सप्तान्ते द्विविधा पुनः।
चतुर्थ्यस्तु समास्तत्र तत एकोनविंशतिः ।।का.९।।

उपरोक्त प्रकारसे अन्यपूर्वा गोपियोंने दश श्लोक गाए हैं, जिनमें नव श्लोक सगुणोंने गाए हैं और एक चतुर्थ श्लोक गुणातीताने गाया है, अनन्यपूर्वाने ९ गाए हैं उनमें ८ सगुणोंने और एक अष्टम श्लोक गुणातीताने गाया है. इस प्रकारकी गणनासे विषमता देखनेमें आती है क्योंकि अन्यपूर्वा गोपियोंने दस गाए और अनन्यपूर्वाने नव गाए हैं इस विषमताको मिटानेकेलिए ९ वीं कारिकामें दूसरा पक्ष कहते हैं.

प्रारम्भमें जो प्रार्थनाके(१-८) सात श्लोक कहे हैं और अन्तमें आए हुए दो श्लोक(१३ व १४) मिला कर नव श्लोक अनन्यपूर्वा अर्थात् कुमारिकाओंने गाए हैं, तथा अन्यपूर्वा अर्थात् विवाहिताओंने (९-१२, १५-१९) ये नव गाए हैं, शेष चतुर्थ श्लोकका गान दोनोंने किया है, इस प्रकारकी गणनासे विषमता मिट जाती है।।९।।

तत्तद्वाक्यानुसारेण तासां भावो निरूप्यते।
अन्यथाऽनेकता स्तोत्रे प्रकारैर्नोपयुज्यते ।।का.१०।।

प्रत्येक गोपीके भाव पृथक्-पृथक् हैं, अतः जिसके भाव जैसे थे, उसने अपने-अपने अधिकारके अनुसार वाक्य कहे हैं, यदि यह प्रकार न हो तो स्तुतिमें जो 'तव' और 'कुहक' आदि शब्द कहे गए हैं उनका कोई स्वारस्य नहीं रहता है. इनके अधिकारके कारण ही 'कितव' 'कुहक' जैसे शब्दोंको भी भगवान्ने अपनी स्तुति समझी और भगवान्को इससे परम संतोष हुआ. उन्होंने भी यह स्तुति भगवान्के प्रकट हो जाने केलिए ही की है. यह स्तुति अन्य सामान्य स्तुतियोंके समान नहीं है किन्तु भावभरित है अतः उलाहना आदि देनेसे, इसमें अनेकता भी आई है, यह प्रकार तो भावभरित स्तुतिमें ही होता है, अपने अधिकारके कारण जैसे, शब्द गोपियोंने स्तुतिमें कहे हैं, वैसे ब्रह्मादि भी नहीं कह सकते हैं।।१०।।

।। कारिकार्थ सम्पूर्ण ।।

गोपियां जब इस प्रकार गुणगानका निश्चय कर गान प्रारम्भ करने लगीं, तब उनमेंसे, प्रथम श्लोक कोई राजसी गोपियां गाने लगीं:

श्रीगोप्यः ऊचुः

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ।।१।।

वे गोपियां(सात्विक–राजसी) कहने लगीं कि आपके जन्मसे व्रजका अधिक उत्कर्ष हुआ है क्योंकि(आपके जन्मके कारण) लक्ष्मी भी यहां निरंतर विराजती हैं(व्रजका ही आश्रय ले रही हैं) हे प्यारे! आपकेलिए ही जिन्होंने प्राण धारण कर रखे हैं वे आपको दिशाओंमें(सर्वत्र) ढूंढ़ रहे हैं, उनको देखो।।१।।

इस प्रथम श्लोकमें आदिमें क्रिया दी गई है, वह काव्य(छन्द) शास्त्रके सिद्धान्तके अनुकूल नहीं है, तो भी जो दी गई है, उसका रहस्य यह है, कि यह क्रिया 'जय' धातुकी है. 'जय' शब्द मंगल करनेवाला है. इस भावसे गोपियोंने दी है, कि हमारे इस स्तुति गानमें कोई विघ्न नहीं होवे तथा जिस फल प्राप्ति (भगवान्के दर्शन) केलिये हम स्तुति करती हैं, वह फल सिद्ध होवे. यह भाव न होता, तो क्रिया पहले नहीं दी जाती. आपके प्राकट्यसे समस्त व्रज कृतार्थ हो गया है, किन्तु हम ही अकृतार्थ रह गई हैं, अतः आप कृपा कर वैसा प्रयत्न कीजिये, जिससे हम भी कृतार्थ होवें. आपके अवतार लेनेसे व्रजका अधिक उत्कर्ष हुआ है, कारणकि, यद्यपि वैकुण्ठका उत्कर्ष है, किन्तु व्रजका वैकुण्ठसे भी विशेष उत्कर्ष हम इसलिये कहती हैं कि भगवान् जैसी लीला यहां करते हैं, वैसी वहां(वैकुण्ठमें) भी नहीं करते हैं.

यद्यपि भगवान्का प्रकट दर्शन(प्राकट्य) मथुरामें हुआ है, तो भी उस(मथुरा)का सर्व प्रकारसे उत्कर्ष न होकर, व्रजका ही अधिक उत्कर्ष हुआ है.

भगवान्का प्रकट होना किसी स्थलकी सर्वश्रेष्ठतामें हेतु नहीं बन पाता अतः लोक प्रसिद्ध हेतु नहीं है. क्योंकि भगवान्का प्राकट्य अनन्यतया केवल व्रजमें ही तो हुआ है और अतएव यह एक ही तो प्राकट्य है ऐसी स्थितिमें(''जहां भगवान्का प्राकट्य होता है वह स्थल सर्वश्रेष्ठ है'' इस नियमका लोकमें अन्यत्र उदाहरण नहीं है, जिसकी समानताके तर्क पर व्रजकी सर्वश्रेष्ठताका अनुमान सम्भव हो) अतः सर्वश्रेष्ठताको सिद्ध कर पायें, ऐसा कोई अन्य हेतु देना चाहिये जो लोकसिद्ध हो. अतः कहती हैं कि जो लक्ष्मी वैकुण्ठमें नियत भार्या हो कर

रहती थी और जिसको किसीका कभी भी वहां आश्रय लेना नहीं पड़ता था वह लक्ष्मी यहां(व्रजमें) हीनभावसे अन्योंका आश्रय ले कर रहती है, कारणकि वहां तो एक वही थी, यहां तो वैसी(भार्याएं) हम बहुत ही हैं, जिससे उसके चित्तमें सन्तोष नहीं है, क्योंकि मुझे कब अवसर मिलेगा यह चिन्ता उसको दुःख देती रहती है अतः निरन्तर यहां ही रह कर सेवा करती है. लोकमें मनुष्य, जिस लक्ष्मीके पास आनेके कारण अपनी बड़ाई समझते हैं, उस लक्ष्मीने गोकुलका आश्रय लिया है. इस अर्थको योग्य बतानेकेलिये, अर्थात् लक्ष्मीने गोकुलको अपना निवास स्थान बना लिया है, इसलिये निश्चयवाचक 'हि' शब्द श्लोकमें दिया है. वहां किसलिये आकर निवास किया है? इस पर कहते हैं कि वह पतिव्रता है, पतिव्रता वहां ही रहनेमें अपना सुख, सौभाग्य समझती है जहां उसका पति रहता है. जब पति, भक्तों पर प्रसिद्धरीतिसे कृपा करनेकेलिए, उनके आधीन हो कर जहां रहता है (यह भक्ताधीनता उलूखल प्रकरणमें दिखाई है) वहां उसकी भार्याका निवास अतिशय ही योग्य है, अतः वह यहां आकर रही है इसमें क्या आश्चर्य है? आपके प्राकट्यसे व्रजका सबसे उत्कर्ष हुआ है, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है अतः यदि आप रमण करेंगे तो किसी प्रकार उसमें न्यूनता नहीं है और लक्ष्मीजीके मनमें भी खेद न होगा, कारण कि प्रतिव्रता स्त्री पतिके किये हुए कार्यसे सहमत रहती है. वह जानती है, कि मेरे पतिने व्रजको अंगीकार किया है अर्थात् व्रजजन मेरे हैं, इस कारणसे हमारेलिये पधारे हुए आपको यह गोकुल किसी समय देखना चाहिये, अर्थात् हमको दर्शन दो.

अथवा आगे कहा जानेवाला वाक्यार्थ 'दृश्यतां'(देखो)का कर्म है, इस पंक्तिका भावार्थ यह है कि आप देखो, कि जो आपके भक्त(हम) आपको यहां न देख कर दिशाओंमें ढूंढ रहे हैं यह अनुचित है, अतः हमको देखो. यदि भगवान् कह दें कि इसमें अनुचितता कैसे है, तो उसके उत्तरमें कहती हैं अन्य लोकवासी ब्रह्मादिक यह जान कर कि आप गोकुलमें विराजते हैं अतः आपके दर्शनकेलिये यहां आते हैं और हम आपकी जो यहां रहनेवाली हैं, वे दिशाओंमें ढूंढती फिरें इससे विशेष अनुचितता क्या होगी? तुम इसको अनुचितता कहती हो, वह सत्य नहीं है, क्योंकि अभक्तोंको दर्शन नहीं होते हैं, यदि कहो, कि व्रजस्थ भक्त हैं तो वह भी सत्य नहीं है, कारणकि यदि वे भक्त होते तो विरहमें उनके प्राण निकल जाते. इसके उत्तरमें कहती है कि आपका कहना सत्य है कि विरहमें प्राण निकल

जाने चाहिए, किन्तु ये प्राण आपके मिलनेकी आशासे धारण कर रखे हैं. जिस समय यह मालूम होगा कि वे प्राण आपके उपयोगमें आनेवाले नहीं हैं, उस समय वे स्वतः ही छूट जायेगा. प्राणोंके आश्वासनकेलिये आपको व्रजभक्त ढूंढ रहे हैं. अब यदि आप थोड़ा भी विलम्ब करेंगे तो प्राण चले जायेंगे. अन्यथा यदि हम आपको न ढूंढ कर व्रजमें चली जावें, तो आप प्रातःकाल होते ही पधारेंगे ही, और यों तो हमारा यह आपको ढूंढना व्यर्थ होता(परन्तु यह व्यर्थ नहीं है क्योंकि भक्तोंके ढूंढने पर आप मिलेंगे ही इसी आशासे हमारे प्राण टिके हुए हैं और हम आपको ढूंढ रही हैं) हम आपकी हैं और आपके होते हुए भी इधर-उधर हम दिशाओंमें ढूंढ रही हैं. यों करना गोपियोंकी महती दीनता है, अतः गोपियों कहती हैं कि आप एकबार, आपकी जो हम हैं, उनको देखो. यह प्रार्थना है. इस प्रकार एकने दर्शन देनेकेलिये प्रार्थना की है. श्लोकमें 'दयित' इस सम्बोधन देनेसे यह भाव प्रकट किया है, कि भर्ताका यदि दर्शन न होवे तो पत्नीका जीवन व्यर्थ है. अगर भगवान् हमको देखलें तो उससे किसी प्रकारका पुरुषार्थ सिद्ध न होगा फिर भी, देखेंगे तो हमारी दीनता देख अवश्य हमको भी अपने दर्शन करायेंगे ही. हमारी यही प्रार्थना है।।१।।

प्रथम श्लोकमें जिस गोपीने अपनी दीनता और भगवान्के दर्शन न देनेको अनुचित कहा है जिससे मालूम हो जाता है कि वह गोपी सात्विक-राजसी थी, अब 'शरदुदाशये' श्लोकमें सात्विक तामसी गोपी कहती है कि आपका दर्शन न देना यह हमारे वधका साधक(कारण) है अतः प्रार्थना करती है कि, जैसे हमारा वध न हो वैसे करो अर्थात् दर्शन दो.

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदर श्रीमुषा दृशा ।
सुरतनाथ ते शुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ।।२।।

हे सुरतनाथ! शरद्ऋतुके समयवाले सरोवरमें, सुन्दर प्रकारसे उत्पन्न कमलके उदरमें स्थित शोभाको भी हरण करनेवाली अपनी दृष्टिसे जो हम आपकी कुत्सित(अधम) दासियां अथवा धर्म दासियां हैं उनको मारते हैं हे वरद! क्या यह वध नहीं है।।२।।

शरद्ऋतुके समय सरोवरमें सुन्दर प्रकारसे उत्पन्न कमलके उदरमें स्थित शोभाको भी हरण करनेवाली आपकी यह दृष्टि है, जिससे आप हमको मारते हो. हे वरद् क्या यह वध नहीं है? वास्तवमें, वह वध ही है, इससे वधका दोष लगता

ही है. जिस साधनसे, दूसरेके प्राण जावें, उस साधनको तैयार करनेवाला घातक(मारनेवाला) दोषी होता है, इससे बताया, कि भगवान्की यह दृष्टि सबको मारनेवाली है, जैसे कहा भी है, कि ''आयुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छत्'' भगवान्की दृष्टि, आयु, मन और बलको हरण कर लेती है, वैसे(ही) हमको भी अधिकतर क्रूर दृष्टिसे देखते हैं, यदि आनन्दमय दृष्टिसे देखते होते, तो प्राण बाधा कैसे होवे? यह हम मानती हैं, कि आपका रूप आनन्दमय है और दृष्टि भी आनन्दमय ही है, किन्तु उस दृष्टिसे देखो तो प्राण बाधा न होवे, प्राण बाधा होनेसे, हम समझती हैं, कि उस आनन्दमय दृष्टिके होते हुए भी हमको क्रूर दृष्टिसे देख कर हमारा तो केवल घात ही करते हैं. एक तो हम स्त्रियोंका वध और फिर वह भी निष्प्रयोजन ही ऐसा तो कोई भी नहीं करता. और हम वधके योग्य नहीं हैं, कारणकि कुदासिंया(अधम दासियां) हैं, जिसमें भी हम मोल ली हुई दासियां हैं और आप सुरतनाथ हैं. आप सब प्रकारके पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाले हैं. इसलिये ही आपके सम्बोधन अधिकारके अनुसार नियत किये हुए हैं. जैसेकि धर्ममार्गमें, आपको हे धर्मपालक! हे ब्रह्मण्य! हे यज्ञेश्वर! आदि देते हैं. अर्थके सन्दर्भमें हे लक्ष्मीपति! हे सर्वसिद्धियोंके दाता! इत्यादि वैसे ही मोक्षमार्गमें, हे मुकुन्द! हे योगेश्वर! हे ज्ञाननिधे! आदि सम्बोधन देते हैं वैसे(ही) हम भी आपको इस काममार्गमें, वैसा ही सम्बोधन देना उपयुक्त(योग्य) समझती हैं इसलिये हमने आपको 'सुरतनाथ' कहा है. जगत्में, जितने भी भोग हैं, उनके नाथ आप हैं. आपकी आज्ञाके बिना जगत्में 'सुरत' भोगकी प्रवृत्ति ही नहीं होवे अतः ब्रह्मने वा कामदेवने लोकमें सुरतकी प्रवृत्ति करानेकेलिये हम शुल्करूप दासियां आपको दी हैं. 'शुल्क'का तात्पर्य यह है कि स्वरूपानन्दानुभवके मार्गको प्रशस्त प्रवृत्त करनेमें गोपिकाएं शुल्क हैं. इनके कारण इस मार्गकी सारी रुकावटें दूर हो गईं. सु+रत=सुन्दर अलौकिक शोभावहरत यह भगवद्भाव है सम्भोग नहीं. मार्गमें किसी प्रकारकी रुकावट न हो, यदि हो तो उस रुकावटको मिटानेवाला द्रव्य-शुल्क है. यदि सुरत भगवान्में ही निरुद्ध(रुका हुआ) रहे तो लोकमें रस नहीं होगा, इसलिये वह(सुरत) आपसे हमारे द्वारा(जरिये) लोकमें प्रवृत्त होगा(फैलेगा). अतः हम आई हैं. जिस कार्यकेलिये हम आई हैं, वह कार्य करना तो दूर रहा, प्रत्युत(बल्कि) हमको आप मारते हैं. यदि यों आप करेंगे, तो समग्र कामशास्त्र व्यर्थ हो जायेगा, जिससे पुरुषार्थोंमें, जो तीसरा पुरुषार्थ 'काम'

को गिना जाता है, वह रहेगा ही नहीं, इसलिये जिस वास्ते हम भेजी गई हैं, वह कार्य सर्वथा करना ही चाहिये. यदि आपकी इच्छा अब करनेकी नहीं होवे, तो जब भी इच्छा हो तब करना, किन्तु करना आवश्यक है, और वह कार्य जब भी करो, परन्तु हमको जीवित रखनेकेलिये दर्शन दो, अर्थात् रूपको प्रकटकर, हमको जीवन दान दो.

आपकी दृष्टि मारनेवाली है–उसका 'श्रीमुषा' पदसे समर्थन करती हैं, कि वह कमलकी शोभाको चुरानेवाली हैं. जो चोर होता है वह घातक भी होता है. चोर जितना भी चोरी करनेमें विशेष निपुण होता है वह मारनेमें भी वैसा ही चतुर होता है, इसलिये कहती हैं, कि 'उदर श्रीमुषा,' जो चोर किलेसे चोरी कर सकता है, उसे अति चतुर कहते हैं, किन्तु उसमें भी, जलके बीचमें बने हुए किलेसे चोरी कर आवे, वह उस अतिचतुरसे भी 'चतुरतम' होता है. यहां जलदुर्ग(किले)में रहनेवाला कमल है, सूर्यके कारण विकसित भी है. शीतादि उपद्रव न होनेसे खिले हुए वैसे कमलोंके उदरकी शोभाको भी आपकी दृष्टि चुरा लेती है जिसका वहांसे चुराना अशक्य है, तो भी जब चुरा लेती है, तो साधारण गोपीकादिकोंके अन्तःस्थित प्राणोंको चुरा लेगी उसमें क्या आश्चर्य है? जो बलिष्ठ हैं, वह, (जो चाहिए) यों ही ले सकता है फिर चोरी क्यों करता है, उसके उत्तरमें कहती है, कि चोरी इसलिये करता है, कि बलपूर्वक ले लूंगा, तो मेरी अपकीर्ति होगी. मेरी अपकीर्ति न होवे, इसलिये चोरी करता है. यदि आप यों समझते हो, तो वह बात यहां सिद्ध न होगी, क्योंकि यहां तो आप जो वध करते हो, वह तो प्रकट हो जायेगा. अथवा 'अदृशा' दर्शन न देनेसे भी, यदि हम मरी तो क्या वह वध नहीं है? वह भी वध है, हम सुरतकेलिए आई हैं, वह तो सिद्ध न हुआ, किन्तु मरण प्राप्त हुआ. यदि यों हुआ, तो सुरतका प्रकट होना बन्द हो जायेगा जिससे आपका नाथत्व भी नहीं रहेगा क्योंकि योगीमें अश्व बनानेकी सामर्थ्य हो किन्तु वह जब तक अश्व बना कर तैयार नहीं करता है, तब तक वह 'अश्वपति' नहीं कहलायेगा. और हमारे वधमें तो क्या आश्चर्य है, किन्तु आप प्रकट न होओगे, तो शोभा(लक्ष्मी) भी नहीं रहेंगी. इसको कहते हैं 'श्रीमुषा' उदरमें स्थित श्री(शोभा) यदि बाहर आ गईं, तो वह उसी समय नष्ट हो जायेगी जैसे अपुष्ट(कच्चा) आम गर्भनाश होता है, यद्यपि उस(शोभा)के जीवनकेलिये काल, द्रव्य, देश, वस्तु आदि अनेक पदार्थ हैं, तो भी आपके दर्शनके बिना वह

भी नहीं जीएंगी वैसे ही हम भी नहीं जीएंगी.

यह तो अत्यन्त आश्चर्य है, कि आप सकल जनोंको वर देते हैं और हमको मारते हैं, वरदाता तो प्रत्यक्ष होता है, अथवा हम आपकी बिना मोलकी दासियां हैं तथा धर्मदासियां हैं, इसीसे हम मारने योग्य नहीं हैं, अतः हमको मत मारो, इस प्रकार, अनेकविध क्रूर भावनासे कितनी ही गोपीजन भगवान्को उलाहना देती हैं।।२।।

रत लौकिक होता है, इसे भोग कहते हैं. यह भोग तो प्रवृत्त ही है सृष्टिके आरम्भसे अद्यावधि. वहां भगवान्की आज्ञाकी अपेक्षा नहीं है. सृष्टिके समान वह भी स्वतः चलता रहता है. अतः 'सुरत'का अर्थ है सम्यक् भोग अर्थात् अलौकिक शोभा वह सुन्दर रत=सुरत. यह गोपिकाओंमें ही है और भगवदाज्ञासे ही. इसे अलौकिक कहा इसका अर्थ है स्वरूपानन्दरूपता. इस स्वरूपानन्दके दानमें समर्थ नाथ केवल आप ही हो. यदि आप दान न करो तो भक्तोंके हृदयमें आनन्दाविर्भाव न होनेसे शून्यता ही रह जायेगी.

अन्तःस्थितो रसः पुष्टो बहिश्चेन्न विनिर्गतः।
तदा पूर्णो नैव भवेदिति वाग्निर्गमस्तथा।।का.।।

अन्तःकरणमें रहा हुआ रस पुष्ट हो जाने पर, यदि बाहर न निकले, तो पूर्ण नहीं होता है, अर्थात् बाहर आ जानेसे ही पूर्णताको प्राप्त होता है, इसी प्रकार गोपीजनोंके भीतर जो भाव(रस) भर कर पुष्ट हो गया था वह भी वाणी द्वारा जब बाहर निकला तब पूर्ण हुआ है.

फिर दूसरी सात्विक-सात्विकी गोपीजन 'विषजला' श्लोकसे कहती है, कि आपने हमारी बहुत प्रकारसे रक्षा की है, अब भी हमारा पालन करो.

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद्वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद्विश्वतो भयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ।।३।।

हे ऋषभ! विषके जल पीनेसे हुई मृत्युसे, कालीय सुदर्शन आदि सर्पोंसे तृणावर्त आदि राक्षसोंसे इन्द्र द्वारा की हुई वर्षा तथा वायुसे और बिजली तथा अग्निसे, व्योमासुरसे एवं सर्व प्रकारके जो भी भय आए उन सबसे, आपने हमारी रक्षा की है(अतः अब भी पालन करो)।।३।।

'विषजल' कालीय सर्प श्रीयमुनाजीके जिस हृद(कुण्ड)में आकर रहा था, उसका जल विषपूर्ण हो गया था उस विषवाले जलको पीनेसे, बालक और

गाएं मर गई थीं उन सबको आपने जीवित किया. कालीय, सुदर्शन आदि सर्प और तृणावर्त आदि राक्षसोंसे भी बचाया. इन्द्र द्वारा की हुई वर्षा, वायु और बिजलीसे तथा दावाग्निसे रक्षा की, एवं मयके पुत्र व्योमासुरके भयको मिटा दिया. गोपियां सर्वज्ञ हैं इसलिये उनको यह आग्रह नहीं है, कि जो लीलाएं हो गई हैं वा जो होनेवाली हैं हम किसको कहें वे तो सारांशमें कहती हैं, कि बहुत क्या कहें, आपने तो चारोंतरफके भयसे हमारी रक्षा की है. आपने इस प्रकार हमारी रक्षा इसलिये की है, कि आप हमारे 'ऋषभ' भर्ता हैं, भर्ता पालता है ही, अतः आप सर्वदा पालक हैं जिससे अब भी पालन करो. पूर्वमें तो मारनेवाले बाहरके थे, अब तो भीतरके हैं, इसलिये आपको सर्वथा हमारा पालन करना चाहिये।।३।

दूसरी गोपियां, जो गुणातीता हैं, वे भगवान्का महाप्रभाव जानकर, उनके स्वरूपको गाती हैं, भगवान् जैसे ज्ञानियोंको मोक्ष देते हैं, वैसे ही हमको भी हमारे योग्य मोक्ष देंगे इसलिए 'न खलु' श्लोकसे उनकी स्तुति करती है:

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ।।४।।

हे सखे! आप कोई यशोदाके पुत्र नहीं हैं, आप तो सर्व प्राणियोंके अन्तर्यामी हैं, जगत्की रक्षाकेलिए जब ब्रह्माने प्रार्थना की, तब यादवोंके कुलमें आप उदय हुए।।४।।

निर्गुण गोपियां कहती हैं कि यदि भगवान् नन्दके पुत्र होवें, तो उनको उपालम्भ देने भी योग्य हैं, वह तो है ही नहीं, अतः उपालम्भ देने सब प्रकारसे, अयोग्य हैं, यह छिपी हुई बात नहीं है किन्तु निश्चय है, जिसको स्पष्ट शब्दोंसे श्लोकमें कहती हैं, कि 'न खलु गोपिकानन्दनो भवान्' निश्चयसे आप यशोदाजी के पुत्र नहीं हैं, यदि मान लिया जाये, कि यशोदाजीने उनको पुत्र मान कर अपने वश कर लिया है, तो गोपियां भी उनको वश कर सकती हैं, क्योंकि गोकुलके स्वामी नन्दजीका पुत्र है. जहां बराबरी होती है, वहां ही विद्या और योनिका सम्बन्ध होता है, और विशेषमें आप केवल वैकुण्ठके अधिपति पुरुषोत्तम नहीं हैं किन्तु सकल देहधारियोंके(जिसमें हम भी आ गई हैं) अन्तःकरणोंके द्रष्टा हैं, अतः जब हमारे भीतर वैसे ताप देखेंगे तब प्रसन्न होंगे, इसलिये हमको इस विषयमें कुछ कहना नहीं चाहिये. और पधारे तो हमारे जैसोंके परिपालनकेलिये ही हैं, जब जानोगे ये नष्ट होती हैं तो बचा लोगे. रक्षाकेलिये तो प्रार्थना की हुई

है. आप अपनी इच्छासे तो पधारे नहीं हैं. सर्वथा वेदका विचार करनेवाले ब्रह्माजीने जगत्की रक्षाकेलिये भक्तोंकी पूजाको ग्रहण करनेकेलिये पधारनेकी जब प्रार्थना की, तब आप पधारे हैं जिसमें भी विशेष विश्वकी रक्षाकेलिये पधारे हैं. ब्रह्माजीने, भगवान्की पूजा भजन कैसे करना चाहिये, यह समझानेकेलिये वैखानसमत प्रकट किया है. उस मतके अनुसार की हुई पूजाको भगवान् स्वीकार करते हैं. वेंकटादि तीर्थस्थलोंमें उसी प्रकार पूजा होती है. भगवान् सबके अन्तरात्मा होनेसे, सबके सखा हैं. लोकमें सख्य प्रकट करनेकेलिये यादवोंके अथवा वैष्णवोंके कुलमें प्रकट हुए हैं अतः इसलिये ही पधारे हैं. पहले भी सखा है ही, क्योंकि श्रुति कहती है, कि 'सयुजौ सखायौ' साथ रहनेवाले दोनों ईश्वर और जीव आपसमें मित्र हैं. जैसी इच्छा होती है वैसी(ही) प्रेरणा करते हैं. अब तो आये हैं, तो विशेष ही करना चाहिये, वह विशेषता 'आत्मनिवेदन'रूप होनी चाहिये अतः हम क्या प्रार्थना करें, जैसे योग्य समझो वैसे करना चाहिये यों भाव है।।४।।

भगवान्का नन्दगृहमें प्रादुर्भाव हुआ है यह पहले बता ही दिया, अतः यहां जो अब गोपिका उसका निषेध कर रही है उसका तात्पर्य यह है, कि जैसे मथुरामें वसुदेवसे देवकीमें आकर प्रादुर्भाव हुआ वैसे यहां नन्दसे यशोदामें नहीं आये क्योंकि गर्भमें तो माया थी और तब तक भगवान् हृदयमें रहे और प्राकट्यके समय मायासे आवृत हो कर प्रादुर्भूत हुवे. अतः लीलार्थ केवल नन्दके भी पुत्र हैं एवं केवल यशोदाके भी किन्तु नन्द-यशोदाके पुत्र भगवान् नहीं हैं.

राजसप्रधान गोपियोंसे, ये दूसरी सात्विक-सात्विकी अनन्यपूर्वाएं उत्तम हैं उन्होंने विचार किया कि, प्रार्थना करनेके सिवाय भगवान् नहीं देंगे अतः इस (विरचिताभयं) श्लोकमें प्रार्थना करती है, कि आप अपने कर कमलको हमारे शिर पर धरो:

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते शरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ।।५।।

हे वृष्णिकुलमें श्रेष्ठ! हे कान्त! संसारसे डर कर जो आपके शरण आते उनको अभय देनेवाला, सकल जीवोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला तथा श्रीलक्ष्मीजीका पाणिग्रहण करनेवाला जो आपका हस्तकमल है, वह हमारे शिर पर धरो।।५।।

हे स्वामी! हमारा हृदय वियोगकी उष्णतासे फटता है उससे बचाने केलिये आप अपने कर कमलको हमारे शिर पर धरो, जिससे हमारे सर्व अंगमें व्याप्त उष्णता मिट कर शीतलताका प्रसार होवे, कारणकि यों ही कमल शीतल होता है, फिर यदि वह सरोवरमें उत्पन्न हुआ होवे तो विशेष शीतल होता है, आपका कर, सरोवरका स्थान है और कमलका भी स्थान है अतः सदैव शीतल रहते हैं. अन्य कमलोंकी सरोवरसे बाहर आनेके कारण शीतलता कम हो जाती है किन्तु यह कमल तो सदैव कररूप सरोवरमें निरन्तर वास करता है, अतः अति शीतल रहता है. इसका मस्तकको स्पर्श होते ही, हमारे सर्वअंग शीतलतासे व्याप्त हो जायेंगे, जिससे ताप मिट जायेगा. 'कान्त' यह भगवान्के सम्बोधनके रूपमें कहा है. सिर पर हाथ धरनेसे पहले शरणागतिका स्वीकार होगा और दूसरे फिर यह हस्तकमल केवल ताप ही दूर करता हो यह बात नहीं किन्तु कामनाओं को पूर्ण करनेवाला भी है. जो कुछ अभिलषित है उसे देनेमें समर्थ है. भगवान् पुरुषोत्तम, योगियोंसे ध्येय हैं, वे स्त्रियोंका स्पर्श कैसे करेंगे? इस शंकाका उत्तर देती हैं, कि योगिध्येय होते हुए भी वे गृहस्थ हैं, उन्होंने जब श्रीलक्ष्मीजीका हस्त ग्रहण किया है, तो हमारे शिर पर करकमल धरनेसे क्या होगा? कुछ नहीं होगा. यदि कहो कि लक्ष्मीका हस्त, शास्त्रविधिके अनुसार विवाहमें पत्नीका पाणीग्रहण करनेके कारण स्वपत्नी समझ कर किया है. आपका कौनसा सम्बन्ध है जो आपके सिर पर हस्त धरें? इसके उत्तरमें कहती हैं, कि हम संसारके भयसे आपके शरण आई हैं, अतः हमको निर्भय करो, जिस प्रकार विवाहमें स्त्रीके हाथ ग्रहणकी शास्त्र विधि है, उसी प्रकार शरणमें आये हुएके पालन करनेकी विधि है विवाहकी अपेक्षा, शरणागतकी रक्षा विशेष है, क्योंकि वह(विवाह–ग्रहस्थधर्म) साधारणधर्म है, किन्तु यह(शरणागत रक्षण) महान् धर्म होनेसे ईश्वर धर्म है.

शरणागत रक्षण धर्म महान् है, ईश्वर धर्म है, किन्तु जो प्रकार आप कह रही हो, वह प्रकार निषिद्ध है अर्थात् पुरुष हो कर स्त्रियोंके शिर पर कर धरना निषिद्ध है, वह निषिद्धधर्म हम कैसे करें? इसके उत्तरमें कहती हैं, कि आपका यह कहना आपके वंशकी मर्यादाके अनुकूल नहीं है. आप वृष्णिधुर्य हो, 'वृष्णि' यदुवंशमें(एक) राजा उत्पन्न हुआ है. उसके बहुत स्त्रियां थीं और बहुत सन्तानें उसने उत्पन्न की थीं. उस वंशमें आप उत्पन्न हुए हैं. केवल इतना ही नहीं है किन्तु उस वंशमें आप श्रेष्ठ हैं, अतः जो प्रकार हम कहती हैं वह बहुत स्त्रीवाले,

यदुवंशमें श्रेष्ठ आपकेलिये निषिद्ध नहीं है. उसमें भी जो स्त्रियां आपकी शरणमें आई हैं वे संसारके भयसे आई हैं. संसार स्वभावसे ही दुष्ट नहीं है, किन्तु असह्य दुःखके कारण ही. वैसे(ही) हम भी अत्यन्त दुःख पा रही हैं. इस दुःखका कारण दृष्ट है वा अदृष्ट है उस कारणके मिटानेकी शक्ति आपमें ही है अतः आपही उसको मिटावोगे. इस प्रकार कहनेसे, गोपियोंने यह सूचित किया, कि इसलिये हम निर्भय हैं. हे कान्त! यह सम्बोधन दे कर बताया है, कि आप हमारे भर्ता(पालन-पोषण करनेवाले) हैं अतः आपका स्त्रियोंकी रक्षा करनेमें जो व्रत अर्थात् शास्त्रीय नियम(विधि) है उनको स्मरण करते हुए जो योग्य समझो वह करो।।५।।

पश्चात् तामसी कुछ विलक्षणतासे धृष्टता(ढीठाई) पूर्वक उसी ही अर्थकी प्रार्थना करती है अर्थात् दुःखकी निवृत्ति और मनोरथकी पूर्तिकी प्रार्थना 'व्रजजनार्तिहन्' श्लोकसे करती है:

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ।।६।।

हे व्रजजनोंके आर्तिको हरण करनेवाले! हे स्त्रियोंके वीर! हे मंदहास्यसे अपने भक्तोंके गर्वको तोड़नेवाले! हे सखे! अपनी सेविकाओंको भजिए, अपना सुन्दर मुखकमल दिखाइए।।६।।

वह तामसी व्रजभक्त कहती है, कि हे भगवान् ये बोलना नहीं जानती है, मैं तो निर्णय किये हुए सिद्धान्तको कहती हूं. भगवान्को फिर, हे सखे! सम्बोधनसे कहती है, कि जो कुछ मैं कहती हूं, वह आपको ठगनेकेलिये नहीं कहती हूं, इसका आप विश्वास करो, आप मेरे सखा हैं, सखासे वञ्चना(ठगाई) नहीं की जाती है. अतः आप हमको भजो, यह आपकेलिये हित(लाभ)का उपदेश है. यदि आप कहें कि यह कैसी धृष्टता है कि मैं तुमको भजुं? और स्वामीका सेवकको भजना निषिद्ध है. तो इसकेलिये हमारा उत्तर है, कि यह कार्य न निषिद्ध है और न धृष्टतापूर्ण है, कारण, कि हम आपकी दासियां हैं, आपकी प्रतिज्ञा है कि ''जो मेरी शरण जिस भावनासे आते हैं मैं भी उनका उसी भावसे भजन करता हूं'' और वह प्रतिज्ञा डण्केकी चोटसे सर्वत्र प्रसिद्ध है, अतः जैसे हम दासियां आपका भजन करती हैं, आप भी उसी प्रकार हमें भजो, हम दासियां हैं और आपकी(यह) प्रतिज्ञा, ये दोनों प्रसिद्ध हैं.

हमारे भजन करनेमें, आपकी केवल एक वह प्रतिज्ञा, ही हेतु नहीं है किन्तु दूसरे भी कारण हैं, १.हमारे भजनमें प्रथम कारण आपका अवतार है, आपने अवतार इसीलिये ही लिया है कि व्रजजनोंकी आर्ति(दुःख) दूर हो. हम व्रजजन हैं और हमको जो यह आर्ति है इससे बढ़ कर दूसरी कोई आर्ति नहीं है. यह प्रयोजन तो सामान्य है.

अब गोपीजन भगवान्के अवतारका विशेष प्रयोजन बताती हैं कि भगवान् योषित्–स्त्रियोंकेलिये वीर हैं, स्त्रियोंको अपने आनन्दका दान करनेवाले सदानन्द एवं ऐश्वर्य आदि छह गुणोंसे युक्त हैं. वीरपुरुष दानवीर पुरुष दूसरोंमें रहे हुए काम(कामना) अभिलाषा आदि शूरोंको दूर करते हैं(दानवीर अन्न या धनके उन–उन दान द्वारा अभिलाषा पूर्ण करके उसे निवृत्त कर देता है, युद्धवीर गर्व आदिको युद्धसे दूर करता है) काम बहुत प्रबल शूर है, और वह अनेक प्रकारका है. यह आनन्दके बारेमें है अतः स्वरूपानन्दके दानसे भीतर–बाहर सब कुछ आनन्द परिपूर्ण हो जाये तब भगवान्की दानवीरता सिद्ध होगी. सामान्य वीरोंकी अपेक्षा अतएव लोकमें दानवीरकी ही अधिक कीर्ति होती है. और फिर भगवान् तो महान दानवीर हैं क्योंकि जो ब्रह्मा भी नहीं कर सकते हैं वैसी अति दरिद्रोंके मुख्य कामकी इच्छाको आप ही अपने अन्तः(भीतर)स्थिति आनन्दके दानसे पूरण करते हैं इसीलिये आप महावीर हैं. इस बातको जानते ही हैं अतएव 'योषितां वीर' यह सम्बोधन किया गया है. कृष्ण(आप)के सिवाय किसी दूसरेको लोकमें यह 'योषितां वीर' विशेषण नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि अन्य सब अपूर्ण काम हैं. आप एक ही पूर्णकाम हैं, अतः अन्योंकी कामनाओंकी पूर्ति भी आप ही कर सकते हैं, इसीलिये अवतारके साधारण एवं विशेष दोनों प्रयोजनवश हमको भजो ही.

यदि आप कहो, कि तुम्हारा यह कहना सत्य है, किन्तु मैं तुम्हारा भजन इसलिये नहीं करता हूं, कि तुम्हारा अभिमान दोष मिट जाये, इसके उत्तरमें, मेरा कहना है, कि हम आपकी सेविकाएं हैं, अतः अभिमानदोषसे उनका त्याग करना, कोई गर्वनाश करनेका उपाय नहीं है, किन्तु उसका उपाय आपका मन्द हास्य है. आप केवल मन्द हास्य कर दो, तो हमारा अभिमान नष्ट हो जावे, कारण कि आपका हास्य जनोंमें, उन्माद करनेवाली 'माया' है. उस हास्यरूप मायाके कारण ही हम लोगोंमें गर्वकी उत्पत्ति हुई है अतः आप अब उसको मन्द

कर दो, तो हमारा गर्व नाश हो जायेगा. इसलिये ही आपकी मन्दमुस्कान ही गर्व तोड़नेका साधन(उपाय) है.

आपके जो जन हैं, उनका धर्म ही दुष्ट है, स्वयं वे धर्मी तो दुष्ट नहीं हैं, यदि वे धर्मी ही दुष्ट हों तो वे निजजन ही न रहेंगे. यह अलौकिक उपाय अपने अहंकारको नाश करनेकेलिये कहा है.

लौकिकमें भी, आपके हास्य(माया)से वे(दासियां) भी अपने आपको, आपके समान समझती हैं. अतः जब उस हास्यका संकोच होगा, तब ही उनके गर्वका नाश होगा. माना कि अभिमान भी दोष है, किन्तु वह तब तक रह सकता है, जब तक आपके मन्द मुस्कानवाले मुखका दर्शन न होगा. कोई भी वैसी नहीं है, जो स्मितवाला मुख देखकर, अभिमानकी रक्षा कर सके. यदि आप कहो, कि तुम, इसको जो साधन कहती हो, वह साधनके ढंगसे लोकमें प्रसिद्ध नहीं है, तो उसको साधन कैसे समझा जाये, इसके उत्तरमें कहती हैं, कि आपका मुख, कमल जैसा है, अतः उससे अमृत रहा है उसका दर्शन कराओ. उसके दर्शनसे, जो स्रवित अमृतका पान होगा, उस पानके अनन्तर, किसी प्रकारका दोष किसीमें भी न रहेगा, यह युक्ति है. यदि आपको, इसके साधन होनेमें संशय होये, तो एक बार दर्शन कराके अनुभव कर लो, कि वह दोष नष्ट हुआ वा नहीं! अभिमान मनका धर्म है और आपका मुखारविन्द सुन्दर है जिससे वह मनका हरण कर लेता है, धर्मी(मन)का हरण हो जाने पर, उसका धर्म (अभिमान) रहेगा नहीं और फिर सखाको अपने सखाका भजन करना योग्य ही तो है।।६।।

तामसीसे राजसी उत्तम है, अतः वह उसी ही प्रकारकी प्रार्थना अन्य ढंगसे 'प्रणत देहिनां' श्लोकमें करती हैं:

प्रणतदेहिनां पापकर्षणं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ।।७।।

आपका चरणकमल, जो प्रणाम करनेवाले प्राणियोंके पापोंका नाश करनेवाला है, जो गौओंके पीछे फिरनेवाला है, लक्ष्मीका निवासरूप है और जो कालीयनागके फणों पर धरा हुआ है, उसको हमारे स्तनों पर रखकर, हमारे कामको शान्त करो।।७।।

आपके चरणकमलको हमारे स्तनों पर स्थापन करो, कारणकि वह हमारे हृदयमें चोरके समान छिप कर बैठे हुए कामको नाश करनेवाला है, मूल श्लोकमें

'कुचेषु' बहुवचन इसीलिये कहा है, कि न केवल मेरे जो मैं प्रार्थना कर रही हूं, किन्तु जितनी भी हम हैं उन सबके स्तनों पर चरणकमल धरो, जिससे सबके हृदयसे कामका नाश हो जाये अथवा विरहवश गोपिकाएं अपने स्तनोंको अपना माननेमें उद्यत नहीं है (संयोगरसमें तो उन स्तनोंका भगवदर्थ उपयोग है, किन्तु विप्रयोगरसमें भगवदुपयोग कुछ भी नहीं, तो फिर उन्हें अपना भी क्यों माना जाये? प्रार्थनाका आशय यह है, कि हम पर यदि चरणारविन्द धरना नहीं चाहते हो तो मत धरो, परन्तु इन पर, जहां हमें ममत्व नहीं है, (वहां) धरनेमें क्या आपत्ति है? अतः उन पर चरणकमलके स्थापनसे उनमें रहे कामको दूर करो) शिर पर हस्तकमल धरनेकी प्रार्थना करनेका आशय निकट बुलानेका था. पश्चात् भजन करनेकी जो प्रार्थना की है, वह सम्बन्ध हो जानेकेलिये की है. अब इस श्लोकमें, विपरीतरस अथवा तिर्यक् बन्धका कोई भेद है, जिसकी प्रार्थना की है. एक चरणकमलके स्पर्श करनेकी प्रार्थनासे, अनुमान होता है, कि वैसा कोई बन्ध विशेष होगा, जिसमें स्तनोंसे एक चरणका स्पर्श होता होगा, जिससे कामकी शान्ति होती होगी, अथवा भगवान् जब अनेक स्त्रियोंसे लीला करते हुए, शयन करते होंगे, तब सब स्त्रियां चरणके पास स्थित होनेसे, चरणका सबके स्तनोंसे सम्बन्ध होकर, प्रत्येकके भावानुकूल रसकी प्राप्ति होनेसे कामकी शान्ति हो जाती होगी. यों भी आप मत कहना, कि आपके स्तन कठोर हैं उन पर अपना कोमल चरण कैसे धरूं? आप यह निश्चय जानो, कि कालियके फणोंसे, हमारे स्तन कठोर नहीं हैं, अतः जैसे उसके फणों पर चरण धर, उसके दोष नाश किये हैं, वैसे (ही) हमारे स्तनोंको चरणस्पर्श कराके हमारे कामको नाश कीजिये. आपका चरण, कमल है अतः ताप नाशक है, अथवा कमलके समान भी हो, तो भी ताप नाशक ही है. इसलिये, अर्थात् ताप नाशकेलिये अवश्य हमारे स्तनोंको चरणस्पर्श करानेकी कृपा करो. आपका यह कहना हम कैसे मानें? क्योंकि स्त्रियोंकी छाती पर पाद रखना पुरुषकेलिये योग्य नहीं है, इसके उत्तरमें कहती हैं, कि आपका चरण लक्ष्मीजीका स्थान है अर्थात् लक्ष्मीजी आपके चरणोंका स्पर्श करती हैं, उसमें आप अयोग्यता नहीं देखते हैं, तो लक्ष्मीकी अंशरूप हमको स्पर्श करानेमें क्या अयोग्यता है? किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है. लक्ष्मी चतुर हैं, आप मूढ हैं मूढोंका हित कैसे किया जाये? उसके उत्तरमें कहती हैं कि गायें मूढ हैं, उनके हितकेलिये जैसे उनके पीछे-पीछे जाकर उनका हित करते हैं. वे क्या

आपकी प्रेरणासे तृणको छोड़ कर अमृत खाती हैं? उनकेलिये जैसे तृण ही अमृत है, वैसे ही हमारेलिये काम ही अमृत है. हमारा अमृत काम है और हम मूढ हैं, जिससे परम कृपालुके किसी भी अर्थकी हानि नहीं होती है. तुम्हारी सब बातें हमने मानी, किन्तु तुम जितेन्द्रिय नहीं हो अतः तुममें पाप रहा हुआ है, वह जब नष्ट होगा, तब मैं चरण धरूंगा, जिसके उत्तरमें कहती हैं, कि आप शरणमें आये हुए प्राणियोंके पापोंका नाश करनेवाले हैं, हम तो धर्ममार्ग आदिका त्यागकर, शरणमें आकर प्रणाम करती हैं. हमारे पास आपको प्रणाम करनेके सिवाय कोई साधन नहीं है, अतः आपके चरणोंके प्रसादसे ही, हम नम्रोंके पाप नष्ट होते हैं और फिर हम तो देहधारी हैं. प्रणत अत्याधिक नम्र हैं अर्थात् धर्ममार्ग आदि सभी साधनोंके त्यागपूर्वक शरणागत हुई हैं. देहाभिमानके बने रहनेसे ज्ञान भी तो हममें नहीं है. प्रणत जीवोंकी अधोगति भी नहीं होती इस उभयतः पाशमें अतः आप जबतक चरणस्पर्श न दें, तबतक पापनाश नहीं हो सकता है अतः पाप नाशकेलिये भी आपका मिलना आवश्यक है क्योंकि आपके चरणारविन्द ही चिन्तन, दर्शन, स्पर्श वा आलिंगनसे पापके नाशक होते हैं।।७।।

उसी ही आशयवाली प्रार्थना, अन्य प्रकारसे, उससे भी उत्तम अर्थात् गुणातीत गोपी 'मधुरया' श्लोकसे करती हैं:

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाप्याययस्व नः ।।८।।

हे कमलनयन? हे वीर! आपकी सुन्दर वाक्यवाली, ज्ञानियोंके मनको आनन्द देनेवाली, तथा मधुरवाणीसे मोहित हुई हैं, जो आपकी दासी हम, उनको अधरामृत पिला कर जीवनदान दीजिए।।८।।

हस्तेन च स्वरूपेण पदा चोपकृतिर्मता।
मुखेन चोपकारो हि कर्तव्य इति ता जगुः ।।का.१।।
पूर्वोक्तमपि सर्वं हि यावत्स्पष्टं न भाषते।
तावत्सरसतां याति न कदाचिदिति स्थितिः ।।का.२।।

गोपियोंने ऊपरके ५,६,७ श्लोकमें हस्त, स्वरूप तथा चरण से उपकारकी प्रार्थना की थी. इस ८वें श्लोकमें प्रार्थना करती हैं कि आपके मुखारविन्दमें अधरामृत है, अतः अब उस(मुख)से आपको हमारा उपकार करना चाहिए, इस प्रकारकी प्रार्थना करने लगीं।।१।।

जो कुछ पहले कहा गया है वह रसभरित तब होगा, जब भगवान् मुखसे स्पष्ट कहेंगे, जबतक स्पष्ट नहीं कहते हैं, तबतक उनमें सरसता नहीं होती है, यह रसकी मर्यादा(नीति वा नियम) है.

तात्पर्य यह है, कि रस शास्त्रानुसार भगवान्को रस उत्पन्न करनेकेलिए बोलना ही चाहिए इसलिए मुख(वाणी)की प्रार्थना की है।।२।।

हे स्वामी! आपकी मधुरवाणीसे, मूर्च्छित इन गोपियोंको जीवनदान दो. 'मूर्च्छा' मरनेकी पूर्व(पहली) अवस्था(दशा, हालत) है, गोपियोंको जीवनदान आपको देना ही चाहिये कारणकि वे आपकी आज्ञाकारिणी वा सेवा करनेवाली दासियां हैं. यों भी नहीं है कि आपमें जीवनदान देनेकी सामर्थ्य नहीं है, वह तो आपमें है ही क्योंकि आप 'वीर' हैं. वीरोंमें जो शौर्य(पराक्रम-वीरता) है, वह दुःखियोंके दुःखको मिटानेकेलिये ही होता है. 'इमा' शब्द कहनेसे यह संकेत किया है, कि यदि आप जीवदानमें क्षणमात्र भी विलम्ब करोगे, तो ये मर जायेंगी अतः देर मत करो.

केवल वाणीसे, मोहकी निवृत्ति कैसे होगी, यों आपका कहना भी ठीक न होगा, क्योंकि मोह जो है वह मायाका रूप है, अतः आपके सच्चिदानन्द स्वरूपके दर्शनसे ही वह चला जाता है, तो आपकी आनन्दरूप वाणीसे तो वह निवृत्त होगा ही. यों कह कर अब वाणीके गुणोंका वर्णन करती हैं, आपकी वाणी असाधारण रसवाली है, तथा सत्य एवं प्रियका प्रतिपादन करनेवाली होनेसे मनोहर है जिससे वाणीकी सत्रूपताका वर्णन हुआ. ज्ञानियोंके मनको आनन्द देनेवाली होनेसे, ज्ञानरूपा है. वे ज्ञानी इसी कारणसे वाणीमें ही रत(रमण करते) हैं. इसके सिवाय आपके मुखपर जो नेत्र हैं वे कमलकी भांति अन्यके तापको मिटानेवाले हैं अतः नेत्रोंके व्यापारपूर्वक ही हमें वचनोंका अमृत पिलाओ इसलिये 'पुष्करेक्षण' कहा. और अधरामृतसे हमें तृप्त भी करो. अर्थात् हमारे सामने आकर हमसे बोलो, हमारी ओर देखो और हमें अधरामृतका पान कराओ. जो मूर्च्छित हो जाते हैं, उनकी मूर्च्छा दूर करनेकेलिये (१)बड़े-बड़े मन्त्र पढें जाते हैं (२)कमल या ऐसे शीतल पदार्थ उन पर रखे जाते हैं (३)असाध्य हो तो अमृत भी पिलाना पड़ता है, ऐसी-ऐसी रसौषधियां जिनका रहस्य चिकित्सक जल्दी किसीको बताते नहीं! ऐसी ही यह गोपियोंकी भी मूर्च्छा है जो सामान्य या अल्प उपचारोंसे दूर नहीं होती इसकेलिये तो किसी 'वीर'की अपेक्षा है और वह

तो आप(कृष्ण) स्वयं ही हैं (क्योंकि सारे उपाय भगवान्के पास हैं यथा, (१)भगवान्का सामने आकर बोलना महामन्त्रका काम करेगा (२)गोपीजनों पर दृष्टिपात कमल जैसे शीतलताका काम करेगा उनकेलिये (३)अधररस तो अमृत है ही, जिसके बिना असाध्य मूर्च्छा दूर नहीं होगी) यह अन्तिम अवस्था है, क्योंकि इससे पहले जो कुछ कहा, उनका भी स्मरण हो आता है, अतः और गहराई मूर्च्छा(मोह)में आ जाती है।।८।।

इस प्रकार गोपियोंने ऊपरके श्लोकमें ४ पदार्थोंके देनेकी प्रार्थना की थी, जब वे भगवान्ने नहीं दिए, तब उन्होंने मनमें समझा कि कदाचित् भगवान्ने हमको अयोग्य(अभक्त) समझ कर नहीं दिए हैं, जिस कारणसे, भगवान्की दृष्टिमें हम अयोग्य देखनेमें आई हैं, उस कारणका परिहार कर दिखाना चाहिए, यह विचार कर अनन्यपूर्वा राजस-सात्विकि कुमारिका 'तव कथा' इस श्लोकमें सिद्ध करती है, कि हम अभक्त नहीं हैं.

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ।।९।।

आपका कथारूप पियूष(अमृत) संसारसे तृप्तोंका जीवन है, शब्दके अर्थके रसको जाननेवालोंने उसकी स्तुति की है, पापनाशक है, श्रवणसे ही मंगलकारक है, श्रीसे युक्त है, सर्वत्र फैला हुआ है तथा उदारजन पृथ्वी पर उसका गुण गाते हैं।।९।।

गोपी प्रथम मनसे कल्पित, वह कारण कहती है, यदि भगवान् कहें कि यह सब जो आपने मांगा है, वह तो भक्तोंको देना योग्य है, न कि अभक्तोंको देना चाहिये, आप विरहावस्थामें जीवन धारण कर रही हैं अतः अभक्त होनेसे, उनके लेनेके योग्य नहीं हैं. आपका जीवन रहे, इसकी भगवान्को कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान् सर्व निरपेक्ष(सर्व प्रकारकी अपेक्षासे रहित) हैं. भगवान् के पास लक्ष्मी जैसी अनेक दासियां हैं. अतः आपका यह 'त्वयि धृतासवः' आदि कहना व्यर्थ ही है, इसलिये की हुई प्रार्थना निरर्थक ही है. इस प्रकार भगवान्के दृष्टिकोणका निराकरण करती है, कि हम विरह होते हुए भी जीवित हैं जिससे हम अभक्त और अयोग्य हो सकती थीं किन्तु यह जीवन धारण करना हमारे प्रयत्नसे नहीं है. विरहसे हमारे प्राण तो कभीके निकल जाते, किन्तु आपकी कथा उनके जानेमें रुकावट है, कारणकि जैसी आपकी सामर्थ्य है, वैसी ही कथाकी भी

सामर्थ्य है. वह भी आपके समान ऐश्वर्य आदि छ गुणोंवाली, मोक्ष देनेवाली और परमानन्ददायिनी है. मूलश्लोकमें दिए हुए 'कथामृतं' पदने इसका समर्थन किया है. 'कथा' अमृतके समान है किञ्च यह अमृत भगवद् रसरूप है, जिससे सदैवकेलिये जन्म-मरणके चक्करसे जीव छूट जाता है अतः मोक्ष दातृत्व तथा परमानन्दरूपता प्राप्ति करानेवाला यह भगवद् रसरूप कथामृत है.

जैसे आपमें ऐश्वर्य आदि छ गुण हैं वैसे कथामें भी हैं जिसकेलिये छ(६) विशेषण पद दिये हैं.

'तप्तजीवनं' आपका कथारूप पियूष संसारसे तप्त जीवोंके तापको नाश कर उनको जीवन देता है. अमृत, तापको नाश करता है यह तो प्रसिद्ध ही है. सर्व प्रकारके तापको भगवान्का वैराग्य अथवा भगवान्का ज्ञान नाश करता है. जो संस्कार करने योग्य है, वह ताप ज्ञानसे नाश होता है और जो उस(संस्कार)के योग्य नहीं है वह परित्याग(वैराग्य)से नाश होता है. इसलिये ही संस्कार करनेमें अशक्त स्मार्त परित्यागका ही उपदेश देते हैं. अतः ज्ञान और वैराग्य, तापके नाश करनेवाले हैं.

ज्ञान और वैराग्य ताप नाश करनेवाले हैं इसमें क्या विशेषता हुई? तापको तो जल भी नाश करता है यह प्रत्यक्ष प्रसिद्ध ही है. इस पर कहती हैं, कि जल विरहके तापको नाश करता है यह किसी विद्वान्ने नहीं कहा है, किन्तु कथामृतके श्रवणसे उत्पन्न, ज्ञान तथा वैराग्य, तापनाशक है, यह शब्द एवं अर्थके रसको जाननेवाले कविओंने माना है.

कविओंने तो स्त्रियोंकेलिये भी कहा है, कि वे ताप नाशक हैं, तो फिर कथामृतमें कौनसी अधिकता रही? इसके उत्तरमें कहती हैं, कि स्त्रियों द्वारा लौकिक तापके नाशका आभास कुछ समय होता भी है, किन्तु कथामृतमें न केवल विरहतापको समूल नष्ट करनेकी शक्ति है, किञ्च पापोंको भी नाश करनेका पूर्ण बल है. अतः स्त्रियां कथामृतकी समानता कभी भी नहीं कर सकती हैं. यह तीसरा विशेषण(कल्मषापहम्) कथाके गुण(धर्म)का वर्णन करता है. छ गुण **''ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः, ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा''** इस श्लोकमें ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यये छ गुण कहे हैं. छ गुण बतानेवाला श्लोक दूसरे प्रकारसे भी पढा जाता है जिसमें 'धर्म' के स्थान पर 'वीर्य' शब्द है. धर्म तथा वीर्य शब्दका तात्पर्य एक ही है, कारणकि

अलौकिकताकी सिद्धि वीर्य(पराक्रम)से ही होती है अतः वीर्य, धर्मका ही रूप है. धर्म पापका नाश करनेवाला है और अलौकिकको भी सिद्ध करता है. कथा पापनाश करती है तथा अलौकिक भी सिद्ध करती है यह सर्वत्र प्रसिद्ध है.

प्रायश्चित आदि भी पापोंके नाशक हैं, वह भी प्रसिद्ध है तो इसके उत्तरमें कहती हैं, कि कथा तो केवल श्रवण करनेसे ही मंगल करती है. उसमें कुछ भी वैसा नहीं है जिससे घोरता(भयंकरता अर्थात् डर) व ग्लानि उत्पन्न होवे, किन्तु प्रायश्चित करनेमें, जो प्रथम क्रियाएं की जाती हैं, वे ही घोर तथा ग्लानिवाली हैं. जैसे शरीर पर गोमयका लेप करना, उपवास करना आदि सर्व अमंगल जैसे देखनेमें आते हैं, वे क्रियाएं 'घोर' होनेसे श्रवण समय भी मनमें आनन्द उत्पन्न नहीं करती हैं, यह अनुभवसे ही सिद्ध है. अतः कहा है, कि 'श्रवण मंगलम्'. इस चतुर्थ विशेषणसे कीर्तिरूप गुणका वर्णन कर बताया है, कि भगवान् तथा उनकी कथाका यश गुण समान ही है.

पुत्रजन्म आदि कार्य भी, श्रवणसे आनन्द देनेवाले हैं. कुछ धर्मकी समानता भी है, अतः ये भी कथा जैसे ही है. इसका निराकरण करती हुई कहती है, कि कथा 'श्रीमत्' लक्ष्मीवाली है. कथासे श्रोता तथा वक्ताको उसकी सिद्धि प्राप्ति होती है और लक्ष्मी भी कथारूप अमृतकी अपेक्षा करती है, उस(कथा श्रवण)से लक्ष्मी भी कीर्त्ति प्राप्त करना चाहती है.

राज्य प्राप्ति भी, आनन्द और यशवाली है, अर्थात् जिसको राज्य मिलता है, वह प्रसन्न होता है तथा उसका यश भी होता है. इसके उत्तरमें कहती है, कि 'कथामृतं' चारोंतरफ फैला हुआ रहता है, अर्थात् सब लोक उसको सुनते तथा पान करते हैं अतः वह भीतर, बाहर अपना सामर्थ्य सम्पादन करता है. राज्यादि तो परिच्छिन्न(सीमावाले) है, कथामृत अपिरिच्छिन्न होनेसे उसका आनन्द और कीर्ति भी अनन्त है इस विशेषणसे बताया है कि जैसे भगवान्का ऐश्वर्य गुण अपरिमित है वैसा ही कथाका ऐश्वर्य गुण भी सीमारहित है.

इसी कारणसे आपकी कथा भी स्वरूप तथा धर्मसे आपके समान ही है, उससे ही हमारा जीवन रहा हुआ है, न कि अपने आप रहा है. आप तो कभी मारते भी हो, किन्तु मरनेके समय भी, कथामृत मृत्युसे बचा लेता है. जिससे कथामृत आपसे भी विशेष हो सकता है. किञ्च आप स्वतन्त्र हैं, कथामृत पराधीन है यही आपमें और कथामें अन्तर है.

ब्रह्मादि प्रार्थना करते हैं तब उनकी प्रार्थनासे अवतार ले कर आप आते हैं आये हुए भी छिप जाते हैं, कथा आई, तो फिर तिरोहित नहीं होती है. अतएव(इसी कारणसे) वैसा कथामृत जो प्रसिद्ध व्यासादि महर्षि भूमि पर कहते हैं, वे ही बहुत अर्थ देनेवाले हैं. वे व्यासादि, केवल बहुत अर्थ देनेवाले नहीं हैं किन्तु जन्मरहित भगवद्रूप ही हैं, अथवा उनके जन्म-मरण[१] दोष नष्ट हो गये हैं.

१.इस प्रकार अर्थ करनेके समय 'भूरिदा जनाः' साथ पढना चाहिये जिसे 'अजन' शब्द बन सके.

कथामृतके स्वरूप तथा भगवत्स्वरूपमें क्या भेद है? उसको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं, जैसे एक वस्तु होते हुए भी जल और बर्फमें भेद है, जल प्रवाही है और बर्फ घन है. इसी प्रकार कथा प्रवाही रसस्वरूप है और आप घनस्वरूप हो. कथारस, विरहमें मरण आने पर उसको निवृत्त कर देता है, किन्तु एक स्थान पर इकट्ठा हो कर रसजनक नहीं है. आप रस पिण्ड होनेसे एक स्थानपर रसदान दे सकते हैं, यह ही आप और कथामें भेद है. यह भेद नहीं हो तो, केवल कथाकेलिये ही प्रयत्न किया जाता किन्तु इसी भेदके कारण आपके मिलनेकेलिये प्रयत्न किया जाता है. विरहके कारण आनेवाली मृत्युको रोकनेकेलिये कथाका उपयोग किया जाता है, अतः उसकी स्तुति, भगवत्स्वरूपसे की जाती है. इसीलिये कहा जाता है, कि भगवान्की कथा कहनेवालोंने बहुत दिया जिससे जीवन टिक रहा है यह राजस-सात्विकी व्रजभक्तका कथन है।।९।।

गो.वल्लभलालजी लेखमें कहते हैं कि भगवान्की कृपासे जब जीवमें भगवत् धर्मरूप ज्ञान प्रवेश करता है तब वह पापनाश हो जाता है इसी भांति कथारूप अमृतरस जब कर्ण द्वारा हृदयमें जाता है तब भी जीवका तापनाश हो जाता है, संसारके विषयके नाश हो जानेके पश्चात् तापकी निवृत्ति होती है, विषय भी दो प्रकारके हैं एक संस्कारके योग्य, दूसरे संस्कारके योग्य नहीं हैं. जो संस्कारके योग्य हैं उनसे उत्पन्न ताप, ज्ञानसे नाश हो जाता है. जबतक भगवत्कृपासे भगवत् ज्ञानका अन्तःकरणमें प्रवेश नहीं हुवा है, तबतक भगवान्से वह अन्य है, वैसी प्रतीति होती है जिससे उस प्रकारके सम्बन्ध द्वारा जीवको ताप होता है, जब संस्कारों(सत्कर्म, सत्संग आदि साधनों) द्वारा भगवत्कृपासे भगवत् ज्ञान प्राप्त होता है, तब सर्वत्र भगवद् दृष्टिसे सर्व ब्रह्मरूप है, वैसा निश्चित ज्ञान हो जानेसे, अन्य प्रतीतिसे जो ताप होता था, वह नष्ट हो जाता है. जो स्त्री आदि वस्तु हैं, जिनके संगसे ज्ञान भी नष्ट हो जाता है वह संस्कारके योग्य नहीं है, अतः उनसे उत्पन्न वैराग्य धारणकर, उनका जब परित्याग

किया जाता है, तब ताप नष्ट होता है.

'प्रहसितं' इस श्लोकमें राजस–तामसीके वचन कहते हैं:

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ।।१०।।

हे प्रिय! आपका प्रकृष्ट हंसना, प्रेमसहित देखना ध्यान मंगल, वेणुवादन करते हुए चलना, हृदयको स्पर्श करनेवाली एकान्तकी वाणी, ये सब हे कपटी! हमारे मनको क्षोभ(घबराहट) करते हैं।।१०।।

यद्यपि कथाके सहारे हम जी सकती थीं, परन्तु फिर आपके गुणधर्मोंसे अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न होता है. जैसे भगवान्में ६ गुण हैं, वैसे ही, ६ मोह उत्पन्न करनेवाले भी गुण हैं. अन्यथा कथासे काम चल सकता था. इसलिये भगवान् माया द्वारा कपटलीला भी करते हैं, तो अपने स्वभावके कारण, भगवान्में भी दोष दिखाई पड़ने लगते हैं. जिस प्रकार, ज्वरपीड़ित(बुखारवाले)को अन्नमें कड़वास आदिकी प्रतीति होती है, जो वास्तविक अन्नमें नहीं है, उसी प्रकार गोपियोंको भी अपने दोषोंसे, भगवान्में दोषकी प्रतीति होती है, जो वास्तविक दृष्टिसे देखा जाये तो भगवान्में नहीं है. इसी कारणसे कहती हैं कि आपका विशेष हंसना आदि हमारे मनमें क्षोभ उत्पन्न करता है.

अपने तामस स्वभावके कारण खिन्न गोपीको छोड़कर अन्य गोपोंके साथ भगवान्का जाना और फिर सामने आकर हंसना, यह सब नितान्त क्षोभ उत्पन्न करता है. हे प्रिये! इस सम्बोधन देनेका तात्पर्य कहते हैं, कि यह सम्बोधन देकर गोपी बताना चाहती है, कि आपका सम्बन्ध जब याद आता है, तब वह भी क्षोभ उत्पन्न करता है, अतः जिनका आपसे सम्बन्ध नहीं है, उनको क्षोभ भी नहीं है.

आपका प्रेमसे देखना जब याद आता है तब वह भी क्षोभ उत्पन्न करता है. अन्य गोपीको आपने प्रेमसे देखा उसकी जब स्मृति होती है, तो भी क्षोभ होता है. अथवा आप कपटरूप(केवल ऊपर–ऊपर)से प्रेम दिखाकर विश्वास उत्पन्न कराते हैं, इस बातकी स्मृति होती है तब भी क्षोभ होता है यह जो न हो तो फिर कुछ भी विसंवाद कार्यमें नहीं होता. अथवा यदि हमारे मनकी परीक्षाकेलिये आप यों करते हैं, तो भी हमारे मनमें क्षोभ होता है, कारण कि हमारा प्रेम नवीन वा बनावटी नहीं है, किन्तु सहज एवं प्रसिद्ध है तो भी उसकी परीक्षा की जाये तो उससे भी क्षोभ उत्पन्न होता है.

आपका प्रेमसे देखना आशाको उत्पन्न करता है, आशासे श्रम होता है और श्रम करनेसे क्षोभ होता है.

आप जब वेणुनाद आदि करते हुए चलते हैं, जिससे आपका स्वरूप त्रिभंगललित आदि बन जाता है वह विहरण(चलना) भीतर रहे हुए रसको बाहर निकाल लेता है, अतः वह भी क्षोभजनक है.

उस त्रिभंगललित स्वरूपका जब हम पहले ध्यान करती थीं, तब ध्यान करनेसे हमारा मंगल होता था, अर्थात् उससे शुभ फलकी प्राप्ति होती थी, किन्तु अब वह भी क्षोभ उत्पन्न करता है, क्योंकि आप तिरोहित हो गये हैं.

मूलश्लोकमें 'ते' पदका सम्बन्ध चारों 'प्रहसितं', 'प्रेमवीक्षितं' 'विहरणं' और 'ध्यानमंगलं' से है, किन्तु मुख्यतया 'विहरणं' और 'ध्यानमंगलं' पदसे है, कारणकि 'प्रहसितं' तथा 'प्रेमवीक्षितं' ये मायासे की हुई लीलामें भी होते हैं. ये चार, रूपके सम्बन्धसे क्षोभजनक होते हैं.

भगवान्के चाररूपोंको क्षोभजनक बता कर दो प्रकारसे नाम भी क्षोभजनक बनते हैं यह 'रहसि संविद'से दिखलाया जा रहा है. एकान्तमें ज्ञानरूप भगवान्की वाणी अथवा बन्ध इत्यादिका व्यावहारिक ज्ञान जो शास्त्रीयज्ञानसे उत्पन्न होता है, और फिर वह वाणी, जो हृदयमें पैठती हो और फिर वह बन्ध आदिका ज्ञान जो हमारेलिये उपयोगी है न कि केवल नायककेलिये. यों ये दोनों सुख देनेवाले पदार्थ भी यदि भगवान् ठगाई करें तो क्षोभ ही उत्पन्न करते हैं. यह सभी कोई मान एवं जान सकता है इसलिये 'हि' दे कर बातकी प्रसिद्धि दिखाई।।१०।।

राजस–राजसीके वचन 'चलसि' इस श्लोकमें कहते है :

चलसि यद् व्रजाच्चारयन्पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ।।११।।

हे नाथ! आप पशुओंको चराते हुए व्रजसे वनमें जाते हैं, और वहां कमलसे भी कोमल आपके चरण, कंकर, घास और दर्भके कोनोंसे जब दुःख पाते हैं तब हे कान्त! हमारा मन दुःखी होता है।।११।।

आपमें हमारा वैसा स्नेह है, जिससे आप स्वस्थ हैं, तो भी मनमें यों होता है, कि प्यारेको कष्ट हुआ है और इससे मन दुःखी होता है. किन्तु यदि हम सचमुच दुःखी होवें तो भी आपको उस विषयकी चिन्ता नहीं होती है. यह तो

अन्याय जैसा है. इस श्लोकमें गोपी इस अन्यायका वर्णन करती है जब पशुओंको चराते हुए व्रजसे जाते हैं, तब हे नाथ! वहां चलते-चलते कमलसे भी कोमल, आपके चरण, मार्गमें पड़े हुए कठिन तृणोंके बहुत तीखे अंकुरोंसे, अथवा कंकर, तृणदर्भ आदिके अंकुरोंके कोनोंसे दुःख पाते हैं, इन तीनोंमें कं कर तामस, तृण सात्विक और दर्भ राजस है, वास्तवमें दुःख नहीं पाते हैं, तो भी हमारी वैसी भावना होनेसे, हे कान्त! मन दुःख पा रहा है. अब नहीं, किन्तु व्रजसे पधारनेके समयसे, इस प्रकारका विचार करते हुए मनमें खेद बुद्धि उत्पन्न हो रही है. चरणोंके चलनेसे ही खेद हुआ है. अतः प्रथम उसका वर्णन किया है. वास्तवमें तो आपके चरण, जो हमारे हृदयमें रहते हैं, वे इस स्थानको छोड़ कर कहीं नहीं जाते हैं, तो भी आप ही उनको इस प्रकार चलाते हैं. आप व्रजमें स्थित गौओंको वनमें चरानेकेलिये ले जाते हैं, उनका चराना केवल सीधे रास्ते पर नहीं होता है, किन्तु जहां भी जावें, सर्वत्र साफ रास्ता नहीं होता है, जहां कं कर आदि होते हैं वहां भी जाना पड़ता है. आपको गौचारणलीलासे भूमि पर भी अनुग्रह करना है, वह तब हो, जब आप नंगे पैर पधारो, जिससे भूमि आपके चरणोंको स्पर्शकर, आनन्द प्राप्त करे. इसलिये आप पादुका धारण नहीं करते हो, अथवा चर्मपादुका न पहननेका यह भी कारण है, कि जिसका पालन करते हो उनका चर्म धारण नहीं करना चाहिये, जिससे आपके चरण नंगे हैं और वे चरण कमलसे भी कोमल हैं फलतः कंकर, तृण और दर्भोंके अंकुरोंमें दुःख पा रहे हैं. ये चरणकमल, जलमें अथवा जलपूर्ण सरोवरमें रहने योग्य हैं अथवा कमलसे भी सुन्दर हैं तो लक्ष्मीजीमें वा हमारे हृदय सरोवरमें स्थित होने योग्य हैं. गोपी भगवान्‌को 'नाथ! ' सम्बोधन दे कर यह सूचित करती है, कि नाथके पास काम करनेवाले बहुत सेवक होते हैं आपके पास भी बहुत हैं उनको इससे उस कार्यमें लगाना चाहिये था, किन्तु यों न कर आप स्वयं(अकेले) ही गौओंको चरानेकेलिये जा रहे हैं.

हे नाथ! वनकी भूमि एक प्रकारकी सरल नहीं होती है, किन्तु तीन प्रकारकी होती है, १.पर्वतरूप, २.अरण्यरूप और ३.कच्छरूप है. वहां क्रमसे एकमें एक होता है जैसे पर्वतरूप भूमिमें कंकर, अरण्यरूप भूमिमें तृण और कच्छरूप(नदीके तटवाली) भूमिमें दर्भ आदि होते हैं, अथवा सर्व(कंकर, तृण और दर्भ) सर्वत्र होते हैं. अचानक कहीं भगवान् कं कर व अंकुर आदिके चुभ जानेसे चलनेमें असमर्थ हो कर एक स्थान पर ठहर जाते हैं, गोपी कहती हैं कि

तब हमको चिन्ता होती है और यों मनमें विचार आता है कि स्वयं जाकर अपने हृदयमें स्थापना कर लेवें, 'मनः कान्त' में 'मनः' और 'कान्त' पदको साथ ले कर उसका भाव बताते हैं, गोपी कहती है, कि हमारे मनके आप कान्त हैं, इसलिये आपने मनकी रक्षा की, अर्थात् मनको यहां स्थापित अथवा स्थिर कर दिया है, तो भी, मन चाहता है, कि जहां आपको चरणोंमें पीड़ा होती है वहां चलूं।।११।।

अब तकके ११श्लोकोंमेंसे पहलेके चार श्लोक अन्यपूर्वा(विवाहित) गोपियोंने कहे हैं, १.पहला श्लोक सात्विक-राजस गोपीने कहा है, २.दूसरा श्लोक सात्विक-तामसीने कहा है, ३.तीसरा श्लोक सात्विक-सात्विकीने कहा है, और ४.चौथा श्लोक गुणातीताने कहा है, पश्चात् ५से११ तक सात श्लोक अनन्य पूर्वाओं(जिन्होंने विवाह नहीं किया है, कुमारिकाएं)ने कहे हैं, ५वां श्लोक सात्विक-सात्विकीने कहा है, ६ठा श्लोक सात्विक-तामसीने कहा है, ७वां श्लोक सात्विक-राजसीने कहा है, ८वां श्लोक निर्गुणाने कहा है, ९वां श्लोक राजस -सात्विकी ने कहा है, १०वां श्लोक राजस-तामसीने कहा है, ११वां श्लोक राजस-राजसीने कहा है.

अब १२वें श्लोकसे क्रमपूर्वक वे अन्यपूर्वा कहती हैं, उनमेंसे यह श्लोक प्रथम राजस-तामसीने कहा है, अन्यपूर्वाएं विवाहित हैं अतः व्रजसे बाहर वनमें जानेमें असमर्थ हैं, जिससे सन्ध्याके समय जब भगवान् पधारते हैं तब प्रभुके दर्शनसे उनके मनमें काम उत्पन्न होता है, पश्चात् रजोगुणके उदय होनेसे बन्धकी प्रार्थना करती है और सतोगुणके उदय होनेसे अधरामृतकी प्रार्थना करती है.

अनन्यपूर्वा(कुमारिकाओं)को तो रात्रि-दिवस भगवान्के पास रह कर रमण होता ही है, जिससे उनको तो नित्यकाम है, अतः उनको भगवान् कामदान नहीं करते हैं केवल व्रजमें पधारते समय, अन्यपूर्वाओंको कामदान करते हैं, जिसका वर्णन 'दिन परिक्षये' श्लोकमें करते हैं:

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
धनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ।।१२।।

हे वीर! सन्ध्याके समय काले केशोंसे आच्छादित(ढका हुआ) और गोरजसे भरा हुआ मुखकमल पुनः-पुनः दिखाकर आप हमारे मनमें कामको उत्पन्न करते हैं।।१२।।

गोपीने मूलमें 'दिनपरिक्षये' शब्दमें 'क्षय' शब्द दे कर दिनसे अपना द्वेष

प्रकट किया है. यह सन्ध्याका समय रजोगुण तथा तमोगुण दोनोंका मिश्रित समय है. रजोगुणके कारण, यह समय गोदोहन आदि प्रवृत्ति कराता है, जिससे गोपियोंका चित्त उसमें व्यग्र(व्याकुल) रहता है और तमोगुणके कारण कामको उत्पन्न करनेवाला है, अतः यह समय रजो-तमोगुणवाला होनेसे, उस समयकी लीलाका वर्णन करनेवाली गोपी भी 'राजस-तामसी' है.

जैसे भ्रमर, रसको प्रकट करनेवाले होते हैं, वैसे ही भगवान्के काले केश भी, रसको जगानेवाले हैं. जो मुखकमलके लावण्यामृतका पान करते हैं, वे रसको जगानेवाले होते हैं. आप भी, रसको जगानेवाले केशोंसे आवृत मुखकमलको धारण करते हैं, अतः हे वीर! आप हमारे मनमें कामको देते हैं अर्थात् हमारे मनमें कामको जगाते हैं. श्रीप्रभुचरण स्वतन्त्र लेखमें आज्ञा करते हैं गोपी भगवान्के मुखारविन्दकी उसी अवस्थाका वर्णन करती है, जो अवस्था वनमें थी, उस अवस्थामें, मुखमें दो प्रकारकी आभा थी, एक काले केशोंसे आच्छादित होनेसे, मुखारविन्द पर उन काले केशोंकी प्रभा हो रही थी. दूसरी प्रभा रात्रिके कमल जैसी थी, क्योंकि जैसे चन्द्र दर्शनसे रात्रिका कमल खिलता है वैसे ही भगवान्का मुखकमल रात्रिके समय प्रियाओंके मुखचन्द्रसे अधिकाधिक विकसित होने लगा है. जिससे समझा जाता है, कि पहले वैसा विकसित नहीं था. उससे यह भाव भी प्रकट होता है, कि प्रियकी समस्त गोपियोंमें आसक्ति थी, अतः जलरुह न कह कर वनरुह कहा है. कमल जलमें उत्पन्न होता है यह न कह कर 'वनरुह' कहा उसका आशय यह है कि भगवान्के मुखकमलका विकास वनमें गोपियोंके मुखचन्द्रके दर्शनसे हुआ है.

जब आप पधारते समय मार्गसे जाते हैं तब मार्गके दोनों ओर खड़ी हुई, गोपियोंको क्रमपूर्वक बार-बार देखते हैं, जिससे वे केशोंसे आवृत तथा गोरजसे भरे हुए मुखकमलका बहुत बार दर्शन करती हैं अथवा भगवान् जाते समय फिर पीछे देखते हैं, जिससे भी बहुत बार दर्शन हो जाते हैं, इस प्रकार जो भगवान् बार-बार देखते हैं, जिससे गोपियां जान जाती हैं कि भगवान्को भी हमसे मिलनेकी इच्छा है, वैसा ज्ञान गोपियोंमें काम बढ़ता है, यदि भगवान्, इस प्रकार ठहर-ठहर कर मुख दर्शन न करावें और निरन्तर दृष्टिसे दृष्टि मिलाते रहते, तो वहां ही रसका आस्वादन(भोग) हो जाता था, जिससे कामको जगनेका अवसर न मिलता था, अतः बार-बार देखना कामाग्निको प्रज्वलित करनेमें वायुके

कार्यके समान है. इस प्रकार कामाग्निको पूर्णरीतिसे पूर्ण प्रज्वलित करनेके अनन्तर, उसकी पूर्तिकेलिये अथवा उसका निराकरण करनेकेलिये भगवान्को वैसा युद्ध अवश्य करना पड़ेगा, जिसकी सूचना देनेकेलिये भगवान्को 'हे वीर'! विशेषण देती है.

गौओंके रजसे मुखारविन्द भरा हुआ होना यह सूचित करता है कि भगवान्ने बहुत श्रम किया है. उस धर्मकी निवृत्ति हमसे ही होगी. और फिर आपका श्रीमुख तो 'वनरुह' वनमें ही खिलनेवाला कमल है. अतः इसका आस्वाद वनमें ही सम्भव है यही तो कारण है कि अभी भी आप वनमें ही पधारे हो. गोपीजनोंका भगवान्के श्रीमुखको 'वनरुह' कहना घरमें ही रतिदानके अनपेक्षित आश्वासनका खण्डन है.

'बिभ्रत्' पदसे यह ध्वनित होता है, कि भगवान् अपने मुखको दृढात् काले केशों एवं गोरजसे ढके रखना चाहते हैं, अन्यथा श्रीमुख धो कर पधारें, तो वैसे प्रसन्नमुखके दर्शनसे ज्ञान उत्पन्न हो जाये(अर्थात् काम न उत्पन्न होने पाये और श्रीमुख भक्तिरूप होनेके कारण केवल स्नेहरस ही उत्पन्न हो किन्तु) गोधनकी रज कामकी द्योतक है क्रोधकी नहीं. अतः जैसे पात्रमें रख कर अन्न भोजनकेलिये दिया जाता है वैसे ही श्रीमुखमें रहा हुआ रस–काम आप मनमें भर रहे हो. और इसका प्रयोजन तो भोग ही है सो वह करना ही चाहिये.

यह हमारा कामभाव आपका दिया हुआ है सो आपसे ही इसकी पूर्ति सम्भव है अतः आपके भोग बिना यह किसी भी प्रकार पूर्ण नहीं होता।।१२।।

राजस–तामसी गोपीजनके कहनेके अनन्तर राजस–राजसी अन्यपूर्वा गोपी भी भगवान्को उसी प्रकार 'प्रणत कामदं' श्लोकसे अपने वक्षःस्थल पर चरणारविन्दको पधारनेकेलिए प्रार्थना करती है, जैसेकि 'प्रणत देहिनां' श्लोकमें अनन्यपूर्वा कुमारिकाने प्रार्थना की थी:

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयम् आपदि ।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ।।१३।।

हे रमण! हे मनकी पीड़ाको मिटानेवाले, ब्रह्माजीसे पूजित, पृथ्वीके मण्डन(अलंकार) शरणागतोंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला, आपदामें ध्यान करने योग्य, कल्याणरूप जो आपका चरणकमल है, उसको हमारे स्तनों पर पधराओ।।१३।।

७वें श्लोकमें और इस श्लोकमें चरणकमलको स्तनों पर धरानेकी प्रार्थना की है, फिर भी इस प्रार्थनामें पुनरुक्तिदोष(दोबारा वही बात कहना) नहीं है, कारण कि पहलेकी अपेक्षा यहां चरणका माहात्म्य अधिक है, पहले दोष मिटानेवाला था और यहां गुणोंको देनेवाला है.

हे रमण! हे रतिका दान करनेवाले! हमारे स्तनों पर चरणकमलको पधराओ, क्योंकि वह हृदयके ताप एवं चिन्ताको मिटानेवाला है. वे दोनों आपको मिटाने चाहिये, आपका चरण, कमल है तथा कमल तापको मिटाता ही है, यह तो प्रत्यक्ष प्रमाण है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध यह उपकार आप करेंगे तो हमारा ताप नाश हो जायेगा. यदि आप कहो, कि हमारे चरण तो आपके पास हैं, तो उसका उत्तर देती है, कि हमारे पास है, किन्तु हृदयके भीतर है, वे बाहर नहीं आ सकते हैं जो तापको नाश करें, अतः आप अब चरणोंको बाहर छाती पर पधराओ, तो ताप मिटे. जैसे आपमें ऐश्वर्य आदि छः गुण हैं वैसे ही आपके चरण भी छः गुणवाले हैं, उनका स्पष्टीकरण करती है.

१.ऐश्वर्य गुण बताता है, 'प्रणतकामदं' पद क्योंकि शरणागतोंके अभिलषित अर्थोंका देनेवाला है. शरणागतोंकी कामनाओंको ईश्वर ही पूर्ण करते हैं, ईश्वरके पास दानकेलिये जो काम रहता है, वह अभिमानीको भगवान् नहीं देते हैं, इसलिये कहा है कि चरणकमल भी प्रणतोंको काम देनेवाला है, अतः चरणकमलमें भी प्रभुके समान 'ऐश्वर्य' गुण हैं.

२.वीर्य(धर्म) गुण बताता है 'पद्मजार्चितं' पद क्योंकि भगवान्के चरणकी पूजा, ब्रह्माजी धर्म भावनासे करते हैं, उनकी प्रार्थनासे ही यहां पधारे हैं.

३.'यश' गुण बताता है 'धरणिमण्डनं' पद क्योंकि भगवान्का चरणकमल पृथ्वीका आभूषण है, जिससे कीर्ति गुण दिखाया है.

४.'श्री' गुण[१] बताता है 'ध्येयमापदि' पद क्योंकि आपदामें ध्यान करने योग्य है, जिस ध्यान करनेसे, आपदा निवृत्त होती है 'श्री' की प्राप्ति होती है अतः श्री गुण है.

५.'ज्ञान' गुण बताता है 'शान्तम्' पद क्योंकि चरणकमल भी भगवान्के समान कल्याणरूप है, अतः उसमें ज्ञान गुण है.

६.'वैराग्य' गुण बताता है, 'आर्तिहन्' पद क्योंकि इसका 'ते चरणपंकजं' पदके साथ सम्बन्ध दिखाया है, जिससे यह दिखाया है, कि भगवान्से सम्बन्ध

होनेसे ही 'चरणकमल'में वैराग्य है.

१.आचार्यश्री कहते हैं, कि इन दोनों 'धरणिमण्डनं' और 'ध्येयमापदि'से एक आशय लो, 'धरणिमण्डनं' से कीर्ति लो 'ध्येयमापदि'से श्री लो.

भगवान्को 'रमण' विशेषण दे कर यह बताया है, कि वे इष्टका दान करनेवाले हैं, और 'आर्त्तिहन्' विशेषणसे बताया है, कि वे अनिष्टका नाश करनेवाले हैं अतः उनका ही आश्रय करना चाहिये. अथवा लोकमें आपके चरण पांच (१.लौकिक कामनाका नाश, २.ऐश्वर्यका दान, ३.शरणागतकी इच्छा पूर्ण करना, ४.शोभा करना, ५.दुःख मिटाना) प्रकारके उपकार करते हैं, किन्तु हमारा एक ही उपकार(आर्त्ति–हृदयके तापको मिटानेका उपकार) करे, इस प्रकारकी प्रार्थना भगवान्से की है.

शरण आई हुई दासियोंको आप कामका दान करते हैं यह १२वें श्लोकमें 'मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि' 'पंक्ति'से पहले ही कहा है, जिससे भोगकी प्रार्थना तो हो गई है अतः इस श्लोकमें 'प्रणतकामदं' पदका अर्थ अन्य प्रकारसे करते हैं. आपका चरणकमल, जो अत्यन्त नम्र दीन भक्त है, उनके कामको नाश करता है, वह ऐश्वर्यकेलिये ब्रह्माजीसे पूजित है और कामकेलिये लक्ष्मीजीसे पूजित है, अथवा 'पद्मजा' पदका अर्थ 'नख' भी है उनसे भी भगवान्का चरणकमल सेवित है, वा वे नख अन्योंके नखोंके समान पृथक् होनेवाले नहीं हैं क्योंकि वे भी भगवान्के समान सच्चिदानन्दरूप हैं, यदि वे सच्चिदानन्दरूप नहीं होते, तो उनका जन्म भगवान्के चरणकमलसे भी न होता. धरणी स्त्री है, भोगयोग्य तब होती है जब अलंकार धारण करती है, अतः उसको अलंकृथ करनेकेलिये भगवान्ने उस पर अपना चरण धरा है, जिससे भगवान्का चरण पृथ्वीका अलंकार है.

भगवान्की अपेक्षा उनका चरण महान् है, क्योंकि आपदामें केवल ध्यान करनेसे उसको हटाता है. जैसे आपका चरण, शरणागत, ब्रह्मा, लक्ष्मी, पृथ्वी और ध्यान करनेवाले इन समस्तोंका उपकार करनेवाला है, वैसे ही हमारे हृदयका ताप दूरकर, हमारा भी उपकार करे. गोपी कहती है कि यह हमारी प्रार्थना है, इस प्रकारके कथनसे सुरतके सर्व बन्ध कहे गये हैं।।१३।।

इसके पश्चात् उससे उत्तम राजस–सात्विकी गोपियां 'सुरत' इस श्लोकसे प्रार्थना करती है:

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
इतरराग–विस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ।।१४।।

हे वीर! सुरत(अलौकिक काम)को बढ़ानेवाला, शोकको मिटानेवाला, नादपूर्ण बंसीसे चुम्बित, अन्य प्रकारके रागोंको भुलानेवाला, आपका अधरामृत है, वह हमको दान करो।।१४।।

हे वीर, अधरामृतका दान दो. यह अधरामृत, जिसकी हम याचना कर रही हैं, वह गुण करनेवाला है. आगे जो मांगा गया था, वह दोष दूर करनेवाला था, अतः पुनरुक्तिदोष नहीं है. इस अधरामृतमें चार गुण हैं, क्योंकि यहां ज्ञान तथा वैराग्यका उपयोग(आवश्यकता वा काम) नहीं है. अब 'सुरतवर्धनं' पदसे ऐश्वर्यगुण सिद्ध करते हैं. यह आप(भगवान्)का अधरामृत 'सुरत'को बढ़ानेवाला है, गोपियोंमें काम परिच्छिन्न(हदवाला) है और भगवान्में अपरिच्छिन्न(अनन्त) है अतः वह संयोग(मिलाप)के समय क्लिष्ट(तकलीफवाला) होता है. अतः जैसे आयुर्वेद विद्याके अनुसार, रस औषधि भूख बढाती है, वैसे ही यह अधरामृत, गोपियोंके कामकी परिच्छिन्नताको मिटाकर, उसको असीम बना देगा, जिससे संयोगके समयमें होनेवाली क्लिष्टता मिट जायेगी. अधरामृतका यह गुण, ऐश्वर्य प्रकट करता है, किञ्च वह न केवल कामको ही बढानेवाला है किन्तु सर्व दोषोंको भी मिटानेवाला है.

'शोकनाशनं' पदसे धर्म गुण सिद्ध करते हैं. यह अधरामृत, शोकको नाश करता है, जिससे ज्ञान और वैराग्य भी बता दिये, क्योंकि ज्ञान और वैराग्यसे जो शोक नाश होता है, वह इससे हो जाता है, इसलिये वह धर्मरूप है. 'स्वरित–वेणुना सुष्ठु चुम्बितम्' पदसे कीर्ति गुण सिद्ध करते हैं. नादयुक्त वेणुसे उस (अधरामृत)का केवल सुष्ठु चुम्बन किया है, पान नहीं. लोकमें यश फैलानेवाले गायक ही होते हैं, वेणु परमभक्त है, इसलिये उसने भी चुम्बन किया है और गान द्वारा कीर्ति बढ़ाई है.

'इतररागविस्मारणं' पदसे 'श्री' गुण सिद्ध करते हैं, जैसे 'श्री' अन्य सर्व पदार्थोंको भुला देती है, वैसे ही यह अधरामृत (लौकिक पुत्रादिमें स्नेह आदि) सब रागोंको भुला देता है, जिससे इसमें 'श्री' गुणका निश्चय होता है.

भगवानका अधरामृत स्वयं पुरुषार्थरूप होनेसे चतुर्विध पुरुषार्थोंको देनेवाला है.

स्वतः पुरुषार्थरूप होनेसे अधरामृतमें (प्रमेय)बल है. 'स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्' पदसे बताया है, कि उस(अधरामृत)में प्रमाणबल है. 'शोकनाशनं' पदसे सिद्ध किया है, कि उसमें फलबल भी है तथा 'सुरतवर्धनं' पदसे जताया है, कि उसमें साधनबल भी है. इस प्रकार प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल चारों ही जिसमें हैं, उसकी प्राप्तिमें सर्व प्रकारके मनोरथ स्वयं सिद्ध होंगे. अतः हम प्रार्थना करती हैं, कि यद्यपि हम अनधिकारिणियां हैं और ये पुरुषार्थ दुर्लभ हैं देने जैसे नहीं हैं तो भी हमारी प्रार्थना स्वीकार कर उसका दान करो, कारणकि आप बांट रहे हैं अतः इसे बांटनेके गुणसे, हमको भी दे सकते हैं. इसलिये श्लोकमें 'वितर' पद दिया है, जिसका भावार्थ है बांट दो, और आप वीर हैं बांट देनेमें ही वीरता है, जो नहीं बांटोगे तो शूरवीरता न रहेगी।।१४।।

१२वां १३वां तथा १४वां श्लोक, राजसी गोपियोंके तीन प्रकारके वचन कहे, अब तामसी गोपियां भी सात्विक, तामस और राजस हैं उनके वचन १५वें, १६ और १७वें श्लोकमें कहते है अब 'अटति' श्लोकमें तामस–सात्विक गोपियांके वचन कहते हैं:

अटति यद् भवान् अह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वाम् अपश्यताम् ।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ।।१५।।

जब आप, दिनके समय, वनमें पधारते हैं, तब आपके दर्शन बिना, हमारा एक क्षण युगके समान बीतता है, फिर जब आप लौटते हैं, तब आपके घूंघरवाले केशोंसे युक्त श्रीमुखका दर्शन करती हैं, उस समय प्रतीत होता है कि आंखोंमें पलक बनानेवाले ब्रह्मा जड़ है।।१५।।

आप दिनमें वनमें फिरते हैं तब एक पलक गिरनेका समय भी आपके देखे बिना युगके समान हो जाता है, जब फिर (लौटकर) घूंघरवाले केशोंसे युक्त मुखका दर्शन करती हैं, उस समय हम समझती हैं, कि आंखोंमें पलक बनानेवाले ब्रह्मा जड़ है. देव अलौकिक देखते हैं इसलिये उनके नेत्रोंमें पलक नहीं बनाई है. हम तो उनसे भी अलौकिक वस्तुको देखनेवाली हैं अतः हमारे नेत्रों पर पलकें बना कर अपनी अयोग्यता प्रकट की है, अतः अयोग्य करनेसे भी जड़ है. यदि कहो, कि देव बहुत काल जीनेवाले हैं इसलिये उनके आंखोंमें पलक नहीं लगाये हैं, तो उसके उत्तरमें हम कहती हैं, कि हम भी बहुत समय जीनेवाली हैं, जैसेकि श्लोकमें कहा है 'त्रुटिर्युगायते' यह 'त्रुटि' शब्द स्त्रीलिंगका नहीं है, त्रुटिका अर्थ

है 'पलक गिरनेका समय' जब भगवान्‌को उतना समय भी नहीं देखती हैं, तो वह समय हमारेलिये युगके बराबर है, जिससे समझ लीजिये, कि हम कितना अधिक समय जीनेवाली हैं अतः नयनोंमें पलक लगानेसे ब्रह्माका जड़पन प्रकट ही है.

१.भगवान्‌के मुखके दर्शनसे जो रस प्राप्त होता है उस रसको नहीं जानता है अतः पलकें बनाई हैं इसीलिये मूर्ख है.

जो भगवान्‌का वनमें जाना किसी प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला होता, तो कुछ चिन्ता नहीं होती, किन्तु दिनके समय, बिना किसी पुरुषार्थकी सिद्धिके वनमें फिरना चिन्ताका कारण है, यदि कहो कि आपको दर्शनकी अभिलाषा है, तो वहां आकर दर्शन करो, इसके उत्तरमें कहती हैं, कि हम घरसे बाहर नहीं निकल सकती हैं, तो वनमें कैसे आ सकेंगी? भगवान्‌ने हमको इस प्रकार देव बनाया है और मूर्ख ब्रह्माने वैसी स्त्रियोंको भी पलक दे दिये हैं. इस श्लोकमें देवकी निन्दा हुई है, अतः यह श्लोक कहनेवाली गोपियां 'तामस-सात्विक' हैं।।१५।।

उन गोपियोंसे हीन श्रेणीवाली 'तामस-तामसी' गोपियां कहती हैं:

पति-सुतान्वय-भ्रातृ-बान्धवान् अतिविलङ्घ्य तेऽत्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेद् निशि ।।१६।।

पति, पुत्र, वंश, भाई, बन्धु इन सबकी आज्ञा अथवा सम्बन्धका उल्लंघन कर, हे अच्युत! हम आपके पास आई हैं, आप सर्वके मनकी गति(करनी)को जानते हैं, आपके गीतसे मोहित होकर अरण्यमें आई हुई स्त्रियोंको, हे कितव! आपके सिवाय रात्रिके समय कौन त्याग करे।।१६।।

हे अच्युत! लोकसे सबको अपनी कामनिवृत्ति हो जानेका भय रहता है. क्योंकि संयोगके पश्चात् उनका काम समाप्त हो जाता है, किन्तु आपका काम समाप्त न हो कर सदैव वैसा ही जागृत रहता है इसलिये आपका अच्युत नाम है जिससे आप कामकी निवृत्तिके भयसे रहित हैं.

पति, पुत्र, वंश, भाई और सम्बन्धी ये सब सर्वप्रकार उल्लंघनके योग्य नहीं हैं, तो भी उनका तिरस्कारकर, आपके पास आई हैं. आप गतिविद(सबके मनकी करनीको जाननेवाले) हैं जिससे आप सभीकी गतिको जानते हैं, और सब जो करनी करते हैं उस प्रकारकी बुद्धि आप ही की दी हुई है, वा जैसी बुद्धि आप देंगे उसके अनुसार उनकी करनी होगी. अथवा गोपियां कहती हैं, कि हम गतिको जानती हैं, अर्थात् उन(पति-पुत्रादि)के भजन और भगवान्‌के भजनमें क्या

तारतम्य है जिसको हम जानती हैं. किञ्च(कुछ ओर) हम आपके नादसे मोहित हो गई हैं, इस प्रकार मोहितकर, वनमें ला कर अब आप त्याग करेंगे, तो हम दोनों तरफसे भ्रष्ट हो जायेंगी, क्योंकि यहां बुलाकर, आप त्याग देते हैं, वहां, जिसका तिरस्कारकर, यहां आई हैं, वे कैसे रखेंगे? अतः आप हमारा त्याग न करो, सर्वदा ही स्त्रियोंका त्याग नहीं करना चाहिये, उसमें भी वनमें और वह भी रात्रिमें, वह भी त्याग कैसा जिसकेलिये बुलाया, वह भी न दे कर त्याग देना, तो प्रमाणित करता है कि आप कितव(ठग) हैं.

यदि आप कहें, कि हम आपका त्याग इसलिये करते हैं, कि तुम गोपोंकी स्त्रियां हो, परस्त्रीका तो त्याग ही करना चाहिये, इसके उत्तरमें कहती हैं, कि हम गोपोंकी वास्तवमें स्त्रियां नहीं हैं, उनसे केवल नाममात्र विवाह सम्बन्ध हुआ है, अतः हमारा उनमें प्रवेश नहीं समझना चाहिये अर्थात् उनसे स्त्रीके समान भोग आदि कभी नहीं हुआ है, भगवान्की मायासे मोहित हो कर हमको अपनी पत्नियां समझ बैठे हैं, अतः हम सर्वदा आपकी ही हैं, इसलिये हमारा त्याग न कीजिये।।१६।।

अन्यपूर्वा तामस-तामसीसे उत्तम तामस-राजसी गोपियों 'रहसि संविदं' श्लोकमें अपनी ही निन्दा करती है:

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ।।१७।।

कामको जगानेवाला, एकान्तमें कहा हुआ आपका वाक्य, प्रेमपूर्वक ईक्षण और हास्ययुक्त आपका मुख और लक्ष्मीजीका स्थान तथा विशाल आपका वक्षःस्थल, इनको अच्छी तरह देख अत्यन्त इच्छावाला, हमारा मन बार-बार मोहित हो जाता है।।१७।।

हमारे मनमें आपके दर्शन आदिकी बहुत लालसा है, जिससे वह मोहको प्राप्त होता है, अर्थात् मूर्च्छित हो जाता है, यों होनेमें तीन गुणवाले तीन कारण कहते हैं,

''वाक्यं हास्य मुरश्चैव कामानन्दाधिकारिणः''

१.वाक्य २.हास्य तथा ३.वक्षःस्थल ये तीन कारण हैं और उनके क्रमशः एक-एक गुण बताते हैं 'काम' यह 'वाक्य' गुणका है, अर्थात् वाक्यसे काम बढता व जागृत होता है. 'आनन्द' यह 'हास्य'का गुण है भगवान्के हास्यसे

आनन्द आता है. 'अधिकारियोंका बोध' यह वक्षःस्थलका गुण है, वक्षःस्थलमें श्रीका निवास है, जिससे बोध होता है कि अधिकारी ही इसको प्राप्त कर सकते हैं.

एकान्तमें कहा हुआ वाक्य अथवा उससे उत्पन्न(पैदा हुआ) ज्ञान जिससे पहलेके समान कामका उदय होता है, जिसमें प्रकृष्ट(श्रेष्ठ) हास्य और कटाक्ष युक्त ईक्षण(अवलोकन या देखना) है, वैसा मूल, लक्ष्मीका स्थान, महान् वक्षःस्थल(छाती) हमारे मनको मोहित करनेमें, ये तीन ही कारण हैं.

अथवा ४ विशेषणोंसे और २ गुण, बड़ी छाती और श्रीका धामसे भगवान्के छ गुण कहे हैं, जैसे कि,

(१)जिससे एकान्तमें ही प्रेमकी बातचीत होती है वैसे आपको,
(२)जिससे काम उदय होता है, वैसे आपको,
(३)जिसका प्रकृष्ट हास्यसे युक्त मुख है वैसे आपको,
(४)जिसका कटाक्षोंवाला ईक्षण है वैसे आपको,
(५)जिसकी छाती बड़ी है वैसे आपको,
(६)जो श्रीका धाम है वैसे आपको,

–देख कर हम मोहको प्राप्त हो रही हैं.

उपरोक्त छ गुण भगवान्के बताये, जिससे भगवान्के रूपमें प्रमाण, प्रमेय, साधन तथा फलरूपता भी कही है. जैसेकि 'रहसि संविदं' एकान्तमें कहे हुए भगवान्के वाक्य और उससे उत्पन्न ज्ञान, प्रमाणरूप है. 'हृच्छयोदयं' कामकी बुद्धि भी भगवान्के एकान्तमें कहे शृंगारात्मक रसवर्द्धक वाक्यसे होती है अतः यह प्रमेयरूप है. 'प्रहसिताननं' भगवान्के हास्ययुक्त मुखारविन्दसे सर्व प्रकारके कार्य सिद्ध होते हैं अतः यह साधनरूपता भी आपमें है. 'प्रेमवीक्षणम्' भगवान्का कटाक्ष पूर्वक प्रेमसे देखना ही फल है जिससे आप फलरूप भी हैं.

वक्षःस्थलमें अपनी स्थिति करनेको इच्छा प्रकट करनेसे यश और श्री गुण भी भगवान्में सिद्ध किये गये हैं इस प्रकार षड्गुणयुक्त भगवान् पुरुषार्थरूप भी हैं.

भगवान्का मुखारविन्द प्रकृष्ट हास्ययुक्त है, उसके दर्शनसे, पहली मानवाली स्थिति अब नहीं रही है, अर्थात् मुखकमलके दर्शन मात्रसे गोपियोंमें जो अहंकार उत्पन्न हुआ था, वह नष्ट हो गया, जिससे गोपियोंने 'हृच्छयोदयं' पद

कह कर कामका वर्णन किया. 'प्रेमवीक्षणम्' पद कहनेसे उस कामको अपनेमें स्थिर किया. 'बृहदुरः श्रियो धाम' पदोंसे अपनी वहां(छातीमें) स्थिति करनेकी योग्यता कही है. प्रथम विशेषण 'रहसि संविदं'से बताया है, कि हम भोग करनेमें भी चतुर हैं.

इस प्रकार हमारे सर्व मनोरथ पूर्ण होंगे वैसी अतिशय स्पृहा होनेसे, मन मूर्च्छित होता है. केवल मूर्छाको प्राप्त होता है, जिसकी इच्छा है वह मिलता नहीं है अतः फिर मूर्छा आ जाती है, यों कह कर अन्तमें कहती है, कि हम न अच्छी तरहसे जीवनको धारण कर सकती हैं और न मरती हैं वैसे हमारे जीवनको धिक्कार है।।१७।।

इतने समय किन्हीं मनोरथोमें खोई हुई अनन्यपूर्वा पुनः इस 'व्रजवनौकसां' श्लोकमें प्रार्थना करती है:

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्यलं विश्वमङ्गलम् ।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ।।१८।।

हे अंग! आपका यह स्वरूप, जगत्का मंगल करनेवाला है और व्रजवासियोंके पापोंका नाशक है, अपनेजनोंके हृदयरोगको नाश करनेवाली जो स्वरूपरूप औषधि आपके पास है, वह औषधि आपमें ही इच्छावाला है अन्तःकरण जिनका, वैसी जो हम हैं, उनको थोड़ी सी दो।।१८।।

आपका यह स्वरूप, व्रजवासियोंके पापोंका नाशक है और विश्वका भी बहुत मंगल करनेवाला है. विशेष कर हमारे ही दोषोंका नाशक है. सभीकेलिये गुणकारी है, अतः वैसा आपका स्वरूप थोड़ा सा हममें स्थापन करो. अपनेमें स्वरूप स्थापन करनेकी आवश्यकताका हेतु कहती हैं, कि हम गोपीजनोंके अन्तःकरणमें आपकेलिये इच्छा है, अतः हमारी प्रार्थना है, कि आपका स्वरूप हमारे अन्तःकरणमें स्थापित करो.

गोपीने कह भी दिया, कि स्वरूप स्थापन करो, किन्तु भगवान् हमसे पूछें, कि मैं क्या स्थापन करूं? वैसी शंकाके उत्तरमें, गुप्तरूपसे कहती हैं, कि जिससे गोपियोंके हृद्रोगरूप कामका समूलनाश हो जावे, वह स्थापित करो. वह जैसे किसीके पापोंका नाश करनेवाला है, किसीको फल देता है, वैसे ही हमारे रोगको मिटानेवाला होवे।।१८।।

कोई राजस-तामसी 'यत्ते' इस श्लोकमें खेदके साथ कहती है:

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ।।१९।।

हे प्रिय! आपके जिस सुकोमल सुन्दर चरणकमलको हमारे कठिन स्तनों पर (हम) डरती हुई धीरे-धीरे पधराती हैं, उस कोमलचरणसे आप जब वनमें फिरते हैं, तब वहां कंकड़ आदिसे आपको कितनी पीडा होती होगी? वैसा विचार आनेसे, जिन(गोपियों)का जीवन ही आप हैं, उनकी बुद्धि भ्रमित हो जाती है।।१९।।

सुकोमल, शीतल, सुगन्धिवाले और तापनाशक होनेसे, आपके चरणकमलको हम डरती हुई, स्तनों पर धीरे-धीरे पधराती हैं, क्योंकि हमारे स्तन कठोर हैं और आपके सुजात चरणकमल कोमल हैं. जो हमारे चरण कोमल हैं आपके स्तन कठोर हैं, तो पधरानेका क्या कारण है? इसके उत्तरमें कहती हैं, कि आप हमारे प्यारे हैं, अतः स्नेहके कारण पधराती हैं. आप प्यारे हैं, इसलिये धृष्टतासे[१] आपके चरण स्तनों पर स्थापन करती हैं.

१.ढीठपनसे, अथवा प्यारेके प्रेमसे उनके चरण स्तनों पर रखनेमें हमको लज्जा भी नहीं आती है.

हमारे दोषसे हमको त्याग कर उसी ही अतिकोमलचरणसे अब आप वनमें फिर रहे हैं.

जो स्वयंको दुःखी न कर, अन्यको दुःख दिया जा सके, तो देनेमें विचार नहीं, किन्तु स्वयं दुःखी हो कर अन्यको दुःख देना योग्य नहीं है. इस विषयमें हमको संशय है, कि आपको वनमें फिरते हुए दुःख होता है, वा नहीं होता है? मूलमें 'स्वत्' शब्द है उसका भावार्थ यह है कि हम कल्पना करती हैं, कि वनमें आपको दुःख होता है, कारणकि वनमें तीखी धारवाले कंकर् होते हैं वे आपके चरणोंमें चुभते होंगे, जिससे आपको अवश्य कष्ट होता होगा. यदि आप कहो, कि तुम वैसी कल्पना कैसे करती हो? इसी उत्तरमें कहती हैं, कि हमारी बुद्धि इस विषयके विचारमें घूम रही है अर्थात् निश्चय नहीं होता है. यदि यह एक ही निश्चय हो जावे, कि पीड़ा होती है, तो बुद्धि शान्त हो जावे, किन्तु वह निश्चय नहीं होता है, कारण कि आपको यदि पीड़ा होती हो, तो आप फिर वनमें नहीं पधारते. आप तो फिर पधारे हैं. जिससे सन्देह होता है, कि आपको वहां पीड़ा नहीं होती है. हमको पीड़ा हो, या न हो, इसकी चिन्ता तुम क्यों करती हो? इसके

उत्तरमें कहती हैं, कि हमारा जीवन जब आपके साथ लीलाकर, आनन्द लेनेकेलिये ही है, तब कैसे इसका विचार नहीं करें. पहले तो खेद प्रकटकर, मनको पीड़ा बताई, अब यों कहनेसे मूर्छाकी स्थिति कही है, जो अन्तिम स्थिति है. जिससे समझना चाहिये, कि इस प्रकार सर्व प्रकारकी गोपियोंकी मूर्च्छा पर्यन्त स्थिति हुई है. जब विरहावस्थामें भगवल्लीलामें प्रवेश होता है, तब प्रलाप प्रश्न करती है, जिससे २७वें अध्यायमें कहे हुए रसासक्ति, भगवान् जैसी क्रिया (लीला)का करना और गर्वका अभाव भी कह दिये हैं. जब भगवत्स्वरूपमें स्थिति होती है तब २८वें अध्यायमें कहा हुआ गीत गाती हैं.

इस प्रकार साधन और परीक्षाके अन्ततक गोपियोंके तापका निरूपण किया है. सारांश यह है, कि जिससे भगवान्की प्राप्तिकेलिये, जो साधन भक्त करते हैं उनकी पराकाष्ठा(अन्तिम सीमा) तथा भक्तोंके स्नेहकी परीक्षाके अन्तका भी वर्णन कर दिया है।।१९।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धके २८वें अध्यायकी
(प्रचलित क्रमानुसार अध्याय ३१ की) श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्रीसुबोधिनी
'संस्कृत टीका'के तामस फल अवान्तर प्रकरणके
तृतीय अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय २९

भगवान्‌का प्रकट हो कर गोपियोंको सान्त्वना देना

एकोनत्रिंशकेऽध्याये प्रसादं भगवत्कृतम्।
रोदनात् प्राप्य तुष्टास्ता निर्णयज्ञा इतीर्यते ।।का.१।।

उन्तीसवें अध्यायमें गोपियोंके रोदनसे भगवान्‌ने प्रसन्न होकर, उन पर कृपा की, जिससे वे(गोपियां) प्रसन्न हुईं और मनमें रही शंकाको मिटानेकेलिए गोपियोंने प्रश्नकर, निर्णय जानना चाहा है, यह कथा इस अध्यायमें वर्णन की हुई है।।१।।

नहि साधनसम्पत्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्।
भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम् ।।का.२।।

हरि, साधनोंकी सम्पत्तिसे किसी पर भी प्रसन्न नहीं होते हैं, भगवान्‌को प्रसन्न करनेका साधन, भक्तोंकेलिए एक दीनता ही है।।२।।

सन्तुष्टः सर्वदुःखानि नाशयत्येव सर्वतः।
अतो निर्णयवाक्यानि भजनार्थं न्यरूपयत् ।।का.३।।

भगवान् प्रसन्न होकर सर्वदुःखोंको सर्वथा नाश करते हैं, अतः भजनकेलिए निर्णयके वाक्योंका वर्णन करते हैं।।३।।

गोपियोंने भगवान्‌के अन्तर्हित होने पर, उनको प्राप्त करनेकेलिए २६वें अध्यायमें प्रयत्नरूप साधन किए जिसमें प्रत्येक चेतन जड़ादिसे पूछने लगी, कि क्या आपने प्यारेको देखा? जब उससे भगवान्‌का पता न मिला तब २७वें अध्यायमें उनको प्रसन्न करनेकेलिए स्तुति करने लगीं, जिससे भी भगवान् प्रकट न हुए, तब समझ गईं कि साधनोंसे भक्तिमार्गमें भगवान्‌का मिलना असम्भव ही है, अतः अपनेको असमर्थ दीन समझ खूब रोने लगीं, जिसका 'इति गोप्यः' श्लोकमें वर्णन करते हैं:

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ।।१।।

हे राजन्! इस प्रकार अर्थात् जैसे आगे वर्णन किया है उसी भांति गोपियां गाती तथा विचित्र प्रकारसे विलाप करती हुई, श्रीकृष्णके दर्शनकी इच्छावाली, वे ऊंचे स्वरसे रोने लगीं।।१।।

पहले कहे हुए प्रकारसे सब गोपियां गाने तथा प्रलाप करने लगीं. गोपियां गान तथा प्रलाप बहुत प्रकारसे करती थीं, किन्तु हमने यहां एक ही कहा है. इनको करते हुए, जब भगवान् प्रकट न हुए तब गोपियोंको ज्ञान हुआ, कि ये गान और प्रलाप दोनों, भगवान्की प्राप्ति करानेमें असमर्थ हैं, तब सब मिल कर ऊंचे स्वरसे रोदन करने लगीं. रोदन किसलिये किया? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि गोपियोंको कृष्णके दर्शनकी बहुत चाह थी, इसकेलिये रोदन किया, न कि अपनी देहकी रक्षाकेलिये रोई थीं।।१।।

पश्चात् भगवान्[१] ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हो कर फिर कृष्ण ही हुए, जिसका वर्णन 'तासामाविरभूत्' श्लोकमें करते हैं:

१.आद्यब्रह्माके कल्पमें भगवान् ही १.चतुर्मुख ब्रह्मा बने तथा २.तप किया ३.शब्द एवं अर्थके रूपमें ''भगवान् ब्रह्माका रूप ले कर नाम-रूप-क्रियाका धारण करते हैं'' इस वाक्यके अनुसार तथा 'जिसे शब्द ब्रह्मा माना जाता है' इस वाक्यके अनुसार शब्दसृष्टि तथा अर्थसृष्टि उत्पन्न करके, अन्तर्यामीरूपसे उसमें प्रविष्ट हो कर स्वयं भगवान् रजोरूपसे सारे कार्य करते हैं. प्रकृत सन्दर्भमें भी पहले (१)राजसमानका रूप भगवान् लेते हैं (२)फिर ताप बनते हैं. पश्चात् (३) विविध गान प्रलाप एवं विविध लीलाओंके रूपमें भगवान् ही हैं अतः उनका ब्रह्म होना कहा गया है.

विष्णु विक्षेप रहित शुद्ध सत्त्वात्मकरूपमें जिसका जैसे पालन हो, करते हैं. प्रकृत संदर्भमें भी सखीके वचन सुन कर जब यह समझमें आया कि प्रिय हमारे अपराधोंके कारण ही हमें छोड़ गये हैं तो चित्र विक्षेप दूर करके अपनी-अपनी जगह अपने-अपने भाव स्वजीवनार्थ प्रकट करने लगी मूलतः यह भाव भी भगवान्का विष्णुरूप था.

''क्योंकि वे रो दिए अतः रुद्र हुए'' इस श्रुतिके अनुसार रुद्र होना तो स्पष्ट ही है. देवताएं अपना धन अग्निमें रख कर संग्रामकेलिए गए, उसे ले कर अग्नि भाग गया, तब बलात् उन देवताओंने अपना छीन लिया, तब वह रो दिया यह कथा श्रुतिमें आती है. प्रकृत संदर्भमें भगवान्ने स्वीयभोग्यरस स्वामिनियोंमें स्थापित किया और स्वामिनयोंने मानवश उसे अपनेमें ही निरुद्ध कर लिया और तब मानके अपहरण होने पर दैन्य प्रकट हुआ और तब 'रूरूदुः सुस्वरं' हुआ. यों यह भगवान्की ही लीला थी सो भगवान्का रुद्र होना कहा जाता है.

रुद्र होनेके बाद भी यदि भगवान् बाह्यरूपमें प्रकट न हों तो देहादिकी सीमा ही न रही अतः बाह्यरूपमें आविर्भाव कृष्णस्वरूप है.

तासामाविरभूत् शौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ।।२।।

''जब वे दीन हो कर ऊंचे स्वरसे रोने लगीं'' तब मन्द हास्य सहित मुखारविन्दवाले, कामदेवके मनको मंथन करनेवाले, वनमाला धारण किए हुए, पीताम्बरधारी, शूरवंशमें उत्पन्न श्रीकृष्ण गोपियोंके मध्यमें प्रकट हुए।।२।।

भगवान् शूरके पौत्र हैं, अतः यहां शूरवीरता[२] प्रकट दिखानी है, और समस्तजनोंके दुःखोंको नाश करनेकेलिये यदुवंशमें प्रकट हुए हैं, इन सब कार्योंको करनेकेलिये आप मायाके पड़देको हटा कर गोपियोंके बीचमें ही प्रकट हो गये, उन(गोपियों)की दीनतासे आप प्रसन्न हुए हैं, अतः उनके दोषोंको निवृत्त करने केलिये उस समय आपका मुखकमल मन्द मुसकानवाला था अथवा मन्द मुस्कराहट[३] तथा मानवाला था, वैसे मन्द मुसकुराहटवाले भगवान्के मुखकमलके दर्शनसे गोपियोंका तो दोष निवृत्त हो गया, किन्तु भक्तोंका दोष भक्तोंमेंसे निकलकर, भगवान्के मुखकमलमें प्रवेश कर गया, जिससे ही भगवान्को मान[४] हो गया.

२.दानवीरता, भगवान् गोपियोंको सुरतदान करनेमें वीर हैं यह यहां प्रकट दिखानेकेलिये आप प्रकट हुए हैं.

३.श्रीप्रभुचरण टिप्पणीमें, 'स्मय', अर्थात् मन्द मुस्कुराहटका भाव प्रकट करते हुए आज्ञा करते हैं कि, भगवान् इसीलिये मन्द-मन्द हंसने लगे, कि वैसा अन्य कोई नहीं है, जिसके गोपीजन जैसे भक्त हों.

४.अब 'मान' होनेका भाव बताते हैं, अर्थात् मान किसलिये किया? कहते हैं, कि भगवान्ने यह निश्चित किया, कि गोपियां जब प्रार्थना करेंगी, तब दूसरे मेरे भक्तको भी यह रस दूंगा, नहीं तो मुक्ति दूंगा.

जिस समय आप प्रकट हुए, उस समयका भगवान्का स्वरूप किस प्रकारका था जिसका वर्णन करते हैं, 'पीताम्बरधरः'. आपने हास्यको कम करनेकेलिये पीताम्बरके छोरको हाथमें पकड़ कर मुखके आगे धर लिया था. अथवा व्यापी वैकुण्ठमें जो आपका स्वरूप है, उसी स्वरूपसे इतना समय लक्ष्मीके साथ रमणकर, अब यहां प्रकट हो गये हैं. प्राकट्यके समयमें, भगवान्के कण्ठमें वनमाला थी, जिससे भगवान्को विलम्ब हुआ, कारणकि मार्गमें ब्रह्मादिकोंकी पूजाको ग्रहण कर पधारे हैं अथवा जो लक्ष्मीजीसे माला धराई,

जिससे विलम्ब हुआ है, इसी कारणसे ही २८वें अध्यायके प्रथम श्लोकमें 'श्रयत इन्दिरा' श्लोकमें, लक्ष्मीजीका यहां आकर बिराजना कहा है. जब वह यहां बिराज रही है, तब उसकी उपेक्षा(तिरस्कार) करनी योग्य नहीं है, इसलिये आप अब लक्ष्मीजीके साथ रमणमें जिन धर्मोंको धारण करते हैं, उनको धारण कर प्रकटे हैं, जिससे लक्ष्मीजी भी प्रसन्न हो, यही कारण है, कि आगे श्लोकमें भगवान्का आगमन कहा है. (श्रीप्रभुचरण इस प्राकट्य वा आवागमनका भाव इस प्रकार समझते हैं, कि यदि, भगवान् इस रूपसे यहां अब प्रकट न होते, तो भक्तों द्वारा जो रस आपको ग्रहण करना था, उसकी प्राप्ति न होती, क्योंकि आपके विरहमें कदाचित् उनके देह छूट जाते और उससे अपकीर्ति होती और न रसकी प्राप्ति होती, अतः प्रकट होना आवश्यक समझ आप प्रकट हुए हैं, रस गुप्त ही रसदायी होता है, अतः उनकी गुप्ततताकेलिये आपने पीताम्बर धारण किया है, और कीर्तिरूप माला धारण की है.)

स्त्रियां कामदेवकी सेना है, सेना दुःखी हो, तो वह विजय नहीं कर सकती है, अतः कामदेवको अपनी विजय करनेकेलिये भगवान्को अपने वश करना योग्य था, अर्थात् भगवान्को कामी बना लेना चाहिये था? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान् स्वयं मन्मथ(काम)के भी मन्मथ हैं जिससे उनको यह कामदेव वश करनेमें असमर्थ है. कामके तीनरूप हैं, एक आधिभौतिक काम जो देवरूप है, दूसरा काम जो सबके हृदयमें व्यापक आध्यात्मिक काम है वह साक्षात् मन्मथ है, उसके भी मनको मथन करनेवाले आधिदैविक काम आप हैं, कारण कि सर्वके भी सर्व आप ही हैं. अतः देवरूप आधिभौतिक काम, भगवान्को तो वशमें न कर सके, किन्तु आधिदैविक कामरूप भगवान्के दर्शन कर स्वयं मोहित हो गए. भगवान्ने गोपियोंमें दैन्यका प्राकट्य देखकर, उसको मिटानेकेलिये आप आधिदैविक कामरूपसे प्रकट हुए, अतः उस रूपसे पहलेकी भांति गोपियोंको की. कामयुक्त किया.

भगवान्के प्राकट्यके अनन्तर, जो कुछ हुआ उसका वर्णन श्रीशुकदेवजी इस 'तं विलोक्य' श्लोकमें करते हैं:

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।
उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम्॥३॥

उस प्राण प्रियको पधारे हुए देख सब स्त्रियां प्रीतिसे प्रफुल्लित

दृष्टिवाली हो गईं और एक साथ वैसे उठ खड़ी हुईं, जैसे प्राणके आने पर कर-चरणादिक इन्द्रियां सचेत हो जाती हैं।।३।।

भगवान्को आते हुए देख, सब गोपियां एक ही समयमें उठ खड़ी हो गईं, श्लोक १में व २में भगवान्का गोपियोंके बीचमें प्रकट होना कहा, अब इस ३रे श्लोकमें जो भगवान्का आगमन कहा उसका स्पष्टीकरण करते हैं, कि स्वामिनियोंको दर्शनके समय जैसा-जैसा भाव उत्पन्न हुआ, उस-उस भावका भी शुकदेवजीने अनुवाद किया है, अर्थात् प्रथम जो प्रकट होना कहा उसका आशय यह है, कि भगवान् गोपियोंके अन्तःकरणमें प्रकट होकर, स्थित हुए तथा अब बाहर आये, इसलिये पहले प्रकट होना कहा है और अब आना कहा है.

भगवान्के पधारने पर खड़ी हो गई इसमें क्या आश्चर्य है? यह तो साधारण विषय है, जिसके उत्तरमें कहते हैं, कि आश्चर्यका विषय इसलिये है, कि ये उस समय जब भगवान् पधारे तब निर्जीव थीं, और निर्जीव एकसाथ खड़ी नहीं हो सकती थीं, इसलिये दृष्टान्त दे कर समझाया है, कि जैसे हस्त-चरण आदि अंग, प्राणरहित हो तो उठ नहीं सकते हैं किन्तु जब प्राण आते हैं तो सब साथमें स्वयं चलने लगते हैं. प्रयत्न करने पर अर्थात् चलानेसे एकाध अंग चलता है सब नहीं चलते परन्तु प्राण आनेपर तो सभी अंग चलने लग जाते हैं इसी प्रकार गोपियां भी भगवान्के तिरोहित हो जानेसे, निर्जीव हो गई थीं, कारणकि जीव भगवान्के पास चला गया था, भगवान्के आने पर जीव भी उनके साथ आ गया, जिससे सजीव होकर, सब सशरीर साथ ही उठ खड़ी हो गईं, इसलिये बहुवचन दिया है. अन्तःकरणके उठनेका कारण देते हैं, कि भगवान् अत्यन्त प्रिय हैं, उस प्रियको देख कर अन्तःकरण भी साथमें उठ खड़ा हो गया एवं इन्द्रियोंके भी उठनेका कारण कहते हैं, कि भगवान्में जो गोपियोंकी प्रीति थी जिससे भगवान्को आये हुए, देख नेत्र प्रफुल्लित हो गये, नेत्रसे, सब इन्द्रियां समझनी चाहिये.

श्रीप्रभुचरण यहां स्वतन्त्र लेखमें आज्ञा करते हैं, कि भगवान् गोपियोंको दर्शन देनेकेलिये पधारे थे, आते ही दर्शन तो हो गये, किन्तु नेत्रोंका प्रफुल्लित होना तो, उससे भिन्न है. प्रफुल्लित होना यह पुष्पोंका धर्म है, जिससे जाना जाता है, कि गोपियोंके नेत्र कमल हैं, अब तक उनका कोई कार्य नहीं था, इसलिये वे प्रफुल्लित नहीं हुए थे, अब कार्य है, अतः उनका प्रफुल्लित होना आवश्यक है. प्रफुल्लित होनेमें, हेतु प्रीति है, अभी तक नेत्रोंमें प्रफुल्लता नहीं थी, सो अब यहां आकर

उसका प्राकट्य हुआ है. कमल खिलने पर, जैसे रविके उदयका अनुमान किया जा सकता है, वैसे ही प्रीतिके प्राकट्यका अनुमान अब होता है. विरहमें तो सभी कुछ तिरोहित हो जाते हैं, यह भी तिरोहित हो गई थी. अतएव इन्हें 'अबला' कहा गया, अर्थात्, किसी भी कार्यके करनेकी सामर्थ्य ही इनमें नहीं रह गई थी.

श्लोकमें 'प्राणमिवागतम्' दृष्टान्तसे, यह बताया है कि भगवान् प्राणोंके भी प्राण हैं, अतः उनके आनेसे प्राण उठ खड़े हो गये.

श्लोकमें 'तं' पदका भाव बताते हैं, कि प्रथम जिनके दर्शनकी इच्छा की थी, वे भगवान् शरीर धारण कर आ गये तो शरीर भी उठ खड़े हो गये इसलिये 'तं' जिसकी इच्छा थी 'उसको' देख कर खड़ी हो गई, (ऐसा) कहा है।।३।।

इस प्रकार भगवान्के साथ स्थित, गोपियोंके जो उत्थित जीव सहित प्राण, देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण थे, उन्होंने जो कार्य किए उनका वर्णन श्रीशुकदेवजी निम्न पांच श्लोकों में करते हैं:

काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।
काचिद् दधार तद्बाहुम् अंसे चन्दनरूषितम् ।।४।।

किसी गोपीने भगवान्का करकमल हर्षसे अपनी अञ्जलीमें धारण कर लिया, किसीने भगवान्की चन्दनसे सुशोभित बाहुको अपने कन्धे पर धर लिया ।।४।।

यद्यपि गोपियां पहले अनेक[१] प्रकारकी थीं तो भी जिस समय भगवान् प्रकट हुए उस समय सात प्रकारकी हो गईं.

१.श्रीप्रभुचरण टिप्पणीमें इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि पहले गोपियोंके अनेक प्रकार, इसलिये हुए थे, जो भगवान्के प्रकट होनेसे जो चित्तमें विक्षेप हुआ था, जिससे वह विक्षेप प्रत्येक गोपीने पूर्व अध्यायमें वृक्षादिसे पूछते हुए वचनोंसे बता दिया है, जिससे सिद्ध होता है, कि गोपियां सत्त्व आदि प्रकारसे अनेक प्रकारकी थीं, अब प्रभु षड्धर्म और सातवें धर्मी स्वरूपसे प्रकट हुए जिससे गोपियां भी प्रकट स्वरूपमें एक निष्ठावाली होनेसे, तद्रूप हो गईं अर्थात् धर्म और धर्मीरूप होनेसे सात प्रकारकी हो गई हैं. स्वरूप रसात्मक होनेसे, उसके धर्म भी वैसे ही होनेके कारणसे भृकुटि बन्धन आदि भाव भी गोपियोंमें बनते हैं, इस प्रकारके भाव बताये हैं.

एक ही भगवान् समस्त गोपियोंको रसदान करनेकेलिये प्रकट हुए हैं, अतः गोपियोंके यूथमें जो दूर स्थित थी, वह भी भगवान्के समीप हो गई है, क्योंकि, भगवान्ने समस्त गोपियोंके रसदानार्थ प्रकट होनेके कारण सर्वत्र(प्रत्येक

गोपीके पास) ही प्रकट हो कर सबको अपना सान्निध्य दिया था. गोपियोंके[२] सात प्रकार हैं. भगवान्ने अपना हस्त गोपियोंके निकट किया, तब किसीने हर्ष(वियोग मिट जानेके कारण हर्ष हुआ)से उसको अपने दोनों हाथोंसे लिया, दोनों हाथोंकी अञ्जलि बना कर हस्तको क्यों लिया? इसका भाव प्रकट करते हैं, कि इस प्रकार लेना बहुत आदरका सूचक है. भगवान्ने एक हाथ इसलिये आगे किया कि दूसरे हस्तसे हास्यको रोकनेकेलिये पीताम्बरको धारण कर रखा था. भगवान्का शौरि नाम इसलिये कहा है, कि यहां भगवान्को अपनी वीरता प्रकट करनी है.

२.(१)शुद्ध सात्विक. (२)शुद्ध राजस. (३)राजस-सात्विक. (४)सात्विक-राजस तथा (५)निर्गुण (६)शुद्ध तामस तथा (७)तामसके मिश्रणसे चार प्रकारकी अन्य गोपियां यों सात प्रकारकी यहां गिनी गई हैं. गोपियोंके सात प्रकार एक ऊपर दिखाया है वह है, जिसका वर्णन २८वें अध्यायमें हो गया है, और दूसरा इस २९वें अध्यायमें धर्म और धर्मी स्वरूपमें एकरूप होनेसे, जो कहा गया है वह है. गोपियों वे ही हैं किन्तु भाव विशेषसे दो प्रकार कहे हैं.

दूसरीने विचारा, कि मैं इससे भी अन्तरंग बनूं, अतः भगवान्की चन्दन चर्चित भुजाको इस प्रकार अपने कन्धे पर धारण किया, जिससे यों देखनेमें आया, कि भगवान्ने इसका मानो आलिंगन किया है. भ्रमरगीतमें 'भुजमगरु सुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु' इस श्लोकमें इस गोपीका अंगीकार हुआ है यह बताएंगे.

भगवान्के श्रीहस्तका सुगन्धरूप धर्म इसमें जो रहा हुआ है, वह इस गोपीका निरोध सिद्ध करेगा, इसलिये हस्तको 'चन्दन रूषितम्' विशेषण दिया है. यह चन्दन ब्रह्मादि देवोंकी पूजा अथवा लक्ष्मीकी सेवाका है. ताम्बूलमें भी यही भाव समझना चाहिये।।४।।

काचिद् अञ्जलिनागृह्णात् तन्वी ताम्बूलचर्वितम्।
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात् ।।५।।

किसी गोपीने अंजलीमें भगवान्से चबाया हुआ ताम्बूल लिया, कामज्वरसे पीड़ित किसीने भगवान्के चरणकमलको अपने स्तनों पर धरा।।५।।

भगवान्ने माला, चन्दन आदि सामग्री सहित प्रकट होकर, गोपियोंको देवोंमें उत्तम ब्रह्मादि द्वारा की हुई पूजा तथा लक्ष्मीजीके रमणका कार्य स्पष्ट दिखाया. देवोत्तमोंका कार्य और गोपियोंका कार्य पृथक्-पृथक्(जुदे-जुदे) है,

जैसे कि गोपियां आरोहणकी इच्छावाली हैं और देवोत्तम पूजाकरनेवाले हैं. अतः किसीने अञ्जलिमें चबाया हुआ ताम्बूल ग्रहण किया कारणकि वह कोमलांगी होनेसे ताम्बूल लेनेके योग्य थी. कोमल अंगवालीकी त्वाच(चमडी) भी सूक्ष्म(महीन) होती है जिससे ताम्बूल चबानेसे उसकी विशेष शोभाको देख प्रभु उस पर अति प्रसन्न होंगे.

दूसरी एक गोपी जो बाहर दूर खड़ी थी जिससे, भगवान्से साक्षात् सम्बन्ध प्राप्त न कर सकी अथवा वियोग संतप्त होनेसे उठ नहीं सकती थी अतः वहां ही अपनी विरहकी अत्यन्त तपनको बुझानेकेलिये उसने भगवान्के चरणकमलको अपने दोनों स्तनों पर पधराया।।५।।

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला।

घ्नन्तीवैक्षत् कटाक्षेपैः[१] संदष्टदशच्छदा ।।६।।

कोई एक भृकुटी चढ़ा, प्रणय कोपके आवेशसे विह्वल हो, होंठ काट, मानों कटाक्षोंसे मारती होवे वैसी देखने लगी।।६।।

१.श्लोक ६–'कटाक्षेः' इस पदमें 'क्ष'का लोप कर दिया है, वास्तवमें 'कटाक्षक्षेपै' है, जिसका अर्थ होता है कटाक्षोंको फेंकना अर्थात् मारना. 'क्ष'के लोप करनेका कारण संस्कृतके व्याकरणका नियम है.

फिर दूसरी जो दूर खड़ी थी वह तामसी थी, तमोगुणके कारण भृकुटीको चढ़ा कटाक्षोंसे मानों मार रही हो इस प्रकार देखने लगी. वह विह्वल हो गई थी, क्योंकि उसके अन्तःकरणमें भगवान्केलिये प्रेमसे उत्पन्न क्रोध था. जिससे वह घबरा गई थी, अतः उसने अपने होंठको दांतोंसे काट लिया था. भृकुटी चढानेसे उसके चित्तकी कुटिलता(टेढापन) प्रकट होती है. प्रेमयुक्त क्रोधसे इन्द्रियोंकी घबराहट समझी जाती है, होंठके काटनेसे देहमें क्षोभ प्रतीत हो रहा है. कटाक्षोंसे मानों मार रही हो, जिससे जाना जाता है, कि उसके प्राणोंमें बलकी स्फूर्ति हो गई है. उसका ज्ञानसाधन भी विकारवाला हो गया है, जैसे कोई किसीको वाणीसे धमकाता है वैसे ही यह कटाक्षोंसे निरन्तर मार कर रही है, वह भावपूर्ण हो जाये, उसकेलिये कालका नियमन करना चाहिये, अतः इसने भृकुटीको भंग (तिरछापन) कर कालका नियमन किया है. स्वभावको नियममें रखनेकेलिये क्रोध किया है, लोभको नाश करनेकेलिये होंठको काटा है, मोक्ष न मिले, इसलिये ज्ञानमें विकार उत्पन्न किया है प्रमाणके निराकरणकेलिये कटाक्ष मारे हैं,

जिससे लौकिकी भक्ति पुष्ट होती है, इसकेलिये अर्थात् इस भावको दिखानेकेलिये इस गोपीका यहां वर्णन किया है।।६।।

अपराऽनिमिषदृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम्।
आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा ।।७।।

दूसरी(निर्गुण) गोपी निमिषरहित दोनों नेत्रोंसे भगवान्के मुखकमलके रसका पान करती हुई भी वैसे तृप्त नहीं हुई जैसे सन्तपुरुष भगवान्के चरणके ध्यानसे तृप्त नहीं होते हैं।।७।।

श्रीप्रभुचरण टिप्पणीमें इस श्लोकमें तामसी सखीके किये हुए कर्त्तव्यके भीतरी भावोंको प्रकट कर समझाते हैं:

मान दो प्रकारके होते हैं १.साधारण मान, जो प्रियतमके वचनोंसे अथवा विशेषकाल होनेसे मिट जाता है, २.गाढ मान होता है, जो मिटना अशक्य होता है, तामसोंको साधारण मान तो प्रथम था, किन्तु अब उसने गाढ मान किया है, उसने यह निश्चय कर लिया है, कि शतधा भी प्यारे प्रयत्न करेंगे तो भी मैं मान नहीं छोडूंगी.

समय पा कर मेरा मान शिथिल न हो जाये इसलिये भृकुटिभंगसे कालको अपने वशमें कर लिया, प्यारेके वचनोंसे नायिका मान छोड़ देती है, क्योंकि नायिकाका स्वभाव ही वैसा होता है, अतः क्रोध कर उस स्वभावको वश कर लिया, जिससे मान सदा बना रहे, क्रोधके सिवाय स्वभावका नियमन नहीं हो सकता है.

मान करनेसे, प्यारेसे संगम होनेमें विलम्ब होगी, वह विलम्ब दुःख देगी. फिर भी जो मान किया जा रहा है उसका हेतु यह है, इस विचारका उदय ही नहीं. विचारोदय नहीं है इसका कारण यह है, कि वे विह्वल हो गईं. यदि प्रथम प्यारेके हुए संगमके सुखकी स्मृतिसे पुनः उस सुखका लोभ हो जाये और जिससे मान छूट जाये, तो उसकेलिये लोभरूप होठको दातोंसे काट लिया है, वैसे करनेसे लोभ नहीं होगा. इस प्रकार मान त्यागका अत्याग्रह होते हुए भी यदि प्यारेमें मान लीन हो जाये तो उसकेलिये ज्ञानमें कुटिलता कर दी है, जिससे ज्ञानके अभावमें यों नहीं होगा. प्यारेमें लीन तब हो जब यह ज्ञान उदय हो, कि प्यारा हृदयमें स्थित है और मान भी अन्तःकरणमें रहता है तब कदाचित् मान प्यारेमें लीन हो जाये. भावार्थ यह है, कि मुक्ति तब होती है जब निर्दोषता हो. धर्मीको मुक्ति भी निर्दोष

होने पर होती है, भाव दोषवाला है उस(दोषवाले भाव)से सम्बन्ध होनेसे, जब धर्मीकी भी मुक्ति नहीं हो सकती है, तो धर्म(मान)की मुक्ति(लीनता) कैसे होगी? भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन आदि तब हो सकता है, जब प्रमाणबलका निराकरण किया जाये अतः कटाक्षोंसे प्रमाणबलका हनन किया है, जिससे यह लौकिकी भक्ति है, अर्थात् यह भक्ति(स्नेह) लौकिकरीतिका अनुगामी है.

इस प्रकार अति कृपापात्र तामसीका निरूपण कर श्रीशुकदेवजी अति उत्तम अर्थात् निर्गुणका निरूपण करते हैं,

यह(निर्गुण गोपी) भगवान्‌के दर्शनसे निर्दोष हो गई, अतः भगवान्‌को हृदयमें स्थापन करनेकी इच्छासे नेत्रों द्वारा ध्यानसे उन्हें हृदयमें स्थापित करने लगी किस प्रकार स्थापित किया, वह प्रकार(तरीका,ढंग) बताते हैं, भगवान्‌के मुखरूप कमलमें रहा हुआ लावण्यामृत रसपान[१] करने योग्य है, रस द्रव पदार्थ है वह बीचमें ही ढुल कर वह न जाये इसलिये गोपीने अपने नेत्ररूप अञ्जलिको निमिषरहित बना कर उससे पान किया, जिससे वह मध्यमें ढुला नहीं. यहां प्रेमसे पान करना अभिप्रेत है. यद्यपि सम्पूर्ण धर्मसहित सभी कुछ भीतर स्थित हो गया है अर्थात् सभी कुछ गोपीके आधीन हो गया, जब भी चाहे तब, हृदयमें दर्शन कर सकती है तो भी तृप्त न हुई, फिर भी इच्छा करती ही रही, कारण कि विषयके सौन्दर्यसे प्रयोजनके अभावने भी इच्छा करनेमें रुकावट नहीं की जिसको दृष्टान्त दे कर समझाते हैं, जैसे सन्तजनोंको कुछ प्राप्त करनेकी वा त्यागकी इच्छा वा आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे आप्तकाम हो गये हैं तो भी भगवान्‌के चरणारविन्दमें जो सहजरस है, उसकी चाह उनको भी सदैव बनी रहती है, वैसे ही इस गोपीको भी मुखाम्बुजके लावण्यामृत रसके पानसे तृप्ति न होनेसे चाह बनी रहती है।।७।।

१.रस, द्रव द्रव्य है, उसका भीतर प्रवेश करना पान है.

तं काचिद् नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च।
पुलकाङ्ग्युपगूह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता।।८।।

कोई गोपी नेत्रके छिद्रसे भगवान्‌को हृदयमें पधराकर, आंखे मूंदकर, पुलकित अंगवाली हो, भगवान्‌का आलिंगन कर योगीके समान आनन्दमें मग्न हो गई।।८।।

फिर एक दूसरी गोपी जो दूर खड़ी थी, वह भी निर्गुण गोपीके समान थी,

किन्तु वह भक्तिमार्गीया थी वह योगका अनुसरण करनेवाली है, जिससे योगानुसार भगवान्‌को हृदयमें स्थापित करने लगीं, जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी निम्न प्रकारसे करते हैं.

पहले छ श्लोकोंमें लौकिक भाववाली गोपीका वर्णन किया, फिर सातवें श्लोकमें भक्तिमार्ग पर चलनेवाली गोपीका वर्णन किया, अब इस श्लोकमें जिसका वर्णन है वह योगमार्गका अनुसरण करनेवाली है. अतः इस गोपीकी भगवान्‌के अवयवोंमें दृष्टि है. इसने दोनोंको एक कर दिया है, अन्यथा दृष्टिभेद हो जाती. पहलेवाली गोपीका तो दर्शनमें ही प्रयोजन है. जबकि यह इसके जैसी गोपी, तो विरल है अतएव शुकदेवजी 'काचित्' कहते हैं. मूलश्लोकमें जो 'तं' पद दिया है उसका आशय है, कि जिसको इस गोपीने गोपीगीतमें 'न खलु गोपिका नन्दनो भवान्' कह कर वर्णन किया है, उस भगवान्‌को नेत्ररन्ध्रसे हृदयमें पधराकर, नेत्र मूंद लिये, जैसे वह बाहर नहीं जा सके. उसकी बुद्धिमें तो यह भाव है, कि भगवान् बाहर हैं ही नहीं, समस्तको मैंने हृदयमें धारण कर लिया है. अथवा जो उसका भाग था वह उसने ले लिया, यह मेरा भाग बाहर न चला जाये इसलिये नेत्र मूंद लिये.

मूलश्लोकमें 'च' आता है उसका तात्पर्य यह है कि, भगवान्‌को हृदयमें बन्द करनेके साथ अन्य सभी इन्द्रियोंके कार्य बन्द हो गये, अर्थात् वे निवृत्त हो गईं और फिर आन्तर आनन्द परिपूर्ण हो गया और वह रोमाञ्चित हो गई. यह रोमाञ्च केवल आनन्दानुभवके कारण नहीं था, अन्य था, तो आत्मानन्द (केवलानन्द)के कारण तो वह गोपी भी न बनी रह पाती, इसीको स्पष्ट करनेकेलिये आनन्दानुभवकी विशेषता 'उपगूह्यास्ते'से दिखलाते हैं. यह रोमाञ्च सात्विकभावका ही एक प्रकार था, अतएव आन्तर आलिंगनमें रत हो गई. इस स्थितिसे अन्य कोई अतिरिक्त अवस्था अपेक्षित ही नहीं थी सो इसी स्थितिको दृढतर धारण कर बैठी.

यदि गोपी इस स्थितिमें रह रही हो तो अन्य कार्य भगवान्‌के साथ सम्भोग, आलाप और घर जाना आदि कैसे सिद्ध होंगे? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि योगीके जैसे सिद्ध होते हैं, वैसे ही सिद्ध हो जायेंगे. जैसे योगी, उसी स्थितिमें रहते हुए भी सर्व कार्य सिद्ध करते हैं, वैसे ही यह भी इसी स्थितिमें रहते हुए भी सिद्ध करेगी और विशेष कहते हैं, कि 'आनन्दमग्न' है अतः बाहरका कोई ज्ञान

नहीं है, ज्ञान होये, तो कार्यका ध्यान आवे, पूर्णआनन्दकी प्राप्ति होने पर कोई काम उसकेलिये शेष नहीं रहता है।।८।।

यहां आशय यह है:

छट्ठे श्लोकमें, तामस भाववाली गोपीका लौकिकरीतिसे स्नेह दिखलाया कि गाढमानके कारण, वह आन्तर-बाह्य सबका विचार छोड़कर केवल भगवान्के ऊपर खीज जता रही है कि क्यों इस तरह अन्तर्ध्यान हो गये. जबकि सातवें श्लोकमें निर्गुण भाववाली भक्तिमार्गके अनुसार बहिःप्रकट मुखारविन्दको, स्नेहसे निहारकर इतनी मग्न हो गई, कि भगवान्के अन्य अंगो पर उसकी दृष्टि ही नहीं गई. अब यहां इस आठवें श्लोककी गोपी योगियोंकी तरह, भगवान्के स्वरूपको ले कर मानों ध्यान धारण कर रही है. क्योंकि ध्यानमें, प्रत्येक अंगका चिन्तन करके धारणामें उनको समुदितरूपमें एक करके हृदयमें स्थापित किया जाता है. अब प्रत्येक अंगका चिन्तनमें उन अंगोंके परस्पर सम्बन्धका चिन्तन न करें, तो वह उचित नहीं और यदि करें तो प्रकृतमें भगवान्का स्वरूप रसात्मक होनेके कारण भावात्मक है और विभिन्न स्वामिनियोंके (यथा तामसी बिना कुछ विचारे विरहदायक मानमें लगी हुई है जिससे कि, अनपेक्षित भी, स्वरूप विप्रयोगात्मक बन सकता है. ऐसे ही निर्गुणा मुखदर्शनके आन्तर अनुभव एवं बाह्य अनुभवके बीच झूल रही है अतः विप्रयोग, आन्तर संयोग एवं बाह्य संयोग आदिके भेदसे भावोंमें भेद आता है) अतः एक-एक अंगके बारेमें भी विभिन्न भाव सम्भव हैं. फलतः स्वरूपमें भी भेदकी सम्भावना है. वह भेद यहां आकर मिट जाता है, क्योंकि यह गोपी सभी भावों एवं सभी अवयवोंका योग कर देती है एकीकरण कर देती है, अन्यथा (क्योंकि भगवान् प्रत्येककेलिये प्रत्येकके भावके अनुसार स्वरूप ले कर रसदान करते हैं इसलिये) प्रत्येककी दृष्टि भावके अनुसार स्वरूपमें भी भेद हो जायेगा. वह इसकी योग प्रक्रियाके कारण नहीं होता, अर्थात् भगवान् अनेक रूपोंमें भी स्वरूपतः एक ही हैं. ऐसा टिप्पणीजीको देखनेसे स्फुट होता है. (अनुवादक)

इस प्रकार गोपियोंका विशेषरूपसे, किया हुआ कृत्य कहकर, अब सर्व गोपियोंका सामान्यरूपसे जो प्रयोजन है उसका वर्णन श्रीशुकदेवजी 'सर्वास्ताः' श्लोकमें करते हैं:

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ।।९।।

वे सब भगवान्के दर्शनसे उत्पन्न, महान् उत्सवसे आनन्दमग्न हो गईं, जैसे मनुष्य, प्राज्ञको प्राप्तकर, दुःखका त्याग करते हैं वैसे ही इन्होंने भी

भगवान्के दर्शन कर विरहसे उत्पन्न हुए दुःखका त्याग किया।।९।।

वह 'केशव' जो गहरे राजस एवं तामस रंगोंसे रंगे हुओंको फलदान करते हैं तो इन गोपियोंके, जिनके या जिनमें गुणोंका क्षोभ नितान्त क्षुद्र है, उनके उद्धारमें कौन ऐसे विशेष प्रयासकी अपेक्षा रखेंगे! अथवा क्षुद्रगुणोंका जिनमें क्षोभ है उनके उद्धारमें कौन ऐसे विशेष प्रयासकी अपेक्षा होगी! इस ऐसे 'केशव'का आन्तर एवं बाह्य प्रकाश या दर्शन ही परमोत्सव हुआ. जैसे लोकमें किसीको महाराज्यकी प्राप्ति अथवा चिरप्रतीक्षित पुत्रकी प्राप्ति परमोत्सव होती है. उस परमोत्सवसे सभी आनन्दमग्न हो गईं. इस तरह उन्हें जो चाहिए था वह मिल गया–इष्टप्राप्ति. अब अनिष्ट निवृत्ति अर्थात् जो नहीं चाहिए वह दूर चला जाए या नष्ट हो जाए इसका निरूपण 'जहुर्विरहजम्'में करते हैं. दुःखनिवृत्ति और सुखकी प्राप्ति ही तो मोक्ष है और वह यदि यहां सम्पन्न हो जाती है तो इसका भी मोक्ष होना चाहिए, किन्तु नहीं हुआ, संसार छूट गया एवं भगवान्के साक्षात्कारसे परमानन्द मिल गया फिर क्या बचा रह जाता है कि मोक्ष नहीं हुआ? इसका उत्तर 'प्राज्ञं प्राप्य'में दिया गया. 'प्राज्ञं' सुषुप्तिके साक्षीका नाम है. ''स्वाप्यय'' (ब्रह्मसू.१।१।८) अर्थात् सुषुप्तिमें भगवान्का आविर्भाव होना दिखलाया गया है. किन्तु स्वाप्ययमें जीवोंका प्रज्ञात्मामें प्रवेश वासनासहित होता है अतः वहां भगवान्को प्राप्त करने पर भी संसारी जीव या मनुष्य फिर लौट आते हैं. इसी तरह यहां भी ये लौट आवेंगी यह आशय है. जनका अर्थ ही है 'जो होता रहे' वे मुक्तिके उत्तम अधिकारी नहीं है. परन्तु इनसे तो अपना सम्बन्ध जतानेकेलिये ही भगवान् प्रकट हुए हैं।।९।।

'केशव'का तात्पर्य श्रीलालु भट्टजी, ''क+ईश+व=केशव अर्थात् क–ब्रह्मा, एवं ईश–शिवको, व–मोक्ष देनेवाले'' यों लेते हैं और तदनुरूप ही ''बलिष्ठरज–रजस्तमोभ्यां व्याप्तयोरपि फल सम्पादकः''का अर्थ भी ब्रह्मा एवं शिव ही करते हैं.

इसके या भगवान्के सभी गुण महान् ही हैं. किन्तु सामान्य संसारी जीव जैसे सुषुप्तिमें ब्रह्मानन्दका अनुभव करके भी पुनः लौट आता है 'अविद्या–वासनावशात्' एवं यहां अज्ञान नहीं है, किन्तु भगवान्के अन्तर्हित होने पर भी भगवान् इनके साथ ही थे यह इन गोपियोंने नहीं जाना सो इस क्षुद्रगुणके कारण दुःख हुआ और इस विरह दुःखकी निवृत्ति या इस दुःखसे उद्धार केशव भगवान्ने

किया. यहां दुःख दूर हुआ एवं आनन्दकी प्राप्ति हुई तो भी मोक्ष नहीं होता क्योंकि यह प्राप्ति सुषुप्तिमें प्राज्ञ प्राप्ति जैसी है जहां मुक्ति नहीं होती किन्तु केवल आनन्दानुभव हो जाता है. वही यहां भी होगा क्योंकि न तो ये गोपियां सामान्य अज्ञानी लौकिकजीव हैं और न प्रसिद्ध मुक्तिमार्गकी अधिकारी. इन्हें तो केवल अपने प्रियतमके बाह्य संगमकी अभिलाषा है और यह मनोरथ इनका भगवान्‌को पूरा करना ही पड़ेगा अतः (प्राज्ञका उदाहरण दिया गया जहां आनन्द है किन्तु मुक्ति नहीं. किन्तु इतना अन्तर भी है कि) प्राज्ञके आनन्दानुभव करनेवाले लौकिक जीवोंकी तरह इन्हें लौकिक वासना नहीं है. दृष्टान्त भी तो कुछ समानता एवं कुछ असमानताओंके रहते हुए दिया जाता है।।९।।

इस प्रकार गोपीयोंने जो कृत्य भगवान्‌केलिए किया उसका वर्णनकर, अब भगवान् गोपीयोंकेलिए जो कृत्य करते हैं, उसका वर्णन श्रीशुकदेवजी 'ताभिर्विधूत' श्लोकमें करते हैं:

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा।।१०।।

हे तात! शोकरहित उन गोपियोंसे आवृत, अच्युत भगवान् अधिक सुशोभित हुए, जैसे पुरुष शक्तियोंसे शोभता है।।१०।।

जो गोपियां प्राकृत होतीं, तो उनके सम्बन्धसे भगवान् भी प्राकृत बन जाते जिससे भगवान्‌की अलौकिक शोभा छिप जाती, किन्तु यों नहीं है, अर्थात् गोपियां प्राकृत नहीं थीं, अतः उनके सम्बन्धसे भगवान्‌की अलौकिक शोभा भी तिरोहित नहीं हुई है. यदि गोपियां प्राकृत होतीं तो भगवान् उनसे सम्बन्ध ही न करते अथवा भगवान्‌का तिरोहित होना, प्राकृत गोपियोंके सम्बन्धसे अलौकिक शोभाके नष्ट होनेके भयसे, मानना पड़ेगा. परन्तु इस प्रकार मानना भी श्रीशुकदेवजीके 'भगवान् गोपियोंके साथ अधिक शोभा पाने लगे' इस वचनोंके विरुद्ध होंगे, श्रीशुकदेवजीने ये वचन कह कर सिद्ध किया है, कि गोपियां प्राकृत नहीं हैं. इसलिये 'स नैव व्यरमत्' ''तस्मादेकाकी न रमते'' इन श्रुतियोंकी सफलता तब होती है, जब भगवान् गोपियोंको निर्दोष समझ उनके साथ रमण करते हैं.

भगवान् गोपियोंको प्राकृत समझ ''उनके सम्बन्धसे मैं भी प्राकृत बन जाऊंगा'' इस भयरूप स्वार्थ सिद्धिकेलिये तिरोहित नहीं हुए थे, किन्तु उनको

विशेष आनन्द देनेकेलिये अन्तर्ध्यान हुए थे.

लोक भी केवल(शक्तियोंके सिवाय एकाकी 'अकेले') भगवान्को देख कर प्रसन्न नहीं होते हैं किन्तु सर्व शक्तियोंके साथ भगवान्के दर्शनसे आनन्द मग्न होते हैं.

शास्त्रमें कहा है, कि 'पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुख दुःखिनोर्न' पुरुष सुखी हो, स्त्री दुःखी हो, तो उनका समागम आनन्दवाला नहीं होता है, तथा यदि स्त्री सुखी हो और पुरुष दुःखी हो, तो भी उनका समागम आनन्दवाला नहीं होता है, अर्थात् समागम आनन्ददाता तब बनता है, जब दोनों शोकरहित होवें, अतः कहा है, कि 'विधूत शोकाभिः' जिन गोपियोंका शोक अर्थात् दुःख मिट गया है, वैसी गोपियोंसे समागम करनेसे, भगवान् अधिक शोभा पाने लगे. उन(गोपियों)के गुण तो पहले कहे हुए ही हैं, कि सर्वथा शरण आई हुई हैं, मध्यमें शोक हुआ था, उसके नष्ट हो जानेसे, वे पहले जैसी हो गईं. भगवान् तो ऐश्वर्य आदि षड्गुणोंसे युक्त ही हैं, तो भी यदि प्राकृतकी भांति परिच्छिन्न कामवाले बनें तो, गोपियोंसे वैलक्षण्य[२] होनेसे शोभाको नहीं पावें.(२.गोपियां अप्राकृत आप प्राकृत कामवाले यह विलक्षणता 'अन्य प्रकार'.)

श्लोकमें श्रीशुकदेवजीने भगवान्का 'अच्युत' नाम दे कर यह बताया है कि प्रभु पूर्णकाम हैं अतः गोपीजनोंसे आवृत(घिरे हुए) स्वाभाविक स्वरूपकी अपेक्षासे भी, विशेष शोभित होने लगे.

श्लोकमें 'तात' यह सम्बोधन दिया है जिसका आशय यह है कि, जिस प्रकार पिता अपने स्वार्थकेलिये[३] पुत्रका पोषण करता है और श्रोता भी अपनी स्वार्थ[४] सिद्धिकेलिये वक्तामें विश्वास प्रकट कर पोषण करता है. जब वक्ता श्रोताके विश्वाससे प्रसन्न होता है, तब उसको अधिकारी समझ, अति गुप्त अर्थ भी बताकर, श्रोताको आनन्दित करता है, नहीं तो अनधिकारी समझ अलौकिक अर्थ न बतावे.

३.बड़ा होगा कमाके खिलायेगा, श्राद्धादि क्रिया कर नरकसे बचायेगा.

४.वक्ता गुप्त रहस्य भी प्रसन्न हो कर बतावे.

श्रीशुकदेवजी इस प्रसंगमें राजाका विश्वास देख कर अति सन्तोष तथा स्नेहसे पिताके समान 'तात' यह सम्बोधन देते हैं.

यदि, भगवान् गोपियोंसे अधिक शोभा पा रहे हैं यह माना जाये, तो

उसमें तारतम्य(भेद) होनेसे, भगवान्का सहजपन न रहेगा और भगवान् विकारी बन जायेंगे, इस शङ्काके मिटानेकेलिये शुकदेवजीने श्लोकमें 'पुरुषः शक्तिभिर्यथा' कहा है. लोकमें भी शक्तिहीन पुरुषकी शोभा नहीं होती है. जब वह भी अपनी ज्ञान आदि शक्तियोंको प्रकट कर दिखाता है तब शोभा पाता है और अन्योंको ज्ञान आदिसे आनन्द देता है, उसी भांति भगवान् भी जब अपनी गोपिकारूप शक्तियोंको प्रकट करते हैं, तब उनके साथ अधिक शोभा पाते हैं, जिससे सर्व आस्तिक जनोंके तथा भावुक भक्तोंके अन्तःकरणमें तो विशेष शोभते हैं, जिससे सब समझने लगते हैं, कि यह भी भगवान् हैं और यह ही परमानन्दरूप हैं. इससे आनन्दकी प्राप्ति होती है, जैसा कि भगवती श्रुति भी कहती है, कि 'एषह्येव आनन्दयति' इति श्रुतिः ये ही सबको आनन्दित करते हैं।।१०।।

भगवान्ने गोपीजनोंमें आनन्द उत्पन्न करनेकेलिए जो कुछ किया, जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी इस 'ताःसमादाय' श्लोकमें वर्णन करते हैं:

ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः।
विकसत्कुन्दमन्दार–सुरभ्यनिलषट्पदम्।।११।।

उन(गोपियों)को साथमें लेकर, कालिन्दीके तीर पर विराजमान हो कर आप विभु बन गए, वह तीर उस समय प्रफुल्लित कुन्द और मन्दारके पुष्पोंसे सुगन्धित वायुवाला तथा भ्रमरोंवाला हुआ था।।११।।

उन गोपियोंको भली भांति साथ लेकर, सुन्दर तीर पर प्रभु पधारे और वहां विराजमान हो कर व्यापक बन गये अर्थात् प्रत्येक गोपीके पास हो गये.

२६वें अध्यायमें लीला करते हुए जब यमुनाजीके तीर पर पधारे तब वहां श्लोकमें 'नद्याः पुलिनमाविश्य' नदीके तीर पर पधार कर कहा और अब 'कालिन्द्याः पुलिनं निर्विश्य' कालिन्दीके तीर पर पधार कर कहा है, जिसका स्पष्टी कर यह है कि यहां कालिन्दी शब्द इसलिये दिया है कि यहां गोपियोंका न तो आपसमें कलह होगा और न भगवान्से ही, क्योंकि, यहां इस पुलिनमें श्रीयमुनाजीका कलहका नाशक धर्म प्रकट है, इसलिये श्रीशुकदेवजीने 'कालिन्दी' नाम दिया है, जिसका अर्थ है, 'कलिं द्यति कलिन्दः' कलहको नाश करनेवाला कलिन्द, उसकी कन्या कालिन्दी, उसका यह पुलिन है, अतः यहां कलह नहीं होगा. वहां यह धर्म प्रकट नहीं था, जिससे 'नदी' कहा है इसलिये

गोपियोंमें मद 'अहंकार' उत्पन्न हुआ था.

अब यह पुलिन क्रीड़ाके योग्य है, इसलिये चारों तरफ, ऊपर और नीचे, यों तीन प्रकारसे वर्णन करते हैं,

प्रथम श्रीयमुनाजीके चारोंओरके सौभाग्यका वर्णन करते हैं, जहां कुन्द और मन्दारके पुष्प प्रफुल्लित हो रहे हैं. उनकी सुगन्धियुक्त वायु लग रही है और भ्रमर भी हैं. ऐसा यह श्रीयमुनाजीका तट, वायुके शीत, मन्द और सुगन्धि इन स्पष्ट तीन गुणोंवाला भी है. पुष्पोंमें मकरन्द(पुष्परस) भी अधिक है, जिससे भ्रमर मत्त हो कर गुञ्जार कर रहे हैं, अतः वे गान क्रियामें उपयोगी बन सकते हैं. फूल वायुको अपनी सुगन्धि देनेकेलिये प्रफुल्लित हो रहे हैं. कुन्द पुष्पोंकी गन्ध शान्त है और मन्दार पुष्पोंकी गन्ध पुष्ट है, इस प्रकार गन्धोंका भेद कह कर यह बताया है कि ये क्रमशः गुप्त तथा अगुप्त कामोंको जगानेवाले हैं, अर्थात् कुन्दकी शान्त गन्ध गुप्त कामको जगाती है और मन्दारकी पुष्ट गन्ध अगुप्त(प्रकट) कामको जगाती है. (यहां 'विकसत्' में 'शत्' प्रत्ययका अर्थ यह होता है कि पुष्प उस समय विकसित हो रहे थे, अर्थात् जब प्रभुका निवेश हुआ, तभी पुष्पोंमें भी विकास आरम्भ हुआ इससे पूर्व नहीं. अन्यथा 'विकसित्' न कह कर 'विकसित' कहा होता. यों इससे यह प्रकट होता है, जिस क्षणमें जिस वस्तुका उपयोग रहता है उसी क्षणमें वह कार्य होता है, अन्य समय नहीं. यों सभी वस्तुएं जो यहां हैं, वे लीलामें उपयोगी ही हैं यह सिद्ध होता है. अन्यथा साढे तीन अध्यायोंकी लीलाके होते-होते काफी रातें बीत चुकी होंगी, अतः अब ही जाकर इन पुष्पोंके खिलनेका कोई हेतु नहीं है और न इनके वर्णनका कोई हेतु है. यों इन कुन्द आदि पुष्पोंसे टकरा कर वायु भी अभी ही बहने लगी है इससे पूर्व नहीं बह रही थी यह फलित होता है.)

सुगन्धि, स्वतन्त्र प्रकारसे जाननेमें आवे इसलिये मूलश्लोकमें 'सुरभि' 'अनिल' पृथक् पद दिये हैं, इस प्रकारके वर्णनसे यह बताया है, कि चारोंतरफ 'जल', चारोंतरफ 'वायु', चारोंतरफ पुष्प और चारोंतरफ 'नाद' है।।११।।

श्रीयमुनाजीका पुलिन ऊपरसे भी उत्तम है, जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी 'शरच्चन्द्रां' श्लोकमें करते हैं:

शरच्चन्द्रांशुसन्दोह-ध्वस्तदोषातमःशिवम्।
कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम्।।१२।।

शरद्ऋतुके चन्द्रमाकी किरणोंके समूहसे, रात्रिका अन्धकार मिट गया, जिससे रात्रि कल्याणमयी हो गई, श्रीयमुनाजीने अपने तरंगोको हस्त बना कर तीर पर कोमल वालुकाको बिछा कर उसको सीधा बना दिया है।।१२।।

वह पुलिन कल्याणरूप हो गया है, क्योंकि शरद्ऋतुके चन्द्रमाकी किरणोंके समूहसे रात्रिका अन्धकार मिट गया. अन्धकार मिटनेसे, उसके आश्रित भूत भी नाश हो गये, जिससे कल्याणरूप तीर पर इष्ट कार्य निर्विघ्नतासे सिद्ध होंगे, यह बता दिया है. श्रीयमुनाजीके तीरके चारोंतरफ तथा ऊपर एवं नीचे भी कोई निन्दित पदार्थ नहीं है. अनन्तर उन(श्रीयमुनाजी)के निम्न किनारेके भागके गुणोंका वर्णन करते हैं, श्रीयमुनाजी भी भगवान्के समान 'कृष्ण' नामवाली है, अतः उनने भगवान्के रमणकेलिये पृथिवीका संस्कार(शुद्धि) किया, वह संस्कार कैसे किया? उसको बताते हैं, कि यमुनाजीने अपने तरंगोंको हस्त बनाकर, उनसे तीर पर कोमल, शीत और एक सी रेतको बिछा दी. प्रभु वैसे तीर पर जाकर खड़े हो गये, भगवान्के बैठनेका वर्णन आगे करेंगे अब तो भावसे ही बैठे हैं।।१२।।

अनन्तर श्रीशुकदेवजी गोपियोंके कार्यका वर्णन 'तद्दर्शना' श्लोकमें करते हैं:

तद्दर्शनाह्लाद–विधूत–हृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।
स्वैरुत्तरीयैः कुच–कुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपद् नासनम् आत्मबन्धवे ।।१३।।

वैसे प्रभुके दर्शनसे, उत्पन्न आनन्द द्वारा, गोपियोंके हृदयके दुःख नाश हो गए, जैसे श्रुतियां मनोरथोंके अन्तको प्राप्त हुईं, उसी भांति गोपीजनोंने भी, अपने मनोरथ पूर्ण किए, उन्होंने अपनी आत्माके बन्धु भगवान्के विराजमान होनेकेलिए, स्तनोंके कुंकुमसे अंकित अपने उत्तरीय वस्त्रोंके आसन बनाए ।।१३।।

यद्यपि दशम श्लोकके अनुसार गोपियोंका शोक निवृत्त हो गया है, किन्तु हृदयका रोग, जो तापात्मक काम है, उसकी निवृत्ति नहीं हुई है, क्योंकि अबतक भगवान्से सम्बन्ध नहीं हुआ है. किन्तु जब भगवान् वैसे स्थानमें इन(गोपियों)केलिये पधारे हैं, तब आपके वैसे स्वरूपके दर्शनसे, यह निश्चय हुआ, कि अब हमारी भगवान्से सम्बन्धकी अभिलाषा पूर्ण होगी, जिससे उत्पन्न आनन्दसे हृदयका तापात्मक काम भी निवृत्त हो गया. श्लोकमें 'मनोरथान्तं' कहा है, जिसका आशय है, कि गोपियोंने किसी न किसी प्रकारसे, भगवान्से सम्बन्ध

होनेकी अभिलाषा की थी, किन्तु भगवान्ने तो उनको अनन्त गुण और सामग्रियों सहित पूर्ण अभिलषितका दान किया, अतः मनोरथके अन्तको प्राप्त हुई, अर्थात् इसके अनन्तर कोई मनोरथ शेष नहीं रहा. गोपियोंने जो नहीं चाहा था उनको भी कैसे प्राप्त किया? इस शंकाका उत्तर श्रुतियोंके दृष्टान्तसे देते हैं, श्रुतियां निरन्तर भगवान्के गुणगानमें लगी रहती हैं. गोपियोंने भी, इसी गुणगान धर्मका सहारा लिया और उन्हें भगवान् मिल गये मन वाणीका पूर्वरूप है. (क्योंकि मनमें बात आने पर वाणीसे उसकी अभिव्यक्ति होती है) परन्तु भगवान् तो वाणी तथा मनसे भी अगम्य हैं, जैसा कि ''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'' अर्थात् मन सहित वाणी वहां जाकर लौट आती है यों भगवदानन्दको मनोरथान्त जहांसे आगे मनोरथ न दौड़ पाये मानना चाहिये. (उसे गोपियोंने गुणगानसे प्राप्त कर लिया). उस ब्रह्मका प्रतिपादन श्रुतियोंने किया और यह सब मानती भी हैं. उपनिषदोंमें वर्णित[१] उस पुरुषको पूछता हूं, ''इस कारणसे लोक और वेदमें पुरुषोत्तम[२] नामसे प्रसिद्ध हूं'' 'सर्ववेद[३]' जिसके पदका वर्णन करते हैं. इत्यादि वचनोंसे प्रमाणित होता है कि श्रुतियां ब्रह्मस्वरूपमें प्रमाण हैं, 'सर्व वेदान्त'से[४] ब्रह्मका ही ज्ञान होता है, क्योंकि विधि वाक्य समान ही है.

१.तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि. २.अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः.
३.सर्वे वेदा यत् पदम् आमनन्ति. ४.सर्ववेदान्तप्रत्ययम्.

वेदका अर्थ अलौकिक है, वेदके शब्द अलौकिक हैं, लोकमें वेदके शब्दोंका कोई संकेत नहीं है, तो भी वे सदा ही भगवान्के कार्यका वर्णन करते रहते हैं, जिसके श्रवणसे लोगोंके अन्तःकरण शुद्ध होते हैं, शुद्ध अन्तःकरण होनेसे, लोक स्वयं ही अलौकिक विषयमें वेदकी सामर्थ्य मानते हैं और श्रुति भी उसका प्रतिपादन भगवान्की इच्छासे करती है. वेदके विषयमें श्रुतियोंको किसी लौकिक साधन वा युक्तिकी अपेक्षा नहीं है, (श्रुतियोंकी भांति)वैसे गोपियोंको भी मनोरथान्तकी प्राप्ति हुई है.

श्लोकमें श्रीशुकदेवजी 'स्वैरुत्तरीयैः' पदसे यह बताया कि भगवान्के बिराजनेकेलिये गोपियोंने अपने उत्तरीय वस्त्रोंसे आसन बनाये, इस पदका भाव यह है कि गोपियोंके मनमें यह शंका हुई, कि यदि परमपुरुषार्थ देनेवाले भगवान् अन्यत्र विराजमान होंगे, तो उस अन्य आधारके सम्बन्ध होनेसे, हमारी अपनी कृतार्थता नहीं होगी, अतः भगवान्की पूजाकेलिये तथा आत्मसमर्पण

करनेकेलिये अपने उत्तरीय वस्त्रोंसे आसन बिछाये.

उस देशकी स्त्रियोंके वस्त्र तीन होते हैं–एक वस्त्र पहननेकेलिये, दूसरा वस्त्र स्तनोंको कस कर बान्धनेकेलिये और तीसरा वस्त्र ऊपर डालनेका होता है, सब गोपीजनोंने अपने ऊपरके वस्त्रोंके आसन बनाये. ये ऊपरके वस्त्र भी दो प्रकारके होते हैं, एक सदा पहननेकेलिये दूसरा भोगके समय पहननेकेलिये होता है. भोगके समयवाले वस्त्र सूक्ष्म(महीन) होते हैं वे ही भगवान्के विराजनेकेलिए आसन बनाये थे, वे वस्त्र स्तनों पर लगी कुंकुमके रंगसे अंकित थे, यद्यपि कुंकुम शुष्क हो गये थे, किन्तु क्रीडा करते हुए, वे आर्द्र हो गये जिससे वस्त्रोंमें उसके चिह्न हो गये थे. अपने पहननेका ऊपरवाला वस्त्र नीचे क्यों बिछाया? इसके उत्तरमें शुकदेवजीने 'आत्मबन्धवे' पद दिया है जिसका आशय यह है, कि जिसकेलिये अपने उत्तरीय वस्त्र दिये हैं, वह अपने ही बन्धु हैं, उनकेलिये ही यह देह और आत्मा धारण कर रखी है, अतः यह उत्तरीय भी उनकेलिये ही है इसलिये उत्तरीयसे आसन बनाना योग्य ही है।।१३।।

अनन्तर भगवान्ने गोपियोंमें सर्वत्र प्रवेश किया, यह जतानेकेलिए गोपीजनोंके उत्तरीय वस्त्रोंसे बने आसन पर विराजे, जिसका वर्णन 'तत्रोपविष्टः' श्लोकसे करते हैं:

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितः त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ।।१४।।

योगेश्वरोंके हृदयमें जिनके आसनका होना माना जाता है, वह भगवान् वह ईश्वर, तीनों लोकोंकी लक्ष्मीकी शोभाको एकत्रित करके एवं गोपियोंकी परिषद्में उनके द्वारा की गई पूजासे सुशोभित हो कर वहां उन वस्त्रों पर विराजे ।।१४।।

मूलश्लोकमें 'भगवान्' और 'ईश्वर' दो नाम दिये हैं, उनका आशय यह है, भगवान् नाम इसलिये दिया है, कि गोपियोंके कार्योंको सिद्ध करनेवाले हैं, और 'ईश्वर' नाम देनेसे यह बताया है, कि आप कर्तुं, अकर्तुं तथा अन्यथाकर्तुं समर्थ हैं. जिससे गोपियोंके शरीरपर उत्तरीय वस्त्र न होनेसे सभामें रसाभास होना चाहिये वह न हुआ कारण कि समर्थ होनेसे उनको दिव्यवस्त्र पहना दिये, दिव्यवस्त्र जलक्रीडाके समय भी आर्द्र नहीं होते. यों सभी तरहके सामर्थ्यवाले वहां प्रार्थना करने पर विराजे.

भगवान् भोगादि लेपवाले अपवित्र वस्त्रोंसे बने आसन पर कैसे विराजे? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि योगेश्वरोंका हृदय शुद्ध है उसमें भी भीतरका हृदय और शुद्ध होता है. उस भीतरके शुद्ध हृदयमें भी भगवान्के विराजनेकेलिये आसनकी कल्पना मात्र की जाती है किन्तु आसन बनाया नहीं जाता है, अतः वहां योगेश्वरोंके हृदयमें प्रभुकी मानसी मूर्ति केवल खड़ी रहती है, किन्तु कभी भी वहां स्वयं स्वरूपसे विराजमान नहीं होते हैं. जिससे सिद्ध है कि भगवान्के विराजमान होनेका यह ही मुख्यआसन[१] है. उस पर विराजमान हो कर गोपियोंकी परिषद्में परम शोभाको प्राप्त हुए. आपके चारोंतरफ गोपियां बैठ गईं. उस सभाके सभापति भगवान् बने, अतः गोपियोंने उनकी पूजा की. इसके बाद तीनों लोकमें लक्ष्मीरूप जितने भी पद हैं, यथा इन्द्रका पद, उन सारे पदोंको मिला कर जो एक पद बनता हो कि जिसके अंशोंका विलाश तत्तद् लक्ष्मीका भोग करनेवाले बनते हैं, ऐसा वपु धारण कर विराजे. इसलिये देश, काल आदिके प्रभेदोंमें जो भी कुछ उत्कृष्ट पदार्थ अपेक्षित हैं, उन्हें प्रकट करता हो ऐसा वपु भगवान्ने धारण किया।।१४।।

१.श्रीप्रभुचरण टिप्पणीमें आज्ञा करते हैं, कि जो वस्तु लोकमें वेदमें अपवित्र मान कर ग्रहण करने योग्य नहीं होती है, वह भी गोपियोंके सम्बन्धसे भगवान्केलिये योगेश्वरोंके शुद्ध अन्तहृदयसे भी अधिक उपयोगी हो जाती है, तो लोकवेदमें जो उपादेय मानी जाती हो, ऐसी वस्तु यदि इन गोपियोंके सम्बन्ध रखनेवाली हो, तो उसकी उपयोगिताके बारेमें क्या कहा जाये?

'रसाभास'पर श्रीप्रभुचरण आज्ञा करते हैं, कि जब गोपियोंने कात्यायनी व्रत कर वरदान लिया, उस समय उन्होंने अपने सर्ववस्त्र उतार दिये थे, तो भी रसाभास जब न हुआ तो अब केवल उत्तरीयवस्त्रोंके उतारनेसे रसाभास कैसे होगा? उस समय जो प्रभु थे वे ही अब भी हैं, इसलिये श्लोकमें 'सः'(वह) कहा है. उस वक्त रसाभास क्यों न हुआ? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'ईश्वरः' हैं, ईश्वर होनेसे कर्तुं, अकर्तुं और अन्यथाकर्तुं समर्थ हैं अतः जब कर्तुं समर्थ हैं तो रसाभास होता तो यों करने ही नहीं देते, अर्थात् वस्त्र उतारने नहीं देते. अकर्तुं समर्थ होनेसे उत्तरीय वस्त्रसे बने आसनको छोड़ नहीं सकते हैं, दूसरी तरह करनेमें समर्थ होनेसे रसाभास होते हुए भी रस उत्पन्न कर सकते हैं, अतः वैसे सर्वसमर्थ ईश्वरमें कुछ भी असम्भव अथवा अयोग्य नहीं है.

श्रीप्रभुचरणने टिप्पणीमें 'अपने अन्तःकरणके दोष'का विवरण 'स्वकृतघ्नता'

पदसे किया है. परोक्षमें भी भजन करनेके कारण प्रभुने विप्रयोग रसका दान किया ही किन्तु इस रसदानका ज्ञान इन गोपीजनोंको नहीं हुआ यही इनकी कृतघ्नता है. प्रभुमें तो कोई दोष है ही नहीं, अतः आरोप करने पर ही वह दोष सम्भव है. अन्यत्र भासित होनेवाली वस्तुका कहीं अन्यत्र आरोप होता है या फिर स्मृतिमें जो कोई बात आ जाये उसका आरोप हम दिखलाई देती वस्तु पर कर देते हैं. स्वामिनियोंको प्रियके अलावा और किसी धर्मकी स्फूर्ति ही नहीं है अतः अपनेमें रहे हुए धर्मका ही आरोप यहां किया जा रहा है. यद्यपि यह भी रसमध्यपाती भाव है अतः दोषरूप नहीं है तथापि भगवान्में किसी भी दोषका न होना शास्त्र सिद्ध है इसलिये आरोप तो भ्रममूलक ही है परन्तु रसशास्त्रकी रीतिके अनुसार ही.

गोपीजनोंने भगवान्का दर्शनकर, उनके स्वरूपसे मनमें समझा, कि अब भगवान् प्रसन्न हैं अतः वास्तवमें जो भगवान् निर्दोष हैं उन्हें अपने अन्तःकरणके दोषके कारण हमने कृतघ्नी समझ लिया था, क्योंकि उनने हम शरणागतोंका त्याग किया, जिससे भगवान् दोषी हैं वैसे भाव हमारे हो गए थे. अब भगवान्ने प्रसन्न हो कर प्रकट दर्शन दे दिए हैं अतः हमारे लिए अपने अन्तःकरणके दोषोंको दूर करनेका यह उचित अवसर है. गोपियां यह निश्चयकर, लोकदृष्टिसे भगवान्में कृतघ्नता दोष है अथवा नहीं, जिसके निर्णयकेलिए कुछ पूछनेको तैयार हो गईं, जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी 'सभाजयित्वा' श्लोकसे करते हैं:

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा ।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ।।१५।।

गोपियोंने हास्य एवं लीलासहित दर्शनसे तथा विलासयुक्त भृकुटीसे, अनंगको उद्दीपन करनेवाले भगवान्की स्तुति की और अंकमें पधराए हुए चरणोंका हस्तोंसे स्पर्श करती हुई, अर्थात् उनको प्रेमपूर्वक चांपती हुई गोपियां स्तुति कर कुछ क्रोधसे बोलने लगीं।।१५।।

गोपियोंको भगवान्से प्रश्न करने थे, इसलिये प्रथम भगवान्की स्तुति की. भगवान् निर्दोष हैं किन्तु उनमें कृतघ्नतारूप दोष उत्पन्न हुआ है वा नहीं? इस प्रकार विचार करनेकी क्या आवश्यकता है? अब तो फल प्राप्त हो गया है उसका उपभोग करना चाहिये, यदि यों कहा जाये तो उसके उत्तरमें 'अनंगदीपनं' पद दिया है. जिसका भावार्थ है, कि यह फल अनंग(काम)को सदैव प्रज्वलित करता ही रहता है जिससे यह ध्वनि(भाव) निकलती है कि यह शरीरका भान(सुधि) भुला देता है, अतः एकबार भोग करनेसे, कार्यकी पूर्णता नहीं होती

है. जिससे फिर वैसे एक भोगसे आगे, अधिक खेद होगा. वह खेद, यदि अपने दोषसे होवे, तो दूर करना चाहिये और यदि भगवान्के धर्मसे हुआ हो, तो भगवान्से बोलचाल कर अथवा उन्हें प्रार्थनाकर, यह निश्चय करा लेना कि पुनः खेदजनक लीला न करें, अनन्तर फलका अनुभव करना चाहिये. इतने समग्र कहनेका यह ही भाव है.

भगवान् जिन साधनोंसे अनंग(काम)को प्रज्वलित(तेज वा धधकता हुआ) करते हैं, श्रीशुकदेवजी उन साधनोंका वर्णन करते हैं, अथवा तो अनंगको दीप्त करनेवाले साधन भगवान्को रखने नहीं चाहिये यह प्रार्थना करनी चाहिये. इस आशयसे अनंगोद्दीपक साधनोंका वर्णन है. १.हास २.लीला ३.ईक्षण ४.विलास एवं ५.भ्रू यों ये पांच अनंगवर्धन साधन हैं. हास्यपूर्वक जो लीलायुक्त ईक्षण, उस ईक्षणके कारण जो भ्रूकुटिका विलास, यह विलास ही अनंगको उद्दीप्त करता है. पांच हेतुओंके जुटने पर कार्य निर्विघ्न सम्पन्न होता है. भगवान्का हास माया है, जिससे स्वरूप विस्मरणरूप मोह उत्पन्न होता है. भगवान्की लीला आपके स्वरूपमें आसक्ति सिद्ध कराती है. ईक्षण वाञ्छित लीलाके स्वरूपका ज्ञान प्रकट करता है. यदि ईक्षण वह ज्ञान प्रकट न करे, तो अन्य पदार्थोंके ज्ञान होनेसे, आसक्तिका नाश हो जावे. विलास उस ज्ञानका पोषण करनेवाले हैं. भगवान्की भ्रूकुटि यम(कालरूप) है, अतः जैसे यम, नियममें रखनेवाला है वैसे यह भ्रूकुटिरूप यम भी भावका नियामक है, जिससे भाव नाश नहीं होता है. अथवा (क्योंकि फलका नियमन भ्रूकुटि द्वारा होता है अतः) इस अनंगभावके होने पर ही, अर्थात् देहानुसन्धानके हटने पर ही, भ्रूकुटि भगवान्की आदि कृपाओंका दान करती है, अर्थात् स्वरूपानन्दका दान करती है.

गोपियोंको भगवान्से प्रश्न करने हैं, अतः भगवान्को प्रसन्न करने केलिये उन्हें दुलारती हैं, इसलिये मूलश्लोकमें 'संस्पर्शनेन' पद दिया है. गोपियां प्रथम भगवान्के चरण गोदमें पधराके अनन्तर दोनों हस्तोंसे चरणोंको इस प्रकार स्पर्श करने अथवा चांपने(दाबने) लगीं जिससे प्रभुको आनन्द प्राप्त हो. इसी भांतिकी क्रिया करती हुई गोपियां, भगवान्का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित करनेकेलिये स्तुति करने लगीं.

गोपियोंको कुछ रीस भी चड़ी क्योंकि गोपियोंके मनमें आया, कि हम सर्वभावसे जो शरण आई हुई हैं उनको भी छोड़ते हैं. इस प्रकार भगवान्में

दोषदृष्टि हुई, जिससे थोड़ी कुपित हो गईं.

गोपीजनोंने दोष निवारणकेलिये जो संस्पर्शन आदि साधन किये, उनसे दोष नाश हुए, तो भी, जब तक भगवान् स्वयं दोषोंको नाश न करेंगे तब तक जड़सहित दोष नाश नहीं होंगे, अतः भगवान्से विवाद सा करती हुई बोलने लगीं।।१५।।

श्रीशुकदेवजी 'भजतोऽनु' श्लोकमें गोपियोंने जो प्रश्न किए हैं, उनका वर्णन करते हैं:

गोप्य ऊचुः

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्द्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ।।१६।।

गोपियां कहने लगीं, कि कितने एक तो भजन करनेवालोंको स्वयं भी भजते हैं, कितने एक भजन न करनेवालोंको उनके भजनकी परवाह न कर भी भजते हैं, कितने एक भजन करनेवाले तथा भजन न करनेवाले, दोनोंको नहीं भजते हैं. इन तीन प्रकारके पक्षोंका स्पष्ट वर्णन कीजिए।।१६।।

लोकमें, फल और स्वरूप तथा साधनसे तीन पक्ष सन्दिग्ध हैं अर्थात् स्पष्ट नहीं हैं, पहला पक्ष, कुछ जो जैसे भजन करते हैं उनका स्पष्टरीतिसे वैसे ही भजन करनेवाले होते हैं. दूसरा पक्ष, कुछ जो भजन नहीं करते हैं उनके भजनकी परवाह न कर उन्हें भी भजते हैं. तीसरा पक्ष, कुछ भजन करनेवाले और भजन न करनेवाले दोनोंका भजन नहीं करते हैं. इन तीनोंका एवं दूसरे और तीसरेमें जो दो प्रतियोगी[१] हैं प्रथम उनका फल कहिये.

जो भजन करनेवालेका वैसा ही भजन करते हैं वे कृतघ्न[२] हैं? वा धूर्त[३] हैं? अथवा श्रेष्ठ[४] हैं?

योजनाकार लालुभट्टजी:

१.दो प्रकार भजनके हैं तथा एक प्रकार अभजनका यों कुल तीन प्रकार हैं. १.जैसे 'क' 'ख'का भजन करता हो वैसे ही 'ख' 'क'का भी भजन करता है २.'क' 'ख'का भजन नहीं करता परन्तु 'ख' 'क'का भजन करता है ३.'क' 'ग'का भजन करता है परन्तु 'ग'का भजन नहीं करता परन्तु 'ग' तो 'क' या 'ख' किसीका भी भजन नहीं करता है.

यहां (२)कल्पमें 'क' प्रतियोगी है तथा (३)कल्पमें भी 'क' प्रतियोगी है. इन तीनों कल्पोंका एवं उक्त (२)एवं (३)कल्पके दो प्रतियोगी 'क'केलिये क्या फल है

यह जानना है.

२.भजनके उपकारको नहीं मानना एवं प्रत्युपकारमें समर्थ होते हुए भी भजनका जो योग्य फल हो, उने न दे कर केवल व्यवहार निभानेकेलिये उसका भी उसी प्रकारसे भजन कर देना, यहां कृतघ्नताकी सम्भावना है.)

३.यदि कोई हमें धनकी प्राप्तिकेलिये भजता है तो उसे धन तो नहीं देता किन्तु बुरा न लगे एतदर्थ जैसे वह हमें भजता हो ऐसे ही हम यदि उसे भजें तो यह एक धूर्तताका ही शिष्ट प्रकार कहलायेगा.

४.जो जैसा हमारा भजन करे उसे उसी तरह भजना इससे अधिक उचित एवं सम्भव क्या है अतः श्रेष्ठताकी भी सम्भावना है.

प्रकाशकार पुरुषोत्तमजी:

२.भजनको देख कर भजन करना और जिसने पहले किया उसके उपकारको नहीं मानना, इस पर भी खुदके किये हुएको उसकेलिये हुएसे अधिक मानना कृतघ्नता है.

३.पहले जिसने भजन किया उसका उपकार तो माने परन्तु स्वयं आप(उसे देख कर कर रहे हेने पर भी) अपने कार्यको पहलेवालेके समान माने या उसका उत्कर्ष न माने यह धूर्तता है.

४.पहलेवालेने फलाशासे किया या बिना किसी फलकी आशाके इसका निर्णय न हो पानेसे जैसे वह भजन करता हो कमसे कम उतना या वैसा तो उसका भी भजन कर ही देना चाहिये, यह भाव श्रेष्ठताका है.

कोई एक पुरुष, दूसरेके पैरोंको इस आशासे धोता है, कि जिसके पैर मैं धोता हूं वह मेरे भी पैर धोवे तो समीचीन पुरुषको वैसा ही करना चाहिये, यदि वह किसी आशाके बिना पैर धोता है, तो सामनेवाला क्या करे इसमें सन्देह रहता है, अतः इस प्रथम पक्षके सन्देहका निर्णय करना चाहिये.

जिसको भजन करनेकी इच्छा नहीं है, उसका यदि कोई भजन करना चाहे, तो कहीं दोष भी होता है. जैसे कोई निष्काम[५] पुरुष है, उसके साथ कोई कामातुर कामिनी भोगकी इच्छा करती है, तो वहां दोष होता है, कभी उपकार[६] भी हो जाता है, यदि उस अर्थकी अपेक्षा हो, तो कहीं स्नेह[७] और कहीं धर्म[८] भी होता है. एक निर्धारित फल कहना चाहिये. जो पहले भजन नहीं करता उसकेलिये क्या फल है और जो भजने या न भजनेवाले अर्थात् किसीको भी नहीं भजता उसके उदाहरणमें भजने और न भजनेवालोंका क्या फल है, उनके किये हुए साधनोंका उपयोग कहां होगा? यह आप बताओ और वह साधु रीतिसे यहां

सम्बोधनमें 'भो' पद सावधान करनेकेलिये दिया है. कितने ही भजन करनेवालोंके अनन्तर वैसे ही भजन करते हैं और फिर कई भजन नहीं करनेवालोंको भी भजते हैं, वे दोनों भजन करनेवाले हैं इनके सिवाय दूसरे भजन रहित हैं[५]।।१६।।

५.कश्यप ऋषि निष्काम थे उनको दितिने सन्ध्या समय वश किया जिससे वहां दोष उत्पन्न हुआ है. भाग.तृ.स्कन्ध.

६.आग्निध्रको पितृलोककी इच्छा थी इसलिये ब्रह्माजीने पूर्वचिति अप्सराको आग्निध्रके पास भेजा जिससे उसको नौ पुत्र उत्पन्न हुए. इस कार्यसे ब्रह्माका आग्निध्र पर उपकार हुआ, इस प्रकार कभी उपकार भी होता है.

७.उर्वशी चरित्रसे, स्नेह देखनेमें आता है. भाग.नवम स्कन्ध.

८.महाभारतमें आये हुए सुदर्शनोपाख्यानसे जाना जाता है, कि कभी इससे 'धर्म' भी होता है.

९.इस प्रकार अभजन करनेवालोंके भजनका एवं भजन करनेवालोंके अभजनका क्या फल है? कौन कब कृतघ्न, धूर्त या समीचीन माना जाना चाहिये इसका खुलासा अपेक्षित है. यथा उर्वशी अर्जुनके पास इच्छासे आई थी, किन्तु अर्जुनने उसकी इच्छा पूर्ण नहीं की, जिससे उसने अर्जुनको शाप दिया और निन्दा भी की अतः अर्जुन कृतघ्न हैं.

जरा नारदजीके पास भोगकी आशासे आई, किन्तु नारदजीने उसकी अभिलाषा पूर्ण नहीं की, जिससे उसने नारदजीको शाप दिया अतः नारदजी धूर्त हैं.

वरूथिनी यद्यपि भजनकी इच्छासे आई, किन्तु मार्कण्डेयको जितेन्द्रिय जान, उसने वह इच्छा छोड़ दी, जिससे मार्कण्डेयने वरूथिनीका भजन नहीं किया, अतः मार्कण्डेय समीचीन हैं.

इस प्रकार जो भजन नहीं करते हैं उनमें भी कृतघ्न, धूर्त और समीचीनके विषयमें सन्देह देखनेमें आता है.

'मिथो भजन्ति'से लेकर तीन श्लोकोंमें भगवान् इनके भेद और फलोंका वर्णन करते हैं. एक भजन करनेवालेका जो भजन करता है, दूसरा न भजन करने-वालेका भी भजन करता है, तीसरा किसीका भी भजन नहीं करता है, इन तीनोंके.

श्रीभगवानुवाच

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा।।१७।।

भगवान् कहने लगे, कि हे सखियों! जो आपसमें एक दूसरेका भजन करते हैं, वहां कोई सुहृदपन वा धर्म नहीं है, क्योंकि वह भजन केवल स्वार्थ

सिद्धिकेलिए किया जाता है, दूसरा कोई कारण नहीं है।।१७।।

गोपियोंने जो तीन पक्ष ऊपर कहे हैं उनमेंसे पहले पक्षका निर्णय करते हुए, भगवान् आज्ञा करते हैं, कि जो परस्पर भजन करते हैं अर्थात् भजन करनेवालेका ही भजन करते हैं वे केवल अपने अर्थको सिद्ध करनेका ही उद्यम करते हैं अर्थात् इस प्रकारके उद्यमका फल केवल स्वार्थकी सिद्धि करना ही है. वे(भजन करनेवाले) आपसके भावोंको जान कर ही परस्पर भजन करते हैं. कम-ज्यादा भावसे एक दूसरेका भजन करते ही रहते हैं, अतः उनमें परस्पर कभी धोखा भी नहीं होता है जिससे जाना जाता है, कि उनका यह उद्यम अपने लौकिक या स्वार्थकेलिये ही है. परस्पर भजन करनेवाले दोनों ब्राह्मण हैं तो आपसमें, भजन करनेसे, स्नेह वा धर्म ही होगा, (आप कैसे कहते हो, कि स्वार्थ ही है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि वहां मित्रता नहीं रहेगी) कारणकि जिस समय दूसरेने भजन नहीं किया तो उस समय भजन करनेवालेमें क्रोध उत्पन्न होगा, और वह कहने लग जायेगा, कि अरे देखो तो सही, मैंने इतना भजन किया और उसने कुछ नहीं किया अतः वहां मैत्री न रहेगी, और न धर्म रहेगा. धर्म क्यों न रहेगा, उसके स्पष्टीकरणकेलिये आपस्तंबके वचनका प्रमाण देते हैं. [१]ब्राह्मण इकट्ठे बैठ कर जो भोजन करते हैं वह पिशाच भिक्षा है अतः वह न पितरोंको पहुंचती है और न देवोंको मिलती है, जैसे बिना बछड़ेवाली जो गौ, दूसरी शालामें बान्धने पर कृश होकर, नष्ट हो जाती है, वैसे ही यह पिशाच भिक्षा भी लोकमें क्षीण पुण्य हो कर नष्ट हो जाती है. अतः परस्पर भजन धर्म नहीं है[२] यदि गुरु सेवा भी, वृत्ति(आजीविका वा स्वार्थ) अथवा प्रतिष्ठाकेलिये की जाती है, तो वह सेवा, धर्म नहीं है जब गुरु और शिष्य शास्त्रके अनुसार परस्पर भजन करते हैं, तब वह धर्म है, जिससे शिष्यको जो विद्या प्राप्त होती है, वह फलीभूत होती है. श्लोकमें भगवान्ने गोपियोंको 'सख्यः' सम्बोधन दे कर बताया है, कि मैं जो कह रहा हूं वह तुमको ठगनेकेलिये नहीं है, किन्तु सत्य निर्णय है. इसका भावार्थ यह है, कि जो परस्पर भजन करते हैं, वे वैश्यों जैसे लेनदेन करनेवाले हैं उनकी प्रवृत्ति स्वार्थमें ही है. यद्यपि धर्म आदि भी स्वार्थ ही हैं, तो भी परस्पर भजनसे वे(धर्म आदि) सिद्ध नहीं होते हैं. उसी भांति मित्रता भी सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि जिससे अन्य(फल)की अपेक्षा रहती है, उससे मित्रताकी सिद्धी भी नहीं हो सकती है. उन(परस्पर भजन करनेवालों)के साधन(परस्पर भजन)का प्रयोग

(करना) भी स्वार्थकेलिये ही है, यद्यपि वह अन्यकेलिए किया हुआ देखनेमें आता है, तो भी स्वार्थ ही है. इस प्रकार सेवा आदि दोनोंमें भी समझना चाहिये. वहां दुःखकी निवृत्ति फल है. इस विषयमें सर्व लोक प्रमाण है, इसलिये श्लोकमें 'हि' शब्द दिया है.

१.सम्भोजनी नाम पिशाच भिक्षा नैषा पितॄन् गच्छति नोत देवान्। इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव' आपस्तम्ब.

२.इस प्रकार यदि गुरु भी विद्या वा उपदेश स्वार्थ अथवा प्रतिष्ठाकेलिये देते हैं तो वह भी धर्म नहीं है.

श्लोकमें 'अन्यथा' पद है, उसका आशय है कि वह भजन परोपकाररूप धर्म भी नहीं है, कारणकि दूसरेके हृदयमें अर्थात् जिसका भजन किया जाता है, उसके हृदयमें उस भजनका प्रतीकार करनेकी चिन्ता रहती है, इस कारणसे, इसका फल लौकिकी स्वार्थ सिद्धि है, यह(परस्पर भजन) नाम मात्र ही धर्म कहा जाता है वास्तविक वह धर्म नहीं है।।१७।।

भगवान् 'भजन्त्य' इस श्लोकमें कहते हैं कि जो भजन न करनेवालेका भी भजन करते हैं वे दो प्रकारके हैं:

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ।।१८।।

जो भजन न करनेवालोंको भजते हैं वे दो प्रकारके हैं, एक दयावाले, दूसरे माता-पिता, हे सुमध्यामाओ! यहां किसी भी अपवादसे रहित धर्म और सौहार्द है।।१८।।

जो लोक भजन न करनेवालों और चुप रहनेवालोंका भी भजन करते हैं उसमें दो निमित्त हैं, एक लौकिक, दूसरा वैदिक, जिनमें लौकिक स्नेह है और वैदिक विधि है. वहां लौकिक निमित्त स्नेहका फल सौहार्द है और वैदिक निमित्त विधिका फल धर्म है. जो पहला स्नेह है जिसके फलरूप सौहार्दमें अवसर आने पर उपकार करना ही चाहिये, अर्थात् भजन करनेवालेकी कुछ भी भलाई करनी योग्य है, जो नहीं करता है वह कृतघ्न है.

कोई एक मनुष्य धर्मकेलिये जिसका भजन करता है उसे धर्मशेष(धर्मका अंग) कहा जाता है अतः भजन करनेवालेमें जो पाप आदि धर्म रहता है वह धर्म उस अंगरूपमें चला जाता है अतः उस पापादिकी निवृत्तिकेलिये उसको

प्रायश्चित करना आवश्यक है. जिस धर्ममें कर्म वा देवता प्रधान है वह धर्म यहां नहीं कहा गया है क्योंकि कर्म अथवा देवता प्रधान धर्मके कर्ताका पाप देवता अथवा कर्मको नहीं जाता है क्योंकि प्रतियोगीमें भजन करनेकी शंका ही नहीं होती है. गाय यदि कीचड़में फंस गई हो तो उसे निकालना भी धर्म है, परन्तु इस तरहका धर्म यहां विवक्षित नहीं, क्योंकि परस्पर भजन यहां सम्भव नहीं है गाय एवं पंकसे उसे निकालनेवाला मनुष्य समान नहीं है.

जहां फिर, आधार पर प्रत्युपकार बन सकता है, वहां प्रवृत्तिमें, प्रथम पुरुष भजन न करें, दूसरा भजन करे, तो उसका फल निरपवाद धर्म और स्नेह है.

जिस भजनमें भजन करनेवालेको धर्मरूप फल प्राप्त होता है, वहां भजन करनेवालेमें दया होती है, और जिस भजनमें, भजन करनेवालेको स्नेह सौहार्द फल मिलता है, वहां भजन करनेवालेमें देह सम्बन्ध होता है, यह बतानेकेलिये श्लोकमें 'करुणाः पितरौ' कहा है. श्लोकमें 'यथा' शब्दका गूढ आशय है, कि इस शब्दसे यह बताया है, कि दया तथा सम्बन्ध केवल दयालु और माता-पितामें नहीं रहता है, किन्तु उनके सिवाय अन्योंमें भी रहते हैं, जैसे क्रूर पुरुष भी कभी दीनों पर दया करते हैं, दयालु जैसे बन जाते हैं. इस प्रकारका देह सम्बन्ध जन्मान्तरीय भी हो सकता है. उपमान और उपमेयका भेद नहीं है, अतः यहां केवल 'करुणा' और 'पितरौ'का उदाहरण दिया है.

श्लोकमें 'धर्म'केलिये 'निरपवाद' कहा है, यों कहनेका भावार्थ है, कि जहां उपकार नहीं होता वहां तो धर्म निरपवाद है ही बल्कि जहां उपकारकी सम्भावना भी नहीं है वहां भी 'धर्म' है इसलिये कितने एक कोई उपकार करना चाहें, तो वह स्वीकार नहीं करते हैं. श्लोकमें 'च' शब्द कहनेका भावार्थ है, कि सौहार्दमें भी 'धर्म' है. 'सुमध्यमा' सम्बोधनसे गोपियोंको अपने वचनोंमें विश्वास करनेकेलिये कहा है. क्योंकि धर्मसे ही उत्तमता और मध्यमता होती है।।१८।।

सामनेवाला मेरा भी भजन करे, इसलिए जो भजन करता है, वैसे भजन करनेवालेको तथा जो भजन नहीं करता है, इन दोनोंको जो नहीं भजते हैं, और जो दीन होनेके कारण भजन नहीं कर सकते हैं एवं जो धर्मके अधिकारी हैं उन दोनोंको भी नहीं, जो नहीं भजते हैं, उनके स्वरूपका 'भजतोऽपि' श्लोकमें वर्णन करते हैं, धर्मसे भजन करनेवालोंकेलिए तो शंका ही नहीं है:

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।

आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ।।१९।।

जो भजन करनेवालोंको भी नहीं भजते हैं, वे भजन नहीं करनेवालोंका भजन कैसे करेंगे? इस प्रकारके लोग आत्माराम, आप्तकाम, कृतघ्न और गुरुद्रोही इनमेंसे कोई एक होते हैं।।१९।।

जो महापुरुष, भजन करनेवालोंका भी भजन नहीं करते हैं तब भजन न करनेवालोंका भजन कैसे करेंगे? वे आगे कहे हुए न्यायके अनुसार चार प्रकारके हैं, उनमें दो समीचीन हैं और दो श्रेष्ठ नहीं अर्थात् अधम हैं.

अधम पुरुषके लक्षण कहते हैं कि, जो दया या धर्मसे प्रेरित हो कर भजन करते हैं उनका प्रतिभजन न करनेवाले अधम हैं और जो लौकिक स्नेहके कारण भजन करते हैं, उनका भजन नहीं करते हैं, वे उत्तम हैं.

इन चारों स्वभावोंको परस्पर विभेदपूर्वक समझानेकेलिये चारों तरहके व्यक्तियोंकी परिगणना करते हैं. अब प्रथम आत्मारामके लक्षण कहते हैं, जो आत्मामें ही रमण करते हैं, आत्माके सिवाय अन्य कुछ भी उनकी दृष्टिमें है ही नहीं, अतः कोई दूसरा जिस देहका भजन करे, उस देहकी अपेक्षा ही नहीं करते हैं इसलिये देहके भजनको भजन ही नहीं मानते हैं. भजन करनेवालोंके भजनका साधन जो देहादिक है उनका अस्तित्व ही नहीं मानते हैं; जिनमें वैसे लक्षण हैं वे आत्माराम हैं.

भजन न करनेवाले दूसरे 'आप्तकाम' हैं. आप्तकाम उनको कहा जाता है, जिन्होंने अपनी कामनाएं पूर्ण कर ली हैं अर्थात् जिनको अब किसी प्रकारकी कामना अन्तःकरणमें नहीं रही है, जैसे किसी भोजन किये हुए पुरुषको कोई कहता है कि 'भोजन करो' तो भी भोजन किये हुए पुरुषको भोजन करनेमें प्रवृत्ति नहीं होगी अथवा भोजन किये हुए पुरुषको कोई कहता है कि आप 'भोजन मत करो', तो यह कहना सिद्ध हुए साधनका अनुवाद मात्र है अर्थात् जिससे भोजन कर उदर भर लिया है उसको भोजन तो करना ही नहीं है अतः केवल नाम मात्रको कहना हुआ कि भोजन मत करो. दोनों प्रकारसे कहना व्यर्थ है. किन्तु, कहनेवाला यदि सौजन्यसे कहता है तो धर्मकी सिद्धि होगी अन्यथा उसका अज्ञान प्रकट होता है कि खाये हुएको दोबारा खिलाना चाहता है. यों दो प्रकारसे सीमीचन अभजनके हुए.

अब दो प्रकारके असमीचीन–अधम अभजनके भी बताते हैं, जो

व्यक्ति अन्य द्वारा किये गये उपकारको नहीं जानता या मानता वह कृतघ्न है. वह प्रत्युपकार करनेमें समर्थ होने पर भी किसीका उपकार नहीं करना चाहे कोई उसका कुछ उपकार करे या न करे. यह अज्ञानमूलक व्यवहार है. किन्तु, यदि जान कर भी भजन नहीं करता तो वह गुरुद्रोह सदृश है. जो हमारा कुछ भी उपकार करता है वह हमारेलिये गुरु ही है अर्थात् गुरुकी तरह ही पूजनीय है. वह ऐसा व्यक्ति यदि कुछ आपत्तिमें पड़े और हम समर्थ होते हुए भी उसको उस आपत्तिसे न छुड़ायें तो यह उसके प्रति हमारा द्रोह है. यह हमारा गुरुद्रोह सदृश व्यवहार कहलायेगा.

इस तरह सारे गुण दोषोंका विवेचन हो जाता है।।१९।।

इन सारे प्रकारोंमेंसे भगवान् कौनसे प्रकारके हैं यह जिज्ञासा गोपिकाओंके हृदयमें उठ रही है–

१. भगवान्ने तो गोपिकाओंका भजन किया ही नहीं है अतः परस्पर भजनका प्रथम पक्ष यहां लागू नहीं होता.

२. समर्थ होते हुए भी भगवान्ने भजन तो किया ही नहीं अतएव न भजनेवालेको भी भजनेका द्वितीय पक्ष भी यहां भगवान् पर लागू नहीं होता.

३. भगवान् ईश्वर हैं अतः आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ अथवा गुरुद्रोही इन चारोंमेंसे भी कुछ नहीं हैं.

यहां द्वितीय पक्षमें गोपिकाओंके भजनको स्नेह प्रेरित भजन मानने पर, भगवान्का, इन भजन करने या न करनेवालोंमे समावेश है, कि नहीं, यह विचार ही व्यर्थ हो जाता है. क्योंकि भगवान् तो भजनके निरूपक हैं(अर्थात् विषय हैं भजन करने या न करनेवालोंमे नहीं) अतः यह विचार क्यों किया जा रहा है ?

१.शंकाके अनुसार यहां भगवान् किसीका भजन करते हैं, या नहीं, यह विचार व्यर्थ ही है, क्योंकि स्वयं गोपिकाओंका समावेश यहां दूसरे पक्षमें हो जाता है. क्योंकि(जेसेकि वहां १.धर्म प्रेरित एवं २.स्नेह प्रेरित भजन ये दो कल्प थे उनमेंसे दूसरे कल्पके अनुसार) गोपिकाओंने भगवान्का, जो गोपिकाओंका भजन नहीं करते, तो भी, स्नेहसे प्रेरित हो कर भजन किया है. अतः भगवान्का भजन करने या न करनेवालोंके रूपमें, विचार करना व्यर्थ है. क्योंकि, वे तो गोपिकाएं जो भजन कर रही हैं, उस भजनके ऐसे निरूपक विषय हैं, जिनके कारण गोपिकाओंका भजन दूसरे प्रकारका बनता है. यदि कहा जाए, कि इसीलिये भगवान्को तीसरे प्रकारके चार अवान्तर प्रकारों आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ अथवा गुरुद्रोहीमेंसे किसी एक

प्रकारका मानना चाहिए तो वह इसलिये सम्भव नहीं है क्योंकि भगवान् ईश्वर होनेके कारण, आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ या गुरुद्रोही कुछ भी नहीं माने जा सकते हैं. अतः यह विचार व्यर्थ ही है, कि भगवान् उक्त तीन पक्षोंमे किस कोटीके हैं, क्योंकि स्वयं गोपिकाएं द्वितीय कोटीमें इसलिये आ जाती हैं, क्योंकि भगवान् उनका प्रतिभजन नहीं करते हैं, प्रत्युत गोपिकाओंके भजनको अपने आचरणसे दूसरे प्रकारका बना देते हैं.

यह विचार इसलिए आवश्यक है क्योंकि गोपीजन भोग्य हैं निर्विवाद रूपसे. अतएव भोग्य समर्पण करते ही इन गोपिकाओंका कार्य समाप्त हो जाता है. अब ऐसी स्थितिमें भगवान्के भजनका विचार न करें तो किसका करें? भगवान् ईश्वर हैं तो भी फलकेलिए यदि उनकी सेवा की गई होती तो विचारकी अपेक्षा न रहती. जबकि दृष्ट फलकेलिए भी यदि भगवान्का भजन किया गया हो, तो जो कुछ हम उन्हें देते हैं उसे भगवान् स्वीकारते हैं या नहीं इसका विचार व्यवहारमें करना ही पड़ेगा.

इससे पहले, गोपिकाओंने जो कुछ समर्पण किया उसे भगवान्ने स्वीकारा है, अतः आत्माराम तो वे नहीं हैं और न पूर्णकाम. पहले जो कुछ समर्पण किया गया है, उसीसे यदि तृप्त भी हो गए हों, तो परित्याग तो उचित नहीं था. इसलिए, यदि भगवान्को अकृतज्ञ मानें, परन्तु सर्वज्ञको अकृतज्ञ(किए हुए उपकारको न जाननेवाला) मानना भी तो विरोधाभास है. ईश्वर होनेके कारण, सर्वज्ञ होने पर भी, फलदानके अवसर पर कभी-कभी अकृतज्ञ बनना पड़ता है, इस शंकाका परिहार 'नाहं तु सख्य' में करते हैं:

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ।।२०।।

हे सखियों! मैं तो भजन करनेवालोंका भी भजन इसलिए नहीं करता हूं, कि उनके मनकी वृत्ति मुझमें सदा बनी रहे, जैसे निर्धनको धन मिले और वह धन यदि चला जाए तो, उस निर्धनका मन धनकी चिन्तामें रम जाता है, जिससे धनके सिवाय अन्य पदार्थोंको वह भूल ही जाता है, केवल धन ही उसके प्रत्यंगमें व्याप्त हो जाता है।।२०।।

'तु' शब्द पूर्वोक्त चारों प्रकारोंसे भगवान्को अलग करता है. ईश्वर गोपिकाओंका प्रतिभजन करेंगे. इसकी सम्भावना 'सख्य' पद दे कर मिटा दी. क्योंकि गोपिकायें तो सखियां हैं रसमें तुल्य हैं तथा उनका अभिनिवेश आग्रह एक

ही पदार्थमें है. 'अहं' शब्दसे बताया, कि मैं जीव नहीं हूं, अपितु भगवान् हूं. यों न तो भगवान् आत्माराम हैं न आप्तकाम, न अकृतज्ञ और न गुरुद्रोही. भगवान् तो राम हैं आत्माराम नहीं, क्योंकि, देह एवं आत्मा जिनमें अलग-अलग हों, वे देह रमणसे हट कर आत्माराम बन सकते हैं, भगवान्में तो देह-देहीभाव है ही नहीं, अतः केवल राम हैं. जिसे कुछ कामनाएं हों और वे पूर्ण हो गई हों, तो वे आप्तकाम कहलाते हैं, भगवान्में तो काम है ही नहीं, उन्हें आप्तकाम भी नहीं कहा जा सकता. अतः भगवान्की बात ही और ढंगकी बनेगी, जीवकी तुलना या व्यवस्था भगवान् पर लागू नहीं हो सकती.

उसी व्यवस्थाको समझाते हैं, कि मैं भगवान् भजन करनेवालोंका भी भजन नहीं करता, क्योंकि इससे प्राणि मात्रकी चित्तवृत्ति मुझमें लगी रहती है. भगवान्केलिये किसीका भी कुछ भी उपयोग नहीं है, जबकि, भगवान् फलरूप हैं, अतः सभीको भगवान्का उपयोग तो है ही. अतः उन्हें, या तो भजन इष्ट है अथवा इष्ट साधन. अब यदि मैं ही वहां साधनके रूपमें प्रवेश करुं, तो भजन ही नष्ट हो जायेगा और आगे चल कर यदि भजनमें प्रतिबन्ध उत्पन्न होना ही है, तो पहले किये गये भजनकी सार्थकता नहीं रह जाती.

भगवान्का उपयोग चार प्रकारसे सम्भव है (१)भगवान् हमारी कामना पूर्ण करते हैं, अतः भोग्यके रूपमें, (२)स्वतन्त्ररूपमें भी, हम भगवान्को भोग्य बना सकते हैं[१], (३)भगवान्का उपयोग भोक्ताके रूपमें भी सम्भव है क्योंकि भक्त भक्ति सहित जो भी निवेदन करता है उसे भगवान् स्वीकारते हैं अतः भोक्ता हुए, (४)सभी व्यक्ति या वस्तु भगवान्केलिये विषय हैं अतः भोग्य हैं और भगवान् उनके भोक्ता है. यों दो तरह भोग्य एवं दो तरहसे भोक्ताके रूपमें भगवान्का उपयोग हो सकता है.

प्रथम पक्षमें भजन नष्ट हो सकता है, क्योंकि अल्प फलका दान है क्योंकि स्वरूपतः फल महान् है, तो भी कालमें सीमित-परिच्छिन्न है[२].

द्वितीय पक्षमें अतिभजन द्वारा भगवान्को भोग्य बनाया जा सकता है परन्तु वह अतिभजन गोपिकाओंने नहीं किया और इसे करानेकेलिये ही भगवान् प्रतिभजन नहीं करते हैं.

तृतीय पक्षमें भक्तिकेलिये, तो प्रति भजन अपेक्षित ही नहीं है[३].

चतुर्थ पक्षमें भी, विषय न्यायके अनुसार भगवान् भोक्ता नहीं बनते,

क्योंकि भगवान्‌को कुछ भी अपेक्षित ही नहीं है.

भजन न करनेसे, जैसे चित्त भगवान्‌में लगा रह सकता है उसका उदाहरण बताते हैं, 'यथाधन'से. पहले कोई निर्धन हो, फिर उसे धन मिले और फिर नष्ट हो जाए, तो वह व्यक्ति उस धनकी चिन्तामें डूब जाता है और सारी सुध बुध खो बैठता है. यह लोक प्रसिद्ध है, इसी तरह, गोपिकाओंको भी भगवान् मिलें और मिल कर तिरोहित हो जाए, तो वे फिर ऐसी खो जायेंगी भगवान्‌में, कि फिर कभी प्रपञ्चकी सुध नहीं आयेगी. इसका प्रयोजन तो पहले ही बता चुके हैं।।२०।।

योजनाकार लालुभट्टजी:

ईश्वर भी तो फलदान आदिसे प्रतिभजन कर सकता है, अतः गोपियोंकी प्रतिभजनकी अपेक्षा उपयुक्त नहीं है, इस आशंकाका समाधान यह है, कि गोपियोंने फलके उद्‌देश्यसे तो भजन किया नहीं है, किन्तु पुष्टिकी रीतिसे किया है अतः भगवान्‌ने भी फलदान नहीं किया. अन्य एक यह बात भी है, कि गोपिकाओंकी भगवान्‌में ईश्वर होनेकी बुद्धि नहीं है, किन्तु सख्यबुद्धिसे ही रमण किया है अतः प्रतिभजनकी अपेक्षा भी नहीं ठहरती.

१.कभी संयोग तो कभी विप्रयोग यों अहर्निश भगवान्‌का भजन करते रहनेसे स्वतन्त्रतया हम भगवान्‌को भोग्य बना लेते हैं. इस अहर्निश भजनको ही 'अतिभजन' भी कहा गया है.

२.कामना पूर्ण होते ही भोग्यके भजनका कोई प्रयोजन नहीं रहता अतः भजन नाश होता है. स्वरूपतः भगवान् अनन्त हैं फिर भी कामना पूरक भोग्यके रूपमें जो भी फलदान करेंगे वह कामनाके स्वभाववश सीमित कालमें ही होगा.

३.'भक्तिकेलिये' यानि निरन्तर भक्तिकी सिद्धिकेलिये भगवान्‌ने प्रतिभजन नहीं किया, अतः जब निरन्तर भक्ति हो जायेगी, तब भगवान् भोक्ता बन जायेंगे, अर्थात् भक्तिपूर्वक दिये हुए पदार्थके भोक्ता बन जायेंगे. अतः अभजन ठीक ही है और विषय न्यायसे, तो अपेक्षारहित होनेके कारण भगवान् भोक्ता बनते ही नहीं, यह चतुर्थ पक्षमें कहा जाएगा.

इस प्रकार भगवान्‌ने गोपीजनोंको अपने भजन न करनेका मर्यादानुसार जो कारण था वह बताया, चलते प्रसंगमें बताते हैं कि मैं आपका भजन कर रहा हूं जिसका स्पष्टीकरण 'एवं मदर्थो' श्लोकमें करते हैं:

एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं नार्हथ तत्प्रियं प्रियाः ।।२१।।

हे अबला गोपिकाओं इस प्रकार मेरेलिए लोक वेद और स्वजनोंका त्याग करनेवालो जो तुम हो, उनकी वृत्ति मुझमें लगी रहे, जिसकेलिए परोक्ष भजन करता हुआ, मैं अन्तर्द्धान हो गया हूं, इसीलिये प्रियाका प्रियतमसे ईर्ष्या करना योग्य नहीं है।।२१।।

भगवान् गोपीजनोंके(अरण्यमें रात्रिके समय स्त्रियोंको कैसे त्यागते हैं? वे रात्रिके समय रक्षाके योग्य हैं, न कि, त्यागनेके योग्य हैं) इन शब्दोंके उत्तरमें यह श्लोक कह रहे हैं, तुमने जो कहा है, उसकेलिये दो कर्तव्य हैं, एक तुम्हारा भजन मुझमें प्रतिक्षण बना रहे, जिसकेलिये अभजन ही कर्तव्य है, और दूसरा रात्रिके समय, रक्षार्थ भजन कर्तव्य है, रात्रिके समयकी रक्षा तथा मुझमें वृत्ति बनी रहे, ये दोनों परोक्ष भजन करनेसे सिद्ध होते हैं. इसलिये मैं परोक्ष भजन कर रहा हूं मेरे इस अन्तर्हित हो कर भजन करनेका ज्ञान तथा यों छिप कर परोक्ष भजन किसलिए कर रहा हूं उसका भी ज्ञान तुमकों नहीं है, यदि कहो, कि हमारा भजन आप क्यों करते हैं? जिसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि तुमने मेरेलिये लोक, वेद और आत्माका भी त्याग कर दिया है, अतः मैं तुम्हारा भजन करता हूं, तुम्हारा यह परित्याग वृथा नहीं है तथा मोक्ष प्राप्तिकेलिये भी नहीं है, किन्तु विशेषतया मेरेलिये ही है. यदि यह त्याग वृथा होवे, तो उसका परिणाम अनिष्ट(हानि करनेवाला) होवे, और यदि यह त्याग मोक्षकेलिये किया गया है, तो मुझ पर भार नहीं, किन्तु त्याग उन दोनों प्रकारका नहीं है, मेरेलिये है, अतः मुझ पर भार है. गोपीजनोंका यह तीन प्रकारका त्याग है, जो अति कष्ट साध्य है, कारणकि इस प्रकारका ज्ञान मैंने ही उत्पन्न किया है. लोकमें आसक्ति, वेद धर्ममें श्रद्धासे उनका पालन तथा देह पुत्रादिकी रक्षा करना धर्म है, उसका भी मेरेलिये, मुझको प्राप्त करनेकेलिये त्याग किया है. इस प्रकार त्याग करनेवाले भक्त ही, सबसे अधिक प्रिय हैं, उनकेलिये, मैं लीला करता हूं. ''सर्वधर्मान् परित्यज्य'' श्लोकके कहनेका यह ही आशय है, अतः लोक, वेद और आत्मा तीनोंका परित्याग करनेवाले इन गोपीजनोंका मैंने भजन किया. मूलश्लोकमें 'हि' शब्द इसलिये है, कि यह अर्थ योग्य है, अर्थात् जो इस प्रकार सर्व त्याग कर एक भगवान्को ही चाहते हैं, वैसे अनन्य भक्त भजनादिसे पालनके योग्य हैं. 'वः' पदका भावार्थ है, कि तुम लोगों(गोपियों)के चित्तकी वृत्ति मुझमें लगी रहे, यह एक फल है, 'अबला' यह सम्बोधन दे कर गोपियोंको सावधान किया है, कि आपका जो भजन मैं कर रहा हूं, वह

सत्पुरुषोंके समान प्रत्यक्ष नहीं देखनेमें आयेगा अथवा श्लोकमें 'भजता तिरोहितम्' वहां 'भजता अतिरोहितम्' पदच्छेद कर अर्थ करो, मैं परोक्ष भजन करते हुए, तिरोहित नहीं हुआ हूं. किन्तु भजनका अर्थ यहां भोग है, मैं भोक्ता हूं अतः भोग करते-करते तिरोहित हुआ हूं, वह तुमने देखा नहीं, यों कह कर भगवान्ने गोपियोंको यह समझाया है, कि मैं तुम्हारा भजन कर रहा हूं. यों भजन करते हुए भी, मुझ पर कृतघ्न आदि दोष क्रोधसे लगा रही हो. यह मत लगाओ, कारणकि मैं तुम्हें प्रिय हूं, यदि प्रिय दोषी है, तो तुम्हारा भी वैसा होना आवश्यक है, समानमें ही मैत्री रहती है. प्रियका त्याग नहीं हो सकता है, तुम प्रियाएं हो, प्रीतिके विषयमें कृतज्ञत्व आदि धर्म नहीं देखे जाते हैं, प्रेम सम्बन्धमें, जैसे उदासीनता नहीं की जाती है, वैसे ही कृतज्ञता आदिकी आवश्यकता नहीं है, वहां निरुपाधि प्रेमके सिवाय किसी प्रकारका अन्य धर्म नहीं है।।२१।।

इस प्रकार गोपियोंके मनका भ्रम मिटाकर, भक्तिमार्गके विरोधको मिटानेकेलिए(न पारयेऽहं) श्लोकमें स्तुति करते हैं:

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ।।२२।।

तुम उपाधिरहित भजन कर मेरे साथ मिली हो, जिस उपकारका प्रतिकार(बदला) मैं ब्रह्माकी आयुसे भी नहीं कर सकता हूं, तुम लोगोंने गृहकी कठिन शृंखलाको तोड़ कर मेरा भजन किया है, जिसका प्रत्युपकार तुम्हारेसे ही संभव है।।२२।।

निर्दोष भजन कर तुमने मुझे प्राप्त किया है, और इस उपकारका प्रत्युपकार मैं ब्रह्माको आयु, वा मन्वन्तरकी आयु अथवा अनन्त आयुवाले ज्ञानियोंकी आयु पालूं तो भी नहीं कर सकूंगा, कारणकि तुम्हारे भजन और प्रत्युपकारमें समानता नहीं है. तुम लोगोंका भजन बिना कपटके है जब कि मेरा कपटवाला है. मरुमरीचिकाका बहुत जल भी स्वल्प सत्य जलकी समानता नहीं कर सकता है. भजन करना जीवका धर्म है, अतः ब्रह्म सत्य भजन नहीं कर सकता है. उस भजनमें भी विशेषता बताते हैं कि गृहकी शृंखला(जंजीर) जो पुरानी होने पर तोड़ने पर भी नहीं टूटती है, वैसी कठोर शृंखलाको तोड़ कर मेरा भजन तुमने किया है. प्रथम स्वार्थकेलिये जिनसे बद्ध हो बैठी थी उन सबको मुझमें विनियोग कर मेरेलिये भजन करने लगी, बाहरकी जंजीर तोड़नी वा निकाल

देनी सरल है, किन्तु गृहके चारोंतरफकी शृंखलाको तोड़ना महाकठिन है, उनको जिन्होंने तोड़ दिया है वैसी अलौकिक कार्य करनेवालियोंका भजन तुम्हारा ही है. अतः तुम्हारा यह भजन साधुपुरुषों जैसा हो, अर्थात् जैसे साधुपुरुष भजन कर उसका प्रत्युपकार नहीं मांगते हैं, भजनसे ही स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं. वैसे ही तुम भी, भजनसे प्रसन्न चित्त हो कर अपनेको कृतकृत्य समझो. यदि तुम चाहती हो, कि मैं भजन करूं वह नहीं होगा, कारणकि मैंने कह दिया है, कि भजन करना जीवका धर्म है अतः जीव ही सत्य भजन कर सकता है. अतः तुम यदि आगे भी भजन करनेसे सत् पुरुषोंकी भांति प्रसन्न चित्त रह सको, तो भजन करो, नहीं तो जैसे तुम्हारा जी चाहै वैसे करो, जगत्में कोई भी जो अशक्य है, वह करनेमें समर्थ नहीं है।।२२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धके २९वें अध्यायकी
(प्रचलित क्रमानुसार अध्याय ३० की) श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्रीसुबोधिनी
'संस्कृत टीका'के तामस फल अवान्तर प्रकरणके
चौथे अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण।

अध्याय ३०

महारास

त्रिंशत्तमे हरिः प्रीतो लीलां कामकृतामपि ।
इन्द्रादिदुर्लभां चक्रे स्वानन्दार्थमितीर्यते ।।का.१ ।।

प्रसन्न हरिने इस तीसवें अध्यायमें जो, कामकृत लीला इन्द्र आदि देवोंको भी दुर्लभ है, वह अपने आनन्द लेनेकेलिए प्रकट की है, इस कारणसे यहां उसका वर्णन किया जाता है।।१।।

अस्याः सर्वोपकाराय फलश्रुतिरुदीर्यते ।
लौकिक्यपि यदा दृष्टिस्तदा सिद्धान्त ईर्यते ।।का.२ ।।

अध्यायान्तमें इस लीलाके श्रवणसे प्राप्त होनेवाले खलका वर्णन किया गया है, क्योंकि यह लीला सर्व प्रकारके मनुष्योंका उपकार करनेवाली है, जब इस लीलामें लौकिकी दृष्टि हुई तो सिद्धान्त भी कहा गया।।२।।

रसात्मकस्तु यः कामः सोत्यन्तं गूढ एव हि ।
अतः शास्त्रं प्रवृत्तं हि तृतीयं भारतं तथा ।।का.३ ।।

यहां जिस कामकी लीलाका वर्णन है वह काम 'रसात्मक' है और अत्यन्त गूढ है, अतः तीसरा कामशास्त्र भरतमुनिने बना कर प्रवृत्त किया है।।३।।

अतोत्र भगवांश्चक्रे नृत्यं कारितवांस्तथा ।
सर्वाङ्गेषु तु यो लीनः स यथा व्यक्ततां व्रजेत् ।।का.४ ।।

इस कारणसे भगवान्ने सर्व अंगोंमें छिपे हुए गूढ रसात्मक कामको प्रकट करनेकेलिए स्वयं नृत्य किया और गोपियोंसे करवाया।।४।।

जलं वायुश्च सामग्री श्रमात् शीताच्च जायते ।
अत्रैव लोके प्रकटमाधिदैविकमुत्तमम् ।।का.५ ।।

नृत्यसे श्रम तथा गरमी होती है जिनके निवारणकेलिए जल तथा वायुकी सामग्री प्रकट हुई, इस पृथ्वीलोक पर ही सब आधिदैविक उत्तम कामादि प्रकट हुए हैं।।५।।

कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते न चापरः ।

वह प्रकट उत्तम आधिदैविक कामका उपभोग कृष्णके सिवाय कोई अन्य नहीं कर सकता है।।५।।

यद्यपि यह कामलीला प्रकट नहीं करनी चाहिये, किन्तु प्रभुने प्रकट हो कर जिस लीलाका प्राकट्य कर दिखाया है अतः उसको यहां(३० अध्यायमें) वर्णन किया जाता है. इस अध्यायमें कामलीलाका वर्णन है वहां फल श्रुति क्यों कही गई है? इस शंकाको मिटानेकेलिये दूसरी कारिकामें कारण बताया है कि यह लीला, सर्व प्रकारके ज्ञानी, भक्त और विषयी आदि मनुष्योंका उपकार करनेवाली है अर्थात् इसके श्रवणसे ज्ञानी तथा भक्तोंका तो हृद्रोग नाश होगा ही किन्तु विषयीजनोंकी भी काम वासना नष्ट हो जायेगी, इसलिये प्रत्येकको निःशंक हो कर सुननी चाहिये, जिसके श्रवणसे किसी प्रकारकी भी हृदयमें दुर्वासना उत्पन्न हो तो वह भी अवश्य नष्ट होगी.

यदि किसी मनुष्यकी बुद्धि लीलाके श्रवणसे भगवान्में विपरीत भावनावाली हो जाये तो प्रश्नोत्तर द्वारा सिद्धान्त समझा कर उसका निवारण किया है, तीसरी कारिकामें कामका 'रसात्मक' स्वरूप समझा कर कहा है कि भगवान् सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा हैं अतः दोष बुद्धिवालोंकी बुद्धिको भी बदल कर इस प्रकार अलौकिक कर देते हैं, भरतमुनि कृत तथा वात्स्यायनमुनि कृत कामशास्त्रकी सार्थकताके सिद्ध्यर्थ उसकी अलौकिक गूढताको प्रकट करनेकेलिये उसमें कहे हुए नृत्यादि कर और गोपियोंसे कराके गूढ रसात्मक कामको प्रकट किया है तदनन्तर स्वयं उस रसका गोपी पात्र द्वारा पान किया है क्योंकि आपके सिवाय उस उत्कृष्ट आधिदैविक रसका भोक्ता अन्य कोई नहीं है.

विशेष टिप्पणीजीका अवलोकन कीजिये.

इस प्रकार २९अध्यायमें भक्तोंमें सर्वात्मभाव सिद्धकर, प्रमाण तथा प्रमेयसे उनके दुःख दूर किए, वह दुःख यदि भगवान्ने दिया होता तो इस प्रकार दूर न होता किन्तु यह दुःख अज्ञानके कारण था इसलिए मिट गया. भगवान् तो गोपियोंको त्याग कर नहीं गए थे, अतः भगवान् दुःखका कारण नहीं थे, अतः भगवद्वचनोंसे अज्ञानके नष्ट होने पर उससे उत्पन्न दुःख भी नाश हो गया, जिसका वर्णन श्रीशुकदेजी 'इत्थं' श्लोकमें करते हैं:

श्रीशुकः उवाच

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ।।१ ।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार भगवान्के श्रीअंगके स्पर्शसे पूर्ण

मनोरथवाली गोपियोंने, भगवान्‌के सुमधुर वाणीको सुनकर, विरहसे उत्पन्न तापका त्याग किया।।१।।

भगवान्‌के वचन सुन कर गोपियोंने विरहसे उत्पन्न दुःखका त्याग किया कारणकि उन्होंने समझ लिया कि भगवान् तो कहीं गये नहीं थे हमारे पास ही थे अज्ञानसे हमने समझ रखा था कि भगवान् हमको छोड़ गये हैं. केवल वचनसे अज्ञानकी निवृत्ति कैसे हो गई[१] इस शंकाके मिटानेकेलिये कहते हैं, कि वचन बोलनेवाला साधारण मनुष्य नहीं था किन्तु षड् ऐश्वर्य आदि गुणवाले प्रभु थे[२]. अतः मूलमें 'भगवान्' नाम दिया है. वचन सुननेवाली भी गेपियां थीं, अतः कहनेवाले सर्व शक्तिमान् और सुननेवाली योग्य पात्र, इसलिये विपरीत भावना नष्ट हो गई. भगवान्‌के वचनोंसे मनमें सन्देह क्यों उत्पन्न नहीं हुए? जिसके उत्तरमें कहा गया है कि वे वचन 'सुपेशलाः' अर्थात् अति मनोहर थे, मनमें दो बातें हों तो सन्देह होता है, शब्दोंके अपने स्वभावसे ही संशय उत्पन्न नहीं हुआ. अतः विरहसे उत्पन्न दुःखको गोपियोंने त्याग दिया अर्थात् गोपियां समझ गईं कि हमको विरह था ही नहीं तो दुःख काहे का? दृष्टान्त दे कर समझाते हैं कि जैसे स्वप्नसे जागृतपुरुष जागृत अवस्थामें स्वप्नके दुःखको दुःख नहीं मानता है वैसे गोपियोंने अज्ञानसे उत्पन्न दुःखको दुःख ही न समझा. भगवान्‌के कुछ भी करनेके सिवाय उनके अवयवोंके स्पर्श मात्रसे गोपियोंके सर्व मनोरथोंकी पूर्ति हो गई।।१।।

१.विरहका न होना अनुभव विरुद्ध है. (टिप्पणी)

२.आप्त वचन प्रमाण होता है तथा भगवान् आप्ततम हैं. (टिप्पणी))

दुःख दूर हो कर सुख मिलनेमें जो कुछ प्रतिबन्ध थे उन्हें भगवान्‌ने स्वरूप दर्शन तथा वाणीसे मिटा कर अपना कर्तव्य प्रारम्भ किया, जिसका वर्णन 'तत्रारभत' श्लोकमें करते हैं:

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ।।२।।

जिस रसको भगवान् चाहते हैं उसको चाहनेवाली स्त्रीरत्न गोपियां वहां प्रसन्न चित्तसे परस्पर हाथ मिला कर जोड़ी बनके खड़ी थीं, उनसे मिल कर भगवान्‌ने रासक्रीड़ाके रमणका प्रारम्भ किया।।२।।

श्लोकमें भगवान्‌का नाम 'गोविन्द' दिया है जिसका आशय यह है कि

भगवान् भोगकेलिये ही 'इन्द्र' बने हैं अतः उन्हें असाधारण भोग अवश्य करना है. अपनी(प्रभुकी) इच्छानुसार कामना करनेवाली स्त्री रत्नोंसे वेष्टित हो कर भगवान्ने रासक्रीड़ा आरम्भ की. 'रास' और 'क्रीडा' दोनोंके स्वरूपका वर्णन करते हैं. बहुत नर्तकियों(नाचनेवाली)के साथ जो खास नाच किया जाता है उसको 'रास' कहते हैं. 'नाच' उसको कहा जाता है कि जिसके करनेसे 'रस' प्रकट हो अतः रसको जागृत करनेकेलिये ही 'नृत्य' किया गया है. 'रास'में स्वयं अपनी क्रीड़ा लीला है. क्रीड़ामें मनको आनन्द देनेवाला रस प्रकट होता है और नृत्य करनेसे देहका आनन्द[१] उद्भूत होता है. क्रीड़ामें नायिकाकी प्रधानता न दिखाकर नायककी प्रधानता दिखाई गई है, जिसका कारण यह है कि काम तो भोक्ता–नायकमें रहता है इसलिये भोक्ताकी प्रधानता है. यहां नायक भगवान् हैं वह भोक्ता हैं अतः उन्हें प्रधानता दी गई है. 'रासक्रीडाम्' यह एकवचन इसलिये दिया है कि समाजमें जो रस उत्पन्न होता है वह रस एक ही है, इस विषयको दृष्टान्त दे कर समझाते हैं कि जैसे गन्नोंके समूहसे जो रस निकलता है वह 'रस' एक ही प्रकारका होता है. अनेक भक्तोंके समाजमें जो भक्तिरस उद्भूत होता है वह एक ही प्रकारका होनेसे एक ही गिना जाता है. इस प्रकार कामरस भी एक ही पैदा होता है. श्लोकमें 'अनुव्रतैः' पद दे कर यह बताया है कि गोपियां रस ग्रहणके योग्य हैं, अतः उनमें रसका उत्पादन करना आवश्यक है, भगवान्को जो रस अभिप्रेत है वह उनको भी ईप्सित (चाहिये) है.

१.यद्यपि रास तथा क्रीड़ामें भेद है तो भी भगवान्की भांति उनके सर्व पदार्थ तथा क्रिया सच्चिदानन्दरूप हैं जिससे सर्वत्र सर्व पदार्थ एवं क्रियाओंमें 'रस' ही है.

यदि कहो कि यह रस अलौकिक है जिससे लौकिक स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होगा इसलिये आपका यह कार्यारम्भ व्यर्थ है, क्योंकि बालूसे तेल नहीं निकलता है, तो इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि ये साधारण स्त्रियां नहीं हैं बल्कि स्त्रियोंमें रत्न हैं. लोकके स्वभावानुसार स्त्रियां तीन प्रकारकी होती हैं, उसमें भी मनुष्यजातिकी स्त्रियोंके पद्मिनी आदि चार भेद हैं, अश्व प्रकृतिवाले वासनाभेदसे चौदह भेद हैं. इन सर्व प्रकारकी स्त्रियोंमेसे ये गोपियां स्त्री रत्न हैं, अपने असाधारण धर्मोंसे उन धर्मोंको प्रकाश करनेवाली हैं अतः उनमें सर्वभावसे रसकी उत्पत्तिकी योग्यता है. वैसी स्त्रीरत्न गोपियोंसे आप युक्त हुए हैं. आप स्वयं नायक मणि हैं और ये सकल गोपियां भगवान्के योग्य मणियां हैं. एक ही

रसकेलिये परस्पर मिले हैं, इस प्रकार आपसमें मिलनेसे उस कथनको भी सार्थक बनाया जो आगे कहा गया है कि कामने रस प्रकट करनेकेलिये खरीदी हुई दासियां भगवान्‌को दी हैं.

यदि कहो कि ये गोपियां जीव हैं और भगवान् आनन्दमय हैं अतः दोनोंमें वैषम्य है अतः विषमतामें रसकी उत्पत्ति कैसे होगी? इस शंकाको मिटानेकेलिये श्लोकमें कहा है कि 'प्रीतैः' ये गोपियां भी सर्वतः प्रेमयुक्त होनेसे भगवान्‌के समान स्वरूपवाली आनन्दमय हो गई हैं. परस्पर आग्रहपूर्वक मिलनका प्रकार बताते हैं. उन्होंने परस्पर हाथोंको जोड़ कर अपनी जोड़ियां बना दी हैं ये जोड़ियां परस्पर गोपियोंकी बनी थी न कि भगवान्‌से मिल कर बनी थीं।।२।।

भगवान् उस मण्डलसे बाहर स्थित होते भी उनसे सम्बन्धित हो रहे थे जिसका वर्णन 'रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो' श्लोकमें करते हैं:

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ।।३।।
यं मन्येरन्, नभास्तावद्विमानशतसंकुलम् ।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ।।४।।

गोपियोंके मण्डलसे मण्डित रासोत्सव प्रारम्भ हुआ, दो-दो गोपीजनोंके बीच प्रविष्ट योगेश्वर कृष्णने उनके गलेमें अपने हस्त डाले, जिससे प्रत्येक गोपियां समझने लगीं कि कृष्ण मेरे पास हैं, उस समय उत्सुकतासे अपहृत चित्तवाली देवताओं एवं उनकी स्त्रियोंके सैकड़ों विमानोंसे आकाश भर गया था।।३-४।।

रासलीलामें रस ही प्रधान है अन्य सर्व वस्तु अर्थात् मिलन आदि क्रियाएं गौण हैं, वैसा रसप्रधान रासोत्सव श्रेष्ठ प्रकारसे प्रारम्भ हुआ. केवल रास न कह कर उसके साथ 'उत्सव' शब्द दिया है, जिसका तात्पर्य है कि वैसा रास हुआ कि जिससे अन्य सर्व विषयोंको भुलानेवाला आनन्द उत्पन्न हुआ. उत्सवको पूर्णरीतिसे सम्पादन करनेकेलिये, सजातीय(एक ही जातिके) अनेक रस उत्पन्न करनेके कारण अनेक प्रकारके मण्डलोंसे रासोत्सवको मण्डित बनाया, जैसे उत्सव भी अनेक प्रकारके ब्राह्मणादिके मण्डलोंसे शोभित होते हैं, यहां भी समान स्वभाववाली अनेक गोपियां रसकेलिये इकट्ठी की गई हैं जिन्होंने जुदे-

जुदे मण्डल बना दिये हैं, उन मण्डलोंसे यह रासोत्सव शोभायमान हो रहा है. रासोत्सवको पोषण करनेवाले रस भी रासोत्सवसे उत्पन्न किये गये हैं, इस प्रकार उत्तरोत्तर(क्रमशः एकके पीछे दूसरा) क्षणमें आनेवाले मण्डलोंसे, पूर्व क्षणवाले मण्डलके रसका पोषण होता है वैसा रस दूसरे स्थान पर अर्थात् अन्य उत्सवमें हो नहीं सकता है. रासोत्सवकी प्रवृत्ति श्रेष्ठ हो रही है जिसका आशय है कि उसका सदैव आविर्भाव है अर्थात् रासोत्सव सदा ही होता रहता है. यहां काल, कर्म और स्वभाव ये तीन रुकावट करनेवाले हैं अतः बहुत स्थलों पर उत्पन्न रस एक कैसे हो सकेगा? इस शंकाका निवारण करनेकेलिये श्रीशुकदेवजीने भगवान्को योगेश्वर कह कर यह बता दिया है कि वह निश्चय ही समस्त उपायोंको जाननेवाले हैं. योग ही है जो समस्त वस्तुओंमें मौजूद ऐश्वर्यादिकको प्रकट करता है अतः साधनोंमें 'योग' ही प्रधान है, योगमें भी ऐश्वर्य द्वारा सर्वत्र ही मूलभूत रस उत्पन्न किया जा सकता है यह बात तो सिद्ध ही है. यह योगेश्वर कृष्ण स्वयं ही सदानन्द(सदैव रसरूप) स्वरूप हैं, प्रकट हुई अग्नि छिपी हुई आगको प्रकट करनेमें समर्थ होती है.

भगवान्ने गोपियोंके मध्यमें स्थिति किस प्रकार की जिसका वर्णन करते हैं कि दो-दोके मध्य आप विराजे थे. मण्डल होके खड़ी हुई जितनी गोपियां थीं उनमें दो-दो जुदी हैं वैसी भावना करनी. दोकी दो जोड़ियोंमें भगवान् एक हैं यों न समझना चाहिये किन्तु एक जोड़ीमें एक भगवान् हैं. वह किस प्रकार हैं जिसका स्पष्टीकरण करते हैं कि मण्डलके मध्यमें जहां दो गोपियोंके हस्त मिले हुए हैं वहां भगवान् इस प्रकार खड़े हो गये जैसे आपश्रीका उदर दोनोंके हस्तोंको स्पर्श करता रहे, इस प्रकार प्रभुने दो-दोके गलेमें अपनी बाहू डाल दी जिससे १६ गोपियोंमे आठ कृष्ण हो गये. अतः प्रत्येक गोपी अपने-अपने पास एक कृष्ण देखने लगी. यदि यों नहीं होता अर्थात् दो-दो कृष्ण देखती तो रसाभास हो जाता था. इस भावको प्रकट करनेकेलिये कहते हैं कि प्रत्येक गोपी समझने लगी कि कृष्ण मेरे पास ही हैं दूसरेके पास नहीं हैं. अपने सामने गोपियोंसे गलबाहु हो कर खड़े हुए कृष्णका दर्शन भी भगवान्की इच्छासे न कर सकी थीं. भगवान् एक निश्चित प्रयोजनकेलिये निश्चित स्वरूप धारण करते हैं, वह प्रयोजन अष्ट स्वरूप प्रकट करनेसे सिद्ध हो जाता है तो गोपियोंकी संख्या १६के समान १६ कृष्ण ढूंढनेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं है. श्रीशुकदेवजी 'जितनी गोपियां उतने कृष्ण स्वरूप

हैं' यह आगे कहेंगे.

१.अर्थात् चार गोपियोंके बीचमें एक हैं यों नहीं, किन्तु दोके बीचमें एक श्रीकृष्ण यहां यह=(श्रीकृष्ण–गोपीगोपी–श्रीकृष्ण–गोपीगोपी–श्रीकृष्ण) प्रकार है, न कि (श्रीकृष्ण–गोपीगोपीगोपीगोपी–श्रीकृष्ण–गोपीगोपीगोपीगोपी–श्रीकृष्ण) और न (श्रीकृष्ण–गोपी–श्रीकृष्ण–गोपी–श्रीकृष्ण–गोपी–श्रीकृष्ण) ये दो प्रकार.

यह जो किन्होंने कहा है कि जितनी गोपियां थीं उतने, १६, कृष्ण थे वह मण्डल दूसरा कोई होगा भागवतका नहीं है तथा वहां जो 'अंगनामंगनामन्तरे माधवः' पाठ दिया है वह प्राचीन नहीं है उसमें फेर है शुद्ध पाठ 'अंगना अंगना अन्तरे माधवः' यों है. तथा बहुवचनका अभिप्राय भी द्विवचनमें ही है. उसके सिवाय वहां मण्डलके मध्य भगवान् वेणुनाद कर रहे हैं किन्तु भागवतमें कही हुई लीलामें यों नहीं है. यहां तो रसकेलिये नृत्य किया गया है, गानेकेलिये अपेक्षा मानने पर भी वह काम देवताओंसे चलाया जा सकता है. 'मध्ये मणीनां' इस ७वें श्लोकमें जो वर्णन श्रीशुकदेवजीने किया है वह तो जैसे कि गोपियों एवं देवोंको[२] दर्शन हुए उसका है न कि वस्तुस्थितिका. इस तरह सारी रस सामग्रीके सम्पन्न होने पर वह रस भी प्रादुर्भूत होगा यह अलौकिक बात जाननेवाले देवताओंने समझ लिया अतः वे भी दर्शनकेलिये दौड़ आये. यों आकाश सैकड़ों विमानोंसे भर गया.

२.योजना: देवताओंको गोपिकाओंके मण्डलके बीचमें नाचते हुए एक ही स्वरूपके दर्शन हुए. मानो चारों ओर बिखरे हुए सोनाके मोतियोंके बीचमें एक मरकत मणि रख दी गई हो. उन्हें केवल इतने ही दर्शन हुए और अन्य कुछ भी दिखलाई नहीं पडा अर्थात् गोपिकाओंके साथकी अन्तरङ्ग लीलाके दर्शन देवोंको नहीं हुए. जब कि गोपिकाओंमेंसे प्रत्येकको भगवान् उसीके साथ हैं यह बोध हुआ.

मण्डपमें नाचनेसे रस उत्पन्न होता है और मण्डपमें ऊपरका भाग ही यदि आकर्षक न हो तो मण्डप ही क्या? और वह विचित्रता यहां देवताओंके आनेसे हुई, अतएव विमानोंसे आकाश भर दिया गया. मण्डपमें जैसे रस उत्पन्न करनेकेलिये स्त्री–पुरुषोंके युगल नाना बन्धोंमें चित्रित किये जाते हैं, वैसे ही भगवान्ने उन देवोंको चित्र प्रायः अवस्थामें वहां स्थापित किया. अतएव आगे चल कर 'औत्सुक्यापहृतात्मनाम्' कहा जायेगा. भगवान् अपनी लीलाकेलिये सभीमें यथायोग प्रेरणा कर देते हैं अतः उत्सुक होने पर भी वे दौड़ कर यहां नीचे नहीं आ पाये. वे उत्सुकतावश रसग्रहणार्थ आये थे परन्तु भगवान्की इच्छा उनके चित्रके

रूपमें उपयोगकी थी. विमानमें स्थित मिथुनरसके सम्बन्धी देवताओंका 'दिवौकसां'में वर्णन है. देवताओंका स्थान स्वर्ग ही है. 'सदाराणां' पदसे देवपत्नियोंकी गौणता दिखलाई गई क्योंकि देवोंमें यहां भगवान्‌की लीलाके दर्शनसे अतिरिक्त अन्य कोई भी भाव नहीं है. स्वर्गमें रहनेवाले रसको जानते हैं और रसके योग्य भी हैं.

यह लीला साधारण मनुष्यकी नहीं है किन्तु स्वयं ईश्वरकी लीला है अतः वह नहीं देखनी चाहिये, तब देवोंको देखनेमें प्रवृत्ति कैसे हुई? इस शंकाका उत्तर श्रीशुकदेवजीने यह दिया है कि उत्सुकताके कारण लीलामें मन आसक्त होनेसे देवोंकी बुद्धि वा आत्माका अपहरण हो गया जिससे अपने धर्मसे ही इसमें प्रवृत्त हुए हैं अर्थात् लीला देखने आये हैं, भगवान्‌के धर्मका विचार, बुद्धिके हरण हो जानेसे नहीं कर सके थे, अतः आ गये मूलतः यहां भी कारण तो भगवान् ही हैं. (अनुवादक)।।३-४।।

प्रकाश: ''जिस उत्सुकताके कारण उन्हें भगवान्‌के दर्शन हो रहे हैं उसी उत्सुकताके कारण आत्मापहार कैसे सम्भव है?'' इस प्रश्नका उत्तर दे रहे हैं.

नृत्य आरम्भ करने पर जो कुछ होना था वह हुआ जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी 'ततो दुन्दुभयो' श्लोकसे करते हैं:

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः ।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ।।५।।

अनन्तर दुन्दुभि बजने लगे, फूलोंकी वर्षा हुई स्त्रियों सहित गन्धर्वपति भगवान्‌का निर्मल यश गाने लगे।।५।।

आदिमें दुन्दुभि बजने लगे, 'दुन्दुभि'में जो यह वाणी है वह शुभ है, अतः प्रारम्भमें शुभ शब्द हुए, अनन्तर पहले पृथक्-पृथक् अनेक प्रकारके पुष्पोंकी वृष्टि हुई. 'पुष्पवृष्टयः' श्लोकमें बहुवचन देनेका भाव यह ही है कि वर्षामें विविध पुष्प बरसाये गये. पुष्पोंकी वर्षा करनेका कारण यह है कि शस्त्रानुसार देवको पुष्पाञ्जलि दी जाती है, यह प्रसिद्ध ही है अतः यहां भी प्रकट होने पर रस अथवा रसके अधिष्ठाताको पुष्पाञ्जलि दे कर पूजा गया है. उसके बाद साधारण गान हुआ. वह गान भगवान् सुनेंगे अतः उसको उत्तम गायकोंको ही करना चाहिये, वे उत्तम गान करनेके अधिकारी, विश्वावसु प्रभृति गन्धर्वपति ही हैं. वे भगवान्‌की लीलाके दर्शन करे जिसमें किसी प्रकारका दोष नहीं है जैसे नट नृत्य आदि सीखनेवाली स्त्रीका नृत्य देखे तो उसमें कोई दोष नहीं है. वैसे गान

करनेवाले लीलाके दर्शन करे तो दोष नहीं है. यदि गान करनेवाले गन्धर्व देवोंको लीलाके दर्शन करनेमें दोष होता है तो भगवान्‌के श्रीहस्तमें स्थित इन्द्रादि देवोंको[१] भी दोष लगेगा. ''अर्थ द्रव्य विरोधे अर्थो बलीयान्'' [२]इस न्यायसे भी यह सिद्ध होता है कि गन्धर्व भगवान्‌की लीलाके दर्शन करें तो कोई दोष नहीं है. तो भी यदि लीला देखनेसे उनकी विपरीत बुद्धि हो जाये तो? इस शंकाका निवारण करनेकेलिये श्रीशुकदेवजी 'सस्त्री'का विशेषण दे कर बताते हैं कि वे अकेले नहीं थे जो उनकी बुद्धि विपरीत होवे किन्तु स्त्रियां भी साथमें है. स्त्रियोंको साथमें लानेका आशय यह है कि जैसे हम लीलाके दर्शन करते हैं ये वैसे भी दर्शन करें, जिससे हमारी भांति इनका भी भगवल्लीलामें उपयोग हो. इस प्रकारका भाव भक्तिमार्गीयके सिवाय अन्यके मनमें कभी नहीं स्फुरते हैं अतः वैसे भक्तिमार्गीय भक्तोंके हृदयमें विपरीत भावनाका उदय हो नहीं सकता है. उन(स्त्री और पुरुषों)में परस्पर विषय सम्बन्धी दोषका जगना असम्भव दिखानेकेलिये श्रीशुकदेवजी 'अमलं तद्यशः जगुः' कहते हैं. वे भगवान्‌का यह यश गाने लगे थे जिससे मलकी निवृत्ति हो जावे, उस प्रकारके यश गानसे देवोंमें अथवा देव स्त्रियोंमें उस समयमें उपयोगी पदार्थसे अतिरिक्त कोई अन्य भाव उत्पन्न हो नहीं सकता है, अर्थात् दोनोंमें भगवद्‌भाव ही उद्‌भूत हो रहा है।।५।।

१.टिप्पणीजीमें प्रभुचरण: भगवान्‌की एकान्त लीला मात्रमें उपयोगी एवं क्रिया शक्तिवाले इन्द्र आदि दिक्पालोंसे भिन्न हैं, वे तो भगवान्‌के भुजदण्ड ही अवलम्बन करते हैं. भगवान्‌के भुजदण्ड रसरूप हैं अतः रसात्मिका क्रियाशक्ति इन लीला-इन्द्रोंका प्रधानरूप है, अतः इनकी उपस्थिति दोषावह नहीं है, जैसे वैसे ही विश्वावसु प्रभृतिकी भगवान्‌की लीलामें उपयोगी नट हैं अतः इनकी भी उपस्थितिमें दोष नहीं.

२.सभी क्रियाएं किसी न किसी साधन या द्रव्यसे सम्पन्न होती हैं. कभी-कभी क्रियामें उपयोगी द्रव्य एवं स्वयं क्रियामें विरोध उठ जाता है, जैसे जलपानकी क्रियामें उपयोगी पात्र तूटा हुआ या इतना गन्दा हो कि जल पिया ही न जा सके तो ऐसी स्थितिमें हम जलपात्रका त्याग करते हैं न कि जलपानकी क्रियाका. यहां पात्र द्रव्य है तथा पान अर्थ. स्पष्ट ही अर्थ बलवान् होता है, द्रव्यकी अपेक्षा. यहां अर्थ है भगवल्लीला तथा द्रव्य हैं विश्ववसु, इन्द्र आदि. अब यदि इनमें परस्पर विरोध होता तो इन इन्द्र आदिका ही त्याग होता न कि लीलाका परन्तु इन्द्र आदिका त्याग नहीं हुआ अतः विरोध भी नहीं है. जैसे इन्द्रका अत्याग उनकी लीलामें अविरोधिताका हेतु बनता है वैसे ही विश्वावसुका अत्याग भी अविरोधमें हेतु है. (अनुवादक)

इस प्रकार बाह्यगीत और वाद्य आदिका वर्णन कर श्रीशुकदेवजी 'वलयानां' इस श्लोकमें नृत्यके मध्य जो वादित्र रसमें उपयोगी हैं उनका वर्णन करते हैं:

वलयानां नूपुराणां किंकिणीनां च योषिताम् ।
सप्रियाणामभूत् शब्दस्तुमुलो रासमण्डले ।।६ ।।

रास मण्डलमें, श्रीकृष्ण सहित स्त्रियोंके कंकण, नूपुर और किंकिणियों का भारी शब्द हुआ।।६।।

रासमें तीन स्थानों पर नीचे, मध्यमें और ऊपर वाद्योंके शब्दकी आवश्यकता रहती है, इस प्रकार तालके भी तीन निम्न, मध्य और उच्च भेद होते हैं, अतः यहां भी ऊपर कंकणोंका शब्द, नीचे नूपुरोंकी ध्वनि तथा मध्यमें किंकिणियोंकी धुनि हो रही है. वहां गोपियां परस्पर हाथ मिला कर खड़ी थीं, कभी-कभी बीचमें दो हाथोंको मिलाती थीं जिससे कङ्कणोंका शब्द होता था, अथवा आगे शब्दोत्पत्तिका प्रकार 'पादन्यासै'(श्लोक ८)में कहेंगे. वे गोपीजन अकेली नहीं थीं किन्तु उनके साथ श्रीकृष्ण भी थे, इस कारणसे ही सभी प्रकारकी सभीके पास लास्यकी सम्पत्ति थी; कारण कि यदि सर्वके पास सर्व सम्पत्ति न होती तो भगवत्सम्बन्ध प्रत्येकके साथ कैसे होता?

श्लोकमें 'च' शब्द देनेका भाव बताते हैं कि ऊपर कहे हुए तीन प्रकारके सिवाय अन्य भी मधुर कूजित शब्द तथा मुखसे शब्द होते थे. ये सभी प्रकारके शब्द मिल कर तुमुल ध्वनि होने लगी, जिससे जो दूर खड़े थे उनको पूरी तरह समझमें न आवे. यों होनेका क्या भावार्थ है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'रासमण्डले' यह वाद्य आदिकी ध्वनि रासमण्डलवालेंही सुनें क्योंकि उसके सुननेके अधिकारी वे ही हैं, जैसे शूद्र वेदके श्रवणके अधिकारी नहीं है यदि वह सुने तो उसको पाप लगता है और सुनानेवाले तथा मन्त्रमें जो शक्ति है वह उसकी चली जाती है, अर्थात् सुनानेवालेमें जो विद्याका तेज है वह उससे लोप हे जाता है, तथा मन्त्रमें जो सिद्धि देनेकी शक्ति है वह तिरोहित हो जाती है. इसीभांति भक्तोंके सिवाय इसके श्रवणका किसीको अधिकार नहीं है कारणकि यह रस अलौकिक है अतः इसको अनधिकारी सुनें तो मण्डलमेंसे सबोंका रस चला जावे, और सुननेवाले उसको ढूंढने लगें, वह ढूंढना उनकेलिये अनिष्ट करनेवाला है, वह ही उनके वास्ते पापरूप है।।६।।

१. 'रसानां समूहो रासः' जहां रसोंका समूह है वह रास है उस मण्डमलें जो स्थित हैं.

इस प्रकार रासमें प्रविष्ट भगवान् गौण हो जायेंगे, जिससे कदाचित् वे जाननेमें नहीं आवें वा न शोभें? इस शंका निवारणकेलिए श्रीशुकदेवजी 'तत्राति' इस श्लोकमें वर्णन करते हैं कि जब भगवान् रासके मध्य प्रविष्ट हुए उस समय भगवान्की शोभा सर्व जनोंको जाननेमें आई, कोई रुकावट नहीं हुई:

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः ।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ।।७।।

सुवर्णकी मणियोंके मध्य जैसे महान् नीलममणी शोभती है वैसे भगवान् देवकी पुत्र गोपियोंके बीच शोभा पाने लगे।।७।।

भगवान् स्वभावसे ही शोभित हैं तो भी अब विशेष शोभा पाने लगे. यदि कहो कि यह अधिक शोभा स्वयं आपने ही बढाई है, तो उसके निवारणकेलिये श्रीशुकदेवजीने मूलश्लोकमें कहा है कि 'ताभिः अतिशुशुभे' अर्थात् यह अधिक शोभा आपने नहीं प्रकट की है किन्तु आपकी शक्तियां जो गोपियां है उन्होंने प्रकट की हैं. जो सहज शोभासे युक्त हैं वह दूसरोंसे शोभित कैसे होगा? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि आप भगवान् हैं, अतः जैसे गुणोंसे आपकी अधिक शोभा प्रकटती है वैसे ही इन शक्तियोंसे भी अधिक शोभा होती है. वे गुण तो सर्वोत्तम हैं जिससे शोभाको बढाते हैं ये तो वैसी नहीं है, इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'देवकी-सुतः' जैसे भक्तिसे देवकीके भी पुत्र बने हैं, वैसे यहां भी भक्तिके कारण गोपियोंके उपकारकेलिये ही प्रकट हुए हैं अतः उनको भी अपनी सामर्थ्य दी है जिससे अधिक शोभा प्राप्त की है. यदि कहो कि जिसमें स्वाभाविक अपनी शक्तिसे शोभा है उसमें कृत्रिम पदार्थोंसे शोभा न होगी, तो दृष्टान्त देकर इस शंकााको मिटाते हैं, जैसे गरुड़ोद्गारी महामरकतमणिमें स्वाभाविक शोभा है तो भी सुवर्णकारसे बनाई हुई सुवर्णकी मणियोंके मध्यमें जब वह आती है तब अधिक सुशोभित होती है वैसे भगवान् भी शक्तियोंसे अधिक सुशोभित होते हैं।।७।।

इस प्रकार रासक्रीड़ाकी पूर्व पीठिकाका वर्णन कर अब श्रीशुकदेवजी 'पादन्यासैः' श्लोकसे मुख्य नृत्यका वर्णन करते हैं:

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैः
भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।

स्विद्यन्मुख्यः कबरशनाऽग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ।।८।।

सकल गोपियोंके प्रत्येक चरणको एक ही समय साथमें रखनेसे, तथा हाथको हिलानेसे, स्तनोंके वस्त्रोंकी चञ्चलतासे, कपोलों पर चंचल कुण्डलोंकी चमकसे श्रीकृष्णकी गोपियां जिनके मुख पर स्वेद बिन्दु शोभा दे रहे हैं, जिनकी चोटी और नाड़ेकी ग्रन्थियां शिथिल हो रही हैं, वे भगवान्के गुणोंको गाती हुई ज्यों मेघमण्डलमें बिजली शोभती है त्यों रासमण्डलमें शोभा देने लगी।।८।।

'पादन्यास' नृत्य समयमें चरणोंका पृथ्वी पर रखना, इतना कहनेसे समझ लेना चाहिये कि, पृथ्वी पर पैर धरनेके जितने प्रकार[१] हैं वे सब उस समय गोपीजनोंने किये थे. इसी भांति भुजाओंका हिलाना कहा है जिससे भी नाट्यशास्त्रमें जो प्रकार हाथोंके चलाने वा घुमानेके कहे हैं वे सब तरीके समझने चाहिये. एक अवयवसे शेष अन्य अवयव इस प्रकार जुड़े हुए हैं जैसे एक अवयव कार्य करे तो अन्य अवयव भी स्वतः उस प्रकार अपनी क्रिया कर रहे हैं, अर्थात् गोपियां जब नृत्यके समय अपने चरणोंको जिस प्रकार घुमाती हैं उस समय अन्य हस्त, नेत्र आदि सर्व अवयव भी नाट्यशास्त्रके संगीतानुसार अपनी क्रिया स्वतः करते रहते हैं कारणकि सर्व अलौकिक हैं. मन्दहास अर्थात् स्मित सहित कटाक्ष और भौहोंके भेद भी कहे हैं, जब उस प्रत्येकका रस हृदयमें प्रविष्ट होता है तब उनकी भी सर्व क्रियाएं तदनुकूल स्वतः होती हैं.

१.नृत्यके समय पैर कैसे धरने जिसकेलिए नाट्यशास्त्रमें दो 'प्रकार' बताए हैं, धरनेके समय एक पैरको फिराया जाय तो उसको 'चारी' कहते हैं, यदि दो पैरोंको घुमाना पडे तो उसको 'करण' कहते हैं.

जब गोपीजन नृत्य करती हुई अपनी कटिको मोड़ कर टेढ़ी करती हैं तब शरीरके ऊपरके भागको चारों तरफ फेर सकती हैं, इस प्रकार सर्व अवयवोंको बहुत घुमानेसे रसाभिनिविष्ट गोपियोंका अवयवोंमें रहा हुआ रस एक हो जाता है. अथवा गोपियोंके शरीरके ऊपरके भागके घूमनेसे स्तनों पर जो वस्त्र थे वे भी कम्पनके कारण स्तनोंसे उड़ जाते थे.

नृत्य करनेके समयमें वे शिरके फिरानेकी भी सर्व क्रियाएं करती थीं, किन्तु मूलश्लोकमें शिरके घुमानेको न कहकर 'कुण्डलैर्गण्डलोलैः' पदमें कपोलों पर कुण्डलोंके भ्रमणको कहा है जिसका भाव यह है कि यहां श्रीशुकदेवजीको

भगवान्के कपोलोंकी शोभा दिखानी है, भगवान्के कपोल श्याम हैं और कुण्डलोंकी चमकका तेज गौर है जब वे दोनों परस्पर मिलते हैं अर्थात् जब कुण्डलोंका गौर तेज और भगवान्का श्याम स्वरूप मिलता है तब वहां मेघोंमें बिजलीके समान शोभा होती है, जिससे कुण्डलोंकी शोभासे कपोलोंकी शोभा बढ़ जाती है, और अन्य सर्व शोभा कम हो जाती है. उस शोभाका कारण यह है कि कपोलोंमें सभीकेलिये पान करने योग्य जो रस है वह प्रकट होता है. जिस रसका पान पिता आदि भी बिना संकाजाकरते हैं, कपोलोंसे जो रस प्राप्त होता है वह शुद्ध प्रेमात्मक रस है तथा अधरके रसके समान कामात्मक स्त्री पेय नहीं है.

गोपीजनोंके मुख पर मुक्ता समान पसीनेकी बूंदे शोभा देने लगीं, जिसका कारण बताते हैं कि अन्दर जो गुप्त स्थित था वह पुष्ट हो कर प्रकट हुवा है. सर्व अवयवोंमें रहा हुआ रस उनमेंसे निकल कर जब एक स्थान पर इकट्ठा हो गया तब शरीर सूक्ष्म हो गया जिससे चोटी तथा नीवीकी ग्रन्थियां ढीली पड़ गईं.

रसक्रीड़ा करनेसे इतना श्रम क्यों वा कैसे हुआ? इस प्रश्नका उत्तर शुकदेवजी देते हैं कि 'कृष्णवध्वः', ये गोपीजन तो कृष्णकी पत्नियां हैं, जिससे वे सदानन्दस्वरूप श्रीकृष्णके आनन्दरसका भोग करनेवाली हैं, अतः इस क्रियामें श्रम होता ही है, श्रम होते हुए भी अन्तःकरणमें सन्तोष होनेसे गान करती रहती थीं, इस पर कायादिसे श्रमित होते हुए भी गोपियां अतिशय शोभा युक्त देखनेमें आती थीं.

गोपियां सुशोभित हो रही थीं, जब कोई मनुष्य देखकर कहे तो माना जाये जबकि इस लीलाको तो किसीने देखा नहीं है, इस शंकाको मिटानेकेलिये श्रीशुकदेवजीने श्लोकमें कहा है कि 'तडित इव ताः' वे गोपियां बिजलीके समान हैं अर्थात् जैसे बिजली स्वल्प काल ही दिखती है किन्तु मेघोंके चक्रमें शोभा ही बढ़ाती है, वैसे कृष्णरूप मेघके समूहमें भगवान्से आच्छादित होनेसे कभी ही देखनेमें आती है अतः उनकी शोभा दोष युक्त नहीं हुई बल्कि विशेष ही हुई है।।८।।

ऊपरके ८श्लोकमें गाढ नृत्य कहनेसे नृत्यकी मुख्यता कही, जिससे गानकी गौणता हुई है, अब इस 'उच्चैर्जगुः' श्लोकसे मध्य गान कह कर यह बताया है कि गान तथा नृत्य दोनों समान हैं:

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ।

कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ।।९।।

जनताको आनन्द देनेवाले सुरीले स्वरवाली तथा रतिसे ही प्रेम करनेवाली, श्रीकृष्णके स्पर्शसे मोदयुक्त गोपियां नृत्य करती हुई उच्च स्वरसे गाने लगीं जिससे यह जगत् व्याप्त हो गया।।९।।

गोपियां नृत्य करती हुई जोरसे गाने लगीं, अथवा प्रथम ऊंचे स्वरसे गाने लगीं, पश्चात् नृत्य करने लगीं, दोनों प्रकारमें हेतु कहते हैं कि वे सुरीले स्वरवाली थी तथा रति भी उनको प्रिय थी, अतः दोनों साथ भी किया हो अथवा पृथक्-पृथक् भी किया हो. यह तो प्रसिद्ध ही है कि उनका गान तथा नृत्य दोनों व्यामोह करनेवाले हैं. जब गोपियां प्रथम नृत्यसे ही श्रमित हो गईं थीं तब फिर इस प्रकार नृत्य तथा गान दोनों कैसे किये? इसके उत्तरमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि 'कृष्णाभिमर्शमुदिता' श्रीकृष्णने हस्तसे जो उनका प्रोञ्छन किया जिससे हस्त स्पर्शके कारण गोपियां प्रसन्न हुईं अर्थात् अन्तःकरणमें पूर्ण आनन्द युक्त हो गईं जिससे उनका वह श्रम शान्त हो गया और पुनः नृत्य तथा गान करनेमें विशेष रुचि हुई जिससे ऊंचे स्वरसे गाने लगीं. जोरसे इसलिये गाने लगीं कि भगवान् दूसरी नायिकाओंका नाद भूल जावें. यह गान ऐसा किया जिससे यह जगत् व्याप्त हो गया, अथवा यह जो हमने नृत्यादिक जिस फलकेलिये किया वह फल मिल गया, इसलिये श्लोकमें 'यद्गीतेन आवृतम्' कहा है. यह रस भक्त कवियोंके इसी रसका प्रकाशन करनेवाले गीतों द्वारा लोकमें भी व्याप्त हो गया है।।९।।

लेख: गोपिकाओंको रति प्रिय है अतएव रतिकर्ता भगवान्के व्यामोहनार्थ नृत्य किया.

लोकमें रसको प्रकट करनेकेलिए ही यह सब किया गया है अतः (स्वामिनियों द्वारा) उत्पन्न किए गए नादको अमृतमय बनानेकेलिए भगवान्ने भी नाद किया. अब जब करना ही है तो वह नाद मधुर ही करना पड़ेगा और फिर उस मधुरनादसे जगत्को भर भी देना है, परन्तु यह संभव कैसे होगा? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं 'काचित्' से:

सप्रकाश टिप्पणीजी: नादके दो भेद होते हैं. १.आहत एवं २.अनाहत. अनाहत नाद प्राण घोषरूप होता है तथा आह्लादक भी नहीं होता. आत्मा, मन, देहस्थ वह्नि एवं वायुकी क्रमिक प्रेरणाकी प्रक्रियासे आहत नादकी अभिव्यक्ति होती है. प्रक्रियाकी अन्तिम कड़ी वायु ब्रह्मग्रन्थीसे नाभिमें अभिव्यक्त होने पर अति सूक्ष्म ध्वनि, हृदयमें सूक्ष्म, कण्ठमें अपुष्ट, मूर्धामें पुष्ट एवं मुखमें कृत्रिम ध्वनि कहलाती है. किन्तु व्यवहारमें हृदयमें मन्द, कण्ठमें मध्य एवं मूर्धामें तार ध्वनि भी कहा जाता

है. ये क्रमशः उत्तरोत्तर द्विगुणित होती जाती है. इस ध्वनिके बाईस भेदोंको श्रुति कहा जाता है. इन्हीं रूपोंमें अभिव्यक्त नाद आह्लादक बनता है. वैसे तो यह नाद आसन्य प्राणका अंश ही है अतः लौकिक है और अतएव अमृतप्रचुर भी नहीं, फिर भी जब वह अंशीका रूप ले लेता है तो मूलरूपमें आ जानेके कारण वह अपहतपाप्मा तथा पूर्ण हो कर अमृत प्रचुर भी हो जाता है.

यहां ''स्वामिनियों द्वारा उत्पन्न किए गए नाद अर्थात् गानकी अमृतमयता भगवान्के नादसे होती है''का प्रभुचरणने यह तात्पर्य दिखलाया है. यह नाद न तो लौकिक है और न पूर्व सिद्ध. इस नादकी अलौकिकता इसके कार्यको देखने पर समझमें आती है. इसके दो अलौकिक कार्य हैं १.भगवान्के अन्य भावोंको दूर करना एवं गान करनेवाली स्वामिनियोंमें भगवान्के भावोंको केन्द्रित करना २.स्वकेन्द्रित भगवान्के भावके अनुरूप स्वयं स्वामिनियोंके सारे भावोंको भगवान्में केन्द्रित कर देना. इन दो कार्योंको उत्पन्न करनेकेलिए प्रत्येक स्वामिनीने गान किया और जब ये दो कार्य उत्पन्न होंगे तो रसानुभव तो होना ही है. इसके अलावा भगवान्के गानका कारण भी यही स्वामिनीगान है. यों इन दो कार्योंको उत्पन्न करनेके कारण ही इसे 'अमृतमय' कहा गया है. यों दो कार्योंसे कारण नादकी अलौकिकताका अनुमान होता है.

'अमृतमयत्व'की व्याख्याके अनुसार भगवान्के नादकी प्रधानता सिद्ध होती है अतः स्वामिनीके गानकी अमृतमयता या प्रधानता नहीं रहेगी, यह शंका उठ सकती है अतः प्रभुचरण इसका समाधान करते हैं.

स्वरजाति विस्तारके उन्नयन(तारसप्तक तक ले जाने)में स्वामिनीकी प्रधानता कही जाती है, जहां कि प्रभुका तो केवल साथ देना मात्र अपेक्षित है. यों उसके कारण इसका माधुर्य लक्षित होता है. अन्यथा प्रभु स्वयं यदि तारसप्तक तक प्रथम पहुंच जायें तो स्वामिनीका नाद अभिभूत हो कर गानमें रसाभास एवं व्यर्थता ला देगा. समान भी मानने पर दोनोंके स्वर स्वतंत्र हो कर एक दूसरेके पूरक न हों तो परस्पर अनुपयोगी बन सकते हैं. यदि स्वामिनी स्वयं नाद स्वरूपको न जानती हों और केवल भगवन्नाद सुन कर उसका अनुकरण करें तो भी वही गति होगी. अतः भगवान्के विचारित क्रमके अनुसार स्वयं स्वामिनीने स्वरोन्नयन किया. नायिकाकी प्रधानता तो इस रसका स्वभाव ही है अतः भगवान्में भी यहां पूर्णरसका प्रादुर्भाव हुआ है और यों वे स्वामिनीके अधीन हो गए हैं, यह दिखलाना ही इस सारी बातका आशय है(अर्थात् ऊंचे स्वर न लगा कर मधुरवाद ही प्रभुने किया इस तथ्यका)

यों नायिका-स्वामिनीके नादकी प्रधानता सिद्ध होती है अतः उसीके कार्य पूर्वोक्त दोनों भाव हैं.

सप्रकाश एवं सलेख टिप्पणीजी: अब प्रभुके गानका मुख्यकार्य क्या है, यह प्रभुचरण बताते हैं, अमृतमयताकेलिए भगवान्ने जो नाद किया वह तो स्वामिनियोंको रसानुभव करानेकेलिए ही अतएव वह नाद मधुर ही करना पड़ा. अब मधुरनादसे जगत्को कैसे व्याप्त किया भर दिया जा सकता है, अर्थात् भगवान्को तो साथ देनेकेलिए मधुर नाद ही करना है तो फिर कवियोंको कैसे सुनायी देगा, और उनके न सुनने पर यह रस जगत्में व्याप्त कैसे हो पाएगा, यों यह असंभव बात हो गयी! अन्य धर्म निवृत्त होने पर ही इससे जगत् व्याप्त हो सकता है. अतः जगत्को इससे व्याप्त करनेकेलिए इस स्वरूपके रसको जान कर निरूपण कर सकनेवाली ये गोपिकाएं ही हैं. जैसे 'तंत्वौपनिषदं पुरुषम्' कहा अर्थात् उपनिषद्में वर्णित ही ब्रह्मस्वरूप ज्ञातव्य है यथार्थ है, उसी तरह इन स्वामिनियोंने जो रूप, गुण या धर्म दिखलाए हैं, वे ही पुरुषोत्तमके ज्ञातव्य एवं यथार्थरूप हैं. अतः इनका गान उपनिषद्-वाक्यरूप है. इनके वाक्योंको सुननेसे जाना जा सकता है कि भगवान्में प्राकृतधर्म नहीं हैं और उन ऐसे भगवान्से सम्बन्ध होने पर श्रोताओंका भी अन्य विषयोंमें भटकना बन्द हो जाता है, (यह, कवियोंसे इस रसके जगत्में व्याप्त होने पर इस रसके कीर्तनके श्रोताओंको ज्ञान हो तथा अन्य विषयोंमें उनका भटकना बन्द हो एतदर्थ है) तब फिर भगवदानन्दका अनुभव होता है. यह सब प्रभुके गानका कार्य है. इस तरह इस रससे जगत् व्याप्त कर दिया जाएगा.

काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधुसाध्विति ।।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बहत्वदात् ।।१०।।

किसी गोपीने भगवान्के नादके साथ मेरे स्वर तथा जातिका मेल न होवे इस प्रकार स्वरको उपर ले गई जिससे भगवान्ने प्रसन्न हो कर उसकी पूजा(आदरके साथ धन्यवाद दी) की, दूसरीने उसी ध्रुव स्वरको उंचे ले नादमें मिला दिया, भगवान्ने उसका भी बहुत आदर किया।।१०।।

जो गोपी श्रेष्ठ प्रकारसे भगवद्भावको प्राप्त हुई थी उसने समझ लिया था कि भगवान्की इच्छा इस स्वर जातिको ऊंचे करनेकी है अतः वह गोपी भगवान्के साथ शुद्ध स्वरके भेदोंको ऊंचा करने लगी.

भगवान्ने नाद किसहेतुसे किया है जिसको स्पष्ट समझानेकेलिये मुकुन्दका नाम दिया है. भावार्थ यह है कि भगवान्ने मोक्षदान देनेकेलिये ही उपनिषद्रूप गोपीजनोंके नादमें अपना नाद भर दिया है. दोनोंमें(भगवान्के नाद

और गोपीजनोंके नादमें अभेद है.) एकता है, दोनों नाद मोक्षरूप कार्य करते हैं अतः दोनों नाद तुल्य हैं. मोक्षमें दो कार्य होते हैं, पूर्वदेह(पंचमहाभूतसे बनी देह)से छुटकारा और ब्रह्मकी प्राप्ति करानी. भगवान्के सिवाय अन्य पदार्थोंका निवारण करके भगवान्की प्राप्ति करानी यह उपनिषदोंका उपयोग है अर्थात् उपनिषद्रूप गोपिकाओंके नादरूप वचनोंकी आवश्यकता है. सारांश यह है कि गोपीजनोंके नादसे संघातकी निवृत्ति हो जाती है और ब्रह्मकी प्राप्ति होती है.

गानमें सात स्वर और उनके जाति भेद होते हैं १.षड़ज्, २.ऋषभ, ३.गान्धार, ४.मध्यम, ५.पञ्चम, ६.धैवत और ७.निषाद् है, इनके १८ जातियां हैं उनमेंसे ७ शुद्ध हैं और ११ मिश्र हैं. वे सात पृथक्-पृथक् जातियोंके स्वरोंके समान होते हैं जैसे मोरकी केकावाणीका स्वर षडज् है, इस प्रकार अन्य भी पक्षी आदि बोलते हैं, किन्तु उनमें थोड़ासा भेद रहता है, जिससे उनके अवान्तरभेद अन्य भी प्रतीत होते हैं.

इन स्वरोंका ब्रह्माने रस उत्पन्न करनेकेलिये जिस क्रमसे गानेका ढंग रचा है यदि उस तरीकेसे गाये जाये तो स्वर तथा उनकी जाति शुद्ध रहे, किन्तु इस प्रकार शुद्ध गानेकी शक्ति भगवान्के सिवाय अन्यमें नहीं है. गोपीजन इन स्वरोंको यथाक्रम ऊंचेसे गा सकी हैं इसलिये भगवान् उन पर प्रसन्न हुए हैं यह योग्य ही है. जिसकी सत्यता श्रीशुकदेवजीने 'पूजिता तेन' कह कर प्रकट की है. भगवान्ने उस गोपीका सन्मान किया, कारणकि भगवान्ने देखा कि मैं ब्रह्म हूं यदि मैं इस प्रकार गान करूं तो कुछ भी आश्चर्य नहीं है किन्तु अन्य तो जिसके स्वरूपको भी नहीं जानते हैं वे कैसे कर सकेंगे? यदि उन्होंने किया है तो पूजाके योग्य है यों समझ विचार कर उसका पूजन किया. ऊंचेस्वरसे गोपीजनोंका कार्य भी सिद्ध हो गया इसलिये श्रीशुकदेवजीने 'प्रीयता साधु साध्विति' कहा है. वह स्वरोन्नयन अपने आपमें तथा अपने फलके विचारसे यों दोनों तरह श्रेष्ठ था अतः भगवान्ने भी प्रेमपूर्वक दो बार उसकी 'वाह-वाह' की. गोपियां तुल्य हैं और कार्यकेलिये सर्व प्रकार योग्य हैं (अतः) गोपियों पर भगवान्का प्रेम हुआ है.

दूसरी गोपी जो पासमें खड़ी थी उसने क्या किया कि जब तक भगवान् उस ऊंचे स्वरको स्वयं ग्रहण करे जिससे पहले उसने वहांसे ही उस नाद स्वरको ऊंचे ले लिया अर्थात् वह स्वर ध्रुवस्थान पर स्थित हो वैसे उनको ऊंचा ले कर उसको ध्रुव नादमें मिला दिया. नादका कारण जो स्थायी स्वर है उसको 'ध्रुवनाद'

कहते हैं, जहां राग और स्वर जाकर ठहरता है उसको 'स्थायी' कहा जाता है अथवा भगवान्का नाद ही स्थायीस्वर है. भगवान्ने इस प्रकार गान किया. कोई कहते हैं कि गोपीने अपना स्वर ध्रुव, ताल आदिसे मिला दिया, उनका यह कहना विचारमें लाने लायक नहीं है. जब गोपीने अपने ऊंचे स्वरको स्थायी स्वर वा उस भगवान्के नादमें मिला दिया, तब भगवान्ने उसको बहुत मान दिया और अभीष्ट(जो चाहती थी) भी दिया, इस प्रकार गोपियोंमें जब अन्तःसामर्थ्य हो गया तब बाहरके सामर्थ्यका क्या कहना है बहुत मान दिया कहनेका भाव यह है कि यह गोपी सर्वगोपियोंसे अधिक है, ये दोनों गोपियां ऐश्वर्य तथा वीर्यरूप हैं दूसरी चार क्रमसे समझनी, भगवान्के छः धर्मोंमेंसे ऐश्वर्य और वीर्य ये दो धर्म इन दो गोपियोंमें स्थापित किये शेष ४ धर्म अन्य ४ गोपियोंमें स्थापित करेंगे वे आगेके श्लोकोंमें जानने।।१०।।

कीर्ति निश्चयसे भगवान्का ही आश्रय लेती है अतः दो गोपियोंका कायासे की हुई क्रियाका वर्णन ११-१२ श्लोकमें करते हैं, उनमेंसे एक कोई स्कन्ध पर हस्त रखती है जिसका इस ११वें श्लोकमें वर्णन करते हैं:

काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः ।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ।।११।।

रासमें रमण करनेसे श्रान्त कोई गोपी, जिसकी कंकणसम मल्लिकाकी माला शिथिल हो गई है उसने बाजुमें स्थित गदाभृत भगवान्के कन्धेको बाहुसे ग्रहण किया अर्थात् अपनी भुजा कन्धे पर धर दी।।११।।

राससे परिश्रान्त किसी एक गोपीने अपने पार्श्वमें एक और स्थित भगवान्का कन्धा अपनी बाहुसे थाम लिया.

भगवान् गदाधारी हैं अतः गोपीके कन्धा थामने पर भी अर्थात् कन्धेका सहारा लेने पर भी स्थिरतासे मण्डल एवं नृत्य यथावत् बनाये रख सकते हैं (स्वभावतः). अन्यथा कन्धेका सहारा लेनेके कारण अधिक प्रयत्न करना पड़ता होता तो रास बन्द हो जाता.

यह परिश्रम दैहिक नहीं है किन्तु रसके वृद्धिंगत होनेके कारण हुआ है. यदि यह परिश्रम दैहिक होता तो गोपिकाकी रसकेलिये प्रवृत्ति नहीं रह जाती मण्डल छोड़ कर भगवान्का कन्धा पकड़ने पर मण्डल तूट न जाये इसलिये अर्थात् मण्डलको बनाये रखनेकेलिये भगवान्को भी अन्य स्वामिनीका हाथ पकड़ना

पड़ा हो यह सम्भव है. अतः एक और भगवान् ही रह जाते हैं(अर्थात् गोपी नहीं). अपने पार्श्व भागमें खड़े हुए भगवान्के कण्ठमें हाथ डाल कर जो गोपी आलिंगन कर रही है ऐसे आलिंगनको शास्त्रमें 'वृक्षाधिरूढालिंगन' कहा जाता है. भगवान्ने पहले गलबांही दी और बादमें गोपीने भी वैसे ही किया तावता दोनोंकी केवल मित्रवत् स्थितिका बोध होता है, किन्तु वस्तुतः केवल इतना नहीं है यह 'श्लथद्वलयमल्लिका'से दिखलाते हैं. गोपीने अपने जुड़ेमें जो बेनी लगायी थी वह शिथिल हो गई, यों उसकी विकलता यहां दिखलाई गई है. ऐसे आप्तता भी यहां दिखलाई गई है।।११।।

प्रकाश: दैहिक परिश्रम होने पर भगवान्के कन्धेका सहारा लेनेके बजाय बैठ जाना और अधिक उचित होता किन्तु रस ग्रहण करनेकी इच्छासे वैसे न करके कन्धेको थाम लिया.

लेख, प्रकाश एवं योजना क्रमशः (१)रसातिमादमें कभी-कभी जुडे पर हाथ रख कर भी चुम्बन किया जाता है और यों अंगुलियोंके स्पर्शसे बेनीके फूलोंका शिथिल होना स्वाभाविक ही है. यों रसदानके कारण आप्तता दिखलाई. (२)यथा दृष्टलीलाका वर्णनके कारण शुकदेवजी अपनी आप्तता दिखला रहे हैं. (३)आप्तमित्तको गलबांही दी जाती है अतः गोपी गलबांहीसे भगवान्की आप्तता दिखला रही है.

तत्रैकांसङ्गतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ।।१२।।

मण्डलमें उसी समय किसी एक गोपीने अपने कन्धे पर धरे हुए, कमलोंकी सुगन्धिवाले और चन्दनसे लिप्त बाहुकी सुगन्ध ली, जिससे रोमांच खड़े होते ही उसने भगवान्के बाहुको चूम लिया।।१२।।

दूसरी गोपीने अपने एक कन्धे पर धरे हुए, कमलसे भी विशेष सुगन्धिवाली, और चन्दनसे लिप्त भगवान्के बाहुको सूंघनेसे उसमें आमोद भर गया तथा पूर्ण आनन्दसे युक्त होनेसे उसके रोमाञ्च खड़े हो गये जिससे उसने बाहुका ही चुम्बन किया. भगवत्स्वरूपका दर्शन तथा स्पर्श तो गोपियोंको प्रथम ही था अब गन्ध और रसका भी अनुभव कर लिया. श्लोकमें 'ह' आश्चर्य अर्थमें दिया है. श्लोकमें 'तत्र' शब्दका अर्थ दो प्रकारसे होता है. (१)उसी समयमें और (२)भगवानमें. इस प्रकार कहनेसे दोनों बाहुओंमें स्थित गोपियोंका विनियोग सिद्ध हुआ समझा जाता है.

१.गो.वल्लभलालजी लेखमें इस विषयको समझाते हैं जिससे सब शंकाएं मिट जाती हैं, यद्यपि भगवान् गोपियोंके बाजूमें स्थित थे किन्तु दोनोंका विनियोग पृथक्-पृथक् कालमें हुआ है, अतः भगवान् पार्श्वमें थे उससे कोई विरोध नहीं है, और यदि एक ही समयमें दोनोंका विनियोग है तो भी भगवान्के प्रभावसे एक दूसरेको किसीने नहीं देखा जिससे भी दोनोंका विनियोग सिद्ध है.

श्लोकमें 'एकासंगतं' पदका अर्थ दो तरह सम्भव है (१)एक कन्धे पर धरी हुई बाहुको, तथा (२)एक अन्य गोपीने कन्धे पर धरी हुई बाहुको. जिससे स्पष्ट हो जाता है कि पहले ११ श्लोकवाली गोपीसे यह अन्य है वह कीर्तिरूप थी और यह श्रीरूप है. अतः अन्य कोई जो कहते हैं कि इस श्लोकवाली गोपी भी वही है वह उनका कहना असंगत है.

रस तो अधरमें रहता है तो गोपीने बाहुका चुम्बन क्यों किया? इस शंकाको मिटानेकेलिये कहते हैं कि 'सदानन्द' होनेसे भगवत्स्वरूपमें सर्वत्र जो रस है वह समान है.

मूलमें 'उत्पल' शब्द दिया है उसका भावार्थ यह है कि 'उत्पल' रात्रिमें विकसित होता है अतः वह स्त्रियोंके मनको हरण करनेवाला है. गोपीके बाहुको सूंघनेमें चन्दनकी सुगन्धि कारण नहीं थी, किन्तु जिसको साधारण जन नहीं जान सकते हैं उससे भी विशेष सुगन्ध, जिसको अतिशय अलौकिक भाववाली ही पहचान सकती है वह हेतु है.

यह विशेषण इसलिये भी दिया है कि भगवान्के श्रीअंगमें स्वाभाविक सौरभ है. चन्दनका लेप तो विवेक और धैर्यके नाशार्थ किया गया है क्योंकि चन्दनादिके लेपसे भगवान्में विशेष भाव बढ़नेसे विवेक-धैर्य नाश होनेसे गोपीको यह ध्यान न रहा कि अन्य सखियोंके सामने बाहुका चुम्बन कैसे करूं?

बाहु सूंघनेसे वह घ्राण गोपीके अन्तःकरणमें प्रविष्ट हो जाती है यह इस गोपीमें विशेषता है. यह गोपी श्रीरूप है।।१२।।

भगवान्ने, जो ताम्बूल ग्रहण किया वह चर्वित ताम्बूल किसी गोपीने वैसे ग्रहण किया जैसे शिष्य प्रथम सेवा कर पुनः गुरूसे ज्ञान ग्रहण करता है, अर्थात् जिस गोपीने प्रथम भगवान्को ताम्बूल अर्पण कर सेवा की उस गोपीको भगवान्ने अनुग्रह कर ज्ञानरूप चर्वित ताम्बूल दे कर ज्ञानवती अर्थात् ज्ञानरूपा बना दिया जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी 'कस्याश्चित्' श्लोकमें करते हैं:

कस्याश्चिद् नाट्यविक्षिप्त–कुण्डलत्विषमण्डितम् ।
गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात् ताम्बूलचर्वितम् ।।१३।।

नृत्यसे चलित कुण्डलकी चमकसे भूषित अपने कपोलको भगवान्के कपोल पर धर, बाजूमें खड़ी हुई किसी गोपीको भगवान्ने अपना चबाया हुआ ताम्बूल मुखमें दिया।।१३।।

किस गोपीको भगवान्ने चर्चित ताम्बूल दिया, जिस गोपीको भगवान्की आकांक्षा(इच्छा, जरुरत) थी उसने अपना कपोल भगवान्के कपोलसे लगाया, जिससे भगवान्ने सन्मुख न होते भी सरलतासे उसको चर्चित ताम्बूल दे दिया, 'प्रादात्' शब्दका विशेष भाव यह है कि भगवान्ने ताम्बूल द्वारा अपनी विद्याका दान किया है. विद्यादान करनेका आशय यह है कि जब गोपियां मेरे विरहमें सन्तप्त हों तब यह गोपी उनको ज्ञानोपदेश दे कर शान्ति करानेके साथ उनके जीवनकी भी रक्षा करेगी तथा ब्रह्मविद्याके[१] समान मेरी प्राप्ति भी करायेगी. अन्यको विद्यादान न कर इसको विद्यादान इसलिये किया है कि यह ज्ञान ग्रहण करनेके योग्य है, क्योंकि इसमें लौकिक क्रिया और ज्ञानशक्ति दोनों है जिनको श्रीशुकदेवजी 'नाट्यविक्षिप्त कुण्डलत्विषमण्डितम्' पदसे सिद्ध करते हैं. नाट्यसे उसका कुण्डल विक्षिप्त हो रहा था और अतएव कुण्डलकी कान्तिसे उस गोपिकाके कपोल शोभित हो रहे थे.

१.टिप्पणीजी: सारे वेदान्त वाक्योंका निचोड ब्रह्मविद्या हैं. उपनिषद् आदि सारी वाणीयोंके अधिपति रक्षात्मक भगवान्ने अपने भक्तोंके स्नेहवश निचोड कर जो चर्वित ताम्बूल रखा था वह इसे दिया. देनेका प्रयोजन यह था कि विरहदशाके असह्य होने पर ब्रह्मविद्यारूप इस चर्वित ताम्बूलको लनेवाली यह गोपिका अपनी सखीयोंका जीवन निर्वाह कर पाएगी. ब्रह्मविद्यासे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है. यहां भी यह स्वामिनी अपने प्रियतमको पाएगी.

यहां तीन बातें कही गई हैं:

(१)नृत्यसे कुण्डलका विक्षिप्त होना.

(२)कुण्डलकी कान्ति.

(३)उस कान्तिसे कपोलकी शोभा.

(१)नृत्यमें क्रियाशक्ति प्रतिष्ठित है तथा कुण्डलमें (यदि उसे सांख्यरूप माना जाये तो) ज्ञानशक्ति प्रतिष्ठित है. अतः ''नृत्यसे कुण्डलके विक्षिप्त

होने''का तात्पर्य होगा क्रियाशक्तिसे ज्ञानशक्तिका खूब अभ्यास. परन्तु कुण्डल योगात्मक भी हो सकता है अतः तब अर्थ होगा क्रियाशक्तिसे योग साधन शम, दम आदिका खूब अभ्यास.

(२)'कुण्डलकी कान्ति'का अर्थ होगा ज्ञानका प्रकाश अथवा योगके फल चित्तकी एकाग्रताका अनुभव.

(३)''इस कान्तिसे कपोलकी शोभा'' अथवा कपोलका शृंगारका तात्पर्य होगा उक्त प्रकाश अथवा अनुभवके शृंगारमें सजी हुई भक्ति(क्योंकि कपोल भक्तिरूप है).

यों कुल मिला कर सम्पूर्ण वाक्य, ''नृत्यसे विक्षिप्त हो रहे कुण्डलकी कान्तिसे शोभित, गोपीने अपने कपोलको भगवान्के कपोलसे जोड़ दिया''का तात्पर्य होगा क्रियाशक्तिसे अत्यधिक अभ्यास पूर्वक ज्ञानके; अथवा शम, दम आदिके अत्यधिक अभ्यास पूर्वक साधित योगके, शृंगारसे अलंकृत गोपिकाकी भगवद्भक्ति भगवान्के अपने ऊपरके स्नेहसे मिल गई. अर्थात् जैसे भगवान्में गोपिका अनुरक्त है वैसे ही भगवान् गोपिकामें अनुरक्त हो गये हैं. भक्तिमें भी भगवान्का यह कपोल साध्यरूपा भक्ति है. उस चञ्चल कुण्डलोंकी कान्तिसे युक्त कपोलकी लक्ष्मीके शोभाके प्रति भगवान्के स्वामिनी प्रेमरूप कपोल(मूल)ने खूब पर्यटन किया. ज्ञान जैसे लक्ष्मीवान्की ओर पुनः-पुनः आवृत्त होता ही रहता है ऐसे ताम्बूल भी होता रहा अतः ज्ञान एवं ताम्बूलकी समानता सिद्ध होती है. चर्वित ताम्बूल दे कर भगवान्ने यह दिखलाया कि साधन प्रयासके बिना ही सिद्धदान किया गया है।।१३।।

भगवान्की दूसरी बगलमें स्थित अन्य गोपीने वैराग्य और क्रियारूप तथा छिद्ररहित भगवान्के श्रीहस्तको अपने हृदय पर धरा जिसका वर्णन 'नृत्यती' श्लोकमें करते हैं:

नृत्यती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला ।
पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम् ।।१४।।

जिसके नूपुर तथा मेखलासे झनकार ध्वनि आ रही है वैसी भगवान्के पार्श्वमें स्थित एक अन्य गोपीने नृत्य एवं गानसे श्रमित होनेसे भगवान्के कल्याण स्वरूप हस्तकमलको अपने स्तनों पर धरा।।१४।।

वह गोपी नृत्य तथा गान करती हुई स्थित थी, नाट्यक्रियाके समय छाती

पर अपना वा दूसरेका हस्त रखा जाता है वैसे ही इसने भगवान्का हस्तकमल छाती पर धरा. नृत्यके अवसर कौनसे गीतको गाना चाहिये एवं गानके अनुरूप कैसे नाचा जाता है यह इस गोपीको बराबर मालूम है. ऊपरके अंगसे गानका अभिनय करती थी और पैरोंसे तदनुकूल नृत्य किया करती थी जिससे उनके नूपुर तथा मेखलाकी झनकार ध्वनि हो रही थी. उसका यह नृत्य और गान तथा नूपुर एवं मेखलाकी ध्वनि रसको उद्दीप्त करती थी, जिससे यह सूचित हुआ कि उसकी प्रथम की हुई सर्व ही क्रियाशक्ति सफल हो गई है.

नृत्य तथा गान करते हुए गोपीको श्रम हुआ अर्थात् रसके उद्दीप्त होनेसे मिलनेकी चाह बड़ी जिससे विरह ताप हुआ, अतः पार्श्वमें स्थित भगवान्के हस्तकमलको अपने छाती पर धरा, हस्तमें कमल जैसी ताप हारक क्रियाशक्ति है जिससे तापको शान्ति हुई. गेपीने जो नृत्यादि क्रिया बन्द की वह केवल बाहरसे थी अन्दर तो उसके करनेकी इच्छा थी इसलिये ही भगवान् एक बाजूमें स्थित थे. यहां मूलश्लोकमें भगवान्को 'अच्युत' कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि भगवान्की क्रियाशक्ति अक्षय हैं. आगे सम्बन्ध करना है और वह कदापि टूटे नहीं, भगवान्का श्रीहस्त कामको उत्पन्न करनेवाला है अतः वह तापको शान्त कैसे करेंगे? इस शंकाके निवारणार्थ 'शिवम्' विशेषण दिया है जिसका आशय है कि भगवान् आनन्दरूप हैं जिससे उनके सर्वअंग आनन्दरूप होनेसे तापको मिटानेमें समर्थ हैं. यह गोपी वैराग्यरूपा है।।१४।।

श्रीप्रभुचरण टिप्पणीजीमें आज्ञा करते हैं कि, भगवान्के हस्तकमलको छाती पर धरा जिससे इस(गोपी)में वैराग्य उत्पन्न हुआ और प्रथम दिए हुए ज्ञानके कार्यकी सिद्धिकेलिए अक्षय क्रियाशक्तिका संचार हुआ एवं फल सिद्धि हुई. यदि वैराग्य उत्पन्न न होता तो विरहतापको सहन नहीं कर सकती थी. उसको न सहन करने पर अन्योंको आश्वासन कैसे देती? अतः वैराग्य तथा क्रियाशक्तिसे ज्ञानका उपयोग करनेमें समर्थ हुई, अन्योंको उपदेश दे सकी, और फल भी प्राप्त किया, इसलिए हस्तको छाती पर धरा जिससे अपने सर्व कार्य सफल किए.

धर्मसे गोपियोंमें भेद है किन्तु धर्मी स्वरूपसे भेद नहीं है कारणकि ऐश्वर्यादि षड्धर्मयुक्त स्वरूप ही तो भगवान् है अतः यहां कुछ भी अयोग्य नहीं है, कि ज्ञान-रूपा गोपी अन्य है और वैरग्यरूपा अन्य है तो दोनोंके बारेमें एक बात कैसे संभव हैं.

इस प्रकार छः गोपियोंके स्वरूपोंका वर्णन कर अब समस्त गोपीजनोंकी भगवान्के साथ की हुई साधारण लीलाका वर्णन 'गोप्यो लब्ध्वा'से करते हैं:

गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम् ।
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे ।।१५।।

गोपियोंने लक्ष्मीजीके अतीव वल्लभ अच्युत प्रभुको कान्तरूपमें प्राप्त किया भगवान्ने गोपियोंके कण्ठमें अपनी भुजा धर ली, इस प्रकार गलबाहीं बन कर गोपियां प्रभुका गुणगान करती हुई क्रीड़ा करने लगीं।।१५।।

एक भगवान् ही अच्युत कान्त हैं, प्रभु अन्दर और बाहर नित्य आनन्द देनेवाले हैं, इस कारणसे ही सर्व स्त्रियोंकी मूलभूत लक्ष्मीजीको एकान्त प्रिय है परम प्रिय है. वैसे पतिको प्राप्त कर गोपिकायें उनका ही गुणगान करती हुई, क्रीड़ा करने लगी. जब परमानन्द प्राप्त होता है तब क्रियाका बन्द करना ही उचित है, नहीं कि फिर क्रिया करनी योग्य है तब विहार कैसे करने लगी? इस शंकाको मिटानेकेलिये कहते हैं कि भगवान्ने स्वयं कण्ठमें अपनी भुजा डाल इनको स्वक्रियाशक्तिसे युक्त कर दिया है अतः यह क्रिया भगवान्की क्रियाशक्ति है, नहीं कि गोपियोंकी वह क्रिया भी कण्ठमें स्थापित की है अतः गान एवं क्रिया दोनों होती है, इसलिये इनको स्वतन्त्रता है।।१५।।

इसके बाद भगवान् और गोपियोंने जो राधा-दामोदर नृत्यके समान नृत्य किया, उसका वर्णन 'कर्णोत्पलालक' श्लोकमें करते हैं:

कर्णोत्पलालक-विटंककपोल-घर्म-
वक्त्र-श्रियो वलय-नूपुर-घोष-वाद्यैः।
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश-
स्रस्तस्रजो भ्रमर-गायक- रासगोष्ठ्याम्।।१६।।

कर्णमें धरे हुए कमल तथा अलकोंसे सुशोभित कपोल एवं पसीनेकी बून्दोंसे जिनके मुखारविन्दकी श्री वृद्धिगत(बढ) हो रही है और अपने केशोमें लगाई हुई मालाके पुष्प जिनके गिर रहे हैं वैसी गोपियां, जिस रासगोष्ठीमें भ्रमर गान कर रहे हैं, कंकण तथा नूपुरोंके शब्दरूप वाद्य बज रहे हैं उसमें भगवान्के समान नाचने लगी।।१६।।

यह नृत्य[१] भी रसके समूहको उत्पन्न करनेकेलिये किया गया है, किन्तु इस नृत्यमें प्रत्येक गोपीको रसदान मिला है, इसलिये यहां विहार वा क्रीड़ा न कह कर मूलश्लोकमें 'गोष्ठी' पद दिया है, जिसका आशय है कि इस गाढ नृत्यमें भगवान् और गोपी साथमें हैं, पूर्व किये हुए नृत्यमें दो-दो गोपिकाओंके बीचमें

कृष्ण एक ही थे इस नृत्यमें भ्रमर गायक हैं, वाद्य तो पहलेकी भांति होगा, जिसका वर्णन 'वलय नूपरवाद्यशब्दैः' पंक्तिसे किया है. कंकण और नूपुरोंके शब्द ही वाद्योंके शब्द हैं, इस प्रकार वादन एवं गायन करते हुए जो नृत्य हुआ उसमें अत्यन्त आसक्तिके कारण अपने(गोपियोंके) केशोंसे मालाएं गिरती जा रही हैं.

१. १४वें श्लोकमें किये हुवे नृत्य और इस नृत्यमें भेद है अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है, विशेष टिप्पणीजी देखिये.

(श्रीप्रभुचरण यहां स्वतन्त्र लेखमें आज्ञा करते हैं. गोपियां गानेके रसकी जानकार थीं इसलिये भ्रमरोंकी गानमें निपुणता देख कर पुष्पोंके मकरन्दरसको चाहनेवाले भ्रमरोंको रस पानार्थ पारितोषिकरूपमें अपनी मालाएं अर्पित करने लगीं, अन्यथा शोभाकेलिये धारण की हुई मालाओंकी उपेक्षा कभी भी नहीं करतीं.)

नृत्यके समय गोपीजनोंकी शोभाका वर्णन करते हैं कि यदि गोपीजन इस प्रकार सुशोभित नहीं होतीं तो पहले किये हुए नृत्यसे श्रमितोंका पुनः नृत्य करना अनुचित ही होता. अथवा रस जनक न होवे, कान पर शोभार्थ कमल इस प्रकार धरा जैसे वह गिरे नहीं जिससे अपनी चतुराई प्रकट की है, कमलके ऊपर जो भ्रमररूप अलकें लटक रही हैं वे मानो रस पान कर रही हैं. केशोंको भी शोभा देनेवाले अलंकाररूप कपोल हैं, जिन पर नृत्यके समय उनमें आसक्ति होनेसे नृत्य करते रहनेके हठसे अन्तरमें उत्पन्न श्रमजल स्वेदरूप(पसीने)में कपोलों पर आके अलौकिक कोई शोभा दिखाने लगे, मानो मोतियोंसे दोनों कपोल सजाये गये हैं, जिससे श्रमकी निवृत्ति हो गई है यों दीखता है. उनके साथ नृत्य करते समय यह रसानुभावक बन जाता है. स्वामिनी अपने सामर्थ्यसे क्रीड़ाको निवृत्त नहीं कर सकती यह सूचित होता है.

गोपीजनोंने जो इतना वैसा नृत्य किया है, वह भगवान् साथमें थे उनके प्रभावसे ही उनके तुल्य नृत्य कर सकी हैं, अर्थात् जैसे-जैसे भगवान् नृत्य करते हैं वैसे-वैसे वे भी नृत्य करती हैं।।१६।।

लेखः पहले समुदायनृत्य था और अब प्रत्येकनृत्य है. प्रत्येक गोपीके साथ एक भगवान्ने नृत्य किया यही इसकी समुदायनृत्यसे पृथकता है.

इस उपरोक्त प्रकारके विलासोंसे जो, रस प्रकट हुआ उसको विशेष अवस्थामें पहुंचानेकेलिए अर्थात् अत्यन्त बढानेकेलिए भगवान् कामशास्त्रमें कही हुई सब चेष्टाएं करने लगे जिसका वर्णन 'एवं परिष्वङ्ग' श्लोकमें करते हैं:

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ।।१७।।

जैसे बालक अपने प्रतिबिम्ब(परछाई)के साथ खेलता है वैसे लक्ष्मीके पति भगवान् आलिंगन, हस्तस्पर्श, स्नेहयुक्त कटाक्ष स्वतन्त्रविलास और हास्य आदि चेष्टाओंको करते हुए गोपीजनोंके साथ रमण करने लगे।।१७।।

कामशास्त्रमें रसको बढ़ानेकेलिये आलिंगन आदि क्रियाओंका निरूपण है, इसलिये प्रभुने प्रथम आलिंगन ही किया. पश्चात् श्रीहस्तसे उन-उन अवयवोंका स्पर्श किया. भावको उद्बुद्ध करनेवाले स्नेहयुक्त कटाक्ष किये. पुनः उद्दाम विलास अमर्यादित भोग किया. मनोरथ पूर्ण होने पर हास परिहासका क्रम है. आलिंगनसे ले कर हास पर्यन्तकी क्रिया सभीके साथ प्रत्येकतया की. प्राकृत स्त्रियोंके साथ रमण कैसे सम्भव है? उत्तर क्योंकि भगवान् रमाके पति हैं अतः सर्वत्र उन गोपिकाओंमें भगवान्की आज्ञाके अनुसार रमाने भी प्रवेश किया. अतः स्वरूपानन्दके रसकी पात्रता उनमें आ गई यह 'व्रजसुन्दरी' कह कर दिखलाया गया है. लक्ष्मी तो ब्रह्मानन्दका रूप है अतः भगवान् आत्माराम होने पर भी उससे रमण करते हैं जबकि इनमें तो ब्रह्मरूप न होनेके कारण आवेश भी अनुचित है, इसका उत्तर देते हैं 'यथार्भकः'से. बच्चे जल या काचमें अपने प्रतिबिंबको देख कर खेलते है ऐसें ही भगवान् भी उनमें अपना सामर्थ्य अथवा स्वरूप स्थापित करके, ब्रह्म और ब्रह्मानन्दको आविर्भूत करके रमण करने लगे. यदि कहो कि फिर भी यह है तो अनुचित ही तो उसका उत्तर भी 'यथार्भकः'से ही मिल जाता है. जैसे भगवान्ने बाललीला की वैसे ही यह लीला भी की. (अथवा गुंसाईजीके अनुसार प्रकार समान होते हुए भी यह रस लक्ष्मीके अनुभवमें नहीं आया किन्तु इन गोपिकाओंके अनुभवमें ही आया. यह 'रमेश' और 'व्रजसुन्दरीभिः' इन दो पदोंसे स्फुट होता है. रमाके तो भगवान् ईश-स्वामी या पति ही हैं जब कि ये तो व्रज-अन्योंसे विवाहित सुन्दरियां हैं, कमसे कम नन्दनन्दनसे तो विवाहित नहीं हैं. रमाके साथ रमणमें यह रस न तो रमा और न रमेश ही अनुभव कर सकते हैं क्योंकि रसस्वरूप ही ऐसा है. यदि कहो कि ईश्वरकेलिए इस स्तर पर आना उचित नहीं तो उसका उत्तर 'यथार्भकः'से दिया गया है. ''सम्मुष्णन् नवनीतमन्तिक मणिस्तम्भे स्वविबोद्गं दृष्ट्वा'' अर्थात् माखन चोरते हुए मणिमय खम्भेमें अपनी परछाई देख कर यहां मुग्ध लीलाका वर्णन पूर्णज्ञान स्वरूपसे विपरीत भी उपलब्ध होता है क्योंकि रस-बाललीलारसका स्वरूप ही ऐसा है.

इसी तरह ''रसो वै सः'' इस श्रुतिके अनुसार सभी कुछ रस मध्यपाती हो कर स्वरूपात्मक ही ठहरता है तो फिर अनुपपत्ति किस बातकी? शंका ही उदित नहीं हो सकती यह आशय है) इस तरह जैसे प्रभु अथवा प्रभुके भाव हैं वैसे ये और इनके भाव भी हैं यह सिद्ध होता है; प्रतिबिम्बका स्वभाव ही वैसा है. यहां बहुतोंके साथ रमण एक ही साथ किया हुआ है और दोके साथ भी. आगे चल कर प्रत्येकमें रमण पर्यवसित होगा।।१७।।

लेख: जैसाकि पहले कहा गया यहां नृत्य तो प्रत्येकके साथ ही है किन्तु रमण समुदायके साथ है. परन्तु आगे चलकर रमण भी प्रत्येकके साथ किया जाएगा, यह वर्णित होगा.

इस प्रकार गोपियां भगवान्के स्वरूपानन्द तथा धर्मोंके आवेशसे जब देहादिको भूल कर महारसमें लबालब हो गईं तब जो फल उनको मिला, जिसका वर्णन 'तदङ्गसङ्ग' श्लोकमें करते हैं:

तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिका वा ।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाः कुरुद्वह ।।१८।।

भगवान्से अंगसंग होनेके कारण बढे हुए मदसे व्याकुल इन्द्रियोंवाली, तथा जिनकी मालाएं एवं आभरण खसक गए हैं वैसी गोपियां अपने केश, वस्त्र तथा कंचुकियोंको अपने स्थान पर संभाल न सकीं।।१८।।

गोपियोंमें भगवान्के अंगसंगसे वह भाव जागृत हुआ जिससे गोपियां अपने देह आदिको भुल गईं. उससे ऐसी व्याकुल हुईं जो अपना कर्तव्य करना भी भूल गईं, जैसे केशपाश, शरीर पर पहने हुए वस्त्र और कंचुकिओंको खुद बराबर स्थान पर धारण करनेमें असमर्थ हो गई थीं.

फिर श्रीकृष्णके अल्प स्पर्शसे ही गोपियोंकी इन्द्रियां व्याकुल हो गईं जिससे उनमें विवेकशक्ति न रह सकी कारणकि वे व्रजकी स्त्रियां हैं. श्रमसे मालाएं तथा आभरण खिसक गये. इन्द्रियोंकी घबराहटसे लौकिक विचार भी नहीं किया. गोपियां थीं अतः परमार्थका विचार भी वे न कर सकीं तथा श्रमके कारण देहका ध्यान भी न रहा. वैसी स्थितिमें भगवान्ने ही उनके चोटी, वस्त्र तथा कंचुकियोंको यथास्थान धारण करा रखा था, गोपियोंने स्वयं नहीं. यद्यपि अन्योंको यही प्रतीत हो रहा था कि गोपियोंने ही धारण किये हैं वास्तविकतया भगवान्ने ही झेल लिये थे.

राजा परीक्षितको 'कुरुद्वह' सम्बोधन देनेका श्रीशुकदेवजीका आशय यह

है, कि हे परीक्षित् तू कुरुकुलमें श्रेष्ठ है अत मेरे कहनेमें कोई श्रम न करना मुझे विश्वास है कि तू योग्य है इसलिये यह लीला मुझे सुनाई है।।१८।।

इस प्रकार समुदायलीलाका निरूपण कर अब 'कृष्णविक्रीडितं' श्लोकमें कहते हैं कि इसका ज्ञान किसीको भी नहीं हुआ यों कहनेकेलिए देवस्त्रियोंके एवं चन्द्रमाके विस्मयका वर्णन करते हैं:

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः ।
कामार्दिताः शशांकश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ।।१९।।

श्रीकृष्णकी विशेष समुदायकी क्रीड़ा देख कर देवस्त्रियां कामातुर हो गईं और चन्द्रमा नक्षत्र मण्डल सहित विस्मित हो गया।।१९।।

किसीका भी पति परमानन्दरूप नहीं हो सकता. अब जो स्वयं आनन्दरहित हो वह आनन्दका दान क्या कर सकेगा? ''एष ह्येवानन्दयाति'' यहां श्रुतिमें 'एव' लगा कर परमानन्द परब्रह्मके सिवाय अन्य कोई आनन्द दे ही नहीं सकता यह सिद्ध किया गया. और वहां भी विशेषक्रीड़ाके द्वारा तो जीव आनन्द दे ही नहीं सकता क्योंकि वह ऐसी क्रीड़ा जानता ही नहीं है. नभोगामी देवताओंमें भी जो स्त्रियां थीं वे देख पाईं क्योंकि उन्हें सबकुछ देख पानेका भगवान्ने वरदान दिया. स्त्रियोंका इस लीलाको देख पाना दोषावह नहीं है. देख कर भी देवस्त्रियोंमें मोह उत्पन्न हुआ परिज्ञान अथवा रस नहीं. ''सोमः प्रथमः विविदे'' इस श्रुति वचनके अनुसार क्योंकि देह स्वयं सोमात्मक है अतः लौकिक चन्द्र भी देख पाया और साधारण स्त्रियां[1] फिर भी उसका लीला दर्शन उसीके हितमें नहीं होता यह दिखलानेकेलिये 'शशांकः' कहा. [2]उस चन्द्रमें कलंक भी है. [3]वह आनन्दमय भी है. [4]चन्द्र अपने गण नक्षत्रोंके सहित था, फिर भी उसका चित्त अन्योंमें नहीं लगा.[5]''च'का आशय है कि वह चन्द्र भी मोहित हो गया. जैसे ये मोहित हो गया. जैसे ये मोहित हो कर पुनः-पुनः दर्शन करनेके कारण अपने अन्दर कामको उद्बुद्ध कर बैठी अर्थात् हमें भी जाकर कामरूपतया क्रीड़ा करनी चाहिये यों सोचती हुई कामार्दित हो गई, वैसे ही चन्द्र भी हो गया. (अलौकिक चन्द्रने) भगवान्में निविष्ट होनेका यत्न किया अतः कामार्दित हुआ. इससे आगे चल कर 'निसर्गसे सुख होता है' इस पक्षकी उपपत्ति भी दिखला दी कि इसी चन्द्रके अंश वहांसे निःसृत होंगे. अन्यथा 'सहस्रवण'से आनन्दका प्रतिपादक 'सहस्र-दर्शनान्मुक्तिः'[6] इससूत्रका विरोध होगा क्योंकि (स्रवण ही न हो तो) सहस्रवण

कैसा? इसके अलावा यद्यपि चन्द्र अपनी पत्नियोंके सहित था तो भी केवल विस्मित हुआ न कि शृंगाररसमें प्रवृत्त हुआ और न अन्य किसी रसमें।।१९।।

१.यहां दो तरहके अनुवादकी सम्भावना है. ''लौकिक चन्द्र भी देख पाया''के सन्दर्भमें लें तो अर्थ होगा और ''साधारण स्त्रियां भी देख पायीं'' 'साधारण स्त्रियों'से तात्पर्य देवस्त्रियोंमें लेखकार वल्लभजी मानते हैं ''खेचर स्त्रियोपि दृष्टवत्य इत्यर्थः'' योजनाकार ब्रह्मवैवर्त पुराणके आधार पर रासमें भाग लिये बिना केवल दर्शनार्थ जो अन्य स्त्रियां रासमें आई थीं उनका देह सोमात्मक है न कि ये उन गोपिकाओंका जो रासमें भाग ले रही हैं, यह अर्थ करते हैं किन्हीं लोगोंका कहना है कि ये वृद्धायें हैं, किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि 'रजन्येषा घौररूपा' तथा 'मातरः पितरः पुत्राः' श्लोककी सुबोधिनीमें सुस्पष्टतया ''भवत्यो यदि बाला वृद्धा वा भवेयुः तदा स्थीयेतापि, भवत्यस्तु सुमध्यमाः'' तथा ''तरुणास्ते तरुण्यो वयमिति'' यहां वृद्धा होनेका निषेध मिलता है. यों ''साधारण स्त्रियां देख पाईं'' यह एक अर्थ तथा दूसरा अर्थ ''स्त्रियां साधारण हैं'' यह भी हो सकता है अर्थात् एक जगह 'दृष्टवत्यः'का अध्याहार है और दूसरी जगह 'भवन्ति'का, किन्तु दूसरेके अनुसार किसीने व्याख्या नहीं की है अतः अनुवाद अध्याहाररहित ही किया है(अनुवादक)

२.यह लौकिक चन्द्रमाके बारेमें है. ३.यह अलौकिक चन्द्रमाके बारेमें है.

४.यह लौकिक चन्द्रमाके बारेमें है. ५.यहां दोनों चन्द्र हैं.

६.मूलमें 'सहस्रदर्शन' पाठ है किन्तु वह असम्बद्ध प्रतीत होता है स्वयं सुबोधिनी एवं टिप्पणीजीके आधार पर. 'सहस्रवण' पाठका सुझाव भी नागरदास शास्त्रीजीका है और यही उचित भी प्रतीत होता है.

टिप्पणीजी: एक वाक्यमें शब्दतः प्रतिपादित जिन-जिन धर्मोंवाली वस्तुके समान जिस शब्दतः उक्त अथवा अनुक्त अथवा दोनों तरहकी वस्तुका समुच्चय हो तो उस या उन वस्तुओंमें भी उन सारे धर्मोंका होना आवश्यक है. अतः चन्द्रका भी कामार्दित होना मूलमें समुच्चयवाचक 'च'के आधार पर सिद्ध होता है. यों इस वाक्यमें नही कहे गये अकलंक अलौकिक चन्द्रका भी समुच्चय इसी 'च'के बल पर होगा यह सुबोधिनीमें, 'वह आनन्दमय भी है'से दिखलाया. इसके बाद लौकिक चन्द्रका निरूपण है. सुबोधिनीकी 'च' का आशय यह है कि ''वह चन्द्र भी मोहित हो गया''में लौकिक एवं अलौकिक दोनों चन्द्रोंका वर्णन है. ''भगवान्में निविष्ट होनेका यत्न किया''में अलौकिक चन्द्र है. यदि इसे अलौकिक न मानें तो इससे पहलेवाली पंक्ति ''इसी तरह चन्द्र भी कामार्दित हुआ''से जो कुछ कहना था कहा जा चुका अतः पुनः कहनेकी आवश्यकता नहीं थी. उक्त व्याख्यानके समर्थनकेलिये

सुबोधिनीमें ''आगे चल कर निसर्गसे सुख होता है'' इत्यादि ग्रन्थांश है. 'एवं परिपवंग' श्लोकमें रसशास्त्रोक्त रीतिसे रमणका वर्णन किया गया है अतः सहस्रवण आदि क्रियाएं भी प्राप्त ही हैं क्योंकि रमण इन्हीं सबरूपोंमें तो निष्पन्न होता है. परन्तु अखण्ड स्वरूप भगवान्में स्वबुद्ध्या किसी भी रूपका प्रतिपादन करना सहसा उचित नहीं और गोप्य होनेके कारण भी प्रकट नहीं कहा जा सकता अतः इस प्रकारका सहारा ले कर प्रतिपादन किया गया है. सोमकी रेतोरूपता श्रुति सिद्ध है अतः कुछ अंशोंके निःसरणसे कोई अनुपपत्ति नहीं आती. यहां यह शंका उठ सकती है कि स्वरूपको रसात्मक माननेसे ही सारी उपपन्न हो सकती थी तो फिर इस चन्द्र प्रवेशकी कल्पनासे क्या लाभ? इसका यह लाभ है कि यह चन्द्र रेतोरूप है और वह आध्यात्मिकरूप होनेसे स्वरूपान्तर्गत है अतः उसरूपसे प्रवेश आवश्यक है. लीलाका प्रयोजन प्रकार बोधन होनेसे वहीं रहने पर बोध नहीं हो पाता अन्यथा यह लीला दिनमें भी तो की जा सकती थी परन्तु प्रकार बोधनकेलिये रात्रिमें ही की।।१९।।

इस प्रकार स्वामिनियोंके देहोंमे स्थिति आधिभौतिक चन्द्रात्मक भावोंका तथा भगवद्भावरूप अलौकिक चन्द्रका भगवान्ने अपने उत्पन्न किए हुए कामरसमें प्रवेश कराया; यह बता कर अब साधन प्रकरणमें जो गोपियोंने कात्यायनीसे मांगा है कि 'हे देवि! नन्दगोपके पुत्र हमारे पति हों' जिसको सफल करनेकेलिए भगवान्ने वर दिया है उस वरको पूर्ण करनेकेलिए अब प्रत्येक गोपीसे रमण करते हैं जिसका वर्णन 'कृत्वा तावन्तं' श्लोकमें करते हैं:

कृत्वा तावन्तम् आत्मानं यावतीर्गोपयोषितः ।
रेमे स भगवांस्ताभिः आत्मारामोऽपि लीलया ।।२० ।।

जितनी गोपियां थीं भगवान्ने भी उतने स्वरूप प्रकट किए, वह भगवान् आत्माराम होते भी उनसे लीला करते हुए रमण करने लगे।।२०।।

गोप जातिकी जितनी स्त्रियां थीं उतने अपने स्वरूप, वहां-वहां मायाका पर्दा दूर कर प्रकट किये. यह महासौरत(बडा विशेष रमण) है स्वयं भगवान् हैं अतः आपमें यों करनेकी सामर्थ्य है. 'सः' वह कहनेका आशय यह है कि जिसने रमणका वरदान दिया था वही स्वरूप उस कार्यको करनेकेलिये आये हैं. यहां उनके व्रतके फलदानार्थ उनके साथ रमण करने लगे. अपनी आत्मारामता पहलेकी भांति नहीं रखी है इसलिये मूलश्लोकमें 'आत्मारामोऽपि' पद दिया है. भावार्थ यह है स्वयं आत्माराम हैं तो भी आत्माराम ही ने रमण नहीं किया, यह

रमण चन्द्रमाके प्रवेशसे रमण हुआ है. यद्यपि चन्द्रमाके प्रवेशसे रमण हुआ है, तो भी उस दशामें भी आत्मारामत्व ही है, अर्थात् आत्मारामत्वमें कोई कमी नहीं हुई है. ''अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिः'' अर्थ 'उसमें अधिक प्रवेश हुआ तो भी उसकी हानि नहीं हुई', इस न्यायानुसार आत्मारामें अधिक चन्द्रने प्रवेश किया तो भी आत्मारामत्वकी कोई हानि नहीं हुई, अतः वहां भी मुख्यतासे आत्मरमण ही है, इसलिये कहा है कि 'लीलया' लीलाकी तरह जैसे राजा महान् है किन्तु शिकाररूप खेलके समय पैदल चलते हैं सवारी साथ हो तो भी त्याग देते हैं. भगवान्ने जैसे अन्य अवतार लीलाएं की हैं वैसे यह भी की है।।२०।।

पश्चात् गोपियोंके रमणका अन्त हुआ जिसका वर्णन 'तासामति' श्लोकमें करते हैं:

तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः ।
प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना ।।२१ ।।

हे अंग! अतिविहार करनेसे जब वे गोपियां थक गईं, तब दयालु भगवान्ने अपने सुखकारी हस्तसे उनके मुख पोंछे।।२१।।

अतिविहारसे जो अनेक प्रकारके बन्ध करने पड़े जिससे(गोपियां) अत्यन्त श्रमित हो गईं अनन्तर आगे जो लीला करनी है उसकेलिये आपने उनके मुखोंको अपने हस्तसे पोंछा, क्योंकि वे कृष्ण हैं, उनकेलिये ही प्रकट हुए हैं. श्लोकमें 'श्रान्तानां' बहुवचन दे कर श्रीशुकदेवजीने यह बताया है कि सकल गोपियां थक गई थीं अतः सबोंके मुखोंको भगवान् पोंछते हैं कारणकि आप दयालु हैं. प्रभु केवल दयालु नहीं हैं किन्तु प्रेमभाववाले भी हैं अतः प्रेमपूर्वक अपने आनन्ददायी हस्तसे पोंछा जिससे यह दिखाया कि पोंछनेमें किसी प्रकारका भी क्लेश किसीको भी नहीं हुआ. अंग सम्बोधन दे कर यह बताया कि इसमें कुछ भी प्रतारणा(ठगी) नहीं है इस प्रकार उनका दुःख निवारण कर उनमें परमानन्द स्थापित किया।।२१।।

इस प्रकारकी लीलासे गोपीजन अति आनन्दित हो कर जो कुछ करने लगीं उसका वर्णन 'गोप्यः' श्लोकमें करते हैं:

गोप्यः स्फुरत्पुट–कुण्डल–कुन्तल–त्विङ्मण्ड–श्रिया सुधित–हास–निरीक्षणेन ।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि पुण्यानि तत्कररुह–स्पर्श–प्रमोदाः ।।२२ ।।

झलकते सोनेके कुण्डल व केशोंकी कान्तिसे कपोलोंकी शोभाके

कारण, तथा प्रभुके अमृत भरित हास्यपूर्वक निरीक्षणसे गोपियोंने मान धारण किया और प्यारेके नखस्पर्शसे आनन्दको प्राप्त कर भगवान्‌के किए हुए पुण्यकर्मोंको गाने लगीं।।२२।।

गोपियां मान धारण करती हुईं भगवान्‌के कर्मोंका गान करने लगीं. गान करनेका कारण यह था कि उस समय उनमें रजोगुणने प्रवेश किया था. श्रीशुकदेवजी रजोगुणके प्रवेशके दो कारण बताते हैं, एक सहज(अपने स्वभावके कारण) और दूसरा भगवत्कृत(भगवान्‌के कर्मसे उत्पन्न) उनमें प्रथम सहजका वर्णन करते है. अग्निमें तपा कर शुद्ध किये हुए चमकीले सुवर्णके दो कुण्डल, केश और उनके प्रकाशवाली जो कपोलोंकी त्रिविध[१] शोभा है वह रजोगुणके मूलभूत स्वरूपके कार्यका रूप है, उससे इनकी योग्यता सर्वसे उत्कृष्ट है.

१.तीन प्रकारकी–१.उज्वल, २.पीत और ३.उज्वल तथा नील.

गोपियोंने जो अमृतके समान, भगवान्‌के हास्यपूर्वक निरीक्षणका पान किया, जिससे यहां भी अन्तःस्थित प्रेम, निरीक्षण और हास यों तीनों प्राप्त हुए. ये तीन भगवत्कृत हैं, अतः इन दोनों हेतुओंसे सन्मान अथवा अभिमानके कारण अपने हृदयमें जो विपरीत बुद्धि हुई और जिससे जो दोष उत्पन्न हुए उनको मिटानेकेलिये उन(भगवान्‌)के किये हुए कर्मों(गुण–लीला)को गाने लगीं. भगवान्‌के कर्म केवल दोषों(पाप)को मिटानेवाले नहीं हैं किन्तु पुण्यरूप भी हैं अर्थात् पुण्यप्रद भी हैं, इसलिये श्लोकमें 'पुण्यानि' विशेषण दिया है. तात्पर्य यह है कि भगवान्‌से जो कर्म अर्थात् लीलाएं की हैं वे पापोंको मिटानेवाली और पुण्यजनक हैं अतः उन(गोपियों)में दोषका अभाव है और आगेकी लीलासे पुण्य सञ्चित(इकट्ठे) होंगे. श्रीशुकदेवजी अन्तमें 'कररुहस्पर्शप्रमोदाः' पदसे सूचित करते हैं कि गोपीजनोंने पूर्व क्लेशको भुला दिया जिसके दो कारण हैं १.नखोंके स्पर्शसे पीड़ा होते ही सम्भोगका स्मरण हो आया जिससे प्रमुदित(आनन्दसे युक्त) हो गईं और २.दूसरा भगवान्‌के गुणोंके गानसे अन्तःकरण आनन्दसे पूर्ण हो गया जिससे और भी विशेष आनन्दित होने लगीं।।२२।।

प्रभुने लीला कर गोपियोंको रससे परिपुष्ट करते हुए अपने समान निर्दोष पूर्णगुण तथा आनन्दरूप बनाया पश्चात् अपने समान उनसे आप जलक्रीडा करने लगे, जिसका वर्णन 'ताभिर्युतः' श्लोकमें करते हैं:

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्गघृष्टस्रुजः स्वकुच–कुङ्कुम–रञ्जितायाः।

गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः।।२३।।

जैसे कोई श्रमित हस्तिराज सेतुओंको तोड़ कर हथिनियोंके साथ श्रमको मिटानेकेलिए जलमें प्रवेश करता है, वैसे उन सर्व गोपीजनोंके साथ श्रमको दूर करनेकेलिए, अंगसंगसे मर्दन की हुई मालावाले तथा जिनके पीछे गन्धर्वोत्तमरूप भ्रमर जा रहे हैं वैसे श्रान्त प्रभुने गोपियोंके कुच कुंकुमसे रञ्जित(रंगे हुए) हुए श्रीयमुनाजीके जलमें प्रवेश किया।।२३।।

भगवान्ने उन सर्व गोपियोंको साथमें ले कर अर्ध रात्रिके[१] समय जलक्रीड़ा करनेकेलिये श्रीयमुनाजीके जलमें प्रवेश किया, कारणकि भगवान्की इच्छा थी कि गोपियोंके सकल अंगोंके श्रमको मिटाऊं. वह कार्य जलक्रीड़ासे हो सकता है, अतः जलमें प्रवेश किया. जिस समय भगवान् गोपियोंके साथ जलमें प्रवेश करनेकेलिये पधार रहे थे उस समयकी शोभाका वर्णन करते हुए कहते हैं कि, एक तो भगवान्की माला गोपियोंके कुच कुंकुमसे रंगी हुई थी जिससे भगवान् विशेष सुशोभित हो रहे थे और दूसरा उस मालाकी सुगन्धि पान करनेकेलिये आये हुए श्रेष्ठ गन्धर्वोंके समान भ्रमर गान करते हुए भगवान्के पीछे जल्दी-जल्दी चल रहे थे जिससे भी शोभा बढ़ रही थी. इस प्रकारकी शोभाके साथ भगवान्ने शीघ्र ही जलमें प्रवेश किया, जलमें शीघ्र अर्द्ध रात्रिके समय ही प्रवेश करनेका कारण बताते हैं कि सम्भोग करनेमें जो श्रमोदक(श्रमसे पसीना) होता है उसमें पद्मिनीरूप नायिकाओंका कमलरूप गन्ध रहता है वह गन्ध प्रातःकाल तक नहीं रहना चाहिये अतः रात्रिको ही जलमें प्रवेश कर उस स्वेदको मिटा दिया जिससे दिनको वह गन्ध न रहा.

१.रमणके दो प्रकार हैं: १-स्थल रमण, २-जल रमण, स्थल रमण, राणिके पूर्वार्धमें हो गया. श्रमनिवृत्तिकेलिए जल रमण उत्तरार्धमें प्रारम्भ हुआ.

अथवा कालिन्दी गोपियोंके कुच कुंकुमसे रञ्जित हो गई थी, वह कुंकुम भगवान्की मालाके संगसे तीन प्रकारकी सुगन्धिवाला हो गया था, १.भगवान्के श्रीअंगकी गन्ध, २.पुष्पोंकी गन्ध और ३.कुंकुमकी गन्ध, जिसमें भी विशेषता यह है कि माला भगवान्की है जिससे उसमें असाधारणत्व है ही.

श्रीशुकदेवजीने भ्रमरोंको गन्धर्वश्रेष्ठ कहा जिसका कारण यह है कि ये भ्रमर आधिभौतिक साधारण भ्रमर नहीं है, किन्तु आधिदैविक है अतः भगवान्के मालाकी गन्ध लेने तथा अन्तरंगलीलाके दर्शनके अधिकारी हैं.

भगवान् जब इस प्रकारकी उच्छृंखललीला करते हैं उस समय किसी प्रकारकी भी मर्यादाका ध्यान नहीं रखते हैं, यह बतानेकेलिये श्रीशुकदेवजीने 'श्रान्तः इभराड्'का दृष्टान्त दिया है, जैसे श्रान्त गजराज हथनियोंको ले कर जलरक्षार्थ बनाई हुई सेतुओंको तोड़ कर श्रमनिवारणार्थ जलमें प्रवेश करता है, वैसे भगवान् भी अपनी ब्रह्मस्वरूप आत्माराम स्वरूप मर्यादा तथा जीवोंकी लौकिकमर्यादा तोड़कर, कामरूपको स्पर्श करते हैं जिससे परदाराभिमर्षण अमर्यादित क्रिया करते हैं. पहले(पूर्व अध्यायमें) तो गोपियोंने ही भगवान्को स्पर्श किया था, किन्तु इस स्वतन्त्रलीलामें भगवान्ने गोपियोंका स्पर्श किया है, कामका अभाव होनेसे देश और कालकी मर्यादा भी तोड़ी है अतः श्रेष्ठ हस्तीके समान जलक्रीड़ाकेलिये जलके देवताको दूर कर स्वयं जलमें प्रवेश किया।।२३।।

पहले पूर्व अध्यायमें भगवान्में कामका अभाव था इसलिये गोपियोंने भगवान्का स्पर्श किया, अब भगवान्ने अपनेमें काम उत्पन्न किया अतः भगवान्ने गोपियोंका स्पर्श किया है.

इस अध्यायमें की हुई उच्छृंखललीलामें भगवान्ने सर्व प्रकारकी मर्यादा तोड़ी है जैसे १.ब्रह्मस्वरूप मर्यादा. २.जीव मर्यादा, ३.देश मर्यादा और ४.लोक(काल?) मर्यादा जिसका स्पष्टीकरण लालूभट्टजीने योजनामें इस प्रकार किया है १.ब्रह्म स्वरूपमें किसी प्रकारका विकार(फेरफार) नहीं होता है उस आत्माराम स्वरूपमें शृंगार रसात्मक अनेक भाव विकार उत्पन्न कर ब्रह्ममर्यादा तोड़ी है, और जब रस पूर्ण पुष्ट न हुआ तब तक भगवान्ने व्रजस्त्रियोंको अपनेसे पृथक् ही माना उनसे क्रीड़ा नही की आत्मारामत्वमें ही स्थित थे, जब फिर शृंगाररस अतीव पुष्ट हुआ तब गोपियोंमेंसे ज्ञानांशकी निवृत्ति हुई और आनन्दांश प्रकट हो कर आत्मत्वकी स्फूर्ति न होनेसे केवल नायिकाभाव जगा, इस प्रकार आत्मारामत्व मर्यादा तोड़ दी २.जीव मर्यादा, जीवमें दासत्व धर्म रहता है वह भी यहां न रहने दिया, ३.देशमर्यादा–देशका अर्थ यहां स्वामिनियोंके अवयव हैं रस शास्त्रानुसार अवयवोंके स्पर्शका जो नियम है उनको तोड़ स्वच्छन्दतासे स्पर्श करने लगे. ४.कालमर्यादा–रसशास्त्रमें लिखा है कि इस प्रहरमें इस नायिकाको उस प्रकार प्रसन्न करना यह भी नहीं किया, स्वच्छन्दतासे इच्छानुसार कालमें क्रियाकी जिससे काल मर्यादा भी तोड़ दी.

जलमें प्रवेश कर 'जलक्रीड़ा' करने लगे जिसका वर्णन 'सोऽम्भस्यलं'

श्लोकमें करते हैं:

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ।।२४।।

हे अंग! बहुत हास्य करती तरुण व्रजांगनाएं जलमें स्थित हो चारोंतरफ जल उछाल-उछाल कर भगवान्का अभिषेक करने लगीं, तथा हास करती हुई प्रेमसे प्रभुका ईक्षण करने लगीं, उस समय विमानोंमे बैठे हुए देवगण पुष्पोंकी वर्षाके साथ आपकी स्तुति करने लगे, वैसे अपनेमें ही रतिवाले आत्माराम भगवान्ने, गजेन्द्रकी लीलाका स्वीकार कर जल रमण किया।।२४।।

जिसका प्रथम वर्णन किया है वे भगवान् स्त्रियों सहित जब जलमें विराजमान थे तब तरुण व्रजांगनाओंने आपका जलसे अच्छी तरह अभिषेक किया अर्थात् खूब जल उछाल-उछाल कर आपको भिगो दिया. अनन्तर प्रेमसे देखने लगीं और हंसती हुई विनोदयुक्त हो गईं. जब युवतियां जल छिड़क रही थीं उस समय जो युवती सामने मिलती थी उससे ही रमण करते थे, इस प्रकार सबके साथ रमण किया.

इस लीलाका वर्णन जैसे श्रीशुकदेवजी, माहात्म्यज्ञान पूर्वक अत्यन्त स्नेह तथा शुद्धभावसे करते हैं वैसे राजा भी स्नेह एवं शुद्धभावसे सुन रहा है यह जानकर, श्रीशुकदेवजी अपने समान लीला सुननेके योग्य समझ कर राजाको 'अंग' सम्बोधन दिया है. इस सम्बोधनसे बता दिया कि इसलिये ही तुझे यह लीला कह रहा हूं.

वैसी लीला करनेकेलिये देवोंने भगवान्को क्यों नहीं रोका? इसके उत्तरमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि देवगण तो विमानमें बैठ कर पुष्प वृष्टिके साथ स्तुति कर इस कार्यका अभिनन्दन करते हैं, वे रोकेंगे कैसे? यदि देव उनको निषेध करें और भगवान् यह लीला न करें तो जगत्में काम रसकी प्रसिद्धि कैसे हो?

'युवती' शब्द दे कर बताया कि युवावस्थामें किसी प्रकारका विचार नहीं रहता है, इसलिये भगवान् पर खूब उछाल-उछाल जल सिञ्चन किया, जल अभिषेक करनेसे भगवान्में वीररस प्रकट न हो जावे, तदर्थ भगवान्को प्रेमदृष्टिसे देखने लगीं. श्लोकमें 'स्वयं' और 'स्वरतिः' शब्द दिये हैं, उनका तात्पर्य है कि भगवान्ने अपनी इच्छासे बलात्कारसे भी रमण किया तो भी भगवान्की 'रति'(वीर्य) स्वयंमें ही रुकी हुई थी परन्तु गजेन्द्रकी लीला स्वीकारी है और इससे

ज्यों-ज्यों जलका सिञ्चन होता है त्यों-त्यों रसकी वृद्धि होती है और जिससे महासौरत भी सिद्ध हुआ।।२४।।

पश्चात् भगवान्ने श्रीयमुनाजीके उपवनमें पुष्पोंको चुनते हुए फिरनेकी क्रीड़ा की, जिसका वर्णन ''ततश्च कृष्णोपवने'' श्लोकमें करते हैं:

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः ।।२५।।

पश्चात्, जैसे जिसका मदजल झर रहा है वैसा गजराज अपनी हथिनियोंके साथ वनमें क्रीड़ा करता हुआ घूमता है, वैसे भगवान् भी जल तथा स्थलके पुष्पोंकी सुगन्धितवाले वायुसे सेवित श्रीयमुनाजीके उपवनकी सर्व दिशाओंमें चारोंतरफ फिर रहे हैं उस समय भगवान् चारोंतरफ भ्रमर तथा व्रजयुवतियोंके यूथसे घिरे हुए थे।।२५।।

जलक्रीड़ा सम्पूर्ण कर लेनेके पश्चात् यमुनाके जिस वनकी सब दिशाएं जल तथा स्थलके पुष्पोंकी सुगन्धिवाले वायुसे सेवित हो रही हैं, उस वनमें भ्रमर तथा व्रजयुवतियोंके साथ घिरे हुए, भगवान् फिरने लगे. जब जलक्रीड़ा करनेसे सुगन्धवाले पदार्थ कुंकुम तथा पुष्प मालाएं धुल गये, तब भ्रमर पुनः भगवान्के पास क्यों आने लगे? इस शंकाको मिटानेकेलिये दृष्टान्त देते हैं कि जैसे मदका झरण करनेवाले हाथीके पीछे भ्रमर तथा हस्तिनियां फिरती हैं, वैसे भगवान्के अन्तःकरणमें स्थित स्वाभाविक रस भी झरने लगा, जिससे ही भ्रमर पुनः भगवान्की तरफ दौड़ने लगे. 'चचार' पद जो श्लोकमें आया है उसका भावार्थ है कि भगवान्ने सर्व स्थलों पर अनेक प्रकारकी लीलाएं की हैं.

जैसे गजराज कहीं लताओंको तोड़ता है, और कहीं वृक्षकी शाखाओंको भंग करता है वैसे भगवान्ने भी मर्यादामार्ग तथा लौकिकमार्गको तोड़ डाला, यह जो तीन प्रकारकी लीला की वह अलौकिक प्रकारसे की है अर्थात् जिसमें मर्यादा तथा लोकका विचार ही नहीं किया गया है, सारांश कि उच्छृंखलतासे यह लीला की है।।२५।।

इस प्रकार लीलाका वर्णन कर अब 'एवं शशांकांशु' श्लोकमें उस विषयकी समाप्ति करते हैं:

एवं शशांकांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव आत्मन्युपरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथा रसाश्रयाः ।।२६।।

सत्यकाम गोपियोंके साथी, अबलागणोंसे अनुरक्त भगवान्ने, अपनेमें सौरतको रोककर, लौकिक चन्द्रमाके किरणोंसे सुशोभित रात्रियोंका, जो रात्रि रसके आश्रयवाली हैं तथा जो शरद् काव्यमें कही हुई कथाओंको वर्णन करती हैं, उनका सेवन किया।।२६।।

लौकिक चन्द्रमाकी किरणोंसे शोभित हो रही रात्रिमें भगवान्ने इस तरह विहार किया. लीलाका जो प्रकार पहले कहा गया वह 'सर्वदा लीलारूप' है. इस प्रकारमें कुछ भी और किसीसे भी विरोध नहीं रहता. इस तरहके रमणमें हेतु क्या है? इसका उत्तर 'स सत्यकाम'से दिया गया है. जिन गोपियोंका काम सत्य है ऐसी सत्यकामा गोपिकाओंके सहित होनेसे भगवान् 'ससत्यकाम' हुए. अथवा 'सत्यकाम' भगवान्का विशेषण मानें तो 'स'का तात्पर्य होगा ''वह भगवान् जिनसे रमणकी प्रार्थना की गई थी''. यों भी काम तो क्रीड़ामें सत्य ही ठहरता है, क्योंकि न तो वह क्षीण होता है और न असद्विषयक. इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण अबलागण भगवान्में अनुरत है. (१)जो सर्वथा रत है, (२)जिनका भगवान्से नित्य सम्बन्ध है, (३)जो स्वविवाहित हैं, उनके बारेमें तो अनुरत होनेमें शंकाका स्थान ही नहीं और न जो, (४)सर्वथा प्रपन्न हैं उनके बारेमें. आगे चल कर जो मर्यादाभंग हैं वह तो प्रत्युत रसके पोषणकेलिये(अतः कामको असद्-विषयक नहीं माना जा सकता) जैसाकि ''शास्त्रोंका क्षेत्र वहीं तक है जहां तक पुरुषोंमें रस मन्द रहता है, एक बार रतिचक्रके चल पड़ने पर तो, न शास्त्र और न क्रम किसीका कुछ भी विषय या क्षेत्र रह जाता है''में यही दिखलाया गया है. फिर भी उनमें सत्य ही काम स्थापित किया, जिसका पर्यवसान मोक्षमें होगा. इस कामसे उन्हें भगवान्की प्राप्ति निश्चित हो जायेगी. इस तरह निशाका सेवन किया. इसके बाद अपने आपमें ही सौरतको प्रभुने उपरुद्ध कर लिया. उनमें रतिकी स्थापना नहीं की अन्यथा पुत्रोत्पत्ति इनमें होती. सम्पूर्ण निशा इस तरह बिताई कि शरद् भी बीत गई और काव्यकथा भी! काव्योक्त प्रकारोंसे भी रति की जैसाकि गीत गोविन्दमें वर्णन मिलता है. इस सबमें हेतु है 'रसाश्रयाः'. कामरस इन्हींमें प्रसिद्ध है. जब तक पुरुष गौण नहीं बनता तब तक रसिक भी नहीं बन पाता. शरद्के वर्णनमें जो काव्य हैं, उनमें जो कथा हैं, उन कथाओंकी रसाश्रय ये रात्रिएं लोकमें प्रसिद्ध नहीं किन्तु काव्यमें प्रसिद्ध हैं. इन रात्रियोंमें नियतिके नियमोंका बन्धन नहीं, ये रात्रियां ह्लादैकमयी हैं, ये रात्रियां अनन्याधीन हैं और

भी सारे गुण इन्हीं रात्रियोंमें हैं! ऐसी भगवान्के लीलाओंकी रात्रियां थीं, यह अर्थ है।।२६।।

लेख: पहले एक रात्रिमें रमण कहा, अब इस श्लोकमें सभी रात्रियोंमें रमणका अतिदेश करते हैं. अर्थात् लौकिक रात्रिमें अलौकिक रात्रिके स्थापनके प्रकारसे सभी रात्रियोंमें भगवान्ने रमण–कामलीला किया. नृत्यसे अन्तर्भावको उद्बुद्ध करनेका जो प्रकार है उसे 'आन्तर रमण' कहते हैं. जो भाव जिसमें वहां स्थापित किया गया वह गोपिका उस भावका सर्वदा अनुभव करती रहेगी. अतएव ज्ञानात्मक ताम्बूलवाली गोपीका सभीको उपदेश देना, भगवान्की असन्निधिमें, यह कार्य वहां दिखलाया है. इस लीलामें गृहगमन या अन्य किसी भी क्रियाका विरोध उपस्थित नहीं होता (क्योंकि अनुभव बाह्य नहीं किन्तु आन्तर है, बाह्य लीलानुभवके साथ गृहगमन संभव नहीं परन्तु आन्तरमें सम्भव है) अतएव 'स्त्रीषुरेमे ह्यहर्निशं' कहा. यह आन्तर लीलानुभव दिनमें भी संभव है अतः अलौकिक रात्रिकी अपेक्षा नहीं है. इस कामलीलामें हेतु है 'स सत्यकाम'. कुमारिकओंने तो 'पति मे कुरु'में अपनी अभिलाषा व्यक्त की ही है. श्रुतिरूपाओंकी भी 'कामिनीभावमासाध' यही अभिलाषा प्रकट होती है अन्तर्गृहगताओंका काम तो स्पष्ट ही है. परन्तु तीनोंके कामभाव सत्य हैं अतः पूर्ण करनेकेलिए इस तरह रमण किया. 'सत्यकामा'के पहले अर्थमें गोपिकाएं आती हैं और दूसरे अर्थमें भगवान्. सत्यकाम चाहे दोनोंमेंसे कोई भी हो, काम तो सर्वथा सत्य ही है. लोकदृष्टिमें परदारा होनेके कारण भी कामकी असद् विषयता नहीं मानी जा सकती क्योंकि वे सभी भगवान्में अनुरत थीं. श्रुतिरूपाका अनुरत होना तो प्रमाणका प्रमेयमें अनुरत होनेसे स्पष्ट ही है, प्रमेयको छोड कर प्रमाण अन्यत्र नहीं जा सकता. कुमारिकाओंके व्रतका तो फल ही रमण है(और वे परदारा भी नहीं). यद्यपि भगवान्से उनका विवाह लोक प्रसिद्ध नहीं फिर भी 'पतिं मे कुरु'की प्रार्थना एवं वरदानके आधार पर उनको भगवान्से विवाह मानना चाहिये, चाहे वह विवाह लोक समक्ष न हुआ हो. कुल मिला कर इनके साथ तो रमण दोषावह हो ही नहीं सकता.(अन्तर्गृहगता तो लौकिक देह प्रयुक्त पति–पत्नी सम्बन्धको छोड कर भगवान्से जा मिलीं सो वहां भी असद् विषयता नहीं मानी जा सकती, लोकदृष्टिसे). यह तो प्रत्येकके बारेमें विशेष हेतु है, वैसे भी(''संत्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलं प्राप्ताः'')के अनुसार ये तीनों ही सर्वथा प्रपन्न हैं अतः इस दृष्टिसे भी विचारने पर असद् विषयता नहीं आती. जहां तक अमर्यादित रमणका प्रश्न है तो उसकी उपपत्ति मूलमें ही दे दी है.

प्रकाश: १.कुमारिका हैं २.श्रुतिरूपा एवं अन्तर्गृहगता हैं ३.द्वारका लीलावाली हैं एवं

४.गोपगृह सम्बन्धिनी अन्य स्त्रियां हैं. कुमारिकाओंका सर्वथा अनुरत होना स्पष्ट ही है तथा श्रुतिरूपा एवं अन्तर्गृहगताओंका भी प्रमाण प्रमेयकी सहज अनुरति, नित्य अनुरति; एवं अपनेमें आ जानेसे, नित्य सम्बन्धके कारण स्पष्ट ही है.

योजना: यहां मोक्षका अर्थ नित्यलीला प्रवेश है. ब्रह्मसूत्र भाष्यके तृतीयाध्यायमें पुष्टिमार्गीयोंकी मुक्ति नित्यलीला प्रवेश है यह दिखलाया गया है.

यह लीला सुनकर राजाको सन्देह हुआ उसके निवारण केलिए शुकदेवजी प्रथम उन शंकाओंका वर्णन तीन श्लोकोमें करते हैं:

राजोवाच

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।

अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ।।२७।।

धर्मकी स्थापना करनेकेलिए तथा अधर्मका नाश करनेकेलिए जगत्के ईश्वर भगवान् बलदेवजीके साथ प्रकट हुए हैं।।२७।।

भगवान्ने जो यह लीला की है वह अवतारके विरुद्ध, लोक और वेदसे विरुद्ध, तथा प्रमेयके भी विरुद्ध है अतः इस प्रकारकी लीला करनेका अवश्य कोई हेतु होना चाहिये वह हेतु कृपा कर कहिये. इस प्रकार यदि लीला न कर दूसरे प्रकार करते तो भी भगवान्की लीला सिद्ध हो सकती थी. अब प्रथम यह लीला अवतार विरुद्ध क्यों है वह बताते हैं कि 'धर्म संस्थापनाय' इस वाक्यसे भगवान्ने अवतार धर्मकी स्थापनाकेलिये धारण किया है.

दैत्य आदिका वध कर भूमिका भार उतारना जिससे अधर्मकी निवृत्ति हो, इन दोनों कार्योंके वास्ते भगवान्का अवतार है. श्लोकमें 'हि' शब्द दे कर यह बताया है कि इनके सिवाय दूसरे कार्यकेलिये भगवान्का अवतार नहीं है. उन दोनोंके साधन परमेश्वरके 'भग' हैं भगमें धर्म भी आ जाता है, इसीलिये यहां भगवान् भी कहा है, यदि धर्मरक्षा और अधर्मनाशका कार्य न हो, तो भगवान् जो कि पूर्णकाम हैं उनको अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता है. इन दोनोंकार्योंके सिद्ध हो जानेसे लीलोपकार[१] भी होता है.

१.अधर्मके नाश, धर्मकी स्थापनासे, लोक, धर्म ज्ञान प्राप्त कर उस पर आचरण करनेसे, मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं, अतः लोकोपकार भी हुआ.

आप जगदीश्वर हैं अतः जगत्की रक्षा करनेकेलिये अपने साथ बलभद्रजीको भी लाये हैं क्योंकि वह ही सर्वकी रक्षा करनेवाला है अर्थात् बलभद्र

स्वरूपसे रक्षा कार्य करते हैं अतः उनको भी ले आये हैं. जगत्की पालना करनेकेलिये यों किया है।।२७।।

आप बलदेवजीको भी जगत् पालनार्थ ले आए उससे क्या हुआ? इस शंका पर परीक्षित इस 'स कथं' श्लोकमें कहता है:

स कथं धर्मसेतूनां कर्ता वक्ताभिरक्षिता ।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ।।२८।।

हे ब्रह्मन्! धर्मकी मर्यादाओंके कर्ता, वक्ता और रक्षा करनेवाले उन भगवान्ने परस्त्रीसे संग करने जैसा अधर्मरूप कार्य कैसे किया?।।२८।।

धर्मकी मर्यादाके रक्षक मनुआदिकोंका कर्ता तथा स्वयं वक्ता, एवं जब भी जहां भी धर्मका नाश होवे वहां प्रकट हो सर्व प्रकार रक्षा करनेवाले, वैसे भगवान्ने यह विपरीत कार्य कैसे किया? धर्मका नाश एवं अधर्मकी स्थापना. अधर्म किया, कहा और उसकी रक्षा की. अतः जो यह उल्टा कार्य किया है वह अयोग्य है. ऐसे विपरीत कार्य करनेका क्या कारण है, वह कहिये, क्योंकि आप इस तत्त्वको जाननेवाले हैं. इसी आशयको प्रकट करनेकेलिये परीक्षितने श्रीशुकदेवजीको 'ब्रह्मन्' सम्बोधन दिया है. परीक्षित्ने जो पांच पदार्थ कहे उन पांचोंका समावेश एकमें ही दिखाते हैं कि 'परदाराभिमर्शनम्' पर स्त्रीसंग एक ही ऐसा है जिसमें वे उपरोक्त पांच आ जाते हैं।।२८।।

यदि कोई इसका उत्तर यह दे-दे कि भगवान्ने यह लीला कामसे की है तो यह उत्तर भी ठीक नही है क्योंकि भगवान् तो पूर्णकाम हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोकमें करते है:

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् ।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ।।२९।।

हे सुव्रत(श्रेष्ठ आचरणवाले)! मुझे यह बताइए कि पूर्णकाम यदुपतिने वैसा निन्दनीय कार्य किस अभिप्रायसे किया? मेरे इस संशयको निवृत कीजिए।।२९।।

जिसने स्वतः ही सर्व कामनाएं पूर्ण की है जिससे आप आप्तकाम हैं. तथा यादवोंके पति होनेसे भी यदि कामनाएं हो तो अनेक स्त्रियां विवाहार्थ उनको मिल सकती हैं वैसा होके भी लोकमें निन्दित कार्य किया, उस निन्दित कार्य करनेमें भगवान्का क्या अभिप्राय था? धर्म तथा अधर्म परस्पर विरुद्ध अर्थवाले हैं

अतः दोनोंका ग्रहण बन नहीं सकता है, जो परस्पर विरुद्ध कार्य हैं उनकी आपसमें एकता नहीं हो सकती है. यदि कहो कि भगवान् परस्पर विरुद्ध सर्वधर्मोंका आश्रय हैं अर्थात् परस्पर विरुद्धधर्म आपमें रहते हैं इसलिये यह शंका व्यर्थ है तो भी उसका प्रयोजन कहिये. यह कर्म लोकका हित कर नहीं है और न आपका हित करनेवाला है क्योंकि आप पूर्णकाम हैं और लोगोंकी हित करनेवाली मर्यादा ही है. वैसे गोपियोंका हित भी मर्यादा पालनमें है. जो ईश्वर है तथा अन्तर्यामी भी हैं उसकेलिये कुछ भी असाध्य नहीं है अर्थात् वह सब कुछ स्वयं सिद्ध कर सकते हैं वैसी अवस्थामें इस कार्य करनेका आशय क्या है? किसी प्रयोजनकेलिये वैसा निन्दित कार्य किया? इस हमारे तथा सर्वका संशय नष्ट करिये और विशेष यह भी है कि आप सदाचार जिस व्रतके लक्षण हैं वैसे व्रतधारी हैं, अतः यदि यह कार्य असंगत(अयोग्य) होता तो आप कहते नहीं, यदि अधर्म होता तो भी आपकी इसके कहनेमें रुचि नहीं होती, लेकिन देखनेमें तो विपरीत आता है तो भी आपने उसका कथन किया है इसलिये इसमें कोई रहस्य अवश्य है अतः आप निर्णय कर बताइये तो क्या है?।।२९।।

यह कार्य अवतार विरुद्ध है, जिसका उत्तर 'धर्मव्यतिक्रमो'में देते हैं:

श्रीशुक उवाच

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ।।३०।।

ऐश्वर्य धर्म धारण करनेवाले जो समर्थ ईश्वर हैं उनमें धर्मका उल्लंघन तथा साहसके कार्य करना देखा गया है वैसे तेजस्वियोंमें वैसे अधर्म आदि कार्य दोष उत्पन्न नहीं करते हैं जैसे अग्नि सर्वका भोग करती है तो भी अग्नि पवित्र निर्दोष ही रहती है।।३०।।

तुम्हारे कहनेका यह तात्पर्य है कि इस प्रकारके चरित्र ईश्वरोंके नहीं होने चाहिये. अथवा एक कार्यकेलिये जो आता है वह दूसरा कार्य कैसे करता है वह भी न करना चाहिये. आपकी इस शंकाका उत्तर यह है कि, वैसा कोई नियम नहीं है कि कोई एक कार्यकेलिये आये दूसरेका नाश न करे. दूसरे कार्यकेलिये आया हुआ भी अपना धर्म नहीं छोड़ता है, जैसे दीपक दूसरे कार्यकेलिये अर्थात् प्रकाश करनेकेलिये आता है किन्तु अपने दाहके कार्यरूप स्वरूपका त्याग नहीं करता है यदि कोई वस्तु गृह आदि स्वयं उसका स्पर्श करता है तो उसको जलाता ही है.

इस प्रकार यद्यपि भगवान् धर्मकी मर्यादा रखनेकेलिये प्रकटे हैं तो भी जो प्रेमसे आपका स्पर्श करता है अर्थात् आपका प्रेमपूर्वक भजन करता है तो उसमें भजनानन्द सिद्ध कर उसके लौकिक स्वरूपको नष्ट कर देते हैं क्योंकि यह ईश्वर धर्म है, यदि यों नहीं करे तो ईश्वर[१] ही न रहे.

१.भगवान्का प्राकट्य मनुष्योंके कल्याण(मोक्ष)केलिये है, अतः भगवान्ने इस लीला द्वारा गोपियोंको वह आनन्द दिया है जो ज्ञानमार्गीय मोक्षसे भी विशेष है इसलिये इसमें कुछ भी अयोग्य वा अधर्म नहीं है किन्तु ईश्वरका प्रकाश है.

व्यापारियोंके समान प्रभुका सर्वकर्मोंमें कोई नियम नहीं है. धर्मका उल्लंघन और साहस इत्यादि ईश्वरके धर्म हैं. धर्मका उल्लंघन अर्थात् जो विद्यमान नियम हैं उनका उल्लंघन करना और साहस, अर्थात् जो विद्यमान नहीं है, उनको कर दिखाना, ये दोनों कार्य ईश्वरमें देखे जाते हैं, जो कार्य आंखोंसे देखा गया है उसमें किसी प्रकारकी सम्भावना नहीं है. श्लोकमें 'च' देनेका आशय है कि ईश्वरके सेवक तथा पराक्रमवालोंमें भी इस प्रकार 'धर्म व्यतिक्रम' और 'साहस' देखा जाता है. जो जल्दीमें बिना विचारके किया जाता है उसको साहस कहा जाता है, यदि यों है तो उनको वैसे कर्मोंका फल क्यों नहीं मिलता है? इस शंकाके निवारणकेलिये शुकदेवजी श्लोकके उत्तरार्द्धमें ''तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्व भुजो यथा'' कहते हैं कि, जो तेजस्वी हैं उनको अधर्म स्पर्श नहीं कर सकता है. जैसे अग्नि सबको भस्म करती है तो भी उसको जलानेका दोष नहीं लगता है. जिसका स्पष्टीकरण करते हैं कि शास्त्रोंके विधि और निषेधके वाक्य उनसे सम्बन्ध रखते हैं जो वेदके नियमोंके आधीन हैं. जो अति तेजस्वी हैं अर्थात् जिन पर वेदके नियम लागू नहीं होते हैं उनकेलिये मर्यादाका उल्लंघन तथा साहससे किये हुवे कर्म अधर्मजनक नहीं है. जब अति तेजस्वियोंकेलिये यों है तो जो भगवान् वेदके भी नियामक हैं और जो भगवान् अति तेजस्वियोंको भी तेज तथा ज्ञान आप देनेवाले हैं वैसेको विधि-निषेध स्पर्श कैसे कर सकेंगे अर्थात् उनको किसी प्रकार भी अधर्म नहीं लगता है. कारणकि जो कर्मरूप बीज बोया जाता है उसके जो धर्म अथवा अधर्मरूप अंकुर निकलते हैं वे उस भूमिमें निकलते हैं जो भूमि अज्ञानरूप जलसे सिंचित की हुई होती है, परन्तु तत्त्वज्ञानरूप उष्णताने जल पी कर जिस भूमिको शुष्क ऊषरभूमि बना दिया है उसमें डाला हुआ कर्मरूप बीज भस्म हो जाता है जिससे उस भूमिमें धर्म अथवा अधर्मरूप अंकुर फूटते ही

नहीं है, सारांश यह है कि भगवान्‌को धर्म वा अधर्म स्पर्श नहीं करते हैं।।३०।।

''अति तेजस्वी पुरुषोंको भी यह परस्त्री गमनरूप कार्य यशदाना नहीं है'' इस कथनके अनुसार तथा जिन अति तेजस्वी पुरुषोंके आचरणोंको देख कर अन्य पुरुष भी उनका अनुकरण कर कल्याण प्राप्त करते हैं इन वचनोंसे विरोध होनेके कारण भगवान्‌ने वैसा कार्य करनेका साहस कैसे किया? जिसका उत्तर शुकदेवजी 'नैतद् समाचरेत्' श्लोकमें देते है:

टिप्पणीजी: यहां इस श्लोकमें ''तेजस्वियोंकेलिए भी इस तरहके आचरण कीर्ति कर नहीं होते'' इसका समाधान नहीं है, वह तो ३४ वें श्लोकमें जाकर मिलता है, फिर भी यहां इस आक्षेपको देनेका प्रयोजन यही है कि श्लोकके उत्तरार्धमें ''इस तरहके आचरणसे अन्य व्यक्तियोंका विनाश हो जाता है'' यह उल्लेख आया है. इस संदर्भमें ईश्वरोंका तो नाश नहीं होता चाहे वे कुछ भी करें! यह एक कीर्ति ही तो है अर्थात् अपकीर्ति नहीं. अतः यहां भी अपकीर्तिका समाधान हो जाता है इसलिए ''तेजीयक्षामपि ह्ये तन्न सुश्लोक्यं'' यहां भी दिया गया है. वैसे इसका समाधान ''अन्तरंग भक्त ही इस लीलाको जान पाते हैं''से आगे दिया जाएगा.

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ।।३१ ।।

जो ईश्वर(समर्थ) नहीं है उसको ईश्वरकेकिए हुए कर्म कदाचित् मनसे भी न करने चाहिए, जैसे रूद्रके सिवाय कोई अन्य पुरुष यदि समुद्रसे उत्पन्न विषका पान करे तो नाश हो जाय वैसे यदि ईश्वरके सिवाय अन्य कोई पुरुष ईश्वर जैसे कर्मको मूर्खतासे करे तो वह नाश हो जाता है।।३१।।

ईश्वरकी इन कृतियोंका आचरण अनीश्वरको नहीं करना चाहिये. ऐश्वर्यके रहने पर ही ऐसा आचरण अनिष्टकारक नहीं होता. अतः उत्सुकतावश भी कभी ऐसा आचरण नहीं करना चाहिये. और तो और मनमें भी ऐसी बात नहीं लानी चाहिये. ईश्वरोंकेलिये तो इस तरहका आचरण भी एक ऐश्वर्य ही है. अनीश्वर जब ऐश्वर्यकी कामना भी करता हो तो उसका वध कर दिया जाता है, जैसे महाराज्यके अनधिकारीकी महाराज्यकी कामना करने पर गति होती है. अतः मनमें भी ऐसे आचरणकी बात नहीं लानी चाहिये. विपरीत आचरणका दुष्परिणाम बताते हैं 'विनश्यति'से. ऐसे आचरण ऐश्वर्यके साथ तो हो सकते हैं, परन्तु इसे समझे बिना केवल आचरण करने पर तो स्वयं अपने कर्मोंसे ही व्यक्ति नष्ट हो जाता है.

वही कर्म ऐश्वर्य रहने पर नाश नहीं करता और ऐश्वर्य न रहने पर कैसे नाश कर देता है सोदाहरण समझाते हैं 'अरुद्र' द्वारा. जो रुद्र नहीं जिसमें रुद्रके समान पराक्रम नहीं वह व्यक्ति समुद्रसे उत्पन्न विष पीकर नष्ट ही होगा अन्य कुछ नहीं. निन्दितकर्म भी कालकूटकी तरह व्यक्तिको नष्ट कर देते हैं.

यह तो ईश्वरकी शोभा है कि विष पी कर 'नीलकण्ठ' बन गए; इसी तरह यह पुरुषोत्तमकी शोभा है कि वे 'गोपीजनवल्लभ' हैं!।।३१।।

इस चरित्रके करनेसे तेजस्वी पुरुषोंके चरित्रोंका अनुकरण कर लोक कल्याण प्राप्त करते हैं, इस वाक्यका विरोध आता है, इसका उत्तर 'ईश्वराणां वचस्सत्यं' श्लोकमें देते हैं :

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्।।३२।।

ईश्वरों के वाक्य सत्य हैं वैसे उनके चरित्र कहां-कहां सत्य हैं, बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि जो योग्य समझमें आवे वैसा आचरण करे।।३२।।

ईश्वरों-समर्थ पुरुषोंके वचन तथ्यात्मक होते हैं न कि आचरण भी. आचरणको तभी तथ्यात्मक मानना चाहिये जब वह उनके वचनोंके अनुसार हो. अन्यथा ईश्वरोंमें तो अनेक धर्म रहते हैं, जैसे उनमें ऐश्वर्य है वैसे वे धर्मात्मा भी होते हैं, उनमें दया भी रहती है. इन सबमें ऐश्वर्य ज्ञान या वैराग्यसे जो उनका आचरण होता है वह(स्वभावतः) स्वच्छन्द आचरण कहलायेगा. बुद्धिमान व्यक्ति इस तरहके स्वच्छन्द आचरणका अनुकरण नहीं करते. परन्तु समर्थ ईश्वरोंके वचन कभी भी अन्यथा नहीं होते, क्योंकि कहनेमें सुननेवालेकी अपेक्षा है(स्वयं अपनी नहीं) अतः सुननेवालेके विरुद्ध जाये ऐसी बात वे नहीं करते. अर्थात् जिसमें सुननेवालेका अहित होता हो ऐसी बात वे नहीं करते।।३२।।

जैसे दूसरों को वे असत्य नहीं कहते हैं वैसे आप भी सत्य क्यों नहीं करते है जिसका उत्तर शुकदेवजी 'कुशला चरितेन' श्लोकमें देते हैं:

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते ।
विपर्ययेण वानर्थो निरहकारिणां प्रभो ।।३३।।

निराभिमानी, इनको अच्छे चरित्रोंके करनेसे कोई लाभ होगा वैसा स्वार्थ नहीं है, बुरे कर्म करनेसे इनकी कोई हानि नहीं होती है।।३३।।

इन ऐश्वर्य युक्त ईश्वरोंके अच्छे कर्म करनेसे कोई प्रयोजन(मतलब)

नहीं है, कारणकि अच्छे कर्म करनेसे जो फल मिलता है उससे भी अनन्त फल तो उनको आगे ही प्राप्त हैं. बुरे कर्म करनेसे उनका कोई अनर्थ(हानि) नहीं हो सकता है. निषिद्ध कर्म करनेसे केवल ईश्वरोंको ही हानि नहीं होती है, यों नहीं है, किन्तु जो ज्ञानवान् हैं उनकी भी कोई बुराई नहीं होती है, कारणकि दोनों अहंकाररहित हैं, यों ज्ञान तथा वैराग्य दोनोंका स्वरूप समान है. अतः ज्ञानी तथा विरक्त दोनोंको किसी कर्मसे भी कुछ भी लाभ व हानि नहीं है कारणकि उनमें कर्तापनका अभाव है. जिनमें ऐश्वर्य होता है वे जगत्से विलक्षण होते हैं इसको बतानेकेलिये 'परीक्षित्'को 'प्रभो' सम्बोधन किया है जिसका भावार्थ है कि तुम राजा हो जिससे तुममें ऐश्वर्य है और प्रजामें ऐश्वर्य नहीं है इसलिये दोनों(राजा तथा प्रजा)में विलक्षणता है दोनोंके धर्म जुदे हैं।।३३।।

ज्ञानके साथ रहने पर भी जब निषिद्ध कर्म कुछ अहित नहीं कर पाता तो ज्ञान ऐश्वर्य आदि सभी रहने पर तो वह क्या अहित करेगा? यह 'किमुताखिल' से समझाते हैं:

किमुताखिलसत्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ।।३४।।

सर्व जीव, पशु-पक्षी, मनुष्य तथा देवताओंके ईश्वर कृष्णको, अपने सेवकोंके साथ ऐश्वर्यसे किए हुए कर्मोंका इष्ट वा अभिष्ट फलका सम्बन्ध कैसे हो सकता है जब कि ज्ञानीका भी इष्ट वा अनिष्ट फलसे सम्बन्ध नहीं होता है।।३४।।

ऐश्वर्य धर्मयुक्त स्वामी अपने सेवकको दण्ड दे अथवा एक स्थानसे दूसरे स्थान पर तबदीली कर दे तो उसमें वह स्वतन्त्र है, जिसकेलिये किसी प्रकार(लोक और परलोक)की भी शंका नहीं होती है. जिस प्रकार लौकिक विषयमें यह नियम है ऐसे ही परलोकके विषयमें भी समझना चाहिये. किसी नियमके कारण अथवा चलानेवाले हेतुके रहने पर शंका होती है सारे नियमोंके स्वामी(ईश्वर)का कोई अन्य नियामक(मालिक-नियममें चलानेवाला) नहीं होता है वह अपना आप नियामक है. श्रीकृष्ण तो पशु-पक्षी, मनुष्य तथा देवताओंके तीन गुणोंके कार्य जो जीव, जड़ या प्राकृत, अप्राकृत आदि सर्ववस्तु मात्रके स्वामी हैं. श्लोकमें 'च' है जिसका आशय है कि आत्माके भी स्वामी हैं. सर्व सेवकोंके सम्बन्धी हैं. उन(सेवकों)के किये हुवे अच्छे बुरे कर्मोंके इष्ट वा

अनिष्ट फलसे उन(श्रीकृष्ण)का सम्बन्ध कैसे हो? अर्थात् नहीं है. अपनी आत्मरूप दासियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे, जिसको कोई नियममें रखनेवाला नहीं है वैसे स्वच्छन्द ईश्वर श्रीकृष्णका इस लोक अथवा परलोकमें किसी प्रकारका अपकार नहीं हो सकता है.

इस विषयके तत्त्वका ज्ञान केवल अन्तरंग भक्तोंको ही है अतः जगत्में भगवान्की निन्दा नहीं हो सकती है।।३४।।

लेखकार कहते हैं कि, ईश्वर होनेसे इसलोकमें श्रीकृष्णका कोई नियामक नहीं है, आत्मा अर्थात् ब्रह्मरूप होनेसे परलोकमें भी इनके कोई भी नियामक नहीं है, अतः इनका कहीं भी अपकार नहीं हो सकता है.

कर्ममार्गके विचारसे, कर्मकी मुख्यतासे भी ईश्वरमें दोष नहीं लगता है. ''ब्रह्माका यह यज्ञ पहले था'' ''यह प्रथम ब्रह्म ही था'' ''उसने आत्माको ही जाना'' इन श्रुतियोंमें जैसे कर्म तथा ज्ञानसे उत्तमता दिखाई है, वैसे बुरे कर्म और ज्ञानसे पतन भी हो सकता है इसका उत्तर 'यत्पाद' श्लोकमें देते हैं:

यत्पादपङ्कज–पराग–निषेव–तृप्ता
योग–प्रभाव–विधुताखिल–कर्म–बन्धाः।
स्वैरं चरन्ति मनुयोऽपि न नह्यमानाः
तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः ।।३५।।

भगवान्के चरणकमलकी रजके सेवनसे जो तृप्त है, योगके प्रभावसे जिनके सम्पूर्ण कर्म बन्धन टूट गए हैं, और जो मुनि हैं वे भी स्वैर(इच्छानुकूल स्वतन्त्र) आचरण करते है, तो वे भी जब बन्धनमें नहीं फंसते हैं तब अपनी इच्छासे शरीर धारण करनेवाले भगवान्को बन्ध कैसे होगा? अर्थात् नहीं होगा।।३५।।

सब जीवोंको समान कर्म करते हुवे भी समान फल नहीं मिलता है, यदि सबको समान फल मिले तो शास्त्रोंकी विफलता[१] हो जाये. उत्तम कार्य करनेवाले मनुष्यसे यदि अचानक कोई निन्दित कर्म हो जावे तो उससे वह नीच नहीं होता है. जिसका कारण तीनमार्ग हैं, इन तीनोंमेंसे किसी पर भी चलनेवालेका पतन नहीं होता है.

१.जैसेकि साधारण मनुष्य निषिद्धकर्म करता है, तो उसका अनिष्ट न हो तदर्थ शास्त्रानुसार वह प्रायश्चित करता है तो उसको अनिष्ट फल नहीं मिलता है. वैसे ही

मानो योगी तथा भक्तसे भी निन्दित कर्म हो जावे तो उसका भी अनिष्ट नहीं होता है, कारणकि ज्ञानरूप अग्निसे ज्ञानीके कर्म जल कर भष्म हो जाते हैं, योगसे भी पापोंका दहन होता है, भगवन्नाममें पापोंको भष्म करनेकी जितनी शक्ति है पापी उतने पाप नहीं कर सकता है. जो साधारण, ज्ञानी, भक्त आदि सर्वको समान फल मिले तो इन सर्वशास्त्रोंकी व्यर्थता हो जाये.

(१)उनमेंसे प्रथम, जो भक्तिमार्गमें पूर्णरीतिसे स्थित है उसका अपकर्ष नहीं होता है उसको बताते हैं कि जो भगवान्के चरणकमलोंकी रजसे शुद्ध हुवे भक्तोंकी सेवासे तृप्त हो गये हैं, तथा भगवान्के भक्तोंके साथ भगवद्गुणोंके स्मरण करनेसे देखे और सुने जानेवाले सुखमात्रको जिन्होंने भुला दिये हैं, जिससे वे स्वेच्छासे कर्म करते हैं. उनको कर्मोंके उत्कर्ष(अच्छापन) और अपकर्ष (बुरापन) साधक वा बाधक नहीं होते हैं.

(२)इस प्रकार कर्ममार्गमें भी होता है जिसको समझाते हैं कि 'योग महान् धर्म है' यों स्मृतिशास्त्रमें कहा है. उसका प्रभाव अर्थात् फल अणिमादि ऐश्वर्यकी सम्पत्ति तथा ज्ञानादिकी प्राप्ति है. उससे पूर्व तथा अबके किये हुवे सर्वकर्म बन्धन छूट जाते हैं जिससे वे भी स्वतन्त्र हो सर्वकर्म करते हैं.

(३)अब ज्ञानमार्गके विषयमें कहते हैं कि मुनि भी जो कर्म बन्धनसे मुक्त हैं वे स्वतन्त्रतासे कर्म करते हैं. जहां भगवान्के प्रवृत्त किये हुवे मार्गोंमें भी यह मर्यादा है तो गोपियां जिन भगवान्की 'इच्छा शरीर' हैं अर्थात् जितनी गोपियां हैं भोगार्थ उतने स्वरूपोंको स्वेच्छासे भगवान्ने धारण किया है. ऐसे स्वतन्त्र भगवान्को बन्ध कैसे हो सकता है? जो सर्वसमर्थ प्रभु उतने रूप प्रकट कर कार्य करनेके बाद उन रूपोंका तिरोधान कर देते हैं उनको किस कर्मसे बन्धन हो सकता है?

सभीकेलिए स्व-स्वकर्म नियत हैं. वहां जीव भिन्न-भिन्न हों[२] तो उन-उन विहित अथवा निषिद्ध कर्मोंके करने या न करनेसे जीव कर्म बन्धनमें पड़ते हैं. भगवान्के रूप तो आकाशकी तरह पद-पद पर विभिन्न हैं. जैसे अन्न भेदके रहते भी देहके बारेमें एक होनेका व्यवहार चलता है इसी तरह देश भेद होने पर भगवान् जिनके कर, चरण आदि सर्वत्र व्याप्त हैं, अपनी इच्छासे अनेक परिच्छिन्न आकारोंको ले कर प्रादुर्भूत हो जाते हैं. स्वामिनीयोंके देहके रूपमें अथवा प्रादुर्भूत हो जाते हैं. अतः प्रमाण अथवा प्रमेय किसीका भी विचार करने पर भगवान्को कर्म बन्धन नहीं होता।।३५।।

२.ब्राह्मणको इस समय यह कर्म करना चाहिए, क्षत्रियको यह, इस तरह इस अधिकारीको यह करना चाहिए वह नहीं इस तरहके कर्मोंका विधान या निषेध सभीकेलिए रहता है. ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि भेद देहके कारण जीवमें आता है और उसके आने पर कर्मोंका अधिकार और उसके बाद उन-उन कर्मोंके करने या न करने पर कर्म बन्धन होता है. भगवान्में तो देह देही भाव है ही नहीं अतः भेदमूलक कर्माधिकार भी नहीं आता फलतः भगवान् विधि-निषेधके दायरेमें नहीं आते. यह प्रमाण विचारसे सिद्ध होता है, प्रमेय विचारसे भी स्वामिनीयोंके देहके रूपमें भगवान् ही तो आविर्भूत हुए हैं अतएव भी विधि-निषेध एवं कर्मबन्धनकी कल्पना भगवान्के बारेमें नहीं की जा सकती है.

ऐश्वर्यके कारण उनको बन्ध नहीं है तो भी यों करनेसे 'लोकमर्यादा'का तो भंग हुआ और ''यद्यदाचरतिश्रेष्ठः[१] लोकस्तदनुवर्त्तते'' इस न्यायानुसार यदि शब्द बलका विचार किया जाय तो बन्ध होना चाहिए. आपने जो तीन दृष्टान्त दिए वे तो तीनों ही योगी है, वे व्यवहारके नियामक नहीं है, ईश्वर तो व्यवहारके स्वयं नियामक हैं, अतः यह दृष्टान्त विषम(असमान) है. यदि यों कहो तो उसका उत्तर यह है जो 'गोपीनां' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं

१.श्रेष्ठ पुरुष जैसे-जैसे कर्म करते हैं उनको देख कर अन्य भी वैसे कर्म करते हैं.

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योऽन्तरश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ।।३६।।

गोपियोंके, उनके पतियोंके तथा सब जीवोंके जो अन्तर्यामी हैं वह ही लीलासे क्रीड़ाकेलिए देह धारण कर प्रकट हुए हैं।।३६।।

यह तो माना हुआ सिद्धान्त है कि स्वयं यदि अपनेको स्पर्श करे तो उसका कहीं भी निषेध नहीं. यह स्त्री मुझसे अन्या है और यह पराई स्त्री है, ये दोनों बातें भगवान् पर लागू नहीं होती, कारणकि भगवान् गोपियोंके तथा उनके पतियोंकी आत्मा है, यदि कहो कि इस बातको, बान्धव और सर्व लौकिक पुरुष, नहीं मानते हैं तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि न केवल गोपियों तथा उनके पतियोंकी आत्मा है किन्तु सकल देहधारी जीव मात्रकी आत्मा है. जो भगवान् आसन्यरूपसे[१] अथवा जीवरूपसे अन्तःकरणमें रहते हैं. सर्ववादियोंका सिद्धान्त बतानेकेलिये कहते हैं कि 'अन्तःकरणमें रहते हैं' अर्थात् वह ही भगवान् क्रीडाकेलिये नटवत् पुरुषदेह धारण कर प्रत्यक्ष हुवे हैं. वास्तविक तो यह न पुरुष है, न स्त्री है न अन्य कुछ भी है, जिसमें प्रमाण यह श्रुति[२] है. [३]अतः सर्वप्रकार

विचार करनेसे यह सिद्ध है कि भगवान्‌को दोष नहीं लगता है।।३६।।

१.मुख्य प्राणरूप जीवात्मा. २.'न स्त्री न षण्ढो न पुमान्' इति श्रुतिः. ३.देह प्रयुक्त पुरुषत्वका निषेध है न कि स्वाभाविक पुरुषत्वका.

मान लिया जाय कि भगवान्‌को दोष स्पर्श नहीं करते हैं, तो भी इस प्रकारके मर्यादाभंग करनेवाला निन्दित कार्य क्यों किया? उसके करनेका अभिप्राय क्या है? यह बतलाइए, जिसके उत्तरमें निम्न 'अनुग्रहाय' श्लोक श्रीशुकदेवजी कहते हैं:

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ।।३७।।

भक्तों पर अनुग्रह करनेकेलिए मानवदेह धारणकर, भगवान्‌ने इस प्रकारकी लीलाएं की, जिनको सुन कर श्रोता भगवान्‌में तन्मय हो जावे।।३७।।

भगवान्‌ने भक्तों पर अनुग्रह करनेकेलिये ही उनके समान मनुष्य देह धारण किया है यदि मनुष्येतर देह धारण करते तो उनका विश्वास न होता. इसलिये मनुष्यों पर अनुग्रहकेलिये मनुष्यरूप धारण किया. वैसे ही गोपियों पर अनुग्रहकेलिये, गोकुलमें अपने स्वरूपका आनन्द दान करनेकेलिये उसी प्रकार क्रीड़ा करते हैं. भक्तोंके दोष जुदे-जुदे प्रकारके हैं अतः उन पृथक्-पृथक् दोषोंको नाश करनेकेलिये भगवान्‌ने विविध क्रीडाएं कर उनमें अपने जुदे-जुदे धर्म प्रवेश किये जिससे उनके सर्व प्रकारके दोष नष्ट हो गये.

अथवा भक्तोंको मनुष्य देहमें श्रद्धा रख कर ही भगवान्‌ने भक्तों पर अनुग्रह करनेकेलिये इस प्रकारकी लीलाएं की हैं. तो भी पूर्णकाम और महान् हैं जिससे सर्व रसदान करनेमें समर्थ हैं, किन्तु निषिद्ध प्रकारसे अपने स्वरूपका आनन्द नहीं देते हैं, यह लीला विशुद्ध अलौकिक प्रकारसे की हुई है अतः यह अदेयदानलीला जो निरोधपूर्वक की हुई है उसका जो श्रवण करेगा वह सर्वथा भगवत्परायण होगा कारण कि भगवान्‌से वैसा ही आचरण किया है, इसलिये श्रीशुकदेवजीने भी मूलश्लोकमें कहा है कि 'याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्' अर्थात् जिन लीलाओंको सुन कर श्रोता भगवत्परायण हो जाता है।।३७।।

श्रीप्रभुचरण टिप्पणीजीमें आज्ञा करते हैं कि, श्रोताओंके भी दोष जब इन लीलाओंके श्रवणसे नष्ट हो जाते हैं तब भगवल्लीला मध्यपाती भक्तोंका दोष नाश होवे जिसकेलिये कहना ही क्या है?

जैसा आपने कहा वैसा है तो भी लोक व्यवहारसे स्त्रियां अन्य(पति)के आधिन हैं, अतः जो वस्तु वस्तुके मालिकसे मिली नहीं है उसका उपभोग करनेसे मालिकके मनमें खेद पैदा होता है. वैसे यहां गोपोंके मनमें खेद हुआ होगा तथा इसलिए मालिकोंके द्वारा की हुई अपकीर्ति भी होगी, इस प्रकारकी शंकाका उत्तर 'नासूयन्' श्लोकमें देते हैं:

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान्स्वान्दारान् व्रजौकसः ।।३८।।

उनकी मायासे मोहित गोपोंने, अपनी-अपनी स्त्रियोंको अपने पास ही स्थित मानी, अतः कृष्णसे उन्होंने ईर्ष्या नहीं की।।३८।।

गोपोंको प्रथम यह मालूम था कि हमारी स्त्रियां कृष्णके पास गई हैं तो भी भगवान्की मायासे मोहित हो गये जिससे भगवान्को ईर्ष्यासे नहीं देखने लगे अर्थात् भगवान्से ईर्ष्या नहीं की. कारणकि बादमें अपनी स्त्रियोंको उन्होंने अपने पास ही हैं यों समझा. क्योंकि गोप होनेसे उनको आगे पीछे विचार नहीं रहता है. श्लोकमें गोप न कह कर जो उनकेलिये 'व्रजौकसः' कहा है उसका दूसरा आशय प्रकट यह है कि इससे यह जाना जाता है कि गोप व्रजवासी हैं अतः सर्व प्रकार अंगीकार किये हुवे हैं. इसलिये सब जानते हैं कि उनकी बुद्धि भगवान्में दोषारोपण करने जैसी नहीं थी. शुकदेवजीने भी इसकी निश्चयता बतानेकेलिये निश्चयवाचक 'खलु' पद दिया है.

गोपियां भगवान्के पास थी फिर भी गोप सब यही समझते रहे कि वे हमारे पास हैं. यह मोह भगवान्की मायाके कारण हुआ. उन्हें तो भ्रमवश गोपिकाओंके पत्नी होनेका तथा अपने पार्श्वमें होनेका भान ही केवल है और अवशिष्ट[१] सभी कुछ भगवान्का है तथा भगवान्के समीप ही है. ऐसे भानके कारण उन्हें भगवान्में दोषबुद्धि नहीं हुई सो उनके दोष भी निवृत्त हो गये. इससे गोपिकाओंमें भी दोषारोपणका निवारण हो गया।।३८।।

१.योजना: गोपके पास तो केवल माया मोहवश भान ही था बाकी अवशिष्ट देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, जीव, सगे-सम्बन्धी, घर-बार आदि सभीकुछ भगवान्का ही है भगवदीय ही है. गोपियोंका सभी कुछ भगवदीय ही है परन्तु बीचमें उनके पतियोंके रूपमें प्रसिद्ध गोपोंका भी निवेदन हो गया अतः भगवान्में दोषबुद्धि जगना उनके स्वयंकेलिए दोषरूप था, वह अपने पार्श्वमें माननेके कारण दूर हो गया

अतः सारे दोष दूर हो गये. गोपोंके दोष दूर होने पर निर्दोष गोपोंकी संगतसे संसर्ग दोषकी संभावना गोपिकाओंमेंसे भी हट जाती है.

इस प्रकार इस लीलामें जो शंकाओं अथवा दोषों की प्रतीति होने लगी उसका परिहार कर अब इस 'ब्रह्मरात्र' श्लोकमें लीलाकी समाप्ति करते हैं:

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः ।।३९।।

ब्रह्ममुहूर्त होते ही भगवान्की प्यारी गोपियां, इच्छा न होते हुए भी भगवान्की आज्ञा मान कर अपने-अपने घर गईं।।३९।।

'ब्रह्मरात्र' शब्दका अर्थ 'अरुणोदय' है. जब अरुणोदय पूर्णरूपसे हो गया, तब हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट प्रभुने भीतर यह इच्छा प्रकट की कि घर जाना चाहिये. पश्चात् भगवान्ने भी प्रत्यक्ष आज्ञा की कि 'घर जाओ' कारणकि भगवान् किसीको भी बन्धनमें रखना नहीं चाहते हैं. क्योंकि आप मोक्ष देनेवाले हैं तथा गोपियां यहां रहेंगी तो मेरा स्मरण पूर्णरीतिसे न कर सकेगीं और घर जायेंगी तो परोक्ष होनेसे जब सन्ध्या पर्यन्त अन्तःकरणसे मेरा स्मरण करेंगी तब मोक्षकी अधिकारिणियां बनेगी. अतः मोक्षदाताने इस प्रकार आज्ञा दी. यद्यपि गोपीजनोंके मनमें यह विचार था कि जब सर्वका त्याग कर भगवान्का भजन करना ही हमने स्वीकार कर लिया है तब हमारा घरसे अथवा लोगोंसे क्या लेनदेन है, जो हम घर जावें, तो भी गोपियां थी उनको किसी प्रकारका हठ अथवा उनमें भगवान्केलिये कोई विपरीत बुद्धि भी नहीं थी जिससे भगवान्की आज्ञा न माने. उनको यह निश्चय था कि यह भगवान् हैं, अतः संसारका भय भी नहीं था. निर्भय होनेमें विशेष कारण यह था कि वे भगवान्की 'प्यारियां' थीं।।३९।।

यह चरित्र भगवान्ने मोक्षकेलिए किया है अतः इसके श्रवणका फल 'विक्रीडितं' श्लोकमें वर्णन करते हैं:

विक्रीडितं व्रज-वधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयाद् अथ वर्णयेद् यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगम् आश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः।।४०।।

व्रजवनिताओंके साथ की हुई भगवान्की इस क्रीड़ाका श्रद्धायुक्त हो श्रवण करे वा वर्णन करे वह भगवान्में पराभक्तिको प्राप्त कर शीघ्र हृदयके रोगरूप कामको नाश करता है और तत्क्षण(उसी समय) धीर बन जाता है।।४०।।

गोपियोंके साथ भगवान्ने जो यह विशेष प्रकारसे रमण किया है उसको

श्रद्धापूर्वक श्रेष्ठ प्रकार की हुई कथा द्वारा सुने और सुननेके अनन्तर स्वयं उसका वर्णन करें अर्थात् अन्योंको सुनावे. श्लोकमें 'यः' शब्द आया है जिसका आशय यह है कि इस लीलाका श्रवण तथा कीर्तन कोई भी मनुष्य कर सकता है, इसमें वर्ण वा आश्रमका कोई नियम नहीं है. यह वर्ण करे यह वर्ण न करे, ब्रह्मचारी करे गृहस्थ न करे वैसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है. जिसमें कोई गुण नहीं है वह भी केवल भगवान्के माहात्म्य श्रवणसे ही मुक्त हो जाता है. भक्त तो सर्वथा भगवान्की शरणवाले हैं वे तो श्रवण करनेसे भगवान्में शीघ्र ही परमभक्तिको प्राप्त कर लेते हैं अन्तःकरणमें स्थिर हुई उस भक्तिसे हृदयके रोगरूप कामको शीघ्र ही भगा देता है अर्थात् नाश कर देता है. तात्पर्य यह है कि जो काम प्रथम हृदयमें स्थित हो कर भक्तिमें बाधक था, और जल्दी ही भक्तिके आनेमें विघ्न करता था उसको शीघ्र ही केवल श्रवणसे दूर फेंक देता है.पश्चात् रही हुई वासनासे यदि कामका उद्भव हो भी जाये तो भी, यह श्रवणसे धीर हो जानेसे उसका कोई प्रभाव इस पर नहीं पड़ता है. जिससे वह स्वयं हार कर चला जाता है. अतः यह फल प्रकरण, भावार्थके साथ सुनना चाहिये. इस श्लोकमें लीलाके श्रवणका 'फल' कहा है क्योंकि यह फल प्रकरण है।।४०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धके ३०वें अध्यायकी
(प्रचलित क्रमानुसार अध्याय ३३ की) श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्रीसुबोधिनी
'संस्कृत टीका'के तामस फल अवान्तर प्रकरणके
पांचवें अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण।

अध्याय ३१

सुदर्शन और शंखचूडका उद्धार

इस फल उपप्रकरणमें भगवान्ने रूप और नाम भेदसे दो प्रकारकी लीला की हैं. प्रथम पांच अध्यायोंमें स्वरूपसे पांच प्रकारकी लीलाका वर्णन आया है अतः वह रूपलीला प्रकरण है. इन दो अध्यायोंमें नामलीला प्रकरण पृथक् है. स्वरूप लीलाका जब भक्त अनुभव करते हैं, तब उनसे अन्य वैष्णवधर्म स्वतः छूट जाते हैं, उनके छूटनेसे कोई दोष नहीं क्योंकि, वह स्वरूप लीलाके अनुभवका अंग है. नामलीला, प्रमाणलीला है, अतः उसमें वैष्णवधर्मोंका त्याग नहीं है, किन्तु अन्य देवोंके भजनका त्याग आवश्यक अंग है. यदि भक्त उस अंगका पालन नहीं करता है तो दुःख भोगता है जिससे उसको भगवान् छुड़ाते हैं. इस विषयका स्पष्टीकरण निम्न ४ कारिकाओंमें किया गया है:

एवं रूपप्रपञ्चस्य पञ्चधा रसवर्णनम् ।
निरूप्य नामलीलातो रसार्थमिदमुच्यते ।।का.१।।

इसप्रकार, पांच अध्यायोंमें भगवान्ने मन, वाक्, प्राण, इन्द्रिय और शरीरसे पांच प्रकारसे रसदान दे कर भक्तोंको जो आनन्दित किया, उसका वर्णनकर, अब नामलीला द्वारा रसदानकेलिए यह प्रकरण कहते हैं।।१।।

एवमुद्धृतभक्तास्तु यद्यन्यं समुपासते ।
दुःखभाजो भवन्त्येव मुच्यन्ते हरिणैव तु ।।का.२।।

जिन भक्तोंका अन्याश्रय छुड़ा कर भगवान्ने उद्धार किया है, वे यदि अन्यकी उपासनाकर, अनन्यता धर्म त्याग करते हैं, तो वे दुःखी होते हैं, फिर भी दुःखहर्ता हरि ही उनका वह दुःख मिटाते हैं।।२।।

एकत्रिंशे सर्वभावान्निवृत्तानां तु पूर्ववत् ।
गानेन रमणं चक्रे प्रमाणानन्दसिद्धये ।।का.३।।
बलभद्रेण सहितो वेदरूपेण सर्वथा ।
तद्दोषं नाशयामास हरिरित्युच्यते स्फुटम् ।।का.४।।

इस इकत्तीसवें अध्यायमें जब वे अन्य सर्वभावोंसे छुटकारा पाते हैं, तब पूर्वकी भांति, प्रमाणानन्दकी सिद्धिकेलिए वेदरूप, बलदेवजीके साथ, भगवान् उस सिद्धिमें विघ्नरूप रहे हुए दोषको नाश करनेकेलिए गानपूर्वक रमण करने

लगे, जिसका वर्णन यहां प्रकट कहा जाता है।।३-४।।

१.प्रमाण-वेद, वेदरूप बलदेवजीके आनन्दकी.

टिप्पणीजीका सार: इकत्तीसवें अध्यायका विवरण: इससे पहले जिस लीलाका वर्णन किया गया, उसके बाद तो कुतुहलवश भी व्रजवासियोंका अन्य भजन करना उत्पन्न नहीं होता, यह शंका उठ सकती है परन्तु यह प्रकरण पूर्व प्रकरणके बीचमें आता ही नहीं है, पूर्व प्रकरणमें रूपलीलाका वर्णन था, यहां नामलीलाका वर्णन किया जाता है. नामलीलासे जो रस प्राप्त हो सकता है, वह अन्य भजनके त्यागके बिना नहीं हो सकता यह दिखलाना इस प्रकरणकी संगति है. जैसे रूपलीला स्वतन्त्र है, वैसे ही नामलीला भी स्वतन्त्र है, अतएव एक भिन्न प्रकरणका ही प्रारंभ यहांसे होता है. नामलीलाके दो अंग हैं १. अन्य भजनका त्याग और २. भगवन् माहात्म्यज्ञान. अन्य भजनसे छुड़ा कर जिन्हें भगवान् अपनी शरणमें लेते हैं, यथा इन्द्र भजन छुड़ानेसे स्पष्ट है, वे पुनः अन्य भजन करें तो दुःखी ही होंगे या भगवान् ही फिर उस दुःखसे भी छुटकारा दिलाते हैं. यहां यह ज्ञातव्य है, कि रूपलीलाके रसानुभवमें वैष्णवधर्मोंका भी त्याग अंग बनता है, जबकि नामलीलाके रसानुभवमें केवल अन्य देवताओंके भजनको छोड़ना पड़ता है, न कि भगवद्धर्मोंको भी. विधियां भी नामलीलाके अन्तर्गत आती हैं, अतः मर्यादा एवं पुष्टिके प्रभेदसे दो तरहकी होती हैं अतः मर्यादा मिश्रित पुष्टिमार्गीयोंका पूर्वाध्यायमें उल्लेख है तथा शुद्ध पुष्टिमार्गीयोंका द्वितीय अध्यायमें. तथा मर्यादामार्गकी सदोषता शंखचूड़के प्रसंगमें दिखलाई गई है.

शब्द द्वारा आनन्द देनेकी लीलाका वर्णन करनेसे प्रथम गोकुलवासियोंमें अब अन्य भजनरूप जो दोष है उसका निवारण, ''एकदा देवयात्रायां'' श्लोकसे २० श्लोकमें करते हैं:

श्रीशुक उवाच

एकदा देवयात्रायां गोपाला जातकौतुकाः।
अनोभिरनडुद्युक्तैः प्रययुस्तेऽम्बिकालयम्।।१।।

एक दिन देवयात्रामें कुतुहलवश वे ग्वाल बैलोंसे जुड़े हुए गाडोंमें बैठ कर अम्बिकावनकी ओर चल निकले।।१।।

दुनियांमें भी(घर छोड़कर) अन्यत्र जाने पर सारी कठिनाईयां आ पड़ती हैं अतः उनके यात्रा प्रसंगका निरूपण करते हैं.

शिवरात्रीके अवसर पर एकदिन वे अम्बिका वनकी ओर चल निकले. वे हर साल नहीं जाते थे अतः 'एक दिन' कहा. देवयात्रा[१] तो नित्यकर्म है. परन्तु,

गोपालोंका सम्बन्ध तो साधारण धर्मसे[२] रहता है और उसमें भी उनकी धर्मबुद्धि प्रसंगोपात्त ही होती है. वस्तुतः तो वे कुतुहलवश ही जा रहे थे, अतएव पैदल न जाकर गाड़ियोंमें गये. घोड़ोंका तो उन्हें कुछ काम ही नहीं था किन्तु बैलोंका अवश्य था सो उन्हें जोत कर जोरशोरसे चल निकले. बड़े समारम्भके साथ पुरुषोंको घरमें नियुक्त कर चले. अम्बिकालय मथुरासे पश्चिममें अर्बुदाचलके निकट एक तीर्थ है वहीं पहुंचे।।१।।

१.लेखका आशय: देवयात्रा तो नित्यकर्म है, अर्थात् किसी भी कामनाके बिना करते ही रहना चाहिये. भक्तिमार्गमें अन्याश्रय त्याग तो प्रथम कर्तव्य है, फिर चाहे वह नित्यकर्मके अन्तर्गत करना पड़ता हो, अथवा काम्यकर्मके. परन्तु गोपोंको लगा, कि नित्यकर्म होनेके कारण अन्याश्रय भी हो, तो दोषरूप नहीं होता अर्थात् ऐसे केवल काम्यकर्मका ही त्याग होता है न कि नित्यकर्मका. वस्तुतः तो नित्यकर्ममें भी अन्याश्रय होता हो तो छोड़ना ही चाहिये कमसे कम शरणमार्गियोंको तो अवश्य. वेदके मन्त्रोंमें जो इतरदेव आते हैं वे तो 'देवा नारायणांगजा' वचनके अनुसार भगवान्के अंग हैं. वेदोक्त कर्म भी भगवान्की क्रियाशक्तिका एकरूप है. अतः काम्यकर्म वैदिक छोड़ देना चाहिये. स्मृति प्रोक्त अन्य देवोंसे सम्बन्धित कर्म चाहे नित्य अथवा काम्य दोनों छोड़ देने चाहिये. श्राद्ध, तीर्थ स्नान, दान इत्यादि 'विष्णु प्रीयतां'के संकल्पके साथ करने चाहिये. जिन कर्मोंमें यह संकल्प न हो पाये, वे सारे कर्म शरणमार्गीय जीवको छोड़ देने चाहिये.

२.यह प्रकरण गोपिकाओंका है फिर भी गोपोंका निरूपण, धर्मतः जो समान प्रसंग बनता है उसके आधार पर किया गया है. गोपोंका सम्बन्ध मुख्य स्वामिनियोंकी तरह असाधारण प्रमेयधर्मके साथ नहीं है किन्तु साधारण प्रमाणधर्मके साथ है अतः निरूपण किया है.)

वहां गए हुए गोपोंने जिस प्रकार पूजा की उसका वर्णन 'तत्र स्नात्वा' श्लोकमें करते हैं:

तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं प्रभुम्।
आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या देवीं च नृपतेऽम्बिकाम् ।।२।।

हे राजन्! वहां सरस्वती नदीमें स्नान कर पशुपति महादेव और अम्बिका माताकी पूजाके द्रव्यों(सामग्री या वस्तुओं)से श्रद्धापूर्वक पूजा की।।२।।

वहां सरस्वती प्रकट हुई है. पशुके पाशसे मुक्त होनेकेलिये उसने प्रथम स्नान किया. अनन्तर गोप स्वयं पशुपालक हैं इसलिये पशुपति जो कि पशु

पालनेका फल देनेवाले हैं और प्रभु होनेसे सर्व प्रकारके दान देनेमें समर्थ हैं, उनकी पूजाके द्रव्योंसे पूजा की. पूजन करनेसे यह बताया, कि हम यहां मूर्खोंकी भांति नहीं आये हैं किन्तु शास्त्रमें कही हुई विधिके पालनार्थ भी आये हैं. अम्बिका देवी, पार्वतीजीका भी पूजन किया. श्लोकमें 'च' शब्द दिया है जिसका आशय है कि पार्वतीदेवीके आसपास जो अन्य देवता थीं उनकी भी पूजा की. परीक्षितको हे राजन्! सम्बोधन इसलिये दिया है, कि परीक्षितको सावधान करते हैं कि तुम राजा हो तुम्हें इसका ज्ञान तो पूर्व ही है, किन्तु इस चरित्रके सुननेसे, उसमें दृढ विश्वास करना।।२।।

ऊपरके श्लोकमें पूजाका वर्णन कर अब 'गावो हिरण्यं' श्लोकमें दानोंका वर्णन करते हैं:

गावो हिरण्यं वासांसि मधुमध्वन्नमादृताः।
ब्राह्मणेभ्यो ददुः सर्वे देवो नः प्रीयतामिति ।।३।।

गौ, सुवर्ण, वस्त्र, मधु(शहद) और मीठा अन्न आदर सहित ब्राह्मणोंको दान कर दिए, संकल्पमें कहा कि इस दान करनेसे देव प्रसन्न हों।।३।।

गोपोंने जो दान किये हैं, वे काम्य दान हैं, सोना, अनेक प्रकारके कपड़े, शहद और मीठे अन्नका दान किया, ग्राम्य एवं अरण्यकी सिद्धिकेलिये शहद एवं मिष्टान्नका दान किया, गौदानसे रुद्र प्रसन्न होते हैं. सुवर्णदानसे अग्नि देवता प्रसन्न होते हैं. वह भी रुद्र ही हैं. वस्त्रदान सर्वदेव अथवा सोमकेलिये है. वे देव अकेले प्रसन्न नहीं होते हैं किन्तु उमाके साथ प्रसन्न होते हैं. इस प्रकार पांच दान आदर पूर्वक किये. जो दान किया वह पात्रोंको दिया इसलिये श्लोकमें 'ब्राह्मणेभ्यः' कहा है. श्लोकमें 'सर्वे' कह कर यह बताया है, कि गोपालोंको संगदोष भी नहीं लगा, कारणकि गोपोंमें कोई गोप वैसा नहीं था, जिसने दान न किया हो. श्लोकमें 'देवो नः प्रीयतां' कह कर यह बताया कि गोपोंके मनमें किसी प्रकारकी कामना नहीं थी, इसलिये अन्तमें संकल्प किया कि इस दानसे देव प्रसन्न हों. देव अर्थात् 'महादेव', अथवा जो भी देव हों(यों साधारण वचन कहा है) वह हम पर प्रसन्न हों. देवके प्रसन्नताके सिवाय गोपोंको अन्य कोई कामना नहीं थी।।३।।

इस प्रकार यात्रामें(तीर्थ पर) जो कृत्य करना था वह कह कर अब 'ऊषुः' इस श्लोकमें तीर्थमें की हुई स्थितिका वर्णन करते हैं:

ऊषुः सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य धृतव्रताः ।
रजनीं तां महाभागा नन्दसुनन्दकादयः ।।४।।

महाभाग्यवान् नन्द, सुनन्द आदि गोप व्रत धारण कर केवल जलपान कर वह रात्रि उस तीर पर रहे।।४।।

अन्तःकरणकी शुद्धिकेलिये जल-पान कर वह रात्रि सरस्वतीके किनारे पर रहे. रात्रिमें किसी प्रकारका कोई अन्य कार्य नहीं किया. इतना धर्म(उपवास) तो सिद्ध हो गया. गोपोंको श्लोकमें 'महाभागाः' विशेषण इसलिये दिया है कि आगे, जो इनका अनिष्ट होनेवाला है, उसकी निवृत्ति भगवान् स्वयं कृपा कर करेंगे जिससे श्रोताओंको सन्देह न हो. गोपोंमें नन्द और सुनन्द मुख्य थे. नन्द प्रधान है, जिसके नाम लेनेसे सब गोप आ गये. सुनन्दक आदि जिनको यों कहनेसे सर्व गोपोंकी नन्दसे समानता बताई है. 'सुनन्दक' पदका भावार्थ यह है कि जिससे भगवान्का सम्बन्ध होता है, वह विशेष आनन्दवाला होता है उसको सुनन्दक कहा जाता है, उपनन्द दूसरे गोपका नाम है, अथवा धर्म प्राधान्यसे नन्दका ही इस प्रकार वर्णन किया है।।४।।

इस प्रकार जब कर्मनिष्ठ गोपोंमेसे भगवद्भाव तिरोहित हो गया किन्तु भगवान्को उनका निरोध करना था अतः भगवान्ने कृपाकर, शकट गिआकर यशोदा आदिका मन अपनी तरफ खेंच लिया था, वैसे ही यहां भी गोपोंका निरोध करनेकेलिए भगवान्ने नंदको सर्पसे ग्रसानेकी लीला की, जिसका वर्णन 'कश्चिन्महानहि' श्लोकमें करते हैं:

कश्चिन्महानहिस्तस्मिन् विपिनेऽतिबुभुक्षितः ।
यदृच्छयागतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसीत्।।५।।

बहुत भूखा महान् अजगर उस वनमें अचानक आ गया, उसने सोए हुए नन्दको ग्रस लिया।।५।।

बड़ा सांप अर्थात् अजगर, उसको भोजन कभी-कभी मिलता है प्रायः वह भूखा ही रहता है. वनमें भोजन न मिलनेसे उस बहुत भूखे अजगरको, भोजनकेलिये नन्द मिले, अकस्मात् ही वह नन्दजीके समीप भी आ गया. दैवगतिसे नन्दजी भी उस समय निद्रामें थे. वनमें जो जागते रहना चाहिये यों न करनेसे, सोये हुए गोपोंमें मुख्य, नन्दजीको ही ग्रस लिया. पेटके बल सरकनेवालेका आगमन जाना नहीं जा सकता।।५।।

नन्दके ग्रस जानेके अनन्तर जो कुछ हुआ उसका वर्णन 'स चुक्रोश' श्लोकमें करते हैं:

स चुक्रोशाहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण महानयम्।
सर्पो मां ग्रसते तात प्रपन्नं परिमोचय।।६।।

अजगरसे ग्रसित नन्दजीने क्रन्दन किया, अनन्तर श्रीकृष्णको प्रार्थना करने लगे, हे कृष्ण, हे कृष्ण! यह बड़ा सांप मुझे ग्रस रहा है, हे तात! मैं आपकी शरण हूं, शरणागत मुझे बचाइए।।६।।

अजगरने नन्दजीका कण्ठसे नीचेका भाग अब तक ग्रस लिया था, अतः प्रथम तो केवल क्रन्दन किया, पश्चात् कृष्णका माहात्म्य स्मरण कर कृष्णको प्रार्थना करने लगे, हे कृष्ण! हे कृष्ण! यह महान् सांप मुझे ग्रस रहा है. आदरसे पुकारने अथवा भयसे पुकारनेमें 'कृष्ण' शब्द सम्बोधनमें दिया है, और 'तात' शब्दका सम्बोधन 'स्नेह' अथवा घबराहट प्रकट करनेकेलिये दिया गया है, छुड़ानेका कारण बताते हैं, कि मैं आपकी शरण आया हूं अतः मुझे छुड़ाइये।।६।।

इस श्लोकमें कहते हैं कि भगवान् छुड़ावें, जिससे पहले गोपालोंने छुड़ानेका उद्यम किया:

तस्य चाक्रन्दितं श्रुत्वा गोपालाः सहसोत्थिताः।
ग्रस्तं च दृष्ट्वा विभ्रान्ताः सर्पं विव्यधुरुल्मुकैः।।७।।

उसका आक्रन्दन सुनकर, बिना विचारे सहसा गोपाल उठ खड़े हुए नन्दको ग्रसा हुआ देख घबरा गए और जलती हुई लकड़ियोसे सर्पको मारने लगे।।७।।

नन्दजीने छट्ठे श्लोकमें अपनी रक्षाकेलिये भगवानकी प्रार्थना की है, क्योंकि, वे भगवानके माहात्म्यको जानते थे, किन्तु गोप उनके माहात्म्यको नहीं जानते हैं, इसीलिये उन्होंने नन्दजीको बचानेकेलिये प्रतिक्रिया की, जिसका वर्णन इस ७वें श्लोकमें करते हैं.

गोप नन्दका आक्रन्दन सुनकर, बिना विचारे तथा भगवानसे पूछे बिना उठे. नन्दजीको सांपसे ग्रसित देख घबरा गये. शीतकेलिये जलाई हुई आगसे जलती हुई लकड़ियोंको उठा कर सर्पको जला कर मारने लगे, किन्तु यह विचार नहीं किया कि इस उपायसे तो नन्द भी जल जायेंगे, जिससे गोपोंकी अज्ञानता प्रकट बताई है. गोपोंने जैसे अज्ञानसे यात्रा की है, वैसे ही भगवान् जैसे

सर्वसमर्थके विद्यमान होते हुवे, यह कार्य भी अज्ञानसे किया।।७।।

नन्दको सर्पसे छुड़ानेका यह उपाय नहीं था इसलिए वह व्यर्थ हुआ जिसका वर्णन 'अलातैः' श्लोकमें करते हैं:

अलातैर्दह्यमानोऽपि नामुञ्चत्तमुरङ्गमः।
तमस्पृशत् पदाभ्येत्य भगवान् सात्वतां पतिः ।।८।।

जलती हुई लकड़ियोंसे जलते हुए भी सांपने नन्दजीको नहीं छोड़ा, तब वैष्णवोंके पति भगवानने आकर पैरसे उसका स्पर्श किया।।८।।

सांपको भक्षण करना(पकड़ना) आता है, छोड़ना नहीं आता है अतः छोड़ा नहीं. पश्चात् भगवानने जो योग्य था, वह उपाय किया. वह उपाय था भगवानके चरणका स्पर्श, अतः भगवानने स्वयं आकर अपना चरणस्पर्श कराया, जिससे उसके कर्म नष्ट हुवे, तथा सर्वयोनिसे वह मुक्त हो गया. कर्मक्षय तो ज्ञान अथवा भक्तिसे होते हैं. ज्ञान प्राप्त करनेकेलिये अधिकारी शरीरकी आवश्यकता होती है, सांपका शरीर ज्ञान अधिकारी नहीं इसलिये वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है, भक्तिकी प्राप्ति भी यहां प्रमेयबलसे हुई है, जैसाकि भगवानने अपने प्रमेयबलसे उसकी भक्तिकी सिद्धीकेलिये और भगवदीय शरीरकी प्राप्तिकेलिये चरणसे उसका स्पर्श किया. भगवानने उसके साधनोंकी अपेक्षा नहीं की, स्वयं आकर चरणस्पर्शसे उसके कर्मक्षय किये, 'सात्वतां पतिः' पदसे यह बताया है कि भगवानमें यों करनेकी सामर्थ्य है, भगवान् वैष्णवोंके रक्षक हैं अतः वैष्णव हितकेलिये वैसा किया।।८।।

लेखकारका आशय: भगवानके चरणमें उत्तम देह करनेका सामर्थ्य हैं, आप वैष्णवोंके पति हैं अतः आपको उसकी उत्तम देह बनाना आवश्यक था.

चरणस्पर्श जो हुआ, उसका वर्णन 'स वै' श्लोकमें करते हैं:

स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः।
भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम् ।।९।।

भगवानके श्रीवाले चरणस्पर्शसे उसके सर्व अशुभोंका नाश हो गया, जिससे उसने सर्प शरीरका त्याग कर विद्याधरोंसे पूजित रूपको धारण किया।।९।।

निश्चयसे उसने सांपका शरीर त्याग, विद्याधरका रूप धारण किया. वह रूप, पूर्वरूपसे विशेष था कारणकि अब वह रूप चरणस्पर्शसे भगवदीय हुआ है. पहले भगवदीय नहीं था, उसकी पुष्टिकेलिये मूलश्लोकमें इसको विद्याधरोंसे

पूजित कहा है. विद्याधरोंमें (भी) देवरूप हुआ. सर्पयोनि सबसे नीचयोनि है, भगवदीय योनि सबसे उत्तमयोनि है. सबसे नीचयोनिसे छुड़ा कर सबसे उत्तमयोनि देना यह चरणका प्रभाव है, जिसका[१] कारण भगवानका प्रमेयबल है.

सभी तरहके देहोंके बारेमें(अर्थात् यथायोग अधमतासे उत्तमता तक पहुंचनेके बारेमें) यही उपपत्ति हैं अथवा ये ही हेतु है. सांपकी देह छूटनेका कारण चरणस्पर्शसे पापोंका नाश होता है, और विद्याधरोंके भी देव बन जाना यह गुण भी चरणस्पर्शसे आया है. पदार्थोंका अभिनिवेश यथायोग्य करना चाहिये, चरणरज ही सर्व प्रकारकी सामग्री सिद्ध करती है।।९।।

१.चरणस्पर्श कराकर अधम योनिसे उत्तम योनि प्राप्त करानेका.

भगवानने इस प्रकारका उपकार अयोग्यमें कैसे किया? इस शंकाको मिटानेकेलिए, यह बताते हैं कि उसको भगवानके किए हुए उपकारका ज्ञान भी हैं, जिसको प्रकट करानेकेलिए भगवान् उससे पूछते है, जिसका वर्णन 'तमपृच्छद्' श्लोकमें करते है:

तमपृच्छद् हृषीकेशः प्रणतं समवस्थितम्।
दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम्।।१०।।

सुवर्णकी मालावाले, देदीप्यमान शरीरवाले नम्रतापूर्वक सामने स्थित उस पुरुषसे भगवानने पूछा।।१०।।

यद्यपि आप उसके सर्व अन्तःकरणको जानते हैं, कारण आप इन्द्रियोंके ईश हैं, तो भी उसमें शास्त्रीय सामर्थ्य स्थापन करनेकेलिये, वचन द्वारा उनके अन्तःकरणको जगाते हैं, इसलिये आपको हृषीकेश कहा है. पहले यों अन्तःकरणको न जगाकर, अब क्यों जगाते हैं, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि पहले वह इस प्रकार नम्र हो कर सम्यक् प्रकारसे स्थिति नहीं थी. इसका भीतरी स्वरूप भी सुन्दर है, यह जतानेकेलिये बाहरकी कान्तिका वर्णन करते हुवे कहते हैं, कि जैसे भगवदीयका शरीर तेजस्वी होता है, वैसा यह भी तेजस्वी दीखने लगा. उत्तम योनिमें भी साधारण तथा विशेष भाव होते हैं अतः कदाचित् पशु-पक्षी आदिका शरीर अथवा स्त्री योनि मिले, तो इस शंकाको मिटानेकेलिये कहा है कि 'पुरुषं' अर्थात् उसको पुरुष शरीर मिला है उस पुरुष शरीरमें भी सर्वगुणोंकी पूर्णता दिखानेकेलिये 'हेममालिनं' पदसे कहा है, कि वह विशेष ही अलंकृत था, अर्थात् सर्वगुणोंसे सुशोभित था।।१०।।

'को भवान्' इस श्लोकमें भगवानने उससे उसके परिचयका प्रश्न किया है:

को भवान् परया लक्ष्म्या रोचतेऽद्भूतदर्शनः।
कथं जुगुप्सितामेतां वनं वा प्रापितोऽवशः ।।११।।

उत्तम कान्तिसे सुशोभित, अद्भुत दर्शन तूं कौन है? और यह निन्दितयोनि किसके वश होनेसे प्राप्त की है।।११।।

'कः' इस पदसे उसकी जाति और नाम पूछे हैं अर्थात् तेरा नाम क्या है और तेरी जाति क्या है? जो स्वभावसे भी महान् नहीं वह साधनसे सहसा महान् नहीं बन सकता है. भगवान् भी उसका वर्णन करते हुवे कहते हैं, कि परमकान्तिसे तूं सुशोभित हो रहा है, और यहां देव आदि सब आये तथा बहुत प्रकार देखे भी, लेकिन तूं अद्भुत दर्शन है अर्थात् तेरे समान आगे कोई तेजस्वी नहीं देखा. इस-इस प्रकारका तेजस्वी स्वरूप पुण्य समूह इकट्ठे होनेसे ही प्राप्त होता है और पुण्योंके रहते हुवे निन्दित योनि नहीं मिल सकती अतः अवश्य किसी न किसी शापके कारण यह गति हुई है और यहां वनमें किसने भेजा है यह ज्ञातव्य है।।११।।

यह पहले भी सांप था, भगवत्कृपासे विद्याधर बना, यह फिर सांप ही हो गया, अतः 'सर्प उवाच' कहा है अर्थात् सांप अपनी आगेकी जीवनी निम्न दो श्लोकोंसे कहने लगा:

सर्प उवाच

अहं विद्याधरः कश्चित् सुदर्शन इति श्रुतः।
श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या विमानेनाचरन् दिशः ।।१२।।
ऋषीन् विरूपानाङ्गिरसः प्राहसं रूपदर्पितः।
तैरिमां प्रापितो योनिं प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना ।।१३।।

सर्प कहने लगा कि, मैं सुदर्शन नामसे प्रसिद्ध कोई विद्याधर था, मेरा रूप सुन्दर था और मेरे पास धन आदि भी था जिससे विमानमें बैठ दिशामें घूम रहा था, वहां मैंने कुरूप आंगिरस ऋषियोंको देखा, अपने सुन्दररूपसे गर्वित मैंने उनकी हंसी(मजाक) उड़ाई, मजाकसे क्षुब्ध उन ऋषियों द्वारा इस योनिको प्राप्त हुआ हूं, यह मेरे पापोंका ही फल है।।१२-१३।।

विद्याधर एक प्रकारकी देवयोनि है उस योनिमें यह अप्रसिद्ध कोई

विद्याधर था. सुदर्शन नामसे सर्वत्र पहचाना जाता था, जिस नामसे इसकी प्रसिद्धि थी वह(सुदर्शन) नाम वैष्णव था, इस कारणसे ही, आगे भगवत्कृपा हुई. इसमें देहकी कान्ति(तेज), धन और अद्‌भुत सामर्थ्य ये तीन गुण पहले भी थे जिसका वर्णन श्लोकमें श्रिया(इससे धन), स्वरूपसम्पत्या(इससे देहकी कान्ति) और 'विमानेन'(इससे अद्भुत सामर्थ्य) इन तीन पदोंसे किया है. दश दिशाओंमें घूमनेसे उसकी गति भी बिना रुकावटवाली बताई है. इस प्रकार स्वरूप कह कर अब किया हुआ अपराध और उसके फलका वर्णन करता है. अंगिरस गोत्रमें उत्पन्न ऋषि अष्टावक्रके समान कुरूप थे, मैं स्वयं सुन्दररूप होनेसे अभिमानी था अतः उन पर हंसा जैसे प्राकृत बालक हसता है. पश्चात् उनके शापसे इस सर्पयोनिको प्राप्त हुआ. सर्पयोनिको प्राप्तिका कारण, ऋषियोंका मेरे हंसनेसे एवं विशेषतः वक्रोक्तियोंसे क्षुब्ध होना है. बिना कारण अपने स्वरूप मात्रसे लोगोंको उद्विग्न कर देनेवाला सर्प ही होता है. अतः बिना कारण ऋषियोंको क्षोभित करनेका फल इस सर्पयोनिकी प्राप्ति है. इस स्वल्प अपराधका इतना महान् दण्ड क्यों दिया? जिसके उत्तरमें कहता है, कि मेरे पापसे महान् दण्ड मिला है, मैंने पूर्वजन्ममें ब्राह्मणकी वृत्तिका अपहरण किया था, उसका फल होनेवाला ही था केवल ऋषियोंने प्रकट किया है।।१२-१३।।

इस प्रकार अपराध और शापका निरूपणकर, वह वैष्णव था जिसको सिद्ध करनेकेलिए, उसकी निर्मत्सरता निम्न श्लोक 'शापो मे'से बताते है:

शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः।
यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः ।।१४।।

उन दयावानोंने, भगवानका इस पर अनुग्रह हो, इसलिए ही मुझे शाप दिया है, जिस शापके कारण, लोकगुरुके चरणसे मैं छूआ गया जिससे मेरे पाप नष्ट हुए।।१४।।

विद्याधर योनिसे न जाने कब मुक्ति मिलती? अतः यह शाप कृपाकेलिये ही है, यद्यपि लोकमें अनिष्टरूप है, तो भी मेरे अनुग्रहार्थ ही हुआ है, कारणकि वे दयावान हैं, दयावानोंका शाप अनुग्रहके सिवाय अन्य(दुःख आदि देने)केलिये नहीं होता है. वे शाप देनेवाले साधारण नहीं थे, किन्तु प्रसिद्ध आंगिरस कुलमें उत्पन्न होनेसे कृपायुक्त गुणवाले थे, उनका वह शाप अनुग्रहरूप फलदाता हुआ है, जैसे कि लोकगुरुसे स्वचरणस्पर्श कआकर मेरे पाप नाश किये.

दोषरूप शापसे, इष्ट फलकी सिद्धि कैसे हुई? जिसके उत्तरमें कहता है कि उन दयालुओंने ही शापको अपूर्व प्रकारका किया है अर्थात् शाप सदैव अनिष्ट करता है, किन्तु यह शाप इष्ट करेगा वैसी अद्‌भुतता इसमें धर दी है, जिससे भगवानके दर्शन हुवे, जो भगवानके दर्शन ऋषियोंके अनुग्रहसे होते हैं वे शापसे हुवे हैं, यह ही उनका अनुग्रह है. तीन लोकोंके ज्ञानोपदेशक गुरुके चरणस्पर्श हुवे. गुरु सेवासे ही ज्ञान सिद्ध होता है. वह सेवा तब पुष्ट होती है जब गुरु स्वयं चरणसे स्पर्श करते हैं. जो दृढ विश्वासवाला तथा अति प्रेमी होता है, उसको ही गुरु स्वयं चरणसे स्पर्श करते हैं. 'हताशुभ' पदसे कहता है कि गुरुके चरणस्पर्शसे ही अपराध(आंगिरसों पर हंसना) तथा पूर्वजन्मकृत पाप (ब्राह्मण वृत्तिका अपहरण) दोनों नष्ट हो गये।।१४।।

इस प्रकार भगवच्चरणके स्पर्शकी प्रशंसाकर, उससे ही मिले हुए फलका प्रार्थनाके मिषसे निम्न साढे तीन श्लोकोंसे सर्प वर्णन करता है:

तं त्वाहं भवभीतानां प्रपन्नानां भयापहम्।
आपृच्छे शापनिर्मुक्तः पादस्पर्शादमीवहन्।।१५।।
प्रपन्नोऽस्मि महायोगिन् महापुरुष सत्पते।
अनुजानीहि मां देव सर्वलोकेश्वरेश्वर।।१६।।
ब्रह्मदण्डाद्विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात्।
यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतृनात्मानमेव च।।१७।।
सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते।

संसारसे डर कर शरण आए हुए जनोंके भयको मिटानेवाले उन आपके पादस्पर्शसे पापमुक्त हुआ मैं, हे पापनाशक! आपसे सम्भाषण करता हूं।।१५।।

हे महायोगी! हे महापुरुष! हे सत्पते! मैं आपकी शरण हूं, हे सर्व लोकेश्वरोंके ईश्वर! हे देव! मुझे आज्ञा दीजिए।।१६।।

हे अच्युत! आपके दर्शनसे मैं अभी ब्राह्मणोंके शापसे छूटा हूं, जो मनुष्य आपका नाम लेता है, वह अपनेको और जिनको सुनाता हैं, उन सुननेवालोंको भी उसी समय पवित्र करता है, फिर उस आपके चरणसे स्पृष्ट हुआ मैं पवित्र हो जाऊं, जिसमें कहना ही क्या है?।।१७।।

प्रारम्भमें भगवानसे फलानुज्ञाकेलिये प्रार्थना करता है. वह भगवान् कैसे है? जिसकेलिये कहता है, कि वे सर्व प्रकारके फलोंको देनेवाले हैं, और दुःखसे

पार करने योग्य संसारसे डरे हुवे जो कोई आपके शरण आये हैं, आप उनके भयको भी दूर करते हैं. यद्यपि भगवत् सेवाकेलिये ही, वे जगतमें उत्पन्न हुवे हैं, किन्तु वे सब सांसारिक मायासे भगवत्सेवासे विमुख हो जाते हैं, तो भी 'कृष्ण तवास्मि' इस प्रकार जिसने कह कर आपकी शरण ग्रहण की, उसके सर्व ही भय आप दूर करते हैं. हम अपराधी हैं, कारणकि नन्दजीको ग्रस गये थे तो भी, आपकी शरण लेनेसे, हमारा भय भी निवृत्त हो गया है. आपके चरणस्पर्शसे वह शंका भी निवृत्त हो गई कि आप क्या करेंगे? इसलिये आपसे सम्भाषण करता हूं. शापके छूट जानेसे, मध्यमें उत्पन्न हुआ उपद्रव तथा दोष दोनों नष्ट हो गये हैं, वे तो नष्ट हो गये, किन्तु सहज पाप जो विद्यमान हैं, उनके होते हुवे सम्भाषणकी योग्यता कैसे होगी? इसके उत्तरमें कहता है, कि आपके दर्शन पापको नष्ट करनेवाले हैं, जिससे सम्भाषणकी योग्यता मुझे प्राप्त है. सांपके मनमें यह विचार हुआ, कि किसी दूसरेकी प्रेरणासे दण्ड करते तो? इस भयसे जानेकी प्रार्थना शीघ्र करता हुआ फिर प्रार्थना करता है, कि मैं आपकी शरण आया हूं. शरण आये हुवेके सर्व पाप अपराध नष्ट हो जाते हैं. आप संसारी नहीं हो, किन्तु महान् योगी हो अतः ये नन्दादि आपके पिता आदि नहीं है, परन्तु आप योगके महान् प्रभावके कारण, यह पिता है, मैं पुत्र हूं वैसा दिखावा(अनुकरण) करते हैं. आपको कोई नहीं पहचान सकता है, क्योंकि आप महान् योगी हैं. जो तुच्छ होता है, वह छोटेके अपराध पर ध्यान देता है, आप तो महान् पुरुष हैं, सन्तोंके भी स्वामी है, जब सन्त सब कुछ सहन करते हैं, तो सन्तोंके पति आप कौन सा अपराध है, जिसको सहन न कर सको? अतः सर्व प्रकार मेरे अपराधोंको सहन करना ही योग्य है, इसलिये मुझे सेवक १जान कर जानेकी आज्ञा दीजिये. आप भी देव हैं अतः देवयोनि विद्याधरका पक्षपात करना आपको योग्य है, यह पक्षपात मनुष्यका पक्षपात नहीं है. यदि आप कहो कि मैं तो सर्व सहन कर आज्ञा दे भी दूं तो क्या यमादिक पीड़ा न करेंगे? मेरे भक्तोंके अपराधीको कालादिक तो दण्ड करेंगे ही. इस पर मैं कहता हूं, कि आप जो सर्वलोकोंके ईश्वर हैं उनके भी आप ईश्वर हैं, अतः आपकी कृपा होनेसे अन्य किसीकी भी चिन्ता न है, न होगी.

यदि भगवान् कह दे, कि मैं उदासीन हूं, मेरा न कोई शत्रु है और न कोई प्यारा है अतः जिन कर्मोंके करनेका शास्त्र निषेध करते हैं, उनके करनेवालोंको कालादिक बाध(दण्ड देनेवाले हैं) ही करनेवाले हैं. इस पर कहता है कि हे

अच्युत! आपके दर्शनसे ही मैं भी अभी ब्रह्मदण्डसे मुक्त हुआ हूं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है. यद्यपि आप उदासीन हैं तो भी आपके धर्म उदासीन नहीं है, यदि वे उदासीन होते तो आपके दर्शन मात्रसे ब्रह्मदण्डसे छुटकारा न हो जाता, उसमें भी तत्काल ही छुटकारा हो गया, जिससे निश्चय है कि आप चाहे उदासीन ही हो, तो भी आपके धर्म उदासीन नहीं हैं, और आप अच्युत हैं इसलिये आपके धर्म सर्वदा जागरुक हैं उनमें अनित्यता नहीं है, अर्थात् आपके धर्म अपना कार्य सदैव करते रहते हैं, यों नहीं है, कि कभी करे, कभी न करे, अतः जो ब्रह्मदण्ड आपके दर्शनधर्मसे नाश हुआ सो हो ही गया है. यदि यों कहा जाये कि जितने अनिष्ट निवृत्तिकी आवश्यकता थी उतनेकी निवृत्ति हुई, शेष रहा है सर्वकी निवृत्ति नहीं हुई है, इस पर सर्प कहता है, कि मेरे सर्वपाप निवृत्त हो गये हैं, वैसा मुझे पूर्ण निश्चय है किसी प्रकारका भी उसमें संशय नहीं रहा है. मनुष्य, जिस(आप)के केवल नाम ग्रहणसे अपनेको और जिनको सुनाता है उन सुननेवालोंको भी निष्पाप करता है, उसमें भी खास अधिकारियोंको ही नहीं किन्तु सभीको निष्पाप करता है.

श्लोकमें 'एव' पद आया है कि जिसका आशय यह है, कि भगवानके नाम ग्रहणसे केवल देहके दोषका ही नाश नहीं होता जीवके अज्ञान आदि सभी दोष नष्ट हो जाते हैं. और 'च'का तात्पर्य है कि नाम श्रवण करनेवालोंके भी देहके तथा जीवके दोष नष्ट हो जाते हैं. नाम लेनेसे उसी वक्त पाप नाश हो कर शुद्धि हो जाती है. जिसका आशय है कि देश और काल कैसा भी हो तो भी नामसे शुद्धि हो जाती है अर्थात् नाम लेनेमें देश और काल पवित्र होने चाहिये उसकी अपेक्षा नहीं है. एक वक्त एक नाम ग्रहणका इतना महान् फल है तो जो सदैव नाम रटता ही रहता है नाम उसको पवित्र करे इसमें कहना ही क्या है? जहां केवल नामका ही इतना माहात्म्य है वहां उसके स्वरूपके माहात्म्यकी क्या महिमा होगी? उसको बताते हुवे सर्प कहता है, कि मैं उसके चरणसे स्पृष्ट हूं, चरणस्पर्श अतिशय दुर्लभ हैं उसमें भी भगवान् स्वयं चरणस्पर्श करावे यह तो अत्यन्त ही दुर्लभतम है. चरणका स्पर्श तो सर्व स्पर्शोंसे विशेष स्पर्श है, कारणकि चरणमें रज, गंगा आदि तीर्थ, अमृतरस तथा भक्त रहते हैं, इसलिये उसके स्पर्शसे सर्वदोष नाश हो जाते हैं वह योग्य ही है, श्लोकमें आये हुवे 'हि' शब्द देनेका यह आशय है, उसमें भी सर्वसे विशेषता यह है कि सर्वदोषोंके निवारणकेलिये ही आप अवतीर्ण हुवे हैं यह आशय 'तस्य' और 'ते' शब्दोंसे निकलता है।।१७।।

भगवानको इससे विशेष कुछ भी कहना नहीं था, अतः आपने मौन धारण कर ली, जिसका आशय है कि प्रार्थनाकी स्वीकृति अर्थात् सर्पने जानेकेलिए जो आज्ञा प्रदान करनेकी प्रार्थना की थी वह भगवानने स्वीकार कर ली है, यों समझकर, वह स्वयं चला गया जिसका वर्णन 'इत्यनुज्ञाप्य' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं:

श्रीशुक उवाच

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याभिवाद्य च।
सुदर्शनो दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः ।।१८।।

इस प्रकार सुदर्शनने सेव्य प्रभुसे आज्ञा लेकर, उनकी परिक्रमा तथा अभिवादनकर, स्वर्गमें गया और नन्दजी दुःखसे छूटे।।१८।।

भगवान् दाशार्ह है, अर्थात् इस प्रकारके भाववालेसे ही स्वामी सेव्य है. सुदर्शनने सर्व पुरुषार्थोंकी सिद्धिकेलिये जो साधन किये उनको कहते हैं.

१.प्रदक्षिणा करनेसे उसने चारों पुरुषार्थोंको अपने घेरेमें ले लिया, जिससे सिद्धि उसके आधीन हो गई, और अभिवादनसे आशीर्वाद प्राप्त कर ली, जिससे फल प्राप्तिमें भी उसको स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई. यों होनेसे पुरुषार्थ अंग हो गये, और सुदर्शन अंगी हो गया जिससे सुदर्शनकी अधिकता प्रकट हो गई. श्लोकमें आये हुवे प्रथम 'च'का आशय यह है कि, सुदर्शनने केवल नमन नहीं किया, किन्तु स्तुति करके नमन किया है, अथवा यह भी आशय हो सकता है भगवानने जानेकी आज्ञा दी, अथवा भगवानने सुदर्शनको 'तथा' कहा अर्थात् भगवानने कह दिया, कि जो जिस प्रकार मेरी शरण आता है, मैं भी उसकी कामना उस प्रकार पूर्ण करता हूं यों 'तथा' कहनेसे सर्व पुरुषार्थ उसको दे दिये अतः सुदर्शन नाम होनेसे, वह अपने विद्याधर लोकमें गया. कारणकि सर्व दोषोंसे वह मुक्त हो गया था और वैसे नन्दजी भी दुःखसे छूट गये. दूसरे 'च'का आशय है कि भगवानका वैभव भी जान लिया।।१८।।

इस लीलासे सर्व गोप सर्व प्रकार भगवत्परायण हुए जिसका वर्णन शुकदेवजी 'निशाम्य' श्लोकमें करते हैं:

निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवं व्रजौकसो विस्मितचेतसस्ततः ।
समाप्य तस्मिन्नियमं पुनर्व्रजं नृप ययुस्तत्कथयन्त आदृताः।।१९।।

हे नृप! श्रीकृष्णचन्द्रके इस स्वरूप वैभवको देख व्रजवासी मनमें

आश्चर्य करने लगे पश्चात् जो नियम लिया था उसे समाप्तकर, आदर सहित उन्हीं चरित्रोंका गान करते हुए व्रजमें लौट आए।।१९।।

कृष्णके उस वैभवको समझकर, सब ही व्रजवासियोंके चित्त अचम्भेमें पड़ गये, कारणकि भगवानने अपना अलौकिक सामर्थ्य प्रकट किया. यहां जो कुछ हुआ वह साधनसे साध्य नहीं था, जिससे पहलेमें ही इसकी गिनती की जावे, किन्तु यह तो प्रमेयरूप वैभव है. यदि यह प्रमेयरूप प्रभाव न होवे तो केवल पादस्पर्श जैसा सूक्ष्मकार्य इस बड़े कार्यको कैसे सिद्ध कर सकता जिसको जली हुई महान् लकड़ियों भी नहीं कर सकी. अतः निश्चय है कि यह प्रमेयरूप वैभव ही है. श्लोकमें 'कृष्णस्य' पदसे स्पष्ट कर दिया है, कि अपने अनुभवसे सिद्ध है कि ये परमानन्दरूप हैं अर्थात् धर्मीरूप हैं जिससे इस कार्यको सिद्ध कर अपना उत्कर्ष प्रकट किया है. यह प्रभाव भगवान् कृष्णके अपने स्वरूपका ही है, न कि उनकी शक्तिका. इससे स्वरूप ही वैसा है, यों स्वीकार करना चाहिये. जिसमें ज्ञान और क्रियादिकोंका अभाव है, अर्थात् यह कार्य भगवानने स्वस्वरूपसे किया है, न कि ज्ञान क्रिया आदि शक्तियोंसे किया है. 'व्रजौकस' पदसे यह बताया है, कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण है. इस स्वरूप वैभवसे गोपोंको श्रीकृष्णमें पूर्ण विश्वास हो गया है. क्रियासे विस्मित थे फिर भी इस स्वरूप वैभवसे विस्मित चित्तवाले हो गये. पश्चात् उन भगवानको अपना कर्म समर्पण कर फिर व्रजको गये. यदि अपना कर्म भगवानको अर्पण नहीं कर जाते, तो फिर कोई विघ्न हो जाता. फिर व्रजमें इसलिये गये जो वहां ही सर्व सिद्धिकी प्राप्ति होनेवाली है, अतः मनसे भी अन्यत्र जानेकी इच्छा नहीं की. परीक्षितको 'नृप' कहनेका शुकदेवजीका यह भाव था, कि परीक्षित इस पर विश्वास करे. राजाओंका विश्वास प्रत्यक्ष पर ही होता है. आदरसे भगवानके चरित्र गाते हुवे व्रजमें जाने लगे, जिससे यह ज्ञात होता है कि गोपोंके अन्तःकरणमें भगवानका प्रभाव जम गया है।।१९।।

इस प्रकार भगवानने गोपोंको अपने अनन्य भजनकी सिद्धिकेलिए जो अपनी सामर्थ्य दिखाई, उसका शुकदेवजीने वर्णनकर, अब शब्दात्मक ब्रह्मानन्द को गोपिकाओं द्वारा सर्वमें भरनेकेलिए, भगवानने शब्दात्मक बलभद्रजीको अपने साथ ले, पुनः गोपियोंसे क्रीड़ा की, जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी निम्न १३श्लोकों से करते है:

कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भूतविक्रमः।
विजह्रतुर्वने रात्र्यां मध्ये गोव्रजयोषिताम्।।२०।।

कभी अद्भुत पराक्रमवाले गोविन्द और बलदेवजी व्रजांगनाओंके मध्य, रात्रिके समय, वनमें क्रीड़ा करते थे।।२०।।

(यह लीला शब्दब्रह्मकी लीला है, उसमें काल मुख्य है, अर्थात् जिस कर्मकेलिये जो काल नियत हुआ है उसमें ही वह किया जाता है. जैसेकि कहा है 'उदिते जुहोति' सूर्योदयमें, होम करता है अतः कहा जाता है, कि शब्दब्रह्मकी) इस लीलामें काल प्रधान है, जिससे उसमें दैत्य बाधा कर सकते हैं. जिन बाधाओंको भगवान् अपनी सामर्थ्यसे दूर करते हैं उससे शब्दब्रह्मका माहात्म्य प्रकट होता है, इसलिये इस लीला प्रसंगमें भगवान् शंखचूड़ दैत्यसे प्राप्त की हुई मणिको ला कर अपने बड़े भ्राता बलदेवजीको देते हैं.

जब लौकिक तथा अलौकिक माहात्म्यका ज्ञान होता है, तब वेद स्वतः प्रमाण है, यह स्वयं सिद्ध हो जाता है, यदि यों न होवे, तो भ्रान्त हुवे मीमांसकोंके समान, समग्र वेद उत्प्रेक्षा पर हो जायेगा. श्लोकमें 'कदाचित्' शब्द आया है, जिसका तात्पर्य है जब शीतकाल नहीं था उस समय, और 'अथ' शब्द आया है जिसका तात्पर्य यह है, कि अब यह लीला उस लीलासे पृथक् प्रकारकी है. कारणकि ये गोपियां पूर्वक्रीड़ामें जो गोपियां थीं, वे नहीं है, अन्य प्रकारकी हैं. पहले जिन गोपियोंने यों समझा था, कि यों क्रीड़ा करना शास्त्रके अनुसार नहीं है, इसलिये क्रीड़ासे दूर रही थी तथा जो पति आदिके भयसे सम्मिलित नहीं हुई थी वे दोनों, शास्त्र और लौकिक परायण रह गई थीं, अब वे भी भगवानका अनुभाव देख समझने लगीं, कि सब कुछ भगवानके आधीन हैं, जिससे उनको बलभद्र तथा भगवानके साथ रमण करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई. भगवान् गोविन्द होनेसे उनके भी इन्द्र हैं अतः क्रियाशक्ति बलरामजीको मुख्य बनाकर, रमण करने लगी. अद्भुत पराक्रमी बलरामजीके साथ रमणसे चित्त प्रसन्न होगा अतः उनसे भी रमणकी गोपीजनोंको इच्छा हुई, श्लोकमें 'च' शब्द आया है उसका आशय यह है कि उस समय श्रीबलरामजीमें भगवानका आवेश भी हो गया था. इससे यह ज्ञात होता है कि जो मध्यमाधिकारियोंका वेदनिष्ठ होना दोष नहीं. अन्यथा जो प्रमाण पर(वेद अथवा बलरामजीमें निष्ठावाले हैं) हैं उनकी अनन्यताका भंग हो जायेगा. 'रामश्चादभुत विक्रमः' अर्थात् रामका अद्भुत पराक्रम है. यों कहनेसे, जो केवल

अर्थ पर हैं (अर्थात् वेदके कल्पमें जो बिना खींचतान किये जो अर्थ निकलता हो उसे अनुसरण करते हो एवं भगवान्के कल्पमें जो अपनी रक्षा एवं कामसुखके प्रयोजनमें लगे हुवे हों अर्थात् भगवानमें जिनकी निष्ठा सोपाधिक हो ऐसे) उनकेलिये इनकी उपयोगिता दिखलाई अन्यथा (यों अधिकारीभेदके भजनमें भेद होता और भजनके कारण फलमें भी यों इसीको उपपन्न करनेकेलिये दोनों रूपमें भगवानकी क्रीड़ा हो रही है, यदि दोनों रूपोंमें लीला न करें तो) इतरका निराकरण (वेदके कल्पमें परिसंख्या विधिकी तरह अर्थात् 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'का तात्पर्य जैसे इतर पशुओंके भक्षणके निषेधमें है वैसे सारी विधियोंका तात्पर्य वैदिकेतर कर्मके निषेधमें सिद्ध होगा न कि वैदिक कर्मके विधानमें, एवं भगवानके शंखचूड़का वध इतर निराकरण है) एवं स्वार्थके निरूपणमें (वेदके कल्पमें वैदिक कर्मोंके न करने पर प्रत्यवाय होता है अतः अवश्य करने भी चाहिये यों विधानमें तात्पर्य अर्थ होगा तथा भगवानके कल्पमें स्वार्थका ऊपर दे ही दिया गया है) भी दुहरी कृत्ति माननी पड़ेगी (जिसे मीमांसामें वाक्यभेद कहते हैं यह एक दोष है) अर्थकी भांति शब्दकी भी लीला है, अतः 'वने तथा रात्र्यां' कहा है. तात्पर्य यह है कि शब्द अर्थसे पृथक् नहीं है और अर्थ शब्दसे पृथक् नहीं है दोनों एक ही है, इसलिये दोनों वनमें रात्रिके समय रमण करने लगे.

दोनोंने साथ मिल कर रमण किया, उस समय जो गोपियां थी वे पूर्व रमणवाली गोपियोंसे हीनाधिकारिणियां थी, ये गोपियां गौ जिसमें मुख्य है वैसे व्रजसे सम्बन्धवाली थी।।२०।।

टिप्पणीजीका आशय: लौकिक एवं अलौकिक माहात्म्यके न जानने पर फलश्रुति अर्थात् किस कर्मको करनेसे क्या फल होगा यह बतानेवाले वचनोंकी संगति यदि प्रत्यक्षसे न बैठे तो उसे उत्प्रेक्षा परक मानना यह आधुनिक मीमांसकोंका स्वभाव है. जैसे 'यजमानः प्रस्तरः' यहां प्रत्यक्षमें यजमान प्रस्तर-यागमें उपयोग आनेवाली दर्भमुष्टि-नहीं है अतः यजमानको प्रस्तर कहनेका तात्पर्य है कि वह भी प्रस्तरकी तरह यागमें अत्युपयोगी है. अर्थात् यह आलंकारिक प्रयोग हुआ. वस्तुतः तो बात यह है, कि लौकिक प्रमाणोंके आधार पर वेदके अर्थसे खिलवाड करनेवाले भ्रान्त ही हैं क्योंकि लौकिक प्रमाण अलौकिक अर्थके बारेमें कुछ भी ज्ञान उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं, अतः श्रुतिका प्रमाण होना इसीमें निहित मानना चाहिए कि जैसे श्रुति कहती है वही वस्तुका अलौकिक स्वरूप है.

इस लीलामें शब्दकी मुख्यता निरूपण करनेकेलिए निम्न 'उपगीयमानौ'

श्लोक कहते हैं:

उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः ।
अलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजाम्बरौ ।।२१।।

स्नेहवाली स्त्रियां आपकी लीला मनोहररीतिसे गा रही थी, दोनों भ्राताओंने सुन्दर आभूषण पहने थे, शरीर पर चन्दनका लेप किया था, वनमाला पहनी थी तथा सुन्दर वस्त्र धारण किए थे।।२१।।

सकल स्त्रियोंके अन्तःकरण भगवान्के स्नेहसे सम्बद्ध हो गये थे, जिससे वे भगवानके गुणगानमें परायण हो गई थी. इससे उनका भीतर और बाहरका भाव वर्णन किया है. इस प्रकारसे योग्य स्नेहवालियोंके साथ अपना भाव भी सर्वोत्कृष्ट प्रकट कर दिखाना योग्य है, इससे दोनोंके षड्गुणोंका वर्णन साढ़े तीन श्लोकोमें करते हैं.

सर्व प्रथम अलंकृत होनेका अर्थात् सर्वाभरणोंसे भूषित होनेका वर्णन करते हैं. शब्दके कल्पमें शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरक्त आदि वेदके अलंकार हैं. तथा अर्थके कल्पमें देश आदि उत्कृष्ट अलंकार हैं. यदि इस तरह अलंकृत न हों तो उनमें रति उत्पन्न न होती. वे दोनों(राम-कृष्ण) अंगों पर चन्दनका लेप लगाये हुवे, जिससे उनमेंसे सद्वासना प्रकट हो रही थी. सद्वासनासे रति उत्पन्न होती है. श्लोकमें 'अङ्ग' पदसे यह प्रकट होता है कि, सकल अंगोंसे सद्वासना प्रकट हो रही थी. जब तक कीर्ति न हो तब तक भी रति उत्पन्न नहीं होती, अतः दोनोंने माला धारण कर कीर्ति प्रकट की. रति वृद्धिकेलिये सभी तरहके दोषोंका न होना भी आवश्यक है और इसी तरह शुद्ध मायाका होना भी अतः रजरहित शुद्ध वस्त्र धारण कर अपने दोषाभाव प्रकट किये।।२१।।

निशामुखं मानयन्तावुदितोडुपतारकम् ।
मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना ।।२२।।

चन्द्र तथा तारोंके उदयवाले, मल्लिकाकी गन्धसे मदमें भरे भ्रमरोंके नादसे सेवित और कमलोंकी सुगन्धवाली वायुवाले, उत्तम सन्ध्याकालका दोनों सन्मान करते थे।।२२।।

निशामुख अर्थात् सन्ध्याकालका दोनोंने सन्मान किया, कारणकि कर्म करनेमें रात्रिकी प्रधानता है जिससे सन्ध्यावन्दन अग्निहोत्र आदि कर्म सन्ध्याके समय किये जाते हैं, यह काल गुणवाला होनेसे, चालू प्रसंगमें उपयोगी है अतः

शुकदेवजी उसके गुणोंका वर्णन करते हैं. उस समय चन्द्रमा तथा तारे उदित हो गये थे. चन्द्रमाके उदयके वर्णनसे ज्ञात होता है, कि वह दिन पूर्णिमाका था क्योंकि पूर्णिमामें ही चन्द्रमाका उदय सन्ध्याकालमें हो जाता है, और नक्षत्र भी चमक रहे थे, जिससे प्रकट होता है कि आकाश निर्मल है अर्थात् मेघाच्छन्न नहीं है. इसमें प्रमाण चन्द्रमा है और फल नक्षत्र है यह भी सूचित हुआ. उस समय जो कमलोंकी गन्धवाली पुण्य वायु चल रही थी वह फलकी सूचना करनेवाली थी. मल्लिकाकी गन्धसे मत्त भ्रमरोंसे सेवित कहनेसे बताया है, कि इस कालका सेवन करनेवाले उत्तमाधिकारी भी हैं. मल्लिका पुष्पोंकी गन्ध उत्तम महकवाली है उससे जो मत्त होते हैं वे दूसरे सबको भूल जाते हैं. भ्रमरोंके छ पैर होते हैं, जिसका आशय है वे सर्वज्ञ हैं वैसे भ्रमरोंसे सेवित यह काल है. इस प्रकार कालकी तीन तरहकी उत्तमता वर्णन की है, वैसे कालकेलिये दोनों भ्राता 'यह काल सुन्दर है', यों कहते हुवे उसकी स्तुति करते थे. काल कर्मका अंग है, उसकी स्तुति कर दोनोंने यह बताया है कि वेदमें जो कालकी फलश्रुति है वह योग्य है।।२२।।

जगतुः सर्वभूतानां मनःश्रवणमङ्गलम्।
तौ कल्पयन्तौ युगपत्स्वरमण्डलमूर्च्छितम्।।२३।।

सर्व प्राणियोंके मन और कानोंके मंगलकारी जैसे हो, वैसे एक साथ स्वरके मण्डलोंकी मूर्छना करते हुए दोनों भ्राता गान करने लगे।।२३।।

तब दोनोंने सर्व प्राणियोंके मन और कर्णोंकेलिये मंगलकारक गान किया. यह गान अन्तमें अर्थात् फलरूपमें उत्तम होनेसे मनकेलिये मंगलरूप था स्वरूपतः उत्तम होनेसे श्रवण मंगल था. गानकी विशेषता बतानेकेलिये शुकदेवजी कहते हैं, कि वे दोनों एक ही समयमें साथ ही स्वर समूहकी मूर्छना करते थे, यों कहनेका भावार्थ यह है, कि बलरामजी और श्रीकृष्णका मुख एक है अर्थात् उनमें भेद नहीं है. वे दो दीखते हुवे भी एक है, बलदेवजी वेदरूप हैं तो श्रीकृष्ण वेदके अर्थरूप हैं. जब तक गानमें मूर्छना प्रकट नहीं होती है तब तक मन लीन नहीं होता है, और लयके सिवाय सर्वात्मभावसे तत्परता भी नहीं होती है, इसलिये गान इस प्रकार किया, जैसे मूर्छना तथा लय प्रकट देखनेमें आवे।।२३।।

पश्चात् उस(गान)का फल भी हुआ, जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी 'गोप्यः' श्लोकमें करते हैं:

गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाविदन् नृप।

स्रंसद्दुकूलमात्मानं स्रस्तकेशस्रजं ततः ।।२४।।

हे नृप! गोपियां वह गीत सुन कर मूर्छित हो गईं, जिससे उनका अपने वस्त्रोंके गिर जानेका और केशोंमें गूंथे हुए फूलोंके गिरनेका भी भान नहीं रहा।।२४।।

उन दोनोंका इस प्रकारसे किया हुआ गान सुनकर, गोपियां अपनेको भूल गई. यहां 'आत्मानं' अर्थात् अपनेको कहनेका भाव बताते हैं कि मूर्छामें भी वासना रहती है, किन्तु इनको वैसी मूर्छा न थी जिसमें वासना हो. वासनारहित थी जिससे अपनेको भी भूल गईं इसलिये श्लोकमें 'आत्मानं' पद दिया है. परीक्षितको नृप विशेषण इसलिये दिया है, कि वह गीतरसको जानता है. गोपियोंमें गान सुननेसे वैसा गूढभाव उत्पन्न हुआ, जो भाव कभी भी विस्मृत होनेवाला नहीं है जिसका वर्णन करते हैं, उस भावमें ऐसे मग्न हो गई कि उनको अपने अधोवस्त्र जो गिरने जैसे हो गये उनका भी ध्यान नहीं रहा. तथा केशोंसे पुष्प गिर रहे थे, उनका भी ज्ञान नहीं रहा. इससे प्रमाणित होता है कि गोपियोंको देहकी अत्यन्त विस्मृति हो गई।।२४।।

जहां प्रमाणका बल होता है, वहां दैत्य उपद्रव करते ही है, उसके निरूपणकेलिए 'एवं विक्रीड़तोः' श्लोकमें लीलाका उपसंहार करते है:

एवं विक्रीडतोः स्वैरं गायतोः सम्प्रमत्तवत् ।
शङ्खचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात् ।।२५।।

इस प्रकार स्वेच्छाके अनुसार मदोन्मत्तकी भांति दोनों भ्राताओंके गाते और क्रीड़ा करते समय शंखचूड़ नामवाला कुबेरका सेवक आ गया।।२५।।

दोनों भ्राता स्वच्छन्द हो कर विशेष प्रकारसे क्रीड़ा करने लगे. स्वच्छन्दताका कारण कहते हैं कि जिससे क्रीड़ा कर रहे थे, वे गोपियां मूर्छित जैसी एवं प्रमत्त जैसी थीं इसलिये वे भी प्रमत्त जैसी क्रीड़ा करने लगे. गान करते हुवे बीचमें क्रीड़ा करते थे, फिर क्रीड़ा आधेमें छोड़ गान करते थे इस मदोन्मत्त जैसे बन कर गान और विशेष क्रीड़ामें मग्न थे. वैसे प्रमत्त बन जानेका कारण यह था, कि जिनसे क्रीड़ा कर रहे थे वे प्रमत्त थी अतः इनको भी वैसा ही बनना पड़ा. समान धर्मी होने पर ही रसकी अभिव्यक्ति होती है. दोनों(बलरामजी और श्रीकृष्ण)को इस क्रीड़ामें समान दिखलाया गया है जिसका तात्पर्य यह है, कि इस क्रीड़ामें बलदेवजीमें श्रीकृष्णका आवेश है अतः दोनोंकी समानता कही है.

इस प्रकार क्रीड़ा तथा गान करते हुवे जिस समय, सर्वकी अवस्था उन्मत्त जैसी हो गई, उस समय स्त्रियोंकी कामनावाला कोई शंखचूड़ नाम कुबेरका सेवक भगवानको प्राकृत पुरुष जान कर स्वयं उन स्त्रियोंको लेनेकेलिये आया, उसका नाम शंखचूड इसलिये पड़ा था जो इसके मस्तकमें शंखनिधि (लाख-करोड) थी, इस नामसे यह बताया गया है, कि धन जिनके पास होता है वे धनके मदसे मर्यादारहित हो कर अनुचित कार्य करते हैं, जिससे उनको शिक्षा देनेकेलिये महान् पुरुषोंको दण्ड देना पड़ता है, दण्ड देनेमें उन महापुरुषोंका कोई दोष नहीं है. जैसेकि नलकुबर और मणिग्रीव धनमदसे उन्मत्त हो, निर्लज्ज बन क्रीड़ा करते थे, उनके मदको नाश करनेकेलिये नारदजीने उनको शाप दिया, जिसमें नारदजीका कोई दोष नहीं है, यहां शंखचूड़ भी धनमदसे उन्मत्त हो भगवानको प्राकृत पुरुष जान स्त्रियोंको लेनेकेलिये आया है, इस अपराधसे भगवान् इसका नाश करेंगे जिसका दोष भगवानको भी नहीं लगेगा. कुबेरका नाम धनद कह कर यह समझाया है कि वहां सर्व सामग्री मदरूप है और जहां धन है वहां ही स्त्रियां हो यह उचित है. पाखण्डियोंकी बुद्धि सर्व श्रुतियोंका अर्थ लौकिक पदार्थ परक लगाती हैं।।२५।।

पश्चात् शंखचूड़ने जो कृत्य किया, उसका वर्णन 'तयोर्निरीक्षतो' श्लोकमें करते है:

तयोर्निरीक्षतो राजन् तन्नाथं प्रमदाजनम्।
क्रोशन्तं कालयामास दिश्युदीच्यामशङ्कितः।।२६।।

हे राजन्! उन दोनोंके देखते हुए तथा वे दोनों जिन स्त्रियोंके नाथ हैं ऐसी उन आक्रोश करती हुई स्त्रियोंको उठा कर निःशंक हो कर उत्तर दिशाकी तरफ चल पड़ा।।२६।।

श्लोकमें परीक्षितको हे राजन्! सम्बोधन देनेका आशय, आचार्यश्री प्रकट करते हैं, कि शत्रुओंकी स्त्रियोंको हरण करना, यह राजाओंका स्वाभाविक धर्म है उनमें यह सहजदोष है. शंखचूड़ भी राज सम्बन्धी है अतः उसमें भी वह दोष सहज ही है.

वे दो भ्राता जिनके नाथ हैं, वैसी चिल्लाती हुई विशेष स्त्रियोंके समूहको, जैसे कालके बलको कोई भी रोक नहीं सकता है, वैसे शंखचूड़ भी अपनेको वैसा समझ, निडर हो, उनको उत्तर दिशाकी तरफ ले जाने लगा,

कारणकि अपने घरमें अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है इसलिये भी उसको डर न हुआ वह समझने लगा कि भगवान् अब क्या करेंगे? ये गोपियां रास पञ्चाध्यायीवाली गोपियां नहीं थी यदि वे होती तो शंखचूड़को लेनेकी शक्ति न होती(रासस्थ गोपियां तो पुरुषोत्तम स्वरूपमें आसक्त थीं और ये साधारण गोपियां वेदरूप बलराम और अर्थरूप कृष्णचन्द्रमें आसक्त थीं) इसलिये इनकेलिये सामान्यवाचक जन शब्द दिया है।।२६।।

अनन्तर दोनों भ्राताओंने जो कुछ कृत्य किया उसका वर्णन 'क्रोशन्तं' श्लोकमें करते हैं:

क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम्।
यथा गा दस्युना ग्रस्ता भ्रातरावन्वधावताम्।।२७।।

जैसे डाकूसे पकड़ी हुई गाएं चिल्लाती(रंभाती) है वैसे ही अपनी की हुई गोपियोंको 'कृष्ण! राम!' इस प्रकार नाम ले-ले कर दुःखित ध्वनिसे पुकारती हुई देख कर दोनों भ्राता उनके पीछे दौड़े।।२७।।

जो हे कृष्ण! हे राम! इस प्रकार नाम ले कर वे आक्रन्द न करती तो उनको लोटा कर लानेकेलिये न भी जाते. भगवान् जिनका दूसरोंमें चित्त होता है, उनसे उनके चित्तको स्वतः नहीं हटाते हैं और उसमें भी, यदि वे दूसरेकी हो तो लौटानेका प्रयत्न न करें, किन्तु ये तो अपनी की हुई है. आपने पहले ही इनको अपना लिया है अतः चिल्लाते हुवे अपने परिग्रहको देख, दोनों भ्राता उनके पीछे दौड़े, कारणकि दोनोंका परिग्रह है दोनोंने उनको अपनाया है अतः दोनोंको उनकी रक्षा करनी योग्य है. श्लोकमें 'अनु' पदका भावार्थ बताते हैं, कि शंखचूड़के ले जानेके पीछे ये दोनों भ्राता दौडे थे।।२७।।

शंखचूड़ उनको दूर ले गया था, अतः उनको आश्वासन देनेकेलिए यहांसे ही जोरके शब्दोंसे कहने लगे 'मत डरो' जिसका वर्णन 'मा भैष्टेत्यभया-रावौ' इस श्लोकमें करते हैं:

मा भैष्टेत्यभयारावौ शालहस्तौ तरस्विनौ।
आसेदतुस्तं तरसा त्वरितं गुह्यकाधमम्।।२८।।

हाथमें शालके वृक्ष ले 'मत डरो मत डरो' ऐसे अभय शब्द कहते हुए अति वेगके साथ जल्दीसे दौड़ते हुए उस नीच यक्षके पास तुरन्त पहुंच गए।।२८।।

'मत डरो' यह वचन भयको दूर करनेवाला है. दोनों भ्राताओंके हाथोंमें

शालके वृक्ष थे जिससे उनकी महती समर्थता प्रकट हो रही थी. उस वृक्षका उनको किसी प्रकार प्रयोग करनेका नहीं था केवल अपनी सामर्थ्य दिखानी थी. बहुत वेगसे, जल्दी इसलिये जाने लगे जैसे वह एक स्त्रीको भी ले न जा सके और न किसीको स्पर्श भी कर सके, अतः जल्दीसे उसके पास पहुंच गये. यदि श्लोकमें 'आसेधतुस्तं' इसप्रकार पाठ माना जाये तो उसका अर्थ होगा 'तं' उस(शंखचूड़) को 'आसेधतु' रोक रखा अर्थात् पकड़ लिया. यह विचार नहीं किया कि देवता मनुष्यसे बलवान् होते हैं. जल्दी क्यों की? भाग न जावे इसीलिये जल्दी की, कारणकि यक्षोंमें यह नीच है भागनेमें इसको लज्जा न होगी, स्त्रियोंके ले जानेकेलिये आनेमें यक्षत्व प्रेरक था, भागनेमें इसकी अधमता प्रेरक थी।।२८।।

प्रथम गोपियोंको साथ ले, जल्दी जानेकी इच्छावाला था, किन्तु अब इनके पहुंचने पर आप अकेले भागनेका विचार करने लगा, जिसका वर्णन 'स वीक्ष्ण' श्लोकमें करते हैं:

स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन्।
विसृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया।।२९।।

काल वे मृत्युके समान उन भ्राताओंको यहां आया हुआ देख वह मूढ स्त्रीजनोंको छोड़ अकेला ही जीनेकी इच्छासे भाग गया।।२९।।

बलरामजी और श्रीकृष्णचन्द्रको अपने पास पहुंचा हुआ देख, वह अल्प बुद्धिवाला स्त्रीजनोंको छोड़ दौड़ गया. उस(शंखचूड़)को यों करनेकी बुद्धि इसलिये हुई कि उसको यह ज्ञान हो गया कि एक काल है अर्थात् मेरे मरनेका समय सिद्ध करनेवाला है और दूसरा मारनेवाला है. एकको भी हटा नहीं सकता हूं तो दोनोंको हटानेकेलिये क्या कहना है? इसलिये यदि जीना है तो भागना ही अच्छा है, जीता रहूंगा तो भोग भोग सकूंगा, यों निश्चयकर, भाग गया. यदि जीनेकी ही इच्छा थी तो भागनेके बदले शरण आ जाता, तो सत्य जीवन हो जाता, भाग जाना कोई जीनेका साधन नहीं था इसलिये ही श्लोकमें 'मूढः' कहा है. यह शंखचूड़ मूर्ख है, इस आशयको नहीं जानता है, अर्थात् भगवानके शरण जानेसे मेरा जीवन सुरक्षित रहेगा इस भावका उसको अज्ञान है।।२९।।

जो साधन नहीं है, उसको साधन समझ यदि कोई भी करता है, तो उसका कार्य पूर्ण नहीं होता है इसका वर्णन 'तमन्वधावत्' श्लोकमें करते हैं:

तमन्वधावद् गोविन्दो यत्र यत्र स धावति।

जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः ।।३०।।

जहां-जहां वह दौड़ता हुआ जा रहा था, वहां-वहां गोविन्द भी उसको पकड़ कर उसकी मणि लेनेकी इच्छासे उसके पीछे दौड़े, और बलरामजी वहां ही स्त्रियोंकी रक्षाकेलिए खड़े रहे।।३०।।

श्रीकृष्ण गोविन्द हैं अतः उनको अपनी क्रियाशक्तिका भक्तोंकेलिये उपयोग करना आवश्यक है, यदि भगवान् अपनी क्रियाशक्ति भक्तोंकी रक्षाके कार्यमें न लगावें तो आपका इन्द्रपन सिद्ध न होवे. दोष किसी प्रकार अंशरूप भी न रहे, जड़से कट जावे जिसको 'रक्षा' कहा जाता है. अतः जहां-जहां वह भागता था वहां-वहां कृष्ण भी उसके पीछे जाते थे. यदि कहो कि भगवान् दूरसे भी मार सकते हैं तो पीछे-पीछे दौड़नेकी क्या आवश्यकता थी, इसके उत्तरमें कहते हैं कि केवल वध नहीं करता था किन्तु उसके शिरमें जो मणि थी वह भी लेनी थी, यदि भगवान् उसको दूरसे मार देते तो वह मणि उसके सम्बन्धी यक्ष ले जाते, और जब तक उसके मस्तकमें मणि रहती है, तब तक वह मरता नहीं, मणिके होते हुवे शस्त्रोंसे भी उसका वध नहीं हो सकता. दूसरे किसी जीवसे भी वह मारा नहीं जाता, इसलिये अपना जाना ही आवश्यक था, बलरामजी स्त्रियोंकी रक्षा करते थे. यदि वहां स्त्रियोंकी रक्षाकेलिये बलरामजी न रहते, तो वहांसे कोई दूसरा यक्ष ले जाता, उस शंखचूड़के अन्य बहुत साथी थे जो स्त्रियोंका वध भी शायद कर दे अतः रक्षाकेलिये एकका वहां ठहरना आवश्यक था बलरामजी बलवान हैं, बहुत आवे तो उनसे भी रक्षा करनेमें शक्तिमान हैं, कारणकि स्त्रियां तो रक्षा करनेके ही योग्य हैं।।३०।।

पश्चात् भगवानने जो कुछ किया जिसका वर्णन 'अविदूर' श्लोकमें करते है:

अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः ।
जहार मुष्टिनैवाङ्ग सहचूडामणिं विभुः ।।३१।।

हे अंग! समीप हो, इस प्रकार उसके पास जाकर, उस दुष्टका शिर चूड़ामणिके साथ प्रभुने मुट्ठीमें लिया।।३१।।

कुछ दौड़नेके बाद भगवानने उसको पकड़ लिया. भगवानने उसको ऐसे पकड़ लिया, जैसे कोई पासमें खड़ा हो यद्यपि वह बहुत दूर चला गया था. पकड़ते ही उसके शिरका हरण कर लिया. जो भाग जावे उसके मारनेका शास्त्रोंने

निषेध किया है तो भगवानने वैसा निषिद्ध कार्य कैसे किया? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि वह दुष्ट था, दुष्ट मारनेके ही योग्य है, चाहे वह भाग भी गया हो. त्रयीवेदके शत्रु[१] मारने योग्य हैं. और स्त्रियोंको चुरा ले जानेसे शंखचूड़का शत्रु होना स्पष्ट हो गया अतः उसको मारनेमें कोई दोष नहीं है. इस समय मारनेका कारण स्त्रियोंका हरण है, नहीं तो भगवान् इसको पहले ही मार देते. यदि अब इसको छोड़ दें तो फिर आकर, उपद्रव करें. जब अकेले बलभद्र क्रीड़ा करें, तब आकर उपद्रव कर सकता है कारण इसका अन्तःकरण दुष्ट है. अतः यह मारनेके ही योग्य है छोड़ने योग्य नहीं है. इसलिये इसके ज्ञानप्रधान शिरको ही मुठ्ठीसे हरण कर लिया, किन्तु तोड़ा नहीं. जैसे धानके ढेरसे मुठ्ठी द्वारा चावल ले लिये जाते हैं उसी प्रकार ढेर बने हुवे इसके अवयवोंसे मुठ्ठीसे इसका शिर ले लिया. सर्व अवयव आपसमें जुड़े हुवे रहते हैं उसका शिर मुठ्ठीमें अलग कैसे आ गया? इसका उत्तर देते हैं, कि जिस समय शंखचूड़ने गोपियोंको चुरानेका उद्यम किया उस समय ही अवयवोंको परस्पर जोड़ कर रखनेवाले देव, शरीरके अवयवोंसे निकल गये थे, यह शरीर जो जुड़ा हुआ देखनेमें आता था वह केवल मणिके प्रभावसे दीखता था इसलिये भगवानने चूड़ामणि सहित इसके शिरका हरण किया. शंखचूड़के अवयव तो, उसके अपने कर्मसे छिन्न-भिन्न हो गये, भगवान् तो सदैव अक्लिष्टकर्मा हैं, वैसे अब भी रहे. भगवानको किसी कर्म करनेमें परिश्रम नहीं होता है, कारणकि समर्थ हैं अर्थात् मणिके सामर्थ्यको भी मिटा देनेमें समर्थ हैं।।३१।।

१.वेदसे द्वेष करनेवाला मारनेके योग्य है शंखचूड़ वैसा था अतः उसको मारनेमें कोई दोष नहीं है.

इस प्रकार कार्य करनेसे अर्थात् चूड़ामणिवाले शंखचूड़के मस्तकको हरनेसे, वह मर गया, जिसका वर्णन 'शंखचूड़ निहत्य' श्लोकमें करते है:

शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरम्।
अग्रजायाददत्प्रीत्या पश्यन्तीनां च योषिताम् ।।३२।।

इस प्रकार शंखचूडका वध कर उसकी चमकती हुई मणि ले कर स्त्रियोंके देखते हुए प्रेमसे बड़े भाई बलदेवजीको दी।।३२।।

इसी प्रकार, भगवानने शंखचूड़का वध किया अन्य प्रकारसे नहीं. श्लोकमें श्रीशुकदेवजीने 'निहत्यैव' इसलिये कहा है कि भगवानकी इच्छा थी, कि इसकी मुक्ति न हो. 'भास्वरम्' कहनेका तात्पर्य यह है कि मृतकका पदार्थ

नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वह अशुद्ध होता है किन्तु चमकवाला पदार्थ अपवित्र नहीं होता है, कारणकि प्रकाशवाले पदार्थमें अधिष्ठाता देव रहता है. अतः भगवानने मणिको शुद्ध[१] जानकर ही लिया था. मणिग्रहणसे मणिगत देवता समझना चाहिये. गोपियोंकी इच्छा थी, कि मणि लेनी चाहिये, अतः भगवानने मणि ले कर उनकी कामना पूरण की है. मणि ले कर उसको मुक्ति देनी चाहिये यों कोई कहे, तो उस शंकाका निवारण करते हैं, कि भगवान् यदि अपने पास रखते वा अपनेलिये ली होती, तो मुक्ति भी देते किन्तु अन्यकेलिये ली थी अतः अन्य(बड़े भाई)को दे दी. वह मणि प्रेमसे बलरामजीको इसलिये दी, कि बलदेवजी मणिमें स्थित देवताका भी स्वतन्त्रतासे उपभोग करें. बलरामजीने मांगी नहीं थी और स्त्रियोंने भी प्रार्थना नहीं की थी, किन्तु भगवानने स्वयं उन सबके देखते हुवे मणि बलरामजीको दी. श्लोकमें 'च' शब्द आया है जिसका अर्थ है 'और', उस 'और'का आशय यह है, कि भगवानने बलदेवजीको मणि देनेसे, प्रथम सबको मणि दिखाई तथा उनको मणिका स्पर्श कराया, बादमें, उनको मणि दी. इस प्रकार करनेका कारण प्रमाणकी सिद्धि थी. भगवान् प्रमाणकी सिद्धिकेलिये जो कुछ करते हैं, वह सब प्रमाणके अधिष्ठाताको ही देते हैं. यों करनेसे, भगवानने यह समझाया है, कि मैं प्रमाणकी सिद्धिकेलिये जो कुछ करता हूं, वह प्रमाणके अधिष्ठाताको ही देता हूं. इस प्रकारमें, प्रमाणबल ही मुख्य है इसलिये यहां प्रमेयबलसे किसी भी प्रकारकी शंका नहीं करनी चाहिये।।३२।।

१.'अस्थानात् मणिमुत्तमम्' अपवित्र स्थानमें भी मणि पवित्र रहती है.

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धके ३१ वें अध्यायकी
(प्रचलित क्रमानुसार अध्याय ३४ की) श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्रीसुबोधिनी
'संस्कृत टीका'के तामस फल अवान्तर प्रकरणके
छठे अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण।

अध्याय ३२

युगलगीत

द्वात्रिंशेऽन्तर्गोपिकानां स्वानन्दं भगवान् हरिः ।
पूरयामास येनैव पूर्णानन्द इतीर्यते ।।का.१।।

इस ३२वें अध्यायमें भगवान्ने गोपियोंके अन्तःकरणमें अपना आनन्द स्थापित किया जिसके कारण आपको पूर्णानन्द कहा जाता हैं।।१।।

अन्तःप्रविष्टो भगवान् मुखादुद्धृत्य कर्णयोः ।
पुनर्निवेश्यते सम्यक् तदा भवति सुस्थिरः ।।का.२।।

गोपीजनोंके अन्तःकरणमें प्रविष्ट भगवान्को मुखसे बाहर ला कर पुनः कानों द्वारा अन्दर पधराया जा रहा है कि वे भलि भांति अन्दर सुस्थिर हो जाएं ।।२।।

शब्दार्थयोर्मुख्यतात्र युग्माः श्लोकास्ततोऽत्र हि ।
सर्वेषु चैव मासेषु यत् करोत्युच्यते हि तत् ।।का.३।।

इस अध्यायमें शब्द एवं अर्थकी प्रधानता है अतएव दो-दो श्लोक यहां आते हैं(परस्पर सम्बद्ध होकर) वर्षके सभी महिनोंमें जो कुछ भगवान् करते हैं उनका वर्णन यहां है।।३।।

अतोऽत्र मासयुग्मा हि प्रक्रमः फलमेव च ।
आद्यन्ते चापरं युग्मं त्रयोदश भवन्ति तत् ।।का.४।।

अतः प्रत्येक मासके बारेमें दो-दो श्लोक, यों २४ श्लोक वर्णन तथा एक श्लोक उपक्रम एवं एक श्लोक उपसंहार यों कुल तेरह श्लोक युग्म होते हैं।।४।।

टिप्पणीजीका सार:- आनन्दकी अनुभूति यद्यपि सर्वत्र आन्तरिक ही होती है फिर भी बाह्य रमणमें शरीर एवं चेष्टाओंकी प्रधानता है और इसके अलावा स्वरूप जब मूर्त है तो स्वरूपात्मक आनन्द भी मूर्त ही होना चाहिए यों मानना पड़ेगा फलतः शरीर एवं इन्द्रियों आदिमें भी स्वरूपतः स्थापित आनन्दका मन द्वारा अनुभव होता है. यहां इस प्रसंगमें आन्तर संयोग द्वारा प्रकट हुए आनन्द द्वारा शरीर इन्द्रिय आदिमें बाह्य रमणकी तरह धर्म होते हैं, इसी अभिप्रायसे प्रथम कारिकामें कहा कि गोपिकाओंके अन्तःकरणमें भगवान्ने अपना आनन्द स्थापित किया. यहां यह शंका उठ सकती है, कि गोपिकाओंको जो इस प्रसंगमें विरह है, वह तो धर्मिस्वरूपका है, धर्मका नहीं,

तब गुणगान-धर्मसे, वह विरह कैसे दूर होगा? इसका समाधान यह है कि जैसे स्वरूप पूर्णानन्दात्मक है वैसे ही नामलीला भी, अतएव विरह निवृत्ति हो सकती है. भक्तोंकी जितनी तीव्रतरसे तीव्रतम आसक्ति भगवान् अपनेमें पाते हैं, उतने ही प्रसन्न होते हैं, इस सन्दर्भमें दिनभरके विरहसे आर्त भक्तोंको जो सायं भगवान् मिलते हैं और उसमें जो रस उत्पन्न होता है वह दिनमें मिलने पर नहीं आता, अतः जिस आनन्दसे स्वयं भक्तोंको भगवान् पूर्णानन्द समझमें आते हैं उसी तरहके आनन्दसे भक्तोंको परिपूर्ण कर दिया.

यद्यपि गुनगान तो स्वभाववश ही होता है, न कि प्रयोजनान्तरवश, फिर भी गुणगानसे प्रथमानुभूत भावकी स्थिरता तो होती ही है. अतः कारिका दोमें गुणगानका प्रयोजनभाव स्थिरता जो दिखलाया गया वह इसी आशयसे है न कि अन्यथा.

भगवान् भावात्मक हैं तथा पहले जो सुधा नाद द्वारा गोपिकाओंमें प्रविष्ट हुई वह भगवदात्मिक थी. इसका निरूपण 'रन्ध्रान्वेणोरधर सुधया पूरयन्' यहां किया गया. फलका अनुभव बाह्य हो न जाए तबतक वह सुधा पूर्वोक्त प्रकारके अनुसार पुष्ट होती रही परन्तु अपने पोषक तथा विषय बहिःसम्बन्धको न पा कर उसे पानेकेलिए स्वयं गुणगानके रूपमें प्रकट हुई, परन्तु अपने बाहर होनेके साथ ही अन्तःकरणमें प्रियका साक्षात् प्राकट्य हो जानेसे तथा बाहर प्रकट होनेके बावजूद भी, अपना विषय बाहर न पानेके कारण वहीं स्वयं अपने या अन्योंके कानों द्वारा पुनः अन्दर प्रविष्ट हो गई, जहां उसे अपना विषय एवं पोषक मिल जानेसे वह सुस्थिर हो गई. यह दूसरी कारिकाका आशय है.

तीसरी कारिकामें इस गीतको दो-दो श्लोकोंके युग्मसे क्यों गान किया इसका हेतु दिखलाते है.

पहले केवल नादका अनुभव हुआ, अतएव नादकी प्रधानताको ले कर 'अक्षण्वतां'का गान किया, परन्तु अब तो स्वरूपका अनुभव भी साक्षात् हो गया है अतः दोनों ही महारस हैं यह जतानेकेलिए दो श्लोकोंसे, किन्तु दोनों एकरूप हैं एतदर्थ एकवाक्यतासे गान किया जा रहा है. यहां वर्षमें जितनी लीला प्रभु करते हैं उन सभी लीलाओंको स्वामिनियोंने क्रमशः गा दिया, यह जतानेकेलिए पूर्णवर्षके बारह महिनोंके हिसाबसे चौबीस श्लोकोंके बारह युग्म कहे हैं. उपक्रम एवं उपसंहारके दो श्लोकोंका युगल अधिकमासमें भी भगवान्की जो लीलाएं हैं वे यहां स्वामिनियों द्वारा गा दी गई है.

इस तरह भगवान्के साथ रात्रिके समय जो क्रीड़ा हुई, उसका वर्णन

करके एक शंकाका समाधान करते हैं और वह शंका यह है, कि दिनमें उन गोपियोंकी संसारमें पुनः प्रवृत्ति हो गई होगी. परन्तु बात यह नहीं है, क्योंकि दिनमें वे गोपियां भगवान्के गुणोंके वर्णन या गानमें लगी रहीं, संसारमें नहीं. गुणोंकी स्मृतिकेलिए आरम्भमें विरहवेदना या दुःख आवश्यक है. इसी तरह अन्तमें यह दुःख गुण वर्णनसे दूर न होता हो तो कोई भी गुण वर्णनमें प्रवृत्त नहीं होगा. गानके आरम्भमें भी[१] महान् दुःख हुआ यह गोप्यः इस श्लोकमें दिखाते हैं:

१.गानके आरंभमें भी महान् दुःख है तो यदि गान न करती तो कितना दुःख बढ़ जाता!

श्रीशुक उवाच

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः ।
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ।।१।।

श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि, भगवान् जब वनमें पधार जाते तब जिनका चित्त भगवान्में लीन हो गया था, वे कृष्णकी लीलाओंको गाती हुई दुःखसे दिवस काटती थीं।।१।।

मूलश्लोकमें केवल 'गोप्यः' कहा जिसका तात्पर्य यह है कि ये रास मण्डलवाली ही गोपिका हैं. अर्थात् ३१वें अध्यायवाली ये गोपियां नहीं हैं. कृष्णके वनमें पधार जाने पर इनकी स्थिति कैसी होती है, जिसका वर्णन करते हुवे कहते हैं, कि गोपियोंका चित्त उनमें ऐसा लीन हो गया, कि उनके सिवाय दूसरी वस्तुको ग्रहण करनेमें, असमर्थ हो गया है. और ऐसा सूक्ष्म हो गया है, कि जिससे चारोंतरफ व्याप्त हो कर भगवान्की लीलाओंको ग्रहण करने लगा, अतः कृष्णकी लीलाओंको गाने लगीं. जिस प्रकार स्वरूप सदानन्दरूप है, वैसे ही उनकी लीलाएं भी सदानन्दरूप ही हैं, इसलिये श्लोकमें 'तल्लीला' उनकी लीला न कह कर 'कृष्णलीला' कहा है. यदि वे लीलाएं कृष्णवत् सदानन्दरूप न होती, तो 'तल्लीला' कहते. यों कहने पर लीलाओंका केवल भगवान्से सम्बन्ध समझा जाता परन्तु वे सदानन्दरूप हैं वैसा ज्ञान न होता. इसलिये यह कहना आवश्यक था, कारणकि स्वरूपके वियोगसे, उनके सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ गोपियोंके जीवनको टिका कर रखनेमें समर्थ नहीं हैं, क्योंकि उससे अतिरिक्त सभी कुछ हीन हैं. इस कारणसे, गोपीजन जैसे तैसे महान् मानसिक दुःखोंको सहन करते हुवे, दिन बिताने लगीं. पुनः जब गोपियोंका चित्त भगवान्के पृथक् चरित्रोंमें लीन हो कर एकीभावको प्राप्त करेगा, तब उनके मनोरथ पूर्ण होंगे. अभी तो सभी

सामग्री इतस्ततः हो गई है, इसलिये दुःखसे दिन पूरा करना है. श्लोकमें 'वासर' पद कहनेका भाव यह है, कि गोपियोंके मनमें यह आशा है, कि रात्रिको भगवान्का मिलन होगा, जिससे प्राणोंको धारण कर रही हैं।।१।।

सर्वोत्तमा हरेर्लीला वेणुनादपुरःसरा।
हेतुः सर्वत्र वाच्येऽर्थे प्रथमेषु निरूप्यते।।का.१।।

गोपीजनोंने युगलगीतके श्लोकोंमें जो कुछ जैसा वर्णन किया है, उसका आशय इन कारिकाओंमें वर्णित होता है.

भगवान्ने वेणु नाद(बजा)कर, जो सर्वोत्तम लीला की है, जिसका कारण प्रत्येक युगलके दूसरे श्लोकमें कहा है, तथा उस लीलाका वर्णन प्रत्येक युगलके प्रथम श्लोकमें किया है।।१।।

देवस्त्रियस्तथा गावः सरितः पादपा लताः।
पक्षिणश्च तथा मेघा ब्रह्माद्या गोपिकास्तथा।।का.२।।
हरिण्यो देवगन्धर्वा द्विधा च भगवान् हरिः।
उत्तरेषु निरूप्यन्ते रसज्ञा वेणुवादने।।का.३।।

अप्सराएं, गौ, नदियां, वृक्ष, लताएं, पक्षीगण, मेघ, ब्रह्मा आदि देव, गोपियां हरिणियां, देव, गन्धर्व और दो प्रकारसे दो युगलमें वर्णित भगवान् हरि, ये सर्व वेणुवादनमें जो रस है उसको जानते हैं, जिसका वर्णन हरएक युगलके दूसरे श्लोकमें किया गया है।।२-३।।

जानाति भगवानेव जानात्येव हरिः स्वयम्।
अतोऽन्ते भगवानुक्तो वारद्वयम् अनन्यधीः।।का.४।।

चतुर्थ कारिकामें अन्तिम दो युगलोंका आशय स्पष्ट करते हैं-वेणुनादके वास्तविक रसको भगवान् ही जानते हैं, स्वयं हरि ही जानते हैं, अतः अन्तमें अनन्य भक्तोंकी बुद्धि जिसमें है वैसे भगवान्का दो बार वर्णन किया है।।४।।

अनुभावस्तु नादस्य स्त्रीषु पूर्वम् उदीर्यते।
त्रिविधासु ततः पुंसु ब्रह्मा गोपी तथा मृगी।।का.५।।
त्रयोऽत्र त्रिविधाः प्रोक्ताः प्रकीर्णाः सकलाः सुराः।
सर्वएवानभिज्ञा हि वस्तुसामर्थ्यसंयुताः।।का.६।।
एवं वेणुद्वर्वादशधा फलतीति निरूपितः।

नादका प्रभाव तो प्रथम तीन प्रकारकी स्त्रियोंमें हुआ जिसका वर्णन

पहले किया जाता है, पश्चात् तीन प्रकारके पुरुषोंमें वर्णन किया जाता है, तथा ब्रह्मा, गोपी और हरिणियां इन तीनोंका भी वर्णन करनेमें आता है. ये तीन यहां तीन[१] प्रकारके कहे हैं, सभी देवोंका साथ ही वर्णन करनेमें आया है. यद्यपि ये सर्व नादरसको नहीं जानते हैं, तो भी वस्तु सामर्थ्यसे, अर्थात् नादके प्रभावसे, उनको भी फलकी प्राप्ति हुई है।।५-६।।

१.देव, स्त्रियां राजस हैं, पुरुष, वृक्ष, पक्षी और मेघ ये सात्विक हैं, और ब्रह्मा, गोपी और हरिणियां तामस हैं.

इस प्रकार वेणु १२ प्रकारसे फलती है इसी प्रकार इसका वर्णन इस गीतमें करनेमें आया है।।६।।

लेखमें गो. श्रीवल्लभलालजी महाराज कहते हैं कि भगवान्में दो-दो प्रकारके भी नियम हैं, एक षड्गुण ऐश्वर्य है अतः वे भगवान् कहे जाते है और दूसरा तापको हरण करते हैं अतः वे 'हरि' हैं.

भगवान् ही इस रसको जानते हैं अतः गोपीजनोंको जो दिवसमें ताप होता था, उसका निवारणकर, रसदान भगवान् ही करते हैं, इस तापको चन्द्र आदि नहीं मिटा सकते हैं. इसलिए भक्तोंको सर्व प्रकारका आशीर्वाद देनेकी इच्छासे आप स्वयं पधारते हैं, कारिकामें 'एव' शब्दसे यह स्पष्ट कर बताया है, कि चन्द्रमा आदि यहां कुछ नहीं कर सकते हैं, अर्थात् उनमें इस तापके निवृत्तिकी शक्ति नहीं है.

भगवान् तो बालक हैं, वह इस साधारण लीलाको समझ कर कैसे कर सकेंगे? इस शंकाका निवारण 'यदुपति' इस २५वें श्लोकमें किया गया है, अतः कारिकामें कहा है, कि 'जानात्येव' जानते ही हैं, यहां 'एव' शब्द देकर, यह बता दिया है, कि भगवान् बालक होते हुए भी उनमें बालकपनका अज्ञान नहीं है, दोनों प्रकारके नियम भगवान्में हैं अतः दो बार 'भगवान्' शब्द दिया है, अर्थात् भगवान्का वर्णन २३वें तथा २५वें श्लोकमें पृथक्-पृथक् प्रकारसे किया है.

इनमें प्रथम स्त्रियोंकी प्रधानता है, जिससे देव स्त्रियां मुख्य हैं, अतः उनमें वेणुनादका प्रभाव बतानेकेलिए जिस प्रकार वेणुनाद उत्पन्न होता है, वह प्रकार 'वामबाहुकृत' श्लोकमें कहते हैं:

गोप्यः ऊचुः

वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम्।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः।।२।।

व्योमयानवनिताः सह सिद्धैर्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः।।३।।

हे गोपियों! बाएं कंधे पर बायां कपोल रख कर चंचल भौंहवाले मुकुन्द भगवान्, वेणुको अपने अधर पर रख, जिस समय उसके स्वरोंके छिद्रों पर कोमल अंगुलियोंको फिरा कर बजाते है, उस समय, विमानमें बैठी हुई सिद्धलोगोंकी स्त्रियां अपने पतियोंके पास होते हुए भी, उस गानको सुनकर, विस्मययुक्त हो, कामदेवके बाणसे परवश होकर, उस वेणुनादके भावको जान कर लज्जाके साथ मोहको प्राप्त हुई और उनका नीवीबन्धन(नाडा) छूट जानेका भी उनको भान नहीं रहा है।।२-३।।

जिस समय मुकुन्द भगवान् अधर पर धरे हुवे, वेणुको बजाते हैं, उसी क्षणमें, विमानमें बैठी हुई देवस्त्रियां मूर्च्छाको प्राप्त हो गई, इस प्रकार शब्दोंका सम्बन्ध है.

वेणुका नाद पांच प्रकारसे होता है मुखके (१)दांये और (२)बाएं दोनों तरफ (३)मुखके सामने, (४)मुखके उपरकी तरफ और (५)मुखके नीचेकी तरफ. बाएं धारण किया हुआ (वेणु) स्त्रियोंमें कामको जागृत करता है. दाहिनी तरफ धारण किया हुआ वेणु, स्त्री तथा पुरुष दोनोंमें कामको उत्पन्न करता है. ऊपरकी तरफवाला वेणु देवोंमें कामको जगाता है. नीचेकी तरफवाला वेणु, पशु-पक्षियोंमें कामको उत्पन्न करता है. सीधा धारण किया हुआ वेणु, सब चेतनों और जड़ोंमें भी कामको उद्भूत(पैदा) करता है. इस पांच प्रकारसे धारण किये हुवे वेणुओंमेंसे, जो वेणु बाएं धारण किया हुआ है वह वेणु स्त्रियोंके कामको जागृत करता है, इसलिये उसी प्रकार वर्णन किया जाता है. मानुष भावसे देव भाव महान् है, इसलिये मनुष्यके नादसे देव स्त्रियोंको भ्रम नहीं होगा, इस प्रकारकी शंका निवृत्त करनेकेलिये श्लोकमें 'तदभ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यम्' पद दिया है, जिसका भाव यह है, कि भगवान्ने अपना भ्रूविलास जो कि ब्रह्माका स्थान है, उसके साथ अर्थात् नादके साथ मिला दिया. यही वर्णन इस श्लोकमें किया गया है. भगवान्ने अपनी वामबाहु पर अपना वामकपोल रखा और फिर दायीओरकी भोंह चञ्चल हो उठी. 'वल्गिता' यानि ऊपरकी उठ गई. पूर्व वर्णित लोभात्मक अधर पर धरा हुआ वेणु परमानन्द न दे कर कामको ही प्रबुद्ध करता है. जैसे लोभी, परमानन्दरूप धनके मिलने पर उसे किसीको नही देता है किन्तु कामनाओंको ही जगानेकेलिए संभालता है, वैसे लोभात्मक अधरोंसे वेणुनादको

सुन कर वे गोपीजन विरहसे उत्पन्न क्लेशको ही पाती है न कि परमानन्दको, यदि क्रियाशक्ति बलवती होवे, तो लोभीसे भी फल(परमानन्द)की प्राप्ति हो सकती है. यहां वह क्रियाशक्ति भी बलवती नहीं है, अर्थात् वेणुको उच्च स्वरसे बजाया जाये तो उस वेणुसे भी परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती परन्तु यहां वह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि कोमल अंगुलियोंने नाद प्रकट होनेके मार्गमें जो छिद्र है उनको रोक रखा है. आरम्भमें वेणुनाद मन्द प्रकारसे करना ही उचित है. नादके निकलनेके मार्ग, जो छिद्र हैं, उनको गाढभावसे दबाने पर ध्वनि जोरसे ऊंची निकलती है, मध्य प्रकारसे दबाने पर मध्य ध्वनि निकलती है, कोमलतासे अंगुलियें चलावे तो नाद मन्द-मन्द प्रकट होता है.

हे गोपियों! तुमने यह नाद सुना है, जिससे तुमको इसका पूर्ण अनुभव है, इसलिये तुमको साक्षीरूपमें रख कर हम वर्णन करती हैं. 'इरण' यानि वेणुवादन इस वेणुनादका प्रयोजन बतानेकेलिये भगवान्का नाम 'मुकुन्द' दिया है अर्थात् भगवान्की इच्छा है, कि वेणुनादसे जगत् शुद्ध हो जाये तो उसको मोक्ष दे दूं.

भगवान् वेणुका नाद जगत्के हितार्थ करते हैं, किन्तु जो मोक्षके अधिकारी नहीं हैं; उनका चित्त शुद्ध नहीं होता है जिससे उन अनाधिकारियोंमें, काम ही प्रकट हुआ है. विमानस्थ सभी देवोंकी स्त्रियां वैसी ही अधिकारिणी हैं, कारणकि स्त्रियां हैं भोग्य हैं जिससे मुक्तिकी अधिकारिणी नहीं हैं, किन्तु कामकी ही अधिकारिणी हैं. वैसे तो वे स्त्रियां अपने पतिदेवोंके साथ थी परन्तु वे पतिदेव सभी कुछ दे सकनेमें समर्थ थे सिवाय भगवान्के. स्वयं गानमें अत्यन्त निपुण हैं अतः प्रथम यह वेणुनाद सुनकर, आश्चर्यमें पड़ गईं, कि इस प्रकार सुन्दर नाद मनुष्य लोकमें किसने किया है? उस नादसे जब थोड़ा सा काम बढ़ा, तब फिर उस नादको पूरी तरह ध्यान दे कर सुनने लगीं, जिससे समझ गईं, कि यह नाद किसका है और कैसा है, अतः वे लज्जित होने लगीं. क्योंकि हमारा काम बढ़ रहा है पति समझ जायेंगे तो क्या कहेंगे? किन्तु अन्तमें विचार कर समझ गई, कि यह काम तो हमारा नाश ही करेगा, अतः जैसे डरपोक मारनेवालेकी शरण लेता है वैसे ही इन्होंने भी कामरूप भगवान्की शरण ले ली. कामके वेगसे, वे मूर्च्छित हो गई. मूर्च्छामें सर्व विस्मृति हो जाती है, भान नहीं रहता है, जिससे उनको अपने नीवी बन्धनके दूर जानेका भी ध्यान न रहा अर्थात् नीचेका वस्त्र भी गिर गया.

इस प्रकार वेणुनाद कामको अत्यन्त जागृत करनेवाला है जिससे

हम(अपन) गोपीओंको मूर्छा प्राप्त हो तो उसमें कौनसा आश्चर्य है।।२-३।।

टिप्पणीजी: यह परोक्षवाद है क्योंकि यहां संदर्भ गोपिजनोंका है. अतः शुद्धिका मतलब है भगवद्भावके अलावा अन्य किसी भी भावका न रहना. इसी तरह मोक्षका मतलब है भजनानन्दानुभव.

गौओंकी भी वेणुनादके सुननेसे वही दशा हुई जैसी देवस्त्रियोंकी हुई थी अतः वैणुरवके उद्गमका ही वर्णन अब अन्य प्रकारसे 'हन्तचित्रं' इस श्लोक युग्ममें करती हैं:

हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं हारहास उरसि स्थिरविद्युत्।
नन्दसूनुरयमार्तजनानां नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः।।४।।
वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात्।
दन्तदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवासन्।।५।।

(युग्मार्थ)हे अबला! यह अचम्भा तो सुनो, हारके समान उज्वल हास्यवाले, आर्तजनोंको आनन्द देनेवाले, वक्षःस्थल पर जिनके विद्युत स्थिर है ऐसे नन्दपुत्र जब वेणु बजाते हैं, तब उसकी ध्वनिसे, झुंडके झुंड व्रजके बैल, मृग और गायोंका चित्त हरण हो जाता है, जिससे वे सब, दांतोंसे चर्वित कौल(कवल)को यों ही रख, कान ऊंचे कर मानो नींद लेते हों और चित्रमें लिखे हुए हों ऐसे हो जाते हैं।।४-५।।

ओ अबलाओं! यह आश्चर्य सुनो. जब नन्दके पुत्र वेणु बजाते हैं, तो बैल और गायोंके दांतोंमें दबाये हुवे तृण कवल यूं ही रह जाते हैं, और वे निद्रामग्न हो जाते हैं. पशुओंको अपनी खुदकी जातिमें ही काम उत्पन्न होता है, अपनेसे उत्तम अथवा निम्न जातियोंमें नहीं. खच्चर यहां अपवाद है. उच्च जातीय यदि निम्न जातीयके साथ रमणार्थ सम्बन्ध स्थापित करते हों तो वह रसाभास माना जाता है अतः सम्भोगरूप कामको दूर रखकर(अर्थात् रखे बिना) पशुओंकेलिये अत्यावश्यक तृण भक्षणमें उन पशुओंका निरोध करते हैं.

द्वितीय श्लोकमें कहे गये वामबाहुकृत वामकपोलों(अर्थात् भगवान्ने अपना बांया गाल बांए ओरकी बाहु पर रखा है) वर्णनका सम्बन्ध यहां भी चालू है. उसीके अवान्तर भेदका वर्णन यहां होना है.

'हन्त' पदका प्रयोग खेदाभिव्यक्तिकेलिये हुआ है. जहां गायोंकी भी सभी क्रियायें बन्द हो गई तो भी हमारी बन्द नहीं होती, यह एक आश्चर्य है.

पहलेके श्लोकोंमें वर्णित आश्चर्यसे भी उत्तम प्रकारका आश्चर्य यह है. क्योंकि देवताओंकी स्त्रियां पुरुषोत्तमकी तो कामनावाली होती ही हैं, परन्तु यह पशुओंकी तल्लीनता तो अति आश्चर्यकी बात है.

स्वयं पशुओंकी तरह वनमें जाकर दर्शन नहीं कर पा रही हैं, अतः 'अबला' कह कर पुकारती हैं और कहती हैं, कि मैं जो कहती हूं वह सुनों.

यहां नौ तरहकी गोपिकायें गुणवाली हैं तथा कर्म ज्ञान एवं भक्तिके द्वारा तीन प्रकार गुणातीत गोपियोंके हैं. यह व्यवस्था श्लोक युग्म कहनेवाली गोपियों के बारेमें हैं. पहली तीन गोपियां राजसी हैं. यह इस श्लोकवाली गोपिका राजस-राजसी हैं. यहां बात पूरी करनेकेलिये जो अंश अपेक्षित है उसे पहले कहे गये श्लोकोंमेंसे ले कर यहां भी जोड़ देना चाहिये और यही बात आगे श्लोकोंमें भी समझनी चाहिये. अब पहले भगवानके स्वरूपका वर्णन सुनाती हैं. उसे चार तरहसे वर्णित करती हैं १.भगवानका हास्य हार जैसा है, २.भगवानके वक्षःस्थल पर विद्युत स्थित है, ३.ये नन्दके पुत्र हैं ४.सभी आर्तजनोंको आनन्दित करनेवाले हैं. इस तरह भगवानके होनेमें हेतु है. 'अयम्' अर्थात् जो इस तरहके भगवान् न होते, तो हमारे सामने प्रकट ही न होते. अथवा दूसरे मुहूर्तमें प्रकट हुवे भगवानको देख कर यह कहा जा रहा है. इस कल्पमें प्रत्येक मुहूर्तमें, श्लोकोंके युग्म होते हैं अर्थात् गाये जाते हैं. प्रातःकालीन सन्ध्या एवं सायंकालीन सन्ध्याके बीचमें केवल बारह मुहूर्त होते हैं यह सोमकी उत्पत्तिके प्रसंगमें निर्णीत किया गया है.

और लोगोंका हास्य धागेकी तरह एकसार होता है, परन्तु भगवानका हास्य तो मोतियोंके हारकी तरह है अर्थात् जैसे मानिकके रत्नोंके बीच-बीच मोतियोंको पिरो कर बनाया हुआ जैसे शोभता है वैसी ही शोभा भगवानके हास्यकी है. इस तरह भगवान् जगतमें प्रपञ्चके बारेमें, मोह उत्पन्न करते हैं, यह स्थिर हुआ. 'स्नेहकी कलाओंसे माया छितरा जाती है' यह श्रुतार्थापत्तिके आधार पर सर्वत्र पदार्थका निरूपण हो रहा है. जैसे स्पष्ट दिखलाई पड़ती हुई वस्तुके बारेमें कोई भी अनुपपत्ति मान्य नहीं होती प्रत्युत सारी कल्पनायें उसी यथादृष्ट वस्तुके आधार पर की जाती है, जैसाकि कहा गया है, 'नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम व्याघाताद्' अर्थात् जो दिखलाई पड रहा है, वहां भी अनुपपत्तियां सोचने पर व्यवहार छिन्न-भिन्न हो जाएगा. यह व्यवस्था लोकमें मान्य है, इसी तरह वैदिकोंकेलिये श्रुति है. जितनी अपेक्षा पदार्थोंके बोधके स्थिर होनेकेलिये हैं

उतना श्रुत्यनुकूल कहा जाता है. यही व्यवस्था वैदिकोंकी सर्वत्र है.

संसारमें जिन्हें पुत्र आदिमें आसक्ति है, उनकी आसक्तिको अपनेमें केवल स्थिर करते हों यह बात नहीं है, किन्तु जिन्हें धनमें आसक्ति है उनकी आसक्ति भी भगवान् अपनेमें स्थिर कर लेते हैं, वह 'उरसि स्थिर विद्युत्' अंश कहा जा रहा है. अर्थात् (विद्युत् जैसी चंचला) लक्ष्मी भी जहां स्थिर अचंचल हो कर रहती है.

इस तरह प्रमाणबलके निराकरणकेलिये 'हारहासः' एवं 'स्थिर विद्युत्' ये दो विशेषणोंके वर्णनके बाद, प्रमेयबलके निराकरणकेलिये जो दो कार्य किये उन्हें दिखलाते हैं.

क्योंकि, यही भगवान् नन्दके पुत्र हुवे हैं तथा आर्तोंको भी स्वयं आकर सुख प्रदान करते हैं यहां भी वही श्रुतार्थापत्ति प्रमाण है, क्योंकि वैसा ही यहां भी दिखलाई पड़ रहा है. महान् पुरुष कभी ऐसा नहीं करते, अतः यह आश्चर्य है. इसी अर्थको प्रकट करते हुवे भगवान् वेणुवादन करते हैं. अथवा पहलेकी अपेक्षा मुखारविन्दको नीचे झुका कर वेणु बजाते हैं और तब ऐसे दर्शन होते हैं, कि भगवान् वे वक्षःस्थल पर हारकी तरह हास्य शोभायमान होता है. इसकी स्थिरता एवं विभाग स्थैर्य आश्चर्य है. श्रीवत्स भी अत्यन्त उत्कृष्ट है, अतः शोभाकेलिये उसकी स्थिरताका वर्णन है. इस तरहके भगवान् जब नन्दके पुत्र बनते हैं, तो उनमें स्नेह बहुत बढ जाता है. और वहां भी अपने पर उपकार करते हों तो पूछना ही क्या? सभीके आन्तर प्राण धर्मको भी यह आकर्षित करता है. कूजन एक बजानेका प्रकार है. जब यह वेणु कूजन पशुओंके प्राणादि धर्मका हरण करता है, तो फिर, अन्योंकी तो बात ही क्या है. यह दिखलानेकेलिये पशुओंको निरूपण करते हैं. एकाधके तो किसी अन्य कारणसे हो सकते हैं परन्तु यहां तो यह स्थिति समूहके समूहकी है. जहां-जहां वेणुनाद प्रविष्ट सभीकी यह दशा हो गई. व्रजमें रहनेवाले बैल तो खुले भटकनेवाले बडे ककुद्मवाले मत्त बैलके जैसे होते हैं, जिन्हें गाड़ीमें जोता जाता है. वे व्रजके समीप ही रहते हैं, अतः गांवके पशुओंको लेनेकेलिये 'व्रज' पद कहा है. मृग एव गाय अरण्यमें मिल जाते हैं. यह स्थिति ग्राम्य एवं आरण्य पशुओंकी हो जाती है, यह जतानेकेलिये 'मृग' पद है. कहां तक कहा जाये सभी पशु वेणुवादनके 'हृतचेतस' हो जाते हैं. यहां तक भगवानके समीप जा नहीं पाते. दूर ही खड़े-खड़े अपने चित्तको खो बैठते हैं.

यह वेणुनादका स्वाभाविक धर्म है, न कि भगवानके समीप होनेसे चित्तका हरण हुआ है चित्त हरणसे क्या हुआ? वह बताते हैं कि पशुओंके मुखमें जो तृणरूप कौल(ग्रास) था उसको केवल दांतोंसे चबाया था अब चित्त हरण हो जानेसे न उसको छोड़ सके और न खा सके. नाद श्रवणसे चबाया हुआ कौल, वहां ही रह गया, मुख खुल गया कोई भी कार्य न कर सके. पूर्व क्रिया अर्थात् मुखमें आये पदार्थको चबाना अत्यावश्यक है, इसलिये पशुओंने तृणको चबाया था जिससे तृण न कह कर श्लोकमें 'कवल' अर्थात् कौल कहा है. जैसे देवस्त्रियोंको मूर्च्छा आई, वैसे इनको मूर्च्छा नहीं आई थी इसलिये श्लोकमें 'धृतकर्णा' कहा है अर्थात् अन्य सर्व विचार छोड़ कर केवल वेणुनाद सुननेकी इच्छा की, जिससे कानोंको ऊंचा कर लिया. उस श्रवणसे बाह्यवृत्ति उनकी मिट गई, नीन्द शेते हों वैसे देखनेमें आये जब नाद सर्वत्र शरीरमें फैल गया, तब चित्रमें चित्रित जैसे बन गये यों दीखनेमें आये, मानों स्थावरसे भी विशेष स्थावर बन गये. वेणुनादके प्रथम प्रभावसे भी यह प्रभाव जो पशुओं पर पड़ा वह विशेष था अतः कहा कि आश्चर्य है।।४-५।।

टिप्पणीजीका आशय:- भगवानमें हमारा स्नेह हो जाए तो माया अपने सभी रूपोंमें दूर हो जाती है, यह प्रमाणबलकी व्यवस्था है. और इसी मायाकार्य प्रपंच मोहके स्थिर होने पर भगवत्स्नेह नहीं रह पाता. परन्तु प्रमेयबलसे भगवान् भगवत्स्नेह एवं प्रपंच मोह दोनों साथ-साथ चला रहे हैं. अतएव भगवानमें स्नेह रखनेवाले व्रजमण्डलके जीवोंका जगत् भी विषयरूप प्रपंचमें मोहित है. यह भी एक आश्चर्य है. और इस बातको कहते हुए खेद होता है, जिसे मूलमें 'हन्त'से ध्वनित किया भगवानमें जिन्हें राग है उनका अन्यत्र राग दिखलाई पड़ने पर भक्तोंको खेद होना आवश्यक है. परन्तु भगवान् यह मोह उत्पन्न न करें, तो भक्त स्नेहवश सभी कुछ छोड़छाड़ कर भगवानके पास पहुंच जाएं तो उनके साथ लोकमें लीला असंभव हो जाएगी अतः भगवानका द्विविध राग उत्पन्न करना आश्चर्य है.

विद्युत एवं लक्ष्मी दोनों ही चंचला होनेके कारण 'विद्युत' पदसे धनमें तात्पर्य है. ऐसी विद्युतको अपनेमें स्थिर रख कर प्रपंचमें आसक्ति रखनेवालेको भी भगवान् अपनेमें बरवस आसक्त कर लेते हैं. इस तरह प्रपंचमें प्रपंच विषयक मोहको स्वविषयक बनाना भी एक आश्चर्य है.

वेणुके नादसे बहुत जड़[१] नदियोंको भी इच्छा[२] होती है, यह बतानेकेलिए फिर वेणुनादका वर्णन 'बर्हिणः' श्लोकमें करती हैं:

१.प्रथम कहे हुए पशु जड़(मूर्ख) है क्योंकि उनको लीलाका विशेष ज्ञान नहीं है किन्तु नदियां उनसे भी विशेष जड़ है कारणकि जिनको कुछ भी ज्ञान नहीं है.

२. भगवानके चरणारविन्दके रजकी इच्छा.

बर्हिणः स्तबकधातुपलाशैर्बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः।
कर्हिचित् सबल आलि सगोपैर्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः ।।६।।
तर्हि भग्नगतयः सरितो वै तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम्।
स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः ।।७।।

(युग्मार्थ)हे सखि! किसी समय जब मुकुन्द भगवान् मोरपिच्छके गुच्छ, धातु तथा पत्तोंसे मल्लका शृंगार कर बलभद्र, गोप और गोपियोंके साथ मिल गायोंको वेणुनादसे बुलाते हैं तब नदियां पवनकी प्रेरी हुई भगवानके चरणारविन्दके रजकी इच्छा करती हैं, जिससे उनकी गति बन्द हो जाती है, किन्तु वे भी अपनी तरह कम पुण्यवालियां हैं, उससे रजको प्राप्त नहीं कर सकती हैं, केवल प्रेमसे तरंगरूप हस्तोंको चलाती हुई स्तब्ध जलवाली हो जाती हैं।।६-७।।

पहले आवेश और फिर देववेशका वर्णन किया गया, अब लीलावेशका वर्णन किया जा रहा है. नदियोंकी क्रिया सदा-सर्वथा चलती ही रहती है क्योंकि निद्रा, मूर्छा, आदिमें चेतन प्राणियोंकी क्रिया तो बन्द होती देखी जा सकती है, परन्तु नदियोंकी क्रिया तो कभी भी बन्द नहीं हो सकती और उसमें भी बड़ी नदियोंकी क्रिया तो कभी बन्द हो नहीं सकती है और न उन्हें बान्धा जा सकता है. परन्तु ऐसी नदियोंकी क्रिया भी वेणुनादसे बन्द पड़ गई. मोरके पूंछके गुच्छे, गेरूं आदि धातु और पत्ते अथवा पत्तोंकी आकृति जो इनसे लिखी गई होती है क्योंकि कमलके पत्ते भी इस तरहके वेशकेलिये बान्ध लिये जाते हैं. इन सारे पदार्थोंसे मल्लोंका परिबर्ह यानि अलंकार वेश बनाया गया है. मयुरपिच्छके गुच्छसे जो यह मल्लवेश होता है उसका भगवान् स्वयं अनुकरण करते हैं, अथवा मल्लोंका अनुकरण किया जा रहा है, क्योंकि नाटकके मल्लकी तरह अनुकरण अस्वाभाविक होता है. इस तरह नृत्यके वेशके अनुकरणका जो वर्णन किया उससे नृत्यमें उपयोगी नादका ही वर्णन हुआ. 'कर्हिचित्' यानि कभी, जबकि क्रियाशक्तिमें उत्साह होता है. इसीलिये भगवानको 'सबल' कहा गया है अर्थात् भगवान् बलभद्रके साथ हैं. यह बात गुप्त रखनेकी हैं और किसीको भ्रान्ति भी न हो जाये इसलिये 'आलि' यह सम्बोधन किया गया है. 'प्रायः यह युगल कहनेवाली

गोपी नहानेके बहाने गई होती है. इस तरह सामग्री सम्पन्न करके भगवान् स्वयं जो हमारे भोक्ता हैं या हो जाते हैं ऐसे कभी ही गोपोंके साथ होते हैं. इससे यहां वैकुण्ठ स्थित लीलाकी सूचना मिलती है. यहां भी लक्ष्मी हमारे साथ रात्रिमें अन्तरङ्ग गोपोंके साथसाथ दिनमें रहती है अतएव 'आलि' सम्बोधन रहस्य सूचक है.

(१.लेखका आशय–अर्थात् बलभद्रके साथ तो भगवान् कभीकदास ही होते हैं और इसी तरह कभीकदास गोपोंके साथ भी, परन्तु वैसे तो, एकान्तमें जब भी होते हैं तो अपने साथ ही हैं. इस तरह रमण सामग्रीका सूचन किया गया है.)

बादमें भगवान् वेणुनाद द्वारा गायोंको बुलाते हैं. आगे भी कहा जायेगा, कि 'वेणुनाह्वयति' अर्थात् वेणुसे गायोंको बुलाते हैं. परन्तु यहां 'बुलाते हैं' कहा, न कि 'वेणुनाद द्वारा बुलाते हैं' यों कहा, उसका कारण यह है, कि भगवान् वेणुके समान ध्वनिसे बुलाते हैं अतः वेणु द्वारा बुलाते हैं यों नहीं कहा. गायोंको भगवान् बुलाते हैं, क्योंकि स्वयं मुकुन्द हैं उन्हें मोक्ष तो देना ही है[२] परन्तु उनके पास साधन नहीं है अतः उन्हें बुलाके दे देते हैं. अथवा अपना रस वहां भी स्थापित करना है इसलिये बुलाते हैं[३]. जब क्रियाशक्ति प्रकट होती है, तो बड़े–बड़े कार्य ही करती हैं एतदर्थ कहा, कि गायोंको बुलाते हैं. 'गो' शब्दकी रूढ़ी गायमें है, परन्तु यह शब्द बनता है. 'गच्छति'से अतः नदियोंने रूढ़ीवाले अर्थके बजाये यौगिक अर्थको ले कर यद्यपि स्वयंके अहर्निश चलते रहनेवाली होने पर भी भगवान् बुला रहे हैं यों साजाकर स्थगित हो गई क्योंकि भला भगवान् बुलाते हों, तो फिर कौन जा सकता है? 'सरित' पदसे उनका बहते रहना यह स्वभाव है यह सूचित किया. परन्तु अब उन्हें वैष्णव होनेकी कामना हुई है. इन नदियोंका पति समुद्र है इसलिये बहती रहती हैं, परन्तु अब इन्हें भगवानको अपना पति बनाना है, भगवानके चरणकमलोंकी रज ही अब इन्हें चाहिये इसलिये रुक गई. परन्तु वह रज कैसे मिल सकती है? उसके मिलनेका उपाय यही है, कि वायु जिस चरणरजको अपने स्वार्थसे ले कर उड़ती है और जिस वायुको जलकी कामना है, उससे सम्बन्ध स्थापित किया जाये. भगवदीयोंका ही भगवानसे सम्बन्ध हो पाता है तथा भगवदीयता आती है चरणरजकी प्राप्तिसे. अतः बड़ी दूरकी बात साजाकर नदियोंको 'रजःकामना' हुई है. नदी भी तो दवता हैं, अतः इनका यहां उद्देश्य काम ही है. अतएव आगे चल कर कालिन्दी भी वैसी हो जायेगी. किन्तु अभी तो ऐसा लाभ हो जाये ऐसे भाग्य नहीं है यह 'अबहुपुण्या'से बताते हैं.

भगवत्कृपारूपी पुण्यका संचय इनका अभी पर्याप्त नहीं हुआ है. पुण्य ऐसे कि दिनमें शीघ्र ही ये गाय-गोपाल बन जावें और रात्रिमें स्त्री बन जावें. और पुण्य बिना, इच्छानुसार सारे कार्य सिद्ध नहीं हो पाते. परन्तु नदियोंकी यही इच्छा है, यह कैसे जाना जा सकता है?

(२.टिप्पणीजीका आशय-(१)यहां मोक्ष अन्य कुछ नहीं, केवल भगवानके दर्शनका सुख जो मिलता है, उसे मोक्ष कहा जाता है.

३.स्वरूपके रसका ज्ञान पशुओंको स्वतः सम्भव नहीं है, अतः भगवान् अपने प्रयत्नसे कराते हैं.)

गोपीजनोंका उत्तर है-जैसे हम अपने स्वयंके बारेमें जान पाती हैं. जो हमारा पुण्य संचय बहुत होता, तो दिनमें हम गाय या गोपाल बन सकती थी और रात्रिमें स्त्री. अतः जैसे हमारे पुण्य पर्याप्त नहीं हैं, वैसे ही इन नदियोंके भी पर्याप्त नहीं हैं, अतः बड़ी-बड़ी स्पृहा करती रहती हैं परन्तु उनसे कार्य कुछ भी सिद्ध नहीं होता.

इसके अलावा इनके सात्विकभावसे भी हृद्गत भाव समझे जा सकते हैं, जिस सात्विकभावसे उत्पन्न प्रेमसे इनकी भुजाएं कांप रही हैं यह कम्पन, वायुके कारण नहीं है, अतः विरहतापसे युक्त दीखनेमें आती हैं, और जल भी स्थगित हो गया है, इस प्रकार रजोगुणके तीन भेद वर्णन किये हैं।।६-७।।

'अनुचरैः' इन तीन श्लोकोंसे लता, पक्षी और मेघ इन तीन सात्विकोंका वर्णन करती हैं, तथा भगवानके भी पृथक्-पृथक् लीला करने योग्यरूप तथा नादका उसी प्रकार वर्णन करती हैं. ये तीन(लता, पक्षी और मेघ) वेणुनाद सुन कर भक्तिसे पूर्ण हो गए. उनमें भी प्रथम वृन्दावनमें स्थित लता तथा पेड़ वैष्णव हैं, जिससे वेणुनाद सुनते ही उनमें प्रेमरस उद्भुत हुआ अतः उनकेलिए वेणुनाद दूसरे प्रकारसे हुआ एवं इसीलिए भगवानका भी प्रकारान्तरसे वर्णन करना चाहिए. वह वर्णन भक्ति, लोक तथा वेदके अनुसार होना चाहिए, उनमें प्रथम भक्तिके अनुसार वर्णन करती हैं:

अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य आदिपूरुष इवाचलभूतिः।
वनचरो गिरितटेषु चरन्तीर्वेणुनाह्वयति गाः स यदा हि।।८।।
वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म।।९।।

(युग्मार्थ)सेवकोंने जिसके वीर्यका श्रेष्ठ प्रकारसे वर्णन किया है और जो आदिपुरुष नारायणके सदृश अचल लक्ष्मीवाले हैं एवं जो वनमें फिर रहे हैं वैसे भगवान् जब पर्वतोंके तटोंमें चरती हुई गायोंको बंसीकी ध्वनि सुनाके बुलाते हैं, तब वनकी लता तथा वृक्ष अपने अन्दर विष्णु विराजते हैं, यह प्रकट करनेकेलिए, अपनेको फल तथा पुष्पोंसे भरपूर करते हैं, जिससे उनकी शाखाएं भारसे बहुत नम जाती हैं और प्रेमसे जब वे रोमांचित हो जाते हैं तब उनमेंसे मकरन्दकी धाराए बहने लगती हैं।।८-९।।

वेदोंने आदिपुरुष पुरुषोत्तमके रूपमें भगवानके जगतको रचने आदिके महान् वीर्यका वर्णन किया है[१]. वैसे ही गोप बालक जो यहां भगवानका अनुचरण कर रहे हैं, भगवानके वीर्यका अनुवर्णन करते हैं[२]. लोकके अनुसार माहात्म्य दिखलाती हैं[३] 'आदिपुरुष इवाचलभूतिः' अर्थात् आदिपुरुषकी तरह जिनके पास चञ्चला-लक्ष्मी अचल हो जाती है. जिन्होंने भगवानका अनुचरण किया है. ऐसे सभी देवता आदिओंने भगवानका वर्णन इसी रूपमें किया है. लोकमें भगवानके बारेमें व्यवहार सम्भव हो एतदर्थ पुरुषोत्तमसे समानता ही बता रहे हैं (न कि ये स्वयं ही पुरुषोत्तम हैं यह) अतः पूर्णपुरुषोत्तम नन्दरायकुमारकी चर्चामें भी पुरुषोत्तमका दृष्टान्त संगत हो जाता है. पुरुषोत्तम एवं नन्दरायकुमारमें जो भेद जैसा मान कर वर्णन किया जा रहा है उसका कारण बताते हैं, कि पुरुषोत्तम ही यहां, क्योंकि वनचर-वृन्दावन[४] विहारी हो गये हैं अतः सात्विकभाववाले एवं सत्व भूमि पर प्रतिष्ठित हो गये हैं. किन्तु तावता लौकिकता नहीं समझनी चाहिये क्योंकि वेणु द्वारा भगवान् पर्वतों पर घूमती हुई गायोंको नीचे समतल भूमि पर बुला रहे हैं. वेणु द्वारा भगवान् वहां प्रविष्ट हो गए हैं, यह आगे वर्णित होनेवाले चरित्रसे जाना जा सकता है. क्योंकि वेणु द्वारा भगवान् यदि वहां प्रविष्ट न हुवे हों, तो वृक्षोंकी यह स्थिति सम्भव न हो पाती, कि वे अपनेमें विष्णुका भान करा पाये. जिन वनोंमें भगवानने रमण किया वहां जैसे ही भगवानने बुलाया वैसे ही उन्होंने मधु धाराएं बहाई. यह बात ठीक ही तो है, क्योंकि अन्यथा वेणुनादको जान पाना और फिर उसमें भी अपने नामको पहचान सकता सम्भव न हो पाता. अतः वेणुनाद द्वारा भगवान् वहां प्रविष्ट हुवे हैं यह बात माननी चाहिये, अतएव आगे भी इसी तरहके वर्णनोंकी संगति बैठ जाती है.

१.वेदानुसारी वर्णन. २.भक्तिके अनुसार वर्णन. ३.लोकके अनुसार वर्णन.'लेख'
४.टिप्पणीजीका आशय: वृन्दावन रसोद्दीपक है, अतः रसशास्त्रीय स्तम्भादि सात्विकभाव यहां सम्भव हैं जबकि आदिपुरुषके रूपमें वह सम्भव नहीं अतः भेद मान कर भी वर्णन हो सकता है.)

वनकी लताएं हमारे निकट भगवान् विचरण कर रहे हैं तथा अपनोंको बुला रहे हैं यह जान कर उनकेलिये भोग सिद्ध करनेकेलिये अपनेमें रहा हुआ आनन्द प्रकट करने लगी. इसी तरह वृक्षोंने भी किया. जैसे भगवदीय स्त्री पुरुष उनके पास भगवान् या भगवदीयोंके पहुंचने पर प्रसन्न होते हैं तथा सभी कुछ अपना उन्हें निवेदित कर देते हैं वैसे ही, इन्होंने(वृक्षोंने) भी किया. यदि कोई कहे, कि यह तो जंगम प्राणी कर सकते हैं, स्थावर प्राणी नहीं, तो उसका उत्तर देते हैं 'आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य' अर्थात् वे लताएं अपनेमें विष्णुको अभिव्यक्त कर रही थी. चेतन प्राणियोंमें ही भगवानकी क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्तिका आविर्भाव होता है, पश्चात् क्रमशः सच्चिदानन्द भी वे ही बनते हैं. यह सभी कुछ भगवानके निविष्ट होने पर होता है और वह भी निविष्ट हो कर जब भगवान् प्रकट होते हैं तभी. वे वृक्ष आदि पांच धर्मोंका(द्र.भाग.१०।१९। ३२) साथ पा कर अपनेमें भगवान् विष्णुको प्रकट करनेवाली जैसे हो गये.

इनमें प्रथमतया क्रियाशक्तिका आविर्भाव 'पुष्पफलाढ्या'से कहते हैं. जहां-जहां भगवान् निविष्ट होते हैं, वहां-वहां अवान्तरफल और परमफल उपलब्ध हो ही जाते हैं, अतः कार्यसे कारणको जताने लगी. पुष्प अवान्तरफल हैं तथा फल परमफल हैं. इन सभीसे ये भरपूर हो गई. भगवदर्थ इनमें 'सदाधिक्यं'[५] है यह 'प्रणतभारविटपा'से दिखलाया जा रहा है. झुकना तो भारके कारण भी सम्भव है, किन्तु प्रणत होनेकेलिये भार आवश्यक नहीं है. वृक्ष प्रणत थे तथा उनकी शाखाएं भारावनत थी. इनके शरीर प्रेमके कारण हृष्ट हो रहे थे. यह 'चितका उत्कर्ष'[६] दिखलाया क्योंकि भगवद्ज्ञान ही चितका उत्कर्ष है. भक्त प्रेमवश हृष्ट एवं रोमाञ्चित होते रहते हैं. (पहले ये हरे-हरे नहीं थे किन्तु बादमें हुवे, कुछ स्थूल भी हो गये, इनके प्रत्येक अवयव फूलसे गये, एक चमक सी आ गई, यही बातें इनके शरीर प्रेमहृष्ट हो गये इसका लक्षण है. दूसरी बात यह है कि वेणुनादमें जो सुधा है उसका स्वाद तो स्वामिनियां ही जानती हैं. अतः उन धर्मोंको ढूंढनेवाली वे ही हो सकती हैं अतः उनकी उक्तियोंका विचार अन्य नहीं कर सकते अतः अधिक कहां तक लिखा जाये?-यह गुसाईंजीका लेख है.) मधुधारा अपनेमें विद्यमान आनन्द है तथा

उसे भगवानकेलिये बाहर प्रकट किया. इस सबका परिज्ञान ही ज्ञानशक्ति है।।९।।
५.लेख–सत्पुरुष हरिके दर्शन होने पर प्रणत हो जाते हैं.
६.इस तरह (१)सदाधिव्य (२)चिदुत्कर्ष (३)आनन्द प्रकट करनेसे सच्चिदानन्दता दिखलाई.

पक्षियों पर भी वेणुनादका प्रभाव पड़ा यह दिखानेकेलिए उनको उपयोगी जो वेणुनादका रूप है उसका वर्णन करती हैं 'दर्शनीय तिलक'से. पक्षी यद्यपि मुनि हैं अतः गीता आदिसे उन्हें भगवद्भाव नहीं अपितु स्वभावसे ही हैं, फिर भी लोकदृष्टिसे कभी अन्यथा बुद्धि हो सकती है अतः रूप एवं नाद द्वारा उनकी भजन सिद्धिका निरूपण करते हैं, वहां रूपवर्णन 'दर्शनीय तिलक'में किया गया है:

दर्शनीयतिलको वनमालादिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः ।
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टमाद्रियन् यर्हि कुजितवेणुः ।।१०।।
सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चारुगीतहृतचेतस एत्य ।
हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः ।।११।।

(युग्मार्थ)सुन्दर रूपवालोंके मुकुटरूप भगवान्, वनमालाओंमें दिव्य गन्धवाली तुलसीके मकरन्दसे मत्त भौंरोंके ऊंचे तथा अनुकूल गानको मान देते हुए, जब मुरलीनाद करते हैं, तब तलावमें सारस, हंस और अन्य पक्षी उस सुन्दर गानसे मोहित चित्त होके वहां आकर आंखोंको मूंदकर, मौन धारणकर, चित्तको नियमितकर, भगवानकी सेवा करते हैं।।१०–११।।

जो सुन्दर देखने योग्य हैं उनमें भी भगवान् अति सुन्दर हैं. पक्षी, रूप प्रधान होते हैं, अर्थात्, पक्षियोंमें रूपकी प्रधानता होती है अतः वे रूपोंके भेदको जाननेवाले होते हैं. और यह जो वेणुनाद है वह अपना हितकारी है, कारणकि वह स्वकीयोंके अपराधको भी नहीं गिनता है. अपराधको कैसे नहीं गिनता उसको बताती हैं, कि वनमालाकी दिव्य गन्धवाली तुलसीके मकरन्दसे मत्त भ्रमरोंने जो ऊंचे स्वरोंमें गीत गाये उनके भी आदरमें वेणु बजाया, ज्योंही भ्रमर गुञ्जार करते हैं, त्योंही उनके नादका मानों अनुकरण करते हुवे वैसा ही वेणुनाद करते हैं. पक्षियोंमें भ्रमर हीन और निन्दित हैं वे भी अनेक प्रकारके भेदवाले समूहोंमें हो कर अविवेकसे, ऊंची ध्वनिसे गुञ्जार कर रहे हैं उस ऊंची ध्वनिका भी भगवान् आदर करते हैं. और वह भी तब, कि जब वे भ्रमर मत्त हैं. यह मद भी तो उचित नहीं क्योंकि तुलसी अन्य पुष्पोंकी तरह मादक नहीं हो सकती क्योंकि उसकी तो गन्ध

भी दिव्य है और वह भी फिर जब भगवानकी वनमालामें लगी हुई हो तब भी जब उनका आदर करते हैं तब सरोवर आदिमें रहनेवाले जो रसिक हैं, क्षीर-नीरको पृथक् कर सकते हैं अर्थात् गुण-दोषको पहचाननेवाले विवेकी हैं, उनका आदर कैसे नहीं करेंगे? तुलसीके दिव्य गन्धसे मत्त भ्रमरोंका आदर भी इच्छानुकूल कर रहे हैं, जैसाकि आपके कण्ठमें पड़ी वनमाला पर आके बैठते हैं तो वहांसे उनको हटाते भी नहीं हैं. जैसे भ्रमरोंको किसी प्रकार कष्ट न होये, वैसे उनका आदर करते हैं. इस प्रकार आदर करते हुवे, जब वेणु बजाते हैं, तब ही तलावमें बैठे हुवे भक्तोंके सम्बन्धी, क्षीर-नीर विवेकवाले हंस और उत्कृष्ट गतिवाले वे पक्षी, पुरुषोंसे भी विशेष भगवानके भजनके अधिकारी हैं अतः उनके चित्तोंका भगवानके गीतसे हरण हो गया है. वह हरण भी निष्काम भावनासे हुआ है, कारणकि उनका वह भजन भक्ति मार्गानुसारी है, न कि, स्थानमें स्थित अन्तर्यामी रूपमें अथवा ज्ञानरूपमें है. उसको स्पष्ट सिद्ध करनेकेलिये कहा है, कि भगवानके पास आकर सेवा करने लगे, कारणकि भगवानने कहा है कि ये पक्षी मुनि हैं. ये भजनके भौरे हैं अतः इनकी विशेषता बताते हैं कि इनका चित्त संयममें है, संयमचित्तसे जो भजन किया जाता है वह मुख्य है. विक्षेपवाले चित्तसे जो भजन होता है, वह मुख्य नहीं है. यहां श्लोकमें 'हन्त' शब्द हर्ष प्रकट करनेकेलिये दिया है. ऐसा उत्तम भाग्य इन(पक्षियों)का ही है, जिनमें बाहरका कोई व्यापार नहीं है, अतः ये भजनमें सर्वोत्तम हैं. बाहरका व्यापार न हो, इसलिये इन्होंने वाणी और नेत्र बन्द कर लिये हैं, जिससे न वाणी कुछ अन्य बोल सकती है और न नेत्र अन्यको देख सकते हैं. अब तो ये नादके ही परायण है, ये शुद्ध सात्विकी हैं इसलिये इनका ऐसा उत्तम भाग्य है, गोपियोंने इस युग्ममें इस प्रकार निरूपण किया है.

अथवा यहां इस युग्ममें यह भाव प्रदर्शित किया गया है, कि ये पक्षी अति रसिक मुनि हैं उन्होंने देखा कि पुरुषरूपसे लीलामें, हम उपयोगी न हो सकेंगे अतः पक्षीरूप धारणकर, अनेक प्रकारके अपने अस्फुट शब्दोंसे भगवान् तथा भक्तोंमें रसका उद्दीपन करने(जगाने) लगे, जिससे अपनी, कृतार्थता मान शब्दको ही अधिक प्रिय समझने लगे. इस कारणसे यहां शब्द प्रधानवाली कीर्तिरूप वनमालाके धर्मोंका ही उपयोग किया (काममें लाया) गया है. श्रुति कहती है कि जैसे[१] पुष्पोंवाले वृक्षकी गन्ध दूर तक जाती है वैसे ही पुण्य कर्मसे उत्पन्न कीर्तिकी गन्ध भी दूर तक फैलती है, इस प्रकार कीर्तिकी गन्धसे समानता

बताई है. वनमाला कीर्तिरूप है, अतः उसका निरूपण करनेवाले गीत गाने आवश्यक हैं, वे गीत तब गाये जाते हैं, जब उसके रसका आस्वादन किया हो, गुणातीत भक्तिरूप गन्धवाली तुलसी है, उसका मधुररस, अति अलौकिक रसवाला होनेसे, अन्य सर्वरसोंको भुला देते हैं, अतः उस अलौकिक रससे मत्त अलिगण अपनी देहादिकोंको भी भूल कर एवं भगवानके धर्मोंका भी अनुसन्धान रखे बिना ऊंचे स्वरोंमें भगवानके निकट ही गाने लग गये. वस्तुतस्तु यही भगवानकी बड़ीमें बड़ी सेवा है, जो ये भ्रमर कर रहे हैं. अतएव जो प्रभुको सर्वथा अपेक्षित था, वही इन्होंने भी गाया. यहां 'चारुगन्ध' न कह कर 'दिव्यगन्ध' कहा जबकि दिव्यका अर्थ होता है स्वर्गादिमें जो उत्पन्न होता हो, और जैसाकि स्पष्ट है, भगवानकी धारण की हुई वनमालामें जो तुलसी है स्वर्गादि लोकोंमें उत्पन्न नहीं हुई है अतः 'दिव्य'का अर्थ क्या लेना चाहिये? आगे चल कर स्वामिनियोंका व्रजदेवी होना कहा जायेगा तथा 'दिवि' धातुका अर्थ क्रीड़ा भी माना गया है तदनुसार यह गन्ध स्वामिनियोंके साथ क्रीड़ा करनेके कारण, उत्पन्न हुई है ऐसा दिव्य एवं गन्ध पदोंके जुड़नेसे मतलब निकलता है. इस तरह गन्धकी दिव्यता सामान्य लोक नहीं जान सकते किन्तु अन्तरङ्गलीला प्रपञ्चस्थ भक्त ही केवल जान सकते हैं, यह ध्वनित होता है. अतएव प्रभुमें भावोद्बोध उसीके द्वारा हुआ यह बतानेकेलिये कूजनका वर्णन किया.

१.'यथा सम्पुष्पितस्य वृक्षस्य दूराद्गन्धोवात्येवं पुण्य कर्मणो दूराद्गन्धो वहति' श्रुतिः.

एक और बात यह है, कि वनमालाके पुष्पोंके मधुके बारेमें, न कहकर, तुलसीके बारेमें जो कहा 'दयितगन्धतुलस्या' इस वाक्य तथा 'बाहुंप्रियांस'से प्रारम्भ करके 'तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैरन्वीयमान' तकके वचनोंके अनुसार, उस गन्ध एवं मधुके स्वरूपको प्रभु ही जानते हैं, अन्य नहीं, यह भी सूचित होता है. उसके भोक्ता भ्रमर भी अतएव साधारण नहीं हैं किन्तु इतर भ्रमरोंसे, अलग जातिके अतिउत्तम भ्रमर हैं यह 'कुल' पदके द्वारा ज्ञापित हुआ. अतएव 'अलि' पदका प्रयोग किया. 'अलं'का अर्थ होता है पूर्णता, वह पूर्णता जिसमें हो उसे 'अलि' कहा जाता है. अथवा जहां रस लीन न होता हो नष्ट न होता हो उसे 'अलि' कहा जाता है. यद्यपि इस व्युत्पत्तिके अनुसार शब्द 'अली' होना चाहिये था तो भी ''दशहूतो हवै नामेषः तंवा एतं दशहूतं सन्तं दशहोतेत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा'' इस श्रुतिके अनुसार तथा 'परोक्षं मम च प्रियं' इस भगवद्

वचनके अनुसार अपने प्रिय अर्थको गुप्त रखना प्रभु प्रिय है यह सिद्ध होता है. यहां अपने अन्तरंग रसकी पोषकता इनकी गुप्त रखनी है अतः ह्रस्वान्त पदका प्रयोग किया गया है. यों अलि तो ये ही हैं, अन्य तो सारे भ्रमर हैं. कहीं-कहीं परन्तु प्रयोजन विशेष वश इनका भी अन्य नामोंसे उल्लेख किया जाता है. तार स्वरमें गा रहे थे या बहुत गा रहे थे यों न कह कर 'अलघुगीत' कहा उसका तात्पर्य यह है कि प्रभुके बिना उस गीतके रसका भार कोई भी वहन नहीं कर सकता है. महत्ताकी इयत्ता-सीमा नहीं होती यह भी जतानेकेलिये 'अलघु' कहा. ऐसी स्थितिमें भला उनका आदर कैसे नहीं होता?

'यर्हि'का तात्पर्य यह है कि गीतके रसका पान करके बड़ी देर तो ऐसे खो गये कि चुपचाप ही खड़े रहे और फिर उसी रसके छलकनेसे वेणुवादन करने लगे. आगे चल कर 'चारुगीत'में 'गीत' पद आता है यह प्रथम भ्रमरोंके गीतसे जागृत हुवे भाव द्वारा भगवान् अपनी प्रियाओंमें भी भाव जाग्रत करनेकेलिये वेणुवादन करते हैं. इससे यह सिद्ध होता है, कि जब रसोद्बोध पूर्ण हो गया तब भगवानने वेणुकूजन किया. भगवान् अत्यन्त सुन्दर हैं यों कहनेकेलिये जो उन्हें 'तिलक' कहा उसका तात्पर्य यह है, कि तिलक जैसे भाग्यस्थान कपाल पर होता है वैसे ही यह स्वरूप भी परमभाग्यवालियोंको मिला है. यहां कर्मधारय समास है, अर्थात् भगवान् दर्शनीय हैं तथा तिलक हैं. क्योंकि स्वामिनियोंके हृदयमें प्रिय भगवानके बिना दूसरा कोई दर्शनीय सुन्दर पदार्थ है ही नहीं.

यहां यद्यपि रूप एवं नाद दोनों ही मुख्य हैं, तो भी नाद, रूपकी अपेक्षा अधिक है. क्योंकि नाद, रूपकी अपेक्षा अधिक न हो, तो नेत्रोंको बन्द रखनेका उल्लेख न होता. इसका कारण यह है, कि सरोवरमें रहनेवाले उन पक्षियोंने ही वेणुगीत सुना. यह गीत इतना सुन्दर था, कि इसका केवल एक ही स्वभाव था और वह यह, कि मनको हर लेना. अतः वेणुनादके अधीन हो कर ही, वे भगवानके समीप आये. नादके कारण, स्वरूप सौन्दर्यका आरम्भमें ही निरूपण कर दिया था, अतएव नादरसमें ही स्वरूप रसका भी अनुभव होने लगा. यह भी तो एक अत्यन्त विचित्र ही बात है, कि मत्त भ्रमरोंके गीतोंकी संगत करनेकेलिये गाये गये गीतों द्वारा पक्षियोंके चित्तको वशमें कर लेना तथा उनकी सभी इन्द्रियोंकी वृत्तिको निरुद्ध कर लेना. यह इनकी गीत रसपानकी दशा है, अतः इनका ऐसे ही होना उपपन्नतर है. क्योंकि, यह वेणुनाद भ्रमरगीतसे जन्य है, तथा

भ्रमरोंके गान करनेके बाद हुआ है. अलिकुल–भ्रमरगणकी भी तुलसीकी गन्धके मधुपानसे जो दशा हुई वह ऐसी ही अर्थात् पक्षियों जैसी ही है. किन्तु पश्चात् मधुके स्वभावसे वे मत्त हो गये यह अधिक प्रभाव था. जबकि पक्षीगण सब मुनि हैं अतः आगे चल कर भी अपने अन्तरमें उन्हें यह इस रसमें अपने निमग्न होनेकी अनुभूति निरन्तर बनी रहती है अतः उनके मत्त होनेका वर्णन नहीं किया जाता. अथवा, तो प्रभुके रसके स्वभावके कारण ही, प्रभुके रसमें मग्न रहनेकी स्थितिका वर्णन न भी करें तो भी स्वतः सिद्ध है अतएव वर्णन नहीं किया. क्योंकि तब इनकी भी, अर्थात् पक्षियोंकी भी, अलिकुल जैसी दशा हो जायेगी.

वस्तुतः तो यहां वर्णित स्वरूपके रसमें मत्त हुवे भ्रमरोंके अलघुगीत अति प्रिय हैं, अतः भगवानने अपने चित्तको वक्षमें रख कर उन्हें सुना और फिर सुनकर वेणुकूजन किया, गान किया. और इस ऐसे कूजनगानको सुन कर पक्षियोंका भी अपने चित्तको वशमें रखना आवश्यक है (कारणानुरूप कार्य होता है के नियमानुसार) यही विवेचन ठीक जचता है. फिर भी आरम्भमें 'दर्शनीयतिलक'के रूपमें स्वरूप सौन्दर्यका ही वर्णन किया और उस स्वरूप सौन्दर्यको देखनेकी स्वयं उत्कट अभिलाषा होनेसे ऐसे लाभके अवसर पर उन्होंने आंखें मीच ली तो उस प्रतिबन्धका स्मरण करनेसे एक खेद सा उत्पन्न हुआ अतः 'हन्त' कहा ।।१०–११।।

मेघ सर्वका हितकारी है, उसको भी वेणुनाद श्रवणसे जो भाव उद्भूत हुआ, उसका वर्णन 'सहबलः' युग्ममें करती हैं:

सहबलः स्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः ।
हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम् ।।१२।।
महदतिक्रमणशङ्कितचेता मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः ।
सुहृदमभ्यवर्षत्सुमनोभिश्छायया च विदधत्प्रतपत्रम् ।।१३।।

(युग्मार्थ)हे व्रजदेवीओं! पुष्पगुच्छोंसे बने कर्णाभरणसे विलसित प्रभु बलदाऊजीके साथ पर्वतोंके शिखरों पर विचरते हुए स्वयं आनन्दमग्न हो, जगतको हर्षित करते हुए जिस समय वेणुनादसे जगतको पूर्ण करते हैं, उस समय मेघ, महान् पुरुषोंके अतिक्रमणसे डर कर न आगे बढ़ता है और न ऊंची गर्जना करता है, किन्तु वेणुनादके पीछे मन्द–मन्द गर्जना करता है, तथा अपने मित्र भगवान् पर छायासे छत्रकर, सूक्ष्म बिन्दुरूप पुष्पोंसे वर्षा द्वारा सेवा करता है।।१२–१३।।

हे व्रजकी देवतारूप गोपियों! यहां गोपियोंको देवी कहनेके दो भाव हैं, एक तो ये गोपियां वे हैं, जो भगवानकी की हुई रासलीलाकी क्रीड़ामें थी, और दूसरा ये देवी हैं इसलिये ये श्रद्धावाली हैं, जिससे इनको इस कहनेमें अवश्य विश्वास होगा, कि भगवानने वेणुनादसे विश्वको पूर्ण कर दिया है और लीलाओंमें भी विश्वास होगा.

भगवान् जब वेणुनादसे विश्वको भर देते हैं, तब महापुरुषके अतिक्रमसे शंकित(भयभीत) चित्तवाला मेघ अपने मित्र भगवान् पर वर्षा करने लगा और उसने अपनी देहकी छायाका छाता बना कर धूपसे बचानेकी सेवा की.

यह वेणुका नाद महा बलिष्ठ है, विश्वके सर्व धर्मोंको हटा कर स्वयं ही सर्वमें पूर्ण भर गया. मेघने सोचा कि मेरा जो काम, ताप नाश कर सबको शीतलता देना है वह तो भगवानने कर ही दिया. अतः अब मैं जो धूमादि समूहात्मा आभासरूप ही हूं सो अपने जन्मको सफल करनेकेलिये भगवान् पर अपनी पुष्प जैसी बून्दोंसे वर्षा करता रहूं.

अब गोपीजन यह वर्णन करती हैं, कि जिस प्रकारके वेणुनादसे यह कार्य हुआ है उस प्रकारके नादको करनेवाले भगवान् कैसे हैं? यदि उनमें विशेष गुण नहीं है, तो यह कहना केवल अर्थवाद(झूठी बडाई) है इसलिये चार विशेषण दे कर भगवानका माहात्म्य सिद्ध करती है.

१.सहबलः–भगवानने इस समय अपनी पूर्ण क्रियाशक्ति अपने यहां प्रकट कर रखी है, इसलिये 'सहबलः' यह विशेषण दिया है. बलरामजीको साथ लिये हैं, कारणकि बलरामजी पूर्ण क्रियाशक्ति स्वरूप हैं. जिस क्रियाशक्तिसे सृष्टि की जाती है उससे भी यह क्रिया बड़ी है यह जतानेकेलिये बलरामजी सहित कहा है.

२.स्रगवतं स विलासः–इस विशेषणसे यह कहा है, कि भगवानने पुष्पगुच्छोंकी मालारूप आभरणसे कानोंको सुशोभित किया है, जिसका आशय है, कि भगवानने कीर्तिरूप मालाको दश दिशाओंमें इस लीलासे व्याप्त(फैलाव) कर दिया है, यह लीला सर्वोत्तम है कारणकि इससे कीर्ति चारोंओर फैल गई है, अथवा भगवानकी कीर्त्तिका वर्णन करनेवाले भागवत आदि शास्त्र सर्ववेदोंमें आभरणरूप है, कारणकि वे शास्त्र भगवानके विलासों (लीलाओं)से भरे पड़े हैं और उन(लीलाओं)का प्रतिपादन करते हैं, इस

प्रकार क्रियाशक्तिका स्वरूप तथा गुणसे माहात्म्य निरूपण किया है.

३.जातहर्षः–इच्छाके सिवाय कोई भी कार्य नहीं होता है, अतः उसकी सहकारिणी इच्छाका माहात्म्य कहा है, प्रसन्नताका धर्म इच्छा है, इसलिये भगवान् स्वयं प्रसन्न हों, अर्थात् हर्षयुक्त हो कर सबको हर्षसे भरने लगे, इस प्रकार इस विशेषणसे वेणुनादकी कारणभूतक्रिया(इच्छा)का उत्कर्ष कहा है.

४.क्षितिभृतः सानुषु–इस विशेषणसे जिस स्थान पर यह लीला की है, उस देशका भी उत्कर्ष बताया है, पृथिवी सबका आधार है, उस पृथ्वीको जो धारण करते हैं, उनके भी उच्च स्थानोंमें वह नाद जब पहुंचता है तो विश्वको कैसे न पूर्ण कर देगा.

यहां नाद न कह कर 'ख' कहा है जिसका आशय है, कि यह शब्द अति गम्भीर है, अतः अपनी ध्वनिसे सर्व जगतको भर देता है, जिससे मेघसे भी यह क्रिया अधिक है, यह सिद्ध किया है.

जब मेघने भगवानकी यह क्रिया देख ली तब भगवान्के ऊपर जहां था वहां ही ठहर गया, भगवानका अतिक्रमण कर आगे न बढा, क्योंकि मनमें शंकित हुआ, कि अतिक्रमण कर जाना विफल है मेरा कार्य तो भगवानने प्रथम ही कर दिया है जिससे वे हमारे मित्र हैं अतः नीलमेघ सदृश श्याम, विश्वजीवन अपने मित्र भगवान् पर पुष्परूप अपनी बून्दोंसे वर्षा करने लगा, अर्थात् पुष्पोंसे भगवानकी सेवा करने लगा, केवल सेवा ही नहीं की, किन्तु ऊपर छत्रधर राज्य भी दे दिया, इतना ही नहीं, किञ्च आत्मनिवेदन भी किया, सूर्य नीचे स्थित हो और मेघ ऊपर स्थित हो, तब वह छाया नहीं कर सकता है, इसलिये श्लोकमें 'छायया' यह पद पृथक् दिया है।।१२–१३।।

तीन प्रकारके उत्तम अधिकारीयों पर भी वेणुनादका पृथक्–पृथक् प्रभाव पड़ा, जैसेकि ज्ञानियोंके मनमें संदेह उत्पन्न हुआ, श्रुतिरूपा गोपियोंको मोह हुआ और अरण्यवासियोंने सर्वत्याग किया. यह वेणुनादका तथा भगवानका कार्य 'विविध गोप चरणेषु'से ले कर तीन युग्मोंमें वर्णन करती हैं. उनमें विश्वगुरु ब्रह्मादिकोंको भी संदेह हुआ तदर्थ भगवानने जैसा वेणुनाद किया उसको 'विविध गोप चरणेषु' युग्ममें वर्णन किया है:

विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः ।।१४।।

सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।
कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्वाः ।।१५।।

(युग्मार्थ)हे यशोदा! गोपोंकी अनेक प्रकारकी क्रीड़ाओंमें चतुर तेरा पुत्र, सूर्यवत् प्रकाश कर अरुण अधर पर वेणुको धारणकर, अपनी ही नवीन उत्पन्न की हुई स्वरोंकी अनेक प्रकारकी जातियां प्रकट करता है, तब इन्द्र, शिव, ब्रह्मा आदि सर्व देवता उस गानका शब्द जहांसे आता है, उसी दिशामें अपनी गर्दन और चित्तको झुका कर उसे सुनते हैं, यद्यपि वे विद्वान् हैं, तो भी उस अलौकिक गानके भेदको न समझ मुग्ध हो जाते हैं।।१४-१५।।

अलौकिक इस प्रकार जब लोकमें उत्पन्न होता है तो सन्देह होता है. जिस रूपका वर्णन वेदोंमें नहीं मिलता उस रूपका ईश्वरमें होना भी नहीं माना जा सकता तथा ब्रह्माजी तो सभी विद्यास्थानोंके जानकार हैं अतः उनको सन्देह हुआ यह बात भी बराबर समझमें नहीं आती, अतः इसका समाधान करती हैं ''वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षा'' द्वारा. वेणु सुषिरवाद्यके अन्तर्गत आती है. इसके भी अनेक प्रकार शास्त्रमें दिखलाये गये हैं. और ब्रह्माजीको वे सब मालुम नहीं है किन्तु भगवान् जिस वेणुको बजा रहे हैं उसके तो कई प्रकार हैं. 'निजशिक्षा' यानि स्वयं अपने शिक्षण स्वरायोजनको अभिव्यक्तिके प्रकार जिनमें हैं ऐसे स्वरोंको भगवान् अभिव्यक्त कर रहे हैं. एतावता नादब्रह्म नित्य है यह निरूपण हुआ. इस नादब्रह्मकी अभिव्यक्तका साधन क्रियाशक्ति है और वह यदि लौकिक हो तो नाद कैसे अलौकिक हो पायेगा? इसके समाधानार्थ साधनकी भी अलौकिकता दिखलाते हैं ''विविधगोप चरणेषु विदग्ध'' द्वारा. गोपोंके विविध संचारोंमें भगवान् विदग्ध हैं. गोपसंचार वेदोक्त नहीं होते, किन्तु लौकिक ही होते हैं. न केवल इतना अपितु अन्यान्य ब्रह्माण्डोंमें अनेक प्रकारके हो सकते हैं. वे अपने ब्रह्माण्डके अलावा अन्यत्र न तो लोक और न वेदमें ही प्रसिद्ध हो पाते हैं. किन्तु भगवान् तो सभी जगहकी सारी बातें जानते हैं अतः जो प्रकार इस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा नहीं जानते थे वही प्रकार भगवानने अपनाया. यहां एक शंका उठती है, कि ब्रह्माकी सृष्टिमें जब आविर्भूत हुवे ही हैं तो उसी ब्रह्मासे अज्ञात रखनेका प्रयोजन क्या? इसका उत्तर 'तव सुता' द्वारा दिया गया है. इन स्त्रियोंके मण्डलमें यशोदाजी आई हैं और तब उनसे यह बात कही जा रही है. अतएव यहां काम आदिकी चर्चा नहीं है किन्तु अनिषिद्ध उत्कर्षका ही वर्णन किया गया है. यशोदाजीको कहती हैं कि आपके पुत्र

होने पर भी आपके मनसे अगोचर ऐसे अशक्य कार्योंको जैसे करते हैं वैसे ही ब्रह्माके साथ भी उन्हींके ब्रह्माण्डमें घट गया है. 'सति' कह कर सम्बोधन करनेका प्रयोजन विश्वास है. ब्रह्मा इत्यादि न जान पाये उसका कारण 'अधरबिम्बे दत्तवेणु' द्वारा कहा जा रहा है. अधर लोभात्मक है यह पहले कहा ही है, अतः लोकमें यह प्रसिद्ध नहीं है अर्थात् इससे रसको भगवानने किसीको भी नहीं दिया है. इसके अलावा यह अधरबिम्ब है सूर्यकी तरह प्रकाशक है अब भला स्वयं उससे प्रकाशित हो रहे हों वे अपने प्रकाशकका रूप कैसे जान सकते हैं? ऐसे अधर पर भगवानने वेणु रख कर यह दिखलाना चाहा है कि यह वेणु उससे भी उत्तम है.

भगवानके उन नवीन प्रकारके स्वरोंको समझनेकेलिये त्रिगुण प्रधान भी देव तीन कालोंसे आकर सुनने लगे. वह काल भी आधिदैविक हैं इसलिये मूलश्लोकमें 'सवन' पद दिया है, जिसका आशय है कि यह लीला मध्याह्न कालकी है कारण कि यह सप्तम युगल है. सप्तम युगलमें जो लीला कही है वह मध्याह्न कालकी लीला है, अतः यह 'सवन' पद मध्याह्न सवन दिखानेकेलिये दिया है. इस सवनसे प्रातः तथा सायं तृतीय सवन नहीं समझना चाहिये. वे देव तो वेणुनादके स्वरोंका तीनों सवनोंमें विचार करने लगे क्योंकि, शक्र(इन्द्र) सात्विक है, शर्व(शिव) तामस है, परमेष्ठी(ब्रह्मा) राजस है ये तीन सर्व देवोंके नेता हैं अतः सर्व ही देव त्रिगुणात्मक हैं. ये देव नादमें निपुण होते हुवे भी समझ न सके. इन्द्र त्रैलोक्यका अधिपति, सर्वदा नादके परायण है. महादेव तो नादशास्त्रका कर्ता है और ब्रह्मा दोनोंके गुरु हैं. इसलिये ब्रह्माको 'परमेष्ठि' पदवी प्राप्त है. गोपीजन कहते हैं कि इन देवोंका चित्त अन्य किसीमें नहीं था इसलिये सर्वदेव नीची गर्दन कर नमन कर खड़े थे, जिससे उनसी एकाग्रता प्रकट होती है. किन्तु तो भी उन स्वरोंके तत्त्वोंको नहीं जान सके, यों भी नहीं समझना चाहिये कि कुछ समय उनका विचार किया जब वे समझमें नहीं आये तब उदासीन होनेसे अज्ञानके कारण चुप हो गये हैं, किन्तु चिन्तन करते हुवे मूर्च्छित हो गये. अथवा वेणुनादसे मोहको प्राप्त हुवे, इस कारणसे ही आभासत्व पक्षका भी निराकरण किया, अर्थात् यह नाद नहीं है किन्तु नादका आभास है, इस पक्षका भी निवारण किया है, यह नादका आभास नहीं है, कारणकि यह नाद अलौकिक रसको उत्पन्न करता है।।१४-१५।।

दूसरोंकी कथाका त्याग कर दो, किन्तु वेणुनादने हमको ही अन्य प्रकारकी बना दी है, जिसका वर्णन आगेकी तरह 'निजपदाब्जदलैः' इस युग्मसे

गोपीजन करते हैं:

निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्रनीरजाकृतिविचित्रललामैः।
व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं वर्ष्मधुर्यगतिरीरितवेणुः ।।१६।।
व्रजति तेन वयं सविलासवीक्षणार्पितमनोभववेगाः।
कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन कबरं वसनं वा ।।१७।।

(युग्मार्थ)ध्वज, वज्र, कमल तथा अंकुशके विचित्र चिन्हवाले आपके चरणरूप कमलपत्रोंसे व्रजभूमिकी खुर लगनेसे हुई पीड़ाको शमन करते हुए हुडुवाले महान् वृषभके समानगतिसे चलती गायोंकी व्यथाको मिटाते हुए और वेणुवादनसे गोपियोंकी व्यथाको शांत करते हुए जब पधारते हैं, तब अपने विलासवाले दृष्टिपातसे हमारे शरीरके अंग-अंगमें काम अर्पण करते हैं जिससे वृक्षवत् स्तब्ध हुई हम वैसी हो जाती हैं जो हमको अपने वस्त्र तथा केशोंका भी भान नहीं रहता है।।१६-१७।।

जब भगवान् बंशी बजाते हुवे चलते हैं, तब उस नादसे वृक्षकी सी गतिको प्राप्त हम सर्व गोपियां ऐसी मूर्च्छित हो जाती है, जिससे हमको अपने शरीर पर पहना हुआ वस्त्र है, वा नहीं, तथा केश पानका भी ध्यान नहीं रहता है, इस प्रकार अन्वय है. यह वेणुनाद हम लोगोंकेलिये ही होता है, यों उसकी चेष्टासे और अनुभवसे जाना जाता है. उसमें जो चेष्टा है, वह गोकुलवासियोंकेलिये ही होती है. जब भगवानके अन्तःकरणमें यही इच्छा व प्रयत्न है, कि इस नादसे गोपीजनोंमें मेरेलिये प्रेम उत्पन्न होवे, तब वे भगवान् दूसरा कार्य कैसे करेंगे? अतः प्रथम भगवानने जो गोकुलका हित किया है उसका वर्णन करती हैं.

भगवान् लीला पूर्वक धीरे-धीरे चलते हुवे अपने दो चरणकमलोंकी दश अंगुलियोंसे अथवा चरणोंके अधोभागसे सर्वदा पशुओंके आक्रमणके कारण उनके खुरोंसे जो व्रजभूमिको पीड़ा होती थी उसको मिटा कर उसका हित करते हैं. किससे कौनसी पीड़ा मिटाई जिसका स्पष्ट वर्णन करते हैं कि अपनी गति विलासवाले पाद स्पर्शसे, खुरोंसे क्षत अंशकी पीड़ा मिटाई. चरणमें स्थित ध्वजादि चिह्नोंके स्पर्शसे आध्यात्मिकादि पीड़ा नष्ट की है. जैसेकि तामस भौतिक पीड़ाको ध्वजके चिह्नसे, राजस आध्यात्मिक पीड़ाको वज्रके चिह्नसे और आधिदैविक सात्विक पीड़ाको कमलाकृति चिह्नसे मिटा दिया है. चरणोंमे जो ये विचित्र चिह्न हैं उनसे लौकिक तथा अलौकिक प्रकारसे व्रजभूमिका

खुरोंके उत्पन्न दुःख दूर किया. व्रजमें भूमि, गौ और गोपियां ये तीन मुख्य हैं, उनमें भूमिका दुःख अपने चलनेसे दूर किया, और गौओंका दुःख हुडुवाले महान् वृषभ जैसे धीमी चालसे चलनेसे नष्ट किया तथा हम गोपियोंका दुःख वेणुनादसे उत्पन्न किये हुवे काम द्वारा मिटाया.

वेणुनादसे तो स्वभावसे ही काम उत्पन्न हुआ पुनः उस काममें वेग उत्पन्न करनेकेलिये, विलाससे दृष्टिपात किया, इस प्रकार उस काममें वेग आ जानेसे, हम वृक्ष जैसी स्तब्ध गतिको प्राप्त हो गई. बाहर तो वृक्ष समान गति हुई, किन्तु भीतर तो ज्ञान रहा होगा? इसके उत्तरमें कहती हैं, कि 'न विदामः' हम यह भी नहीं जानती हैं कि भीतर ज्ञान था वा नहीं था, तो क्या आपकी दशा सुषुप्ति समान हो गई थी? इसका निराकरण करती हुई कहती हैं कि हमारी यह दशा सुषुप्ति समान नहीं थी, किन्तु मूर्च्छासे हुई थी. स्त्रियोंको दो विषयोंका रखना अत्यन्त आवश्यक है १.वस्त्र हमारे शरीर पर यथा स्थान हैं वा नहीं, २.चोटीका ज्ञान, वेणुनादके आरम्भमें भी यों हुआ था और पुनः यहां गति और दृष्टिसे भी वैसा ही किया है।।१६-१७।।

वेणुनादके श्रवणसे हरिणियोंको जो भाव हुआ उसका पहलेकी भांति 'मणिधर' इस युग्ममें वर्णन करते हैं:

मणिधरः क्वचिदागणयन् गा मालया दयितगन्धतुलस्याः।
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र ।।१८।।
क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः ।।१९।।

(युग्मार्थ)मणियोंकी माला धारण करनेवाले भगवान्, कभी उन मणियोंसे गौओंकी संख्या गिनते हैं, और अपनेको प्रिय जो तुलसी, उसकी माला पहने हुए, अपने प्रिय अनुचरके कन्धे पर हाथ रखकर, जब गान करते हैं, जब बजती हुई वेणुके शब्दसे जिनके चित्तहरण हो गए हैं, वैसी काले हरिणोंकी वधू अर्थात् हरिणियां, गोपियोंकी भांति घरकी आशाका त्यागकर, अनेक गुणोंके समुद्र भगवानके पास जाकर, उनका अनुसरण करती रहती हैं।।१८-१९।।

भगवानने जिन मणियोंको धारण किया है, वे मणियां गायोंके आधिदैविकरूप हैं. अतः आप 'मणिधर' हैं. अथवा ये मणियां भगवानको जो प्रिय हैं, उनको स्मृति बनाएं रखनेकेलिये भगवानने धारण की हैं. गायोंके जैसे

पृथक्-पृथक् रंग होते हैं, वैसे ही उन मणियोंके रंग भी अलग-अलग हैं, जब कभी भगवानकी इच्छा होती है, कि गायोंकी गणना करूं, तब मणियोंकी गणना करते हैं, जिससे उनको मालूम हो जाता है इतनी गाएं हैं. इस तरह गणनाका यह भी आशय है, कि भगवान् बताते हैं कि गाएं और उनके धर्म मुझमें ही हैं, अतः गायोंमें संसारका अभाव है. जिससे गोपियोंमें, हरिणियोंमें, भी संसारका अभाव बताया है. पशु तो पशु ही हैं. चाहे ग्राम्य या आरण्य. भगवान् जब ग्राममें रहनेवाले पशुओंका उद्धार करते हैं तो अरण्यमें रहनेवाले पशुओंका भी अवश्य करेंगे ही, अतः उनकी भगवान् कृष्णमें तत्परता योग्य ही है.

अपनेको प्रिय गन्धवाली तुलसीकी माला धारण की हुई है, जिससे यह भगवान् हैं यों जाननेमें आ जाता है, जैसे भगवानको श्याम रंग प्रिय है, स्त्रियोंका स्पर्श प्रिय है, वेणुका नाद प्रिय है और मक्खनका रस प्यारा है उसी प्रकार तुलसीकी गन्ध भी प्यारी है, उस तुलसीगन्धमें जो उत्तमता है वह कुछ सात्विक पुरुषोंके अनुभवसे सिद्ध है, वैसी तुलसी है, अतः उसकी मालाको आप धारण करते हैं.

हम भी जब वैसी प्रिय बनेंगी तब हमको भी अथवा हमारे धर्मोंको धारण करेंगे, इस कारणसे कृष्णसार हरिणोंके स्त्रियोंकी प्रवृत्ति हुई है, कृष्णसारका उपयोग तो वेदमें हुआ है और उसकी स्त्रियां अपना विनियोग भक्तिमें करनेकेलिये, इस प्रकारकी प्रवृत्ति करती हैं.

और अतिशय प्यारे सेवक गोपके कन्धे पर जब भुजा धरते हैं तब गोप, भगवान् गान करे, वैसी इच्छा करते हैं उन प्रिय सेवकोंकी भगवान् इच्छा पूर्ण करनेकेलिये कभी गान करते हैं. इस प्रकारके स्नेह तथा सेवा धर्मके होनेसे गोपोंका मनोरथ पूर्ण होता है तथा गोपियोंकी तरह हरिणी भी चाहती हैं, कि हम भी वैसी होवें, तदर्थ स्नेहसे वे भी भजन करती हैं. जब विजातीयके साथ कामकी इच्छा नहीं होती है, तब हरिणियोंको मनुष्यरूपधारी विजातीय भगवानमें कामकी इच्छा कैसे हुई? इस शंकाको मिटानेकेलिये कहते हैं, कि हरिणयोंको अपने देहकी स्फूर्ति ही न रही, कि हम हरिणियां हैं, अतः उन्हें भगवानमें कामभोग करनेकी इच्छा हुई. उसी समय भगवान् वेणु बजाने लगे. 'क्वणित' शब्द कहनेका आशय यह है, कि मनको हरण करनेवाला शब्द, यदि अचानक हो, तो उसको क्वणन संज्ञा दी जाती है, वह मनोहारी क्वणन, यदि वेणुसे निकलता है, तो उसके

सम्बन्धसे अन्य शब्द भी चित्तको हरण करनेवाले उसमेंसे निकलते हैं, जिससे उनको 'रव' कहा जाता है. यह तो प्रसिद्ध ही है, कि मृग जाति गानसे वशमें आ जाती है, हरिणियोंको उस नादसे यह प्रतीति हुई, कि अब ही हमारा उपयोग होगा अर्थात्, हमारी कामना भगवान् इस समय ही पूर्ण करेंगे, इस विचारके कारण, शब्द श्रवणसे ये हरिणियां ठगी गई हैं. इस प्रकार, नादसे ठगे जानेके कारण, हरिणियां श्रीकृष्णके पास बैठ गईं. जिस प्रकार कोई मनुष्य मरण पर्यन्त उपवासकर, शान्त हो कर बैठ जाता है, वैसे ही ये भी कृष्णके पास बैठ गईं. अन्यकी स्त्रियां, अन्यके गृहमें और पर पुरुषके पास कैसै बैठी? इस शंकाके उत्तरमें कहा गया है, कि ये हरिणियां कृष्ण(कृष्णसार)की स्त्रियां हैं ये भी कृष्ण ही तो हैं यों साजाकर वे यहां इस कृष्णकी गृहिणी हो गईं. अथवा वेणुनाद सुन कर ठगी सी रूपको भूल कर केवल शब्द मात्रमें तत्पर हो गईं. अथवा प्रभावशाली वेणुनादके कारण कृष्णसार भी कृष्ण ही तो हैं यों मान कृष्णके ही पास बैठ गई.

कृष्णसार भी कृष्ण है, इस भ्रमके होनेसे जब उसमें भी कृष्ण नाम है, तो उसको छोड़ कर यहां कैसे आ गई? इस शंकाके निवारणार्थ कहा गया है, कि 'गुणगणार्णं' कृष्णसारमें तो एक वा दो गुण हैं, किन्तु कृष्ण तो गुणोंका समुद्र है, अतः गुणोंमें आकृष्ट होकर, जहां भी भगवान् जाते हैं, ये भी उनके पीछे जाती है, इन्होंने घरमें लौट कर जानेकी आशाका त्याग कर दिया है (हरिणियोंने भगवानकी सन्निधिमें रह कर भगवद्रसका पान किया, जिससे उनकी भी गोपियोंकी भांति भगवानमें आसक्ति हो गई. हरिणियोंके नयन भगवानको भी प्रियाओं जैसे प्रतीत हुवे, जैसे गोपिकाएं भगवानको निहार रही हैं वैसे ही ये भी निहार रही थी अतः इन्हें भी वैसे ही भाव उत्पन्न हुवे और प्रभुने भी वैसे वेणु क्वणन किया. यहां नाद शब्द न कह कर 'रव' कहा है, जिसका आशय यह है कि इस पदमें 'र' अक्षर अग्नि अर्थात् ताप उत्पन्न करनेवाला बीज है, और 'व' अक्षर तापका शान्त करनेवाला अमृतका बीज है, सारांश यह है कि यह रव प्रथम भगवानकेलिये अन्तःकरणमें आर्ति अर्थात् मिलनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न करता है, पीछे भगवन्मिलनरूप भावामृतका सिञ्चनकर, उस तापको मिटा देता है, अतः गोपियोंने जो अपना दृष्टान्त दिया है, वह योग्य ही है.)

इस प्रकार वेणुनादका नव भांति निरूपण कर अब गुणातीत प्रकारसे, तीन तरह वर्णन करती हैं, जिसमें कहती हैं, कि भगवानने वेणुनादसे, जगतको ही

वशमें कर लिया है वह वर्णन 'कुन्ददाम' इस युग्ममें करती हैं:

कुन्ददामकृतकौतुकवेशो गोपगोधनवृतो यमुनायाम् ।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो नर्मदः प्रणयिनां विजहार ।।२०।।
मन्दवायुरूपवात्यनकूलं मानयन् मलयजस्पर्शेन ।
बन्दिनस्तमुपदेवगणा ये वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ।।२१।।

कनेरके फूलोंकी मालासे कौतुक वेशधारी, ग्वाल तथा गौओंके गणसे वेष्टित तथा स्नेहियोंको आनन्द देनेवाले तुम्हारे पुत्र नन्दके कुमार जिस समय यमुनामें विहार करते हैं, तब अपने स्पर्शसे भगवानको मान देते हुए दक्षिणका वायु, अपने मन्द, शैत्य तथा सुगन्धि इन तीन गुणोंको प्रकट करता है, इसी प्रकार गन्धर्वादिक देवगण भी बंदीजनोंके सदृश स्तुति करते हुए, बाजा बजाते, गान करते तथा भेटें अर्पण करते भगवानको चारोंतरफ घेर लेते हैं।।२०-२१।।

भगवान् जब श्रीयमुनाजीमें विहार करते थे, उस समय वहां भी कौतुकवेश धरके और जल विहार करते हुवे वेणुनाद करने लगे, कारणकि, यह वेणुनादका ही प्रसङ्ग है. यह देखक गन्धर्वादि, उपदेव गणोंने भी भगवानको चारोंतरफसे घेर लिया. यमुना शब्दकी सप्तमी विभक्ति देनेके दो भाव हैं एक सामीप्यका विहार, जैसे गौओंको तट पर ही खड़ी कर स्नान आदि कराना, और दूसरा, जल(अधिकरण)में विहार अर्थात् गरमीमें गोप तथा गौओंको जलमें लेजाकर खड़ा करना और वहां उनसे विहार करना. यों विहारादि करनेमें भी विक्षेपकी शान्तिकेलिये वेणुनाद सहायता देनेवाला होनेसे, भगवान् उस समय भी वेणुनाद करते थे. वेणुनाद तब होता है, जब भगवान् अलंकृतत हों इस समय कैसे नाद किया? इस शंकाके उत्तरमें कहती हैं, कि 'कुन्ददाम कृत कौतुक वेशः' भगवानने कनेरके फूलोंकी मालासे कौतुकवेश धारण कर लिया था, अर्थात् भगवान् उस समय अलंकृतत थे. यों भी न समझना, कि पुष्प अलंकार नहीं होते हैं, अलंकृत नहीं करते हैं, अलंकृत तो वस्त्र आभूषण ही करते हैं, इन फूलोंसे अनेक प्रकारकी मालाएं बनती हैं, जिनसे भगवानने अपना एक अति अद्भुतवेष धारण किया था. भगवान् हो कर वैसी प्राकृत लीला कैसे की? इस पर कहती हैं, कि नन्दका पुत्र तेरा बालक है, अतः जिस लीलासे नन्दका पुत्र हुआ है, वैसे ही लीलासे प्राकृत लीलाको भी करते हैं. यशोदाको यहां 'अनघे' इसलिये दिया है, तूं अघरहित है, जिससे तुझे इस पर विश्वास भी होगा और क्रोध भी न होगा. और यह तेरा

वत्स(बछडा) हुआ है, इससे तू गो रूप है, जिससे यह सूचन किया है, कि सर्व गुप्तरसोंको तुम नहीं समझ सकती हो. यदि जानती होती, तो भगवानको उलूखलमें न बान्धती. श्लोकमें 'नन्दसूनुः' और 'तव वत्सः' इन दो पदोंके मध्यमें यशोदाका विशेषण 'अनघे' दिया है, जिसका भाव यह है, कि जैसे यशोदा निर्दोष है, वैसे नन्दजी भी निर्दोष है, निर्दोषके यहां, प्रकट प्रभु भी निर्दोष है, किन्तु प्रभुमें पूर्ण गुणता है, यह दिखानेकेलिये आगेके विशेषण दिये हैं. 'प्रणधिनां नर्मदः' स्नेहवालोंको आनन्द देनेवाले हैं, जो कोई भी, स्नेहवाले हैं, वे जैसे-जैसे स्नेहयुक्त हो जायें भगवान् भी वैसी ही स्नेहमयी लीला करते हैं. इससे सर्वत्र स्नेह ही हेतु है, यह बता दिया. जहां ही लीलाकी आसक्तिसे क्रीड़ा होती है, वह क्रीड़ा विहार है. यहां जलक्रीड़ा, नृत्यक्रीड़ा और वेणुवादनक्रीड़ाको विहार जानना चाहिये. यदि ये क्रीड़ाएं न होवें, तो वाद्य आदिकोंका उपयोग यहां न होता. विद्यावालोंको ही वश करना चाहिये, विद्याको प्रकट करनेवाला वायु है देव उसके आधारभूत हैं. उनमें भी, उपदेवगण और बन्दी बाहर विद्या प्रकट करनेवाले हैं, अतः अन्योंकी अपेक्षा, उनमें विशेषता कही है. पहले कारणभूत वायुका निरूपण करती हैं, वायु जैसे अनुकूल हो वैसे मन्द-मन्द चलता है, अनुकूलका आशय यह है, कि श्रीयमुनाजीके तटके पास हित करनेवाला है अर्थात् यह वायु शीतलता देता है और यह वायु दक्षिणकी दिशासे आनेसे, वहांकी चन्दनकी गन्ध ले आता है, अर्थात् सुगन्धि भी देता है वह सुगन्धियुक्त वायु भगवानके श्रीअंगके स्पर्श होनेसे, अधिक शीतलता देनेवाला बन जाता है. यों होनेसे वहां जो भी रहते हैं, उन सबको यह वायु भगवद् भाव सम्पादन करेगा. अपने इन तीन गुणोंसे, जैसे ही भगवानका सन्मान होता है, वैसे ही बहता है. इसप्रकार वायु, भगवानके अतिशय वशमें है, यह प्रकट कर दिखाया. गन्धर्व आदि उपदेवगण तथा बन्दीजन गान करते हुवे भगवानकी कीर्त्ति निरूपण करनेवाले हुवे. श्लोकमें 'ये'पद दे कर यह भाव प्रकट किया है कि गन्धर्वादि सब भगवदीय हैं उन्होंने तामस वाद्य, राजस गीत और सात्विक पूजादि साधन सहित भगवानको चारोंतरफ घेर लिया, सर्वत्र जो अपेक्षित था वह करने लगे।।२०-२१।।

इस प्रकार गुणातीतके तीन प्रकारोंमेंसे एक धुटक प्रकारका वर्णनकर, अब वत्सल आदि दो युगलोंके केवल प्रभुके चरित्रका वर्णन करती हैं:

वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः।

कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः ।।२२।।
उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक् ।
दित्सयैति सुहृदाशिष एष देवकीजठरभूरुडुराजः ।।२३।।

(युग्मार्थ)गोवर्द्धन पर्वतको धारणकर, व्रज तथा गौओं पर प्रेम प्रकट करनेवाले, मार्ग पर वृद्धजनोंसे वन्दित चरणवाले, सेवकोंसे स्तुति किए हुए, गायोंके खुरोंसे उड़ी हुई रजसे संलिप्त मालावाले, देवकी जठरमें रहे हुए, ये चन्द्र, सांझके समय बंसी बजाते हुए, सकल गोधनको अपने पास लाकर, श्रमकी कान्तिसे भी गोपियोंकी दृष्टिको आनन्द देते हुए, मित्रोंको आशीर्वाद देनेकी इच्छासे पधारते हैं।।२२-२३।।

भगवान् दिनके अन्तमें (शामको) जो गायोंको गोष्ठमें ले आते हैं, उसका कारण कृपा है. यदि कृपा न होती, तो नहीं लाते, न लानेसे एक ही लीलामें व्यावृत(आसक्त) गाएं मुक्त हो जातीं. जिससे, भजनानन्दके अनुभवसे वञ्चित रहती थी, अतः भजनानन्दके अनुभवार्थ कृपाकर, उनको गोष्ठमें ले आये. भगवानकी प्रीति जैसी गायोंसे थी, वैसी गोपियोंसे भी थी. इसलिये गायोंको गोष्ठमें ले आये, कारणकि रात्रिको गोपियोंको भजनानन्दका दान करना था. (मूलश्लोकमें 'व्रजगवां' पदमें व्रज शब्द गोपियोंका सूचक है, गोपियों तथा गायों दोनों पर प्रेम होनेसे, भजनानन्दरस दोनोंको मिले, तदर्थ शामको गोष्ठमें पधारे हैं) आपको भजनानन्द रसका दान करता था, इसलिये ही, आपने गोवर्द्धन पर्वतको धारण किया था, यदि भजनानन्दका दान न करनेकी इच्छा होती, तो गोवर्द्धनको न उठाते. गोवर्द्धन धारणसे, जो माहात्म्य हुआ, वह प्रसिद्ध ही है, अतः मार्गमें आते समय वृद्धोंने आपको वन्दन किया है, वृद्ध पदका आशय है, कि वे अनुभवी निपुण होते हैं. इस प्रकार जो बहुत जान कर चतुर होते हैं, वे ही भगवानकी सेवा कर सकते हैं. अतः भगवान् गौओंको वनसे पृथक्कर, अपने पास लागे सायंको खिड़कमें ले आये, कारणकि सायंकालके अनन्तर गौओंका वनमें रहना ठीक नहीं है और यह भी दूसरा कारण है, कि भगवाकी इच्छा दूसरी लीला करनेकी थी. इसलिये वेणु बजाया, वेणु बजानेका हेतु यह है, कि एक तो वेणुनादसे श्रम मिटेगा और दूसरा व्रजस्थोंको भगवान् पधार गये हैं, यह सूचित हो जायेगा. इस नादका आगेका कार्य कहना चाहिये. भगवान् गोपियोंको ही केवल कृतार्थ करते हैं यों नहीं है, किन्तु गोपोंको भी कृतार्थ करते हैं, जिसका प्रमाण यह है, कि जैसे गोपियां दिनको

भगवद्गुण गान करती हैं, वैसे ही गोप रात्रिको भगवानकी कीर्तिका गान करते हैं, यदि इस प्रकार न होवे, तो सर्वका निरोध न होवे.

इस प्रकारके भक्तोंका कार्य आप ही जानते हैं तथा आप ही करते हैं यह 'उत्सवं' पदसे इस भावको दृढ़ करती हैं, कि भगवान् श्रमकी कान्तिसे व्रजवासियों के नेत्रोंके आनन्दको बढ़ाते हुवे, उनको आशीर्वाद देनेकी इच्छासे पधारे हैं.

श्लोकमें 'श्रमरुचा' पद है, जिसका अक्षरार्थ श्रमयुक्त कान्ति है. भगवानको लीला करते हुवे, श्रम हुआ था क्या? इसके उत्तरमें, कहते हैं, कि भगवान् विरुद्धधर्माश्रयी हैं, उनको श्रम होता भी है, नहीं भी होता है, यदि श्रम नहीं हुआ यों माना जाये, तो 'श्रमरुचा'का भावार्थ इस प्रकार समझना, कि भगवानका श्रम केवल दिखावा मात्र है. किन्तु भगवानको श्रम हुआ यह सिद्धान्त है, क्योंकि श्रुति कहती है कि 'भर्ता सन् म्रियमाणो बिभर्ति'[१], 'एको[२] देवो बहुधा निविष्टः', 'यदा[३] भारं तन्द्रयते स भर्तुं निधाय भारं पुनरस्तमेतीति श्रुतेः' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध है कि भगवान् सर्वधर्मोंके आश्रय हैं, जिससे निश्चित सिद्धान्त यह है, कि आप विरुद्ध धर्माश्रयी हैं इसलिये आपको श्रम नहीं होता है, यों भी नहीं है. कितनेक कहते हैं, कि 'श्रम' सुखकारक है उस सुखकारक श्रमकी कान्ति भगवान् पर थी. गोपियां कहती हैं, कि नायकके श्रमकी कान्ति साधारण स्त्रियोंको हितकारिणी नहीं है, तो भी हमारेलिये वह श्रमयुक्त कान्ति हितकारिणी ही हुई है, क्योंकि भगवान् यदि श्रमित(थके हुवे) न होते, तो शीघ्र पधार जाते, तो अब जो श्रमित होनेसे आप यहां रुक गये हैं, जिससे हम आपके दृष्टिके परम आनन्द समुद्रके विस्तारको पा कर आनन्द मग्न हो सकी हैं, नहीं तो, न हो सकती. भगवान् तो देहमें नेत्रोंको जो आनन्द प्राप्त हैं, उससे भी विशेष आनन्द दे रहे हैं, अतः कहा हैं, कि ऊपर ले जाते हुवे आनन्द दे रहे हैं.

१.भर्ता हो कर भरण किया हुआ पालता है. २.एक देव अनेक प्रकारसे प्रविष्ट है. ३.जब भारसे तन्द्रा होती है तब भार धारणकेलिये किसीको रख कर आप अदृश्य हो जाते हैं.

भगवानकी कीर्ति सर्वप्रकारके पुरुषार्थोंको देनेवाली है, जिसका प्रकार बताते हुवे श्रमका उपपादन करती हैं. भगवानकी मालाएं गौओंके खुरोंसे उड़ी हुई रजसे भरी हुई है. यह रज, वायुसे उड़ी हुई रज एक स्थान पर नहीं पड़ती है, वैसे भी नहीं है, क्योंकि एक ही स्थान पर मालाओं पर है. श्लोकमें 'गो' शब्द न देकर,

केवल 'खुररजः' कहा है, खुद शब्दसे 'गौ' समझना चाहिये कारणकि गौओंको ही प्रकरण है और पशु खुरवाले होते हैं यह श्रुतिमें निर्णय है. इससे यह धर्म हैं यह निरूपण किया, 'रज' अर्थ है और 'व्याप्ति'(फैलाव) काम है, व्रजमें पधारनेका कार्य कहती है, कि सकल सुहृद तथा सम्बन्धियोंको सभी प्रकारके आशीर्वाद देते हैं. तात्पर्य यह है, कि गोपीजनों द्वारा सकलोंमें आनन्दका प्रवेश करानेकेलिये पधारे हैं. 'एष' पदसे गोपियां कहती हैं, कि यह जो इस प्रकार लीला करनेवाले जो सामने दर्शन दे रहे हैं, जिससे अपने अन्दर भगवल्लीला चल रही हैं यह सिद्ध हुआ.

भगवान् साधारणरीतिसे, सकल जीवोंके तापको नाश जिस धर्मके कारण करते हैं, भगवानके उस असाधारण धर्मका वर्णन करती हैं. 'देवकीजठर-भूरुडुराजः' द्वारा देवकीके जठरसे उदय हुआ यह चन्द्रमा है, ''अदितिर्देवकी अदितिर्द्यौरदिति रन्तरिक्षम्[४]'' इस श्रुतिके अनुसार देवकी अदितिका अवतार होनेसे आकाशरूप है, आकाशमें चन्द्रमाका उदय होना आवश्यक, अपेक्षित है. देवकीने जब फिर एक विशिष्टरूप ग्रहण किया है तो चन्द्रमा भी विशिष्टरूप ले कर देवकीसे उदित हुआ है अतः वह कार्य भी विशेष प्रकारका करेगा. लौकिक ताप तो एक ही तरहका होता है किन्तु भगवानसे उद्भूत ताप तीन प्रकारका होता है, आधिभौतिक(देहमें रहता है) आध्यात्मिक(इन्द्रियोंमें उत्पन्न होता है) और आधिदैविक(आत्मामें होता है), इन तीन तापोंको वह चन्द्रमा नाश करता है. इससे प्रथम कहा हुआ भगवानका आनन्ददाता होना सिद्ध किया. देवकीके जठरमें रहे 'देवकीजठरभूः' कहा. ये ही नक्षत्रोंके स्वामी चन्द्र हैं, तात्पर्य यह है, कि जैसे चन्द्रमा उदय गिरि पर उदित होता है, किन्तु पति तो नक्षत्रोंका ही होता है, उसी प्रकार यद्यपि यह चन्द्र देवकीसे उदित हुआ है, किन्तु हमको ही सुख देनेवाला है.

४.अदिति देवकी है, अदिति आकाश है, अदिति अन्तरिक्ष है.

ये गोपियां भगवानके विरहसे पीड़ित थीं, यह पीड़ा इनकी तब निवृत्ति होगी जब भगवानके अंगोंका संग होगा. तब तक ये पीड़ित ही रहेगी, परन्तु नेत्रोंका दर्शन मुख्य काम है इसीलिये ही नेत्रोंके दर्शनसे उत्सवका वर्णन किया है. 'आर्तदृशीनां' पाठ मानने पर केवल नेत्र ही आर्त हैं, यह विवक्षित नहीं किन्तु हम आर्तोंके नयनोंका उत्सव न्दनन्दनका आगमन है, यह अर्थ होगा. स्वामिनियोंको अन्य प्रकारसे भी स्वरूपरसका आस्वाद ज्ञात है अतः सभी इन्द्रिय आर्त हो सकती हैं. यहां 'आर्ता' न हो कर 'आर्त' प्रयोग छान्दस है.

भगवान् यदि वनसे पधारते समय यदि दृष्टिसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंको रसदान करें तो, भगवान् यहां हमको सभी तरहकी आशिषों देनेकेलिये पधार रहे हैं, यह इच्छा गोपियोंको न रहे अतः इस समय तो केवल नेत्रोंको ही रसदान हुआ है, जिससे उत्सव माना गया है. यह रसदान तो बाहरका है. अन्दरके रसका अधिकरण(स्थान) मन(सर्व इन्द्रियोंका दर्शन) है, वह अभी तृप्त नहीं हुआ है. इस(मन)की तृप्ति तो भोग समयमें जो दर्शन होगा उससे होगी, इसलिये 'उन्नयन्' पद कहा. जैसे प्रथम दर्शनके अनन्तर भी, गोपियोंको नेत्रोंके दर्शनकी इच्छा रही थी, वैसे ही यहां भी पुनः भोग समयमें इच्छा है. इस समय जो बाहर उत्सव(आनन्दको उत्पन्न करनेवाला कार्य) हुआ है, वह भी भगवान् द्वारा हुआ है, भगवद्दर्शनका स्वभाव ही आनन्द उत्पन्न करानेवाला है, नेत्र स्वतः तृप्त नहीं हुवे हैं. श्रमक्रान्ति भी इसीलिये उत्सवका कारण(साधन) है. यदि श्रमकान्ति उत्सवका साधन न होती तो, बहुत समयसे उत्कण्ठावाली इन गोपियोंको प्यारेको श्रमित देखकर, मनमें यह शंका होती, कि अब हमको रसकी प्राप्ति नहीं होगी तथा इस शंकासे गोपियोंमें उत्सव न होता बल्कि पहलेसे भी अधिक खेद ही उत्पन्न हो जाता. वैसी शंका न हुई, कारणकि श्रमकान्ति देख कर भी, प्रसन्नता इसलिये हुई, कि यह जो श्रम है उसका निवारण प्यारा हमसे ही करावेगा. हमारे सिवाय अन्यसे नहीं करायेंगे. इसके अनन्तर हम ही श्रमको उतारेंगी इसलिये यह श्रमकान्ति हमारे मनोरथमें प्रतिबन्धक नहीं है अतः श्रमकान्ति योग्य ही है, श्रमका कान्तिके रूपमें निरूपण भी अपने मनोरथमें विघ्न करनेवाला नहीं है अतः किया गया. यदि श्रम भी अन्य नायिका सम्बन्धी होता तो हमारे नेत्रोंको उत्सव कैसे करावे? अतः यों नहीं है, जिसकी पुष्टिमें कहती हैं, कि 'खुररजच्छुरितस्रग्' यदि यह श्रम अन्य नायिकाके सम्बन्धसे हुआ होता, तो भगवानकी मालामें उनके अंगोंका राग लिप हुआ होता, वह तो है नहीं, बल्कि गायोंके खुरोंसे उड़ी हुई रजसे व्याप्त है और वह रज भी अभीकी नहीं है, पहलेकी है जिससे माला रजसे लिप्त हुई दिखती है, अतः अन्य नायिका सम्बन्धी श्रम नहीं है और यदि अन्यसे सम्बन्ध हुआ होता, तो यह गलेमें माला भी न रहती, कारणकि माला, क्रीड़ामें रुकावट होती है, इन सब हेतुओंसे जाना जाता है, कि भगवान् हम मित्रोंको आशिष देनेकेलिये ही पधार रहे हैं. यहां श्लोकमें 'एति' क्रियाका कर्म स्पष्ट नहीं कहा गया है, जिससे समझा जाता है, कि आपके पधारनेका कारण हमको

आनन्द देना है, क्योंकि वही आपका अत्यन्त इच्छित कार्य है. कर्ताके इच्छित कार्यको 'कर्म' कहा जाता है अतः यह ही कर्म है, इसलिये गोपियां उदाहरण देती हैं, कि 'एष' अर्थात् ये जो हमको सामने दर्शन दे रहे हैं, जिससे बताती हैं, कि हम आपको प्रिय हैं तथा हमारा मनोरथ पूर्ण करनेकेलिये ही दर्शन दे रहे हैं.

आप दक्षिणनायक[५] हैं, अतः आपके भीतर किसी प्रकारकी विषमता (असमानता) नहीं है, कारणकि आप निर्दोष देवकीके जठर(कूख)से उत्पन्न हुवे हैं. भेदभावरहित भगवान् आपके साथ क्या विशेषता बताते हैं. यह कहती हैं कि जैसे चन्द्रमा नक्षत्रोंका पति होनेसे अन्योंका ताप तो दूरसे ही हरण करता है, किन्तु नक्षत्रोंका तो अत्यन्त समीपमें जाकर ताप हटाता हैं, वैसे ही भगवान् भी सर्वका निरोध करनेवाले होने पर भी, पति हमारे ही हैं अतः अन्योंका ताप तो दूरसे मिटाते हैं और हमारा तो हमारे मण्डलमें स्थित हो कर वैसे तापको मिटाते हैं जैसे चन्द्र नक्षत्र मण्डलमें रह कर उनका ताप मिटाते हैं, यही विशेषता है. ये सारे कार्य वेणुनाद द्वारा सिद्ध होते हैं अतः प्रकरणानुरोधसे निरूपण किया।।२२-२३।।

५.सर्व नायिकाओंमें एक जैसी प्रीति दिखानेवाला चतुर नायक.

साधारण लीलाका वर्णनकर, अब इस युग्ममें वेणुने जो गोपिकाओंमें ही लीला की, उसका तथा भगवानने जो लीला उत्पन्न की, दोनोंका वर्णन करती हैं:

मदविघूर्णितलोचन ईषन्मानदः स्वसुहृदां वनमाली।
बदरपाण्डूवदनो मृदुगण्डं मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या ।।२४।।
यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम् ।।२५।।

(युग्मार्थ)मदसे धूर्णित नेत्रवाले, अपने मित्रोंको अल्प मान देनेवाले, बेर सदृश पाण्डुवर्ण जैसे मुखवाले, वनमाला धारी, सुवर्णके कुण्डलोंकी शोभासे कोमल गण्डस्थलको सुशोभित करनेवाले, गजराजके समान विहार करनेवाले, ये यदुपति श्रीकृष्ण सांझके समय, हंसते मुख, जब व्रजमें पधारते हैं, तब व्रज तथा गायोंके अन्तरहित दिनके तापको चन्द्रमाकी तरह दूर करते हैं।।२४-२५।।

गोपियां कहती हैं, कि भगवान् आनन्दयुक्त मुखवाले हो कर पधार रहे हैं. वेणुनाद जो प्रथम कहे हुवे हैं, उनको ही यहां ग्रहण करना चाहिये[१]. भगवानकी दश लीलाओंका वर्णन पहले किया गया है, वे सब लीलाएं हमारेलिये ही की हैं इसलिये भगवानका दश प्रकारसे वर्णन करती हैं. दोनों स्थान पर[२] भगवान् एक ही

हैं, युगल जुदे होते हुवे भी उनमें विशेष भेद[३] नहीं है. सर्वत्र ही वेणुनादमें रजोगुण मुख्य है, कारणकि रजोगुण उद्दीप्तरसभाव है, उसका फल हमको ही प्राप्त हुआ है, जिसका वर्णन भगवानको दश विशेषण दे कर करती हैं.

१.लेखका आशय–वेणुनादने अन्योंमें जो कार्य किया, अर्थात् अन्यों पर जो प्रभाव डाला, उसका वर्णन पहले कहा गया है, नादने जो गोपियों पर प्रभाव डाला हैं, वह यहां कहा जाता है.

२.दोनों युगलोंमें अर्थात् आगेके युगलोंमें और अब इस युगलमें.

३.भगवान् तथा हरि शब्दमें जितना भेद है, केवल उतना भेद है–लेखकार.

१.प्रथम विशेषण–'मदविघूर्णितलोचनः' है अर्थात् भगवानके नेत्र मदसे घिरे हुवे है. यह मद पूर्णज्ञानरूप है, जो पूर्णज्ञान अपनेमें पूर्वानुभूत आनन्दकी स्थितिके कारण है. वह पूर्णज्ञान ज्ञानमार्ग भगवानके नेत्रोंमें ही प्रकट होता है, यह दिखलानेकेलिये अन्य सारे विषयोंको दूर करनेकेलिये भगवान् 'विधूर्णित–लोचन' बन गये. यह धर्म भगवानमें रहता है.

(भगवानके नेत्रोंमें इससमय पूर्व अनुभव किये हुवे विचित्रलीला विलासोंसे प्राप्त आनन्दकी स्थिति है. जिससे आप गोपीजनोंको बताते हैं, कि जैसे तुमने सर्व विषयोंको भुला कर केवल मेरे सम्बन्धाले ज्ञानको अपनाया है, वैसे ही मुझे भी तुम्हारा ही केवल स्मरण ज्ञान है. उस लीला रसमें छके हुवे होनेके कारण, मेरे नेत्र मदसे घिरे हुवे हैं अतः वनमें भी मोद(हर्ष) है इन विशेषणोंसे यह भगवन्निष्ठ धर्म हैं ऐसा निरूपण किया गया.)

२.दूसरा विशेषण है–'ईषन्मानदः' भगवान् अल्प मान देनेवाले हैं. यद्यपि भगवानके नयन मदसे घिरे हुवे हैं, तो भी गोपिकाओंका अपना स्वरूप बना रहे एतदर्थ भगवान् अल्प ही मान देते हैं. अर्थात् भगवान् मान देते हैं सन्मान करते हैं अतः हम भगवानके पास पहुंच सकती थी (किन्तु अल्प मान दे रहे हैं तावता अभी ही पहुंचना ठीक नहीं) अथवा मानका अर्थ 'अभिमान' लेना चाहिये, क्योंकि रजोगुण प्रकट हुआ है. उस अभिमानका दान करते हैं या खण्डित कर देते ज्ञानको प्रकट करके. चाहे (१)मान देते हों या (२)अभिमान पैदा करवाते हों या (३)अभिमान खण्डित करते हों तीनों पक्षमें क्रिया अल्प ही है.

(भगवान् अल्पमान देते हैं क्योंकि यदि विशेष मान दें तो गोपियां जो प्रेम पूर्ण हैं और समग्र दिनके विरहसे क्लेशयुक्त हैं, वे भगवानके दर्शन होते ही

उनमें अपनी आत्माका प्रवेश करा दें, यों होना भगवानको अभीष्ट नहीं इसलिये, (अर्थात्) गोपियां अपने ही गोपी स्वरूपमें स्थित रहें. अतः अल्पमान देते हैं. जिससे गोपियां भगवानसे दूर ही रहती हैं, भगवान् मान देते हैं तथा सन्मान भी करते हैं जिससे समझा जा सकता है, कि हम भगवानके समीप जा सकती हैं. अथवा रजोगुण जो उद्दीप्तरसभाव है, उसके प्राकट्यसे हममें अभिमान उत्पन्न करते हैं वा उसका नाश करते हैं, भगवान् अपने नेत्रोंमें मद दिखाकर हमारेमें भी मान उत्पन्न करते हैं अथवा नाश करते हैं, इन तीन प्रकारोंमें वह-वह कार्य अल्प ही करते हैं.

जब भगवान् पूर्ण हैं तो तुममें इस प्रकार करनेका क्या कारण है? जिसके उत्तरमें कहती हैं कि 'स्वसुहृदां' भगवानकी हम असाधारण मित्र हैं अतः महानको भी अपने मित्रोंका कार्य* तो करना ही पड़ता है.

(* भगवानने गोपियोंको अल्पमान दे कर आश्वासन दिया है कि आपके मनोरथ हम पूर्ण करेंगे, यह आश्वासन देना 'असाधारण' कार्य है.)

३.'वनमाली'-विशेषणसे भगवानका साधारण धर्म प्रकट किया है, अर्थात् वनमालासे अपनी कीर्त्ति प्रकट की है इसलिये ही पूर्ण भगवानने गोपियोंको अल्पमान दिया है. यदि पूर्ण सन्मान करते तो मार्गमें अन्य देखे तो अयोग्यता प्रकट हो जिससे अपकीर्ति होवे अतः भगवानने अल्पमान दिया है.

४.'वदरवत् पाण्डुवदनः'-इस विशेषणसे गोपियां कहती हैं, कि जैसे वेर जो एक प्रकारका फल है, वह धूपके तापसे क्षण-क्षणमें पृथक्-पृथक् कान्ति धारण करता है. जब अर्धपक्व होता है, तब पाण्डु वर्णवाला हेता है, आगे पक कर सम्पूर्ण लाल बन जाता है. उसी प्रकार भगवान् भी जब अर्द्ध रमण करते हैं, बादमें पूर्ण रमण करेंगे, इसलिये ही अब अल्पमान देते हैं, पश्चात् पूर्ण मान देंगे. 'कीर्त्ति' साधन है इसलिये 'ईषन्मानदः स्वसुहृदाम्' और 'बदरपाण्डु-वदनः' इन दो विशेषणोंके बीचमें 'वनमाली' विशेषण दिया है. अथवा यहां 'पाण्डु' शब्दसे स्वल्पवाली गुण कहा है, इस कथनसे यह समझा जाता है, कि वदन, वस्त्र तथा अधरामृतका पान होता है, अथवा इस कहनेका भाव यह है, कि गोपियां अन्य गोपियोंको कहती हैं, कि इस अधरामृतके रसका पान वनमें जाकर करना चाहिये, कारणकि यह अधररसका पान वनवासियोंके करने योग्य है.

५.गोपियां 'कनक कुण्डल लक्ष्म्या मृदुगण्डं गण्डयन्'में अन्य विशेषणोंसे भी कुछ

विशेष कहती हैं. भगवानका गण्डस्थल भोगकेलिये उपयोगी है, क्योंकि कोमल है. कोमलताका कारण बताती है, कि एक तो भगवानको 'दाढी' नहीं है और दूसरा आनन्दका स्थान है, अर्थात् आनन्द रस इसमें ही रहता है, रसकी समाप्ति गण्डमें ही होती है, भगवानका रंग श्याम है जिससे गालका रंग भी श्याम है किन्तु कनक पद कह कर बताया है, कि अब गालका रंग अन्य है जिससे आपको विशेष रसकी प्राप्ति होगी. अतः आप उत्कृष्ट परमानन्द स्वरूप हैं, तो भी हमारेलिये तो कामरसको ही प्रबुद्ध करते हैं, जिससे यह निश्चय हो जाता है, कि भगवान् हमारेलिये ही पधारे हैं. यदि हमारेलिये पधारे न होते, तो हमारे समक्ष शिरको यहां-वहां हिलाते नहीं.

६.गोपियां 'यदुपति' विशेषण दे कर इस शंकाको मिटाती है कि कृष्ण नन्दके सूनु महान् होने पर भी हैं तो बालक अतः वह असाधारण लीला कैसे करेंगे? यादव हमेशा बहु स्त्रीवाले होते हैं, यह तो उनका भी 'पति' है अतः असाधारण लीला कर सकते हैं.

७.गोपियां 'द्विरदराजविहारः'-इस विशेषणसे बताती हैं, कि भगवान् महासुरतमें गजेन्द्रके समान महान् हैं, अतः उनके सिवाय लीलामें रसकी पूर्णता नहीं होती है, इससे यह सिद्ध किया है, कि भगवानकी लीलामें किसी मर्यादाका प्रतिबन्ध नहीं है.

८.गोपियां 'यामिनी पतिः' विशेषणसे बताती हैं, कि इसकी अपेक्षासे भी भगवान में यह विशेषता है, कि वह पूर्व तापको भी दूर करेंगे जैसे चन्द्रमा दिनके तापको भी मिटाता है यह भगवान् सम्पूर्ण रात्रिका पति है, अतः जो उनके पास उस समय जाती हैं, उन सबका विशेष प्रकारसे ताप दूर कर सुख देनेवाले हैं.

भगवान् तो दिनके भी पति हैं, उनको रात्रिके पति चन्द्रके समान कैसे कहा? चन्द्र दिनको सुख नहीं देता है, भगवान् तो दिनको भी सुख देते हैं, इस शंकाको मिटानेकेलिये कहती हैं, कि 'एष' यह सकलका शृंगाररूप है, जो अब यहां स्थित हैं, वह श्रान्त जैसे दीखते हैं, सायंकालमें चन्द्रमाकी तरह दूरसे ही अब तापको नाश करते हैं. आगे तो रात्रिके पति चन्द्रमाके सदृश हो कर विशेष सामीप्यमें आनन्द देंगे. जिससे ही आप 'प्रसन्नवदनः'(यह नवम विशेषण है) हंसमुख हो कर समीपमें आ रहे हैं, यह भाव उन(गोपियों)को ही हितकारी है, प्रथम इस प्रकार साधारणतासे कहा है, अन्तमें फिर कहती हैं कि 'मोचायन्(यह

दसवां विशेषण है) व्रजगवां[४] व्रज(गोपियों)को और गायोंको[५] सम्पूर्ण दिवसका जो ताप रहा है उस सर्व तापको ही नाश करते हैं ।।२४-२५।।

५.गायें तो दिनको भगवानके साथ वनमें जाती थीं उनको दिवसका ताप कैसे? इस शंकाका निवारण श्रीप्रभुचरण करते हैं, कि जो गायें प्रसव होनेके कारण वनमें नहीं गई थीं, उन गायोंका ताप मिटाया है.

इस प्रकार स्त्रियोंके निरोधका निरूपणकर, अब उसका उपसंहार करनेके साथ, जिन अन्योंका इस प्रकरणमें निरोध हुआ है, उनका भी 'एवं व्रजस्त्रियों' इस श्लोकमें श्रीशुकदेवजी उपसंहार करते हैं:

श्रीशुक उवाच

एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीलानुगायतीः ।

रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ।।२६।।

हे राजन्! जिनका ज्ञानकी प्रधानतावाला चित्त तथा कर्मकी प्रधानतावाला मन, केवल कृष्णमें ही है, वैसी बड़े भाग्यवाली गोपियां भगवानकी लीलाओंको गाती हुई, दिनमें प्रसन्न चित्त रहती थीं।।२६।।

परीक्षितको 'राजन्' यह विशेषण दे कर बताया है, कि इस पर विश्वास करो. भगवान् जब दिनको वनमें पधार जाते, तब उस विरह शान्त्यर्थ तथा बहुत समय तक उनकी स्मृति बनी रहे, तदर्थ कृष्णकी सभी लीलाएं सारा दिन क्रमपूर्वक गाती रहती थीं. जिससे, वे दिनमें श्रीकृष्णके आनन्दमें रमण कर रही थी. भगवानकी कीर्त्ति अपने आप आनन्दरूप है, वह गोपियोंमें प्रकट हुई है, इससे सिद्ध होता है, कि गोपियोंकी क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति भगवानमें ही स्थिर हो गई है, जिससे उनके ज्ञानकी प्रधानतावाला चित्त एवं कर्मकी प्रधानतावाला मन दोनों भगवानमें ही लगे रहे. यों सर्व प्रकारसे गोपियोंकी प्रपञ्चकी विस्मृति और भगवानमें आसक्तिका निरूपण हुआ. उनको यह निरोध कैसे सिद्ध हुआ वह कहते हैं कि इनका बड़ाभाग्य हैं, जिससे निरोध सिद्ध हुआ है।।२६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धके ३२ वें अध्यायकी
(प्रचलित क्रमानुसार अध्याय ३५ की) श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्रीसुबोधिनी
'संस्कृत टीका'के तामस फल अवान्तर प्रकरणके
सातवें अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण ।

।।श्रीकृष्णाय नमः।।
।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

तामस साधन प्रकरणका औपनिषद सन्दर्भ

पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला)

विषयवाक्य:

आत्मैव इदम् अग्र आसीत् पुरुषविधः सो अनुविक्ष्य नान्यद् आत्मनो अपश्यत् सो अहम् अस्मि इति अग्रे व्याहरत् ततो 'अहं' नामा अभवत् तस्मादपि एतर्हि आमन्त्रितो ''अहम् अयम्'' इत्येव अग्रे उक्त्वा अन्यत् नाम प्रब्रूते यद् अस्य भवति स, यत् पूर्वी अस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत् तस्मात्, 'पुरुषः'. ओषति ह वै स तं यो अस्मात् पूर्वी बुभूषति... स वै नैव रेमे; तस्माद् एकाकी न रमते स द्वितीयम् ऐच्छत्–स ह एतावान् आस... तद् ह इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत: ''असौनाम अयम् इदंरूपः'' इति तद् इदमपि एतर्हि नामरूपा-भ्यामेव व्याक्रियते:? असौनाम अयम् इदंरूपः इति सः एषः इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने अवहितः स्यात्; विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये तं न पश्यति अकृत्स्नो हि सः. प्राणन्नेव 'प्राणो' नाम भवति, वदन्नेव वाक्, पश्यन् चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः तानि एतानि कर्मनामान्येव स यो अतः एकैकम् उपास्ते न स वेद अकृत्स्नोहि एषो, अतः, एकैकेन भवति. 'आत्मा' इत्येव उपासीत, अत्र हि एते सर्वे एकं भवति तद् एतत् पदनीयम् अस्य सर्वस्य यद् अयम् आत्मा. अनेनहि एतत् सर्वं वेद (बृहदा.उप. १।४।१-७).

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसम्भवो, यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः, कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर-समुद्भवं, तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यो, अघायुर् इन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति. यस्त्वात्मरतिरेव स्याद् आत्मतृप्तश्च मानवः, आत्मन्येव च सन्तुष्टः तस्य कार्य न विद्यते नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन, नचास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः(भग.गीता ३।१४-१८).

'आत्मा' इति तु उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च न प्रतीके-न हि सः. ब्रह्मदृष्टिः उत्कर्षात् (ब्रह्मसू.४।१।३-५).

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं, सन्त्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलं प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षुन्. यत् ''पत्यपत्यसुहृदाम् अनुवृत्तिर्'', अङ्ग!, ''स्त्रीणां स्वधर्म'' इति धर्मविदा त्वयोक्तम्, अस्त्वेवम् एतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुर् आत्मा. कुर्वन्तिहि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् नित्यप्रिये पति-सुतादिभिर् आर्तिदैः किम्! तन्नः प्रसीद परमेश्वर! मा स्म छिन्द्या आशां भृतां त्ययि चिराद् अरविन्दनेत्र!(भाग.१०।२९।३१-३३).

उपक्रम:

बृहदारण्यकोपनिषद्का उपर्युद्धृत वचन इस सृष्टिके आत्माद्वैतमूलक आत्मोपादानक एवं आत्मरमणात्मक होनेके तथ्यका अतीव सुस्पष्ट शब्दोंमें उद्घोष है:

इस सृष्टिके प्रकट होनेसे पहले केवल पुरुषविध आत्मा ही एकमेवाद्वितीयतया विद्यमान थी. उसने? में ही केवल हूं ऐसा सोचते-कहते हुवे अपनी आत्मचेतनाको मुखरित किया. तबसे वह 'अहं' नामा बन गया. अतएव आज भी आमन्त्रित किये जानेपर हर कोई यह रहा में ऐसे बोलनेके बाद ही अपना अन्य जो कुछ नाम हो उसे बोलता है. स्वरूपविस्मरण या आत्मासम्प्रत्यय मूलक अन्य सभी पापकी सम्भावनाको क्षीण करते हुवे वह सर्वप्रथम आत्मानुसन्धानमें प्रवृत्त हुवा था अतएव उसे 'पुरुष' कहा जाता है. अतएव आज भी जो कोई आत्मानुसन्धानमें प्रवृत्त होता है, वह आत्मस्वरूपविस्मरणमूलक अविद्या सम्भाव सभी पापात्मक पर्वोंको भस्मसात् कर देता है... एकाकी, परन्तु, वह रमणशील न हो पाया अतएव आज भी एकाकी कोई रमणशील नहीं हो पाता उसे अपने अलावा दूसरे किसीकी कामना हुयी और वही यह दृश्यमान् सब कुछ बन गया.... यह सृष्टि तब अव्याकृत= अप्रकट थी. इसे उसने ही अनेक नामों और रूपों में व्याकृत= प्रकट किया: मेरे इस अंशका यह नाम हो मेरे इस अंशका ऐसा रूप हो. आज भी, अतएव, सब कुछ तत्तत् नामरूपोंके साथ ही

व्याकृत= प्रकट किया जाता है:''ऐसे नामवाली यह है–इस वस्तुका ऐसा कोई रूप होना चाहिये''. वह परमात्मचैतन्य स्वयं यहां इस सृष्टिमें हमारे नखोंके अग्रभाग तक प्रविष्ट हुवा भासित होता है, जैसे छुरा म्यानेमें रखा हुवा रहता है; अथवा जैसे विश्वंभर अग्नि अपने नीड़रूप काष्ठमें प्रविष्ट रहती है. जो उसे जान समझ नहीं पाता, वह सब कुछ जाननेके बाद भी सारी हक़ीकत जान नहीं पाता है. श्वासोछ्वासकी क्रिया करता होनेपर उसे ही 'प्राण' कहा जाता है, बोलनेकी क्रिया करनेपर उसे ही 'वाणी' कहा जाता है, देखनेकी क्रिया करनेपर 'चक्षु', सुननेकी क्रिया करनेपर 'कान', मननकी क्रिया करनेपर 'मन' ये सारेके सारे उसीके अनेकविध कर्मनाम (एवं रूप) हैं. अतः उसके इन अनेकविध कर्म नाम रूपमेंसे जो किसी एक ही कर्म या नाम या रूप की उपासना करता है, उसे अज्ञानी और अपूर्ण समझना चाहिये. अतः इन अनेकविध कर्म–नाम–रूपको आत्मतया जान लेना चाहिये, क्योंकि आत्माके ही साथ ये सभी एकवद्भावापन्न रहते हैं. वह आत्मा पदनीय है. अर्थात् ये सारेके सारे कर्म नाम रूप उस एकमेवाद्वितीय आत्माके अनेकविध पदचिह्नोंके जैसे हैं. इनका अनुसरण करते हुवे हमें पहुंचना तो है उस पदनीय आत्मा तक ही उस आत्माको जान लेनेपर या उसतक पंहुच जानेपर इन कर्म नाम रूपोंकी समग्रता या अद्वैत का ज्ञान हमें मिल जाता है. हमारा साराका सारा अधूरापन दूर हो जाता है!

यह सृष्टि उस आत्मरमणशील परमात्माकी एक लीला ही है. इस लीलारूपा सृष्टिमें उस परमात्मामेंसे अंशतया व्युच्चरित होनेवाली जीवात्मा अपने अन्तर्यामी परमात्माको पहचाने बिना स्वरूपविस्मृतिरूप अविद्याके अन्यतम पर्वसे ग्रस्त हो कर आत्मलीलाभावसे विपरीत इन्द्रियविषयोंके साथ रमण करनेवाली बन जाती है. चेतनाके द्वारा किये जाते इस आत्मरमण और विषयरमण के द्विविध प्रकारोंको लक्ष्यमें रख कर इसी विचारसूत्रको आगे गूंथते हुवे श्रीमद् भगवद्गीता हमें यह समझाती है:

सारे प्राणी जिस अन्नसे पैदा होते हैं, वह अन्न पैदा होता है पर्जन्यसे, जलवर्षी पर्जन्य जिन यज्ञोंसे पैदा होते हैं वे यज्ञयागादि–रूप धर्म पैदा होते हैं शास्त्रविहित कर्मोंक अनुष्ठानसे, वे विहितकर्म पैदा होते हैं कर्मविधायक शास्त्रोंसे; और वे कर्मोपदेशक शास्त्र प्रकट

होते हैं स्वयं अक्षरब्रह्मसे, यों सर्वगत अक्षरब्रह्म ही स्वयं यज्ञोंमें सर्वदा प्रतिष्ठित रहता है. यही तो इस सृष्टिमें निरन्तर चलते चक्रके जैसी एक लीला है. जो लोग इस लीलाचक्रका निरन्तर लीलात्मक अनुचालन नहीं करते, वे तो केवल इन्द्रियोंके विषयोंमें ही रमण करनेवाले पापायुः हो कर अपना जीवन व्यर्थ ही गंवा देते हैं.

यह है औत्सर्गिक मर्यादालीला इसका आपवादिक मर्यादातीत स्वरूप-वैलक्षण्य भी श्रीमद् भगवद्गीतामें वर्णित हुवा है:

जो मानव आत्मामें ही रत होनेके कारण आत्मायें ही तृप्त और सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये करने धरने जैसा इस जगत् में कुछ भी नहीं बच जाता, वह कुछ करे या न करे एतावता उसे किसी तरह की लाभ-हानि नहीं होती. अतएव सृष्टिगत किसीभी आधिदैविक आध्यात्मिक या आधिभौतिक प्रयोजनोंके वश किसी भी तरह कर्मबन्धनसे उसे बंधना नहीं पड़ता है.

इस तरह हम देख सकते हैं कि आत्मरमणशील चेतनाके सामने तो नाम-रूप-कर्मात्मिका यह सृष्टि भी लीलारसके मूलभावको ही प्रकट करती है, जबकि सृष्टिमें प्रकट हुवे नाम-रूप- कर्मोंमें ही केवल यदि कोई चेतना रमणशील बन जाती है, तब स्वरूपविस्मरणवशाद् विषयद्वैतजन्य शोक-मोहादि भावोंसे वह त्रस्त एवं ग्रस्त हो जाती है.

भगवज्ज्ञानावतार महर्षि बादरायणने ब्रह्ममीमांसासूत्रोंके चार अध्यायोंमें, क्रमशः, ब्रह्मके बारेमें प्रमाण- प्रमेय-साधन फल या समन्वय अविरोध- साधन- फल की जिज्ञासा की है. एतदन्तर्गत अन्तिमाध्यायके प्रथम द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ पादोंमें क्रमशः जीवित, म्रियमाण, परलोकगमन करते हुवे और प्राप्तफल ब्रह्मज्ञानीको होती फलानुभूतियोंकी विवेचना की है. यहां उसे भी भाष्यनिर्दिष्ट दिशाके अनुसार देख लेना भी उपकारक होगा:

विरुद्धधर्माश्रय होनेके कारण ब्रह्ममें जैसे देश-काल-स्वरूपतः अनुभवातीत अपरिच्छिन्नता इत्यादि गुणधर्म रहते हैं, वैसे ही परमात्मता या सर्वात्मता आदि गुणधर्म भी रहते ही हैं. और ब्रह्मविदको चाहे वह भक्तिमार्गीय हो या फिर ज्ञानमार्गीय हो, अपनी जीवन्मुक्तावस्थामें ऐसा स्फुरित होता ही है. इस ब्रह्मतादात्म्यका वे दोनों न केवल अनुभव करते हैं परन्तु योग्याधिकारीके उपसन्न होनेपर शिष्येपणारहित लीलाभावसे ही वे

उपदेश भी कर पाते हैं. ज्ञानमार्गीय जीवन्मुक्तको देहपातके बाद ब्रह्मप्रवेशात्मिका सायुज्यमुक्ति प्राप्त होती है जबकि भक्तिमार्गीय जीवन्मुक्तको देहपातके बाद नित्यलीलाप्रवेशात्मिका वैकुण्ठादि लोकोंमें दिव्य भगवत्सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति होती है. ऐसा तु उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च सूत्रमें निरूपण किया गया है. '' 'आत्मा' इति तु उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च'' सूत्रमें निरूपण किया गया है.

द्वितीय ''न प्रतीकेन हि सः'' सूत्रके भाष्यमें ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' श्रुतिसिद्ध वस्तुमात्रकी ब्रह्मात्मकताके बावजूद जीवात्माकी ब्रह्मप्रतीकतया उपासना के बारेमें विचार किया है:

ज्ञानमार्गीय अभेदबुद्धया ब्रह्मकी निजात्मतया उपासना करता है. भक्तिमार्गीय निजात्मा और परमात्मा के बीच तादात्म्यभाव रखता होनेसे परमात्माकी भक्ति अपनी आत्माकी भी आत्माके रूपमें करता है. इस सुसूक्ष्म अन्तरके सन्दर्भमें सूत्रकार कहते हैं कि प्रतीकोपासक, परन्तु अपनी परिमित उपासनाके अनुरूप यथायथोपदिष्ट फल ही पाता है. प्रतीकोपासक ब्रह्मप्रवेशात्मिका सायुज्यमुक्ति या नित्यलीलाप्रवेशात्मिका पुष्टिभक्ति नहीं पाता है. उपासनाभेदवशात् फलभेदके सिद्धान्तकी तरह, उपास्यभेदवशात् फलभेदका भी सिद्धान्त क्योंकि सर्वथा अभिमत ही है. परमात्म स्वरूपके एकमेवाद्वितीय होनेपर भी उत्पत्ति स्थिति मुक्ति या लय आदि रूपोंमें अनेकविध लीलाओंके अन्तर्गत सृष्टिलीलामें जैसे नाम-कर्म रूपोंके भेद प्रकट हुवे हैं, उसी तरह मुक्तिलाभ या मुक्तिदान भी लीला ही है; अतः उसमें भी अनकेविधता सिद्धान्ततः सर्वथा मान्य ही है.

तृतीय ''ब्रह्मदृष्टिर् उत्कर्षात्'' सूत्रके भाष्यमें ये शङ्का-समाधान अभिप्रेत है:

ऐसा स्वीकारनेपर तो ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' सदृश औपनिषद सिद्धान्त भी जागतिक सभी वस्तुओंमें केवल उपासनार्थ ब्रह्मकल्पनाका ही उपदेश कहीं सिद्ध न हो जायें! यहां ज्ञातव्य यह है कि वस्तुमात्रके ब्रह्मात्मक होनेकी दृष्टि साधनाके रूपमें उपदिष्ट नहीं हुयी है किन्तु उत्कृष्ट ब्रह्मविद, चाहे वे ज्ञानमार्गीय हों या भक्तिमार्गीय, उन्हें सिद्धदशामें सम्पन्न होती विलक्षण प्रकारकी

लीलाविशिष्ट ब्रह्मस्वरूपकी एक वास्तविक अनुभूति ही होती है.

रासलीलास्थलसे पुनः व्रज लौट कर जानेका उपदेश देनेवाले परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके समक्ष प्रतिवादके रूपमें श्रुति स्मृति-सूत्रोंके नेपथ्य में गूंजते हुवे ऐसे इस सिद्धान्तको ही व्रजगोपिकाओंने भी प्रतिध्वनित किया था. यह श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धान्तर्गत तामसफलप्रकरणके प्रारम्भमें ही जाता है. एतदर्थ प्रस्तुत कारिकाओंमें अभिप्रेत रस-भावोंका सुबोधिन्यनुसारी अवगाहन करना पड़ेगा:

हे विभु! आप सब कुछ करने समर्थ हो सो आप ऐसे दयारहित वचन बोल नहीं सकते. हम तो ग्यारहकी ग्यारह इन्द्रियोंकी अपने-अपने विषयोंमें रही आसक्तिको छोड़ कर आपके ही चरणतलको पाने आप तक पहुंची हैं, हृदयमें आपके प्रति जारभाव रख कर नहीं. अतः साधारण जीवात्मा जैसे भगवद्भजनके अलावा अनेक कार्मोंमें उलझी रहती हैं, वैसी दुष्टाग्रहवाली बात हमें मत समझाओ और न हमें लौट जानेकी सलाह दो! देवता तो सभी, चाहे पूर्वकाण्डीय हों उत्तरकाण्डीय, अपने भजन करनेवालोंका प्रतिभजन करते ही हैं. आप तो जबकि आदिपुरुष देव हो! आपका भजन कभी व्यभिचाररूप हो ही नहीं सकता. लोकमें भी प्रथम भर्ता, अपनी भार्या किसी अन्यपुरुषका भजन करे, इसे कभी सहन नहीं कर पाता है. अतः आप हमें लौकिक भर्ताओंको भजनेकी प्रेरणा कैसे दे सकते हो? भगवान् तो जो भी मुमुक्षु आत्मा हो उसे अपना आत्मीय बनाकर उसके आत्मतया स्फुरित होकर निजानन्दका दान करते हैं. सो आप भी हमारा उसी तरह भजन करो.

''अपने पारिवारिक जनोंका ही भजन करना स्त्रियोंकेलिये श्रेष्ठ कर्तव्य है'' ऐसा धर्मोपदेश जो आपने हमें दिया वह तो ठीक ही है क्यों कि धर्मशास्त्रीय सारी विधियां देहात्मभाववालोंको अपना उद्देश्य बना कर ही धर्मोपदेश करती हैं. विवेच्य यहां, परन्तु, यही है कि धर्मके दो प्रभेद समझमें आते हैं: १.एक तो कर्तव्यरूप और २.दूसरा ज्ञातव्यरूप कर्तव्यरूप धर्मके निमित्त वे होते हैं कि जिनके प्रति हमारा कुछ कर्तव्य नियत होता है. लोकमें वे निमित्त स्वयं न तो धर्मरूप होते हैं और न धर्मिरूप ही. अतएव वे केवल निमित्तमात्र सिद्ध होते हैं. आप तो स्वयं धर्मरूप भी हो और

धर्मिरूप भी. अतः आपकी भजनीयतमताकी तुलनामें लौकिक निमित्तरूप कोई भी सम्बन्धी या व्यक्ति भजनीयतर सिद्ध नहीं हो पाता. जहांतक ज्ञातव्यरूप धर्मकी बात हो तो उसका निमित्त तो धर्मोपदेशक गुरु ही होता हैं. अतः अपनी धर्मोपदेशक-गुरुरूपता आप प्रकट करना चाहते हो तो धर्मज्ञानप्राप्त्यर्थ भी आप स्वयं ही हमारेलिये प्रथम भजनीय सिद्ध हो जाते हो. गुरुसेवाके बिना केवल उपदेशश्रवणमात्रसे धर्मबोध जो शक्य होता तो, लौट जानेकी आज्ञा सुनते ही, हम कबकी लौट ही न गयी होती! धर्म तो धर्मिमूलक होता है. अतः धर्मीसे विरुद्ध न जानेवाला ही फलप्रद धर्म अनुष्ठेय होता है. अतएव धर्मशास्त्रोक्त सारे धर्म प्राकृत देहमें हमारे प्रियत्वाध्यासको लक्ष्यमें रख कर दिये गये उपदेश होते हैं. ऐसी स्थितिमें यह आवश्यक नहीं कि सबको केवल प्राकृत देह ही प्रिय लगता हो. किसीको देह तो किसीको निजात्मा तो किसीको परमात्मा तो किसी देहनिर्वाहक बन्धु-बाधव भी प्रिय लग सकते हैं: हमारेलिये तो देहधारक आत्मतया देहदाता परमात्मतया तथा देहनिर्वाहक-बन्धुतया भी आप ही केवल प्रिय हो. अतः सर्वरूप और धर्मिरूप होनेसे हमारेलिये तो आप ही सर्वथा भजनीयतम हो!

इसके अलावा जो देहेन्द्रियके हितार्थी न हो कर आत्माके हितार्थी होते हैं वे तो आपके साथ ही अपनी रति जोड़े रखते हैं. क्योंकि स्नेह स्वयं आपकी आत्मरति ही तो है, जो जीवात्माके द्वारा देहेन्द्रियादि तथा बन्धु बान्धवादि में संक्रमण करती हुयी अन्तमें गृह-धनादि विषयतक संक्रान्त हो जाती है. सो अन्तमें तो इनके सेवनका फल भी आत्मगामी ही होता है. अतः वह आत्मा भी यदि मूलभूत पारमात्मिक रतिके वश ही प्रिय लगती हो तो परमात्मामें ही रति क्यों न निभाये रखनी चाहिये! प्रवृत्तिकी अपेक्षा निवृत्ति उत्तम मानी गयी है. फिर भी इन्द्रियदमनका सामर्थ्य न हो तो उसे शास्त्रनिन्दित विषयोंमें तत्पर बनानेके बजाय शास्त्रोपदिष्ट विषयोंकी ओर प्रेरित करना चाहिये क्योंकि इस तरह संयत इन्द्रियां ही अन्तमें कभी आत्मगामी बन पाती हैं. अतः जो कोई अपने इन्द्रियग्रामको भगवद्भजनोपयोगी बना पाता है तो उसकेलिये अपने इन्द्रियग्रामको आत्मगामी बनाना सरल हो जाता है. जो इस

विषयमें कुशल हैं वे तो इस रहस्यको भलीभांति जानते ही हैं. इसके अलावा हमारे दैहिक कर्तव्य या धर्म के निमित्तरूप लौकिक पतिपुत्रादि, यदि, वस्तुतः धर्महेतु होते तो कभी आर्तिप्रद न हो पाते! कोई धर्मनिमित्त भी हो और आर्तिरूप संसारजनक भी, यह तो स्वतोविरुद्ध कथा है. अतः ऐसे स्वतोविरुद्ध निमित्तोंके अनुरूप धर्मको निभानेसे भी क्या लाभ! देवगण तपः क्लेशहारी होते हैं, आप तो देवोंमें भी परमेश्वररूप देवाधिदेव हो, अतः दृष्टिमात्रसे सर्वविध तापको हरनेवाले अरविन्दनेत्र हो सो हमारे असह्य सांसारिक तापक्लेशको हर लेनेको आप भी हमपर प्रसन्न हों. हम आपसे केवल यही वरदान चाहती हैं कि आप हमें अपना भजन करने दो – हमारी चिरकालिक आशाको तोड़े बिना!

संशय:

भगवान्के साथ की जानेवाली रासलीलाको यहां व्रजगोपिका 'भगवद्भजन' के रूपमें निरूपित कर रही रही हैं परन्तु भगवद्भजनके ऐसे प्रकारका प्रतिपादन शास्त्रोंमें तो कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता! ऐसा संशय स्वाभाविकतया किसीके भी हृदयमें उभर सकता है. इसके समाधानार्थ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणकी ये पंक्तियां सावधानतया अवलोकनीय हैं:

भगवान्के स्वरूपके रहस्यको जाना जाता है–भक्ति और ज्ञान के उपदेशक शास्त्रोंके आधारपर ही स्वतः ही प्रकट हो जानेपर, स्वयं भगवत्स्वरूपके कारण भी कभी–कभी भगवत्स्वरूपका निगूढ़ रहस्य समझमें आ पाता है. कृपाके सागर भगवान् जब स्वतः ही पूर्णरूपेण सच्चिदानन्दतया मुक्तिदानार्थ प्रकट हो जाते हैं, तबतो जो कोई जिस किसी उपायसे भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ पाता है, वह उसी उपायके द्वारा मुक्त हो जाता है. अन्तमें तो भगवान् को आविर्भूत करनेकेलिये ही तो ज्ञान या भक्ति की आवश्यकता पड़ती है. वह आविर्भाव यदि इन साधनों की अपेक्षा रखे बिना स्वतः ही भगवदिच्छावश हो गया हो तब तो ज्ञान भक्तिका कोई विशेष प्रयोजन रह नहीं जाता. श्रीकृष्णका तो भूतलपर प्राकट्य ज्ञानी अज्ञानी, भक्त–विरोधी, रागी–द्वेषी, चलाचलजीव, मानव–पशुपक्षी आदि, देव–दानव, स्त्री–पुरुष आदि सभीको मुक्तिदानार्थं ही हुवा है, क्योंकि

मोक्षप्रतिपादक शास्त्रोंके नियमोंके बन्धनमें कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवती ईश्वरेच्छाको तो कभी बांधा नही जा सकता है. अतः भगवान् का आविर्भाव भगवान् की स्वयं निजेच्छा, भक्ति अथवा ज्ञान इन तीनोंमें से किसी भी एकके कारण सम्भव है. जब भगवान् का अवतारकाल न हो तब तो ज्ञान और भक्ति दोनों ही भगवान् को प्रकट करनेमें द्वारभूत उपाय बनते हैं. अवतारदशामें, किन्तु, इनकी प्रयोजकता समाप्त हो जाती है. वर्षाऋतुमें जल सर्वत्र सुलभ रहता है. एतावता कूप तलाव या नदिओं को अनुपयोगी नहीं माना जा सकता... भगवान् के साथ द्वेष रखनेवाला शिशुपाल तो सौ गाली दे कर भी सायुज्यमुक्तिका लाभ पा गया. अन्यथा द्वेष रखना सामान्यतया मोक्ष पानेमें प्रतिबन्धरूप दोष ही होना चाहिये था! फिरभी, द्वेषपूर्वक ही सही, भगवत्स्मरणको निमित्त बना कर उसके सारे पाप हर लिये गये और उसे भगवान् में सायुज्य मिल गया. वैसे तो दोष भी स्वयं उस बिचारेका कैसे माना जा सकता है! सर्वान्तर्यामी परमात्माने ही उसके हृदयमें अपने प्रति द्वेष न जगाया होता तो और कोई कैसे जगा सकता था? ग्यारहकी ग्यारह इन्द्रियोंके प्रेरक तो स्वयं भगवान् ही होते हैं. मूलत: तो भगवान् के द्वारा ही यथासुख जगाये हुवे भाव हमारे हृदयमें अंगड़ाई लेते रहते हैं. अब जब द्वेष भी यदि मोक्षका साधक बन सकता हो तो अधोक्षज भगवान्की प्रेमिकायें क्या मुक्ति भी नहीं पा सकती? वस्तुतः तो मुक्तिसे भी श्रेष्ठ भजनानन्दकी प्राप्ति गोपिकाओंको होने जा रही है (सुबो.१०।२६।१३).

रासलीला=आत्मरतिका ही नामरूपकर्मात्मक विलक्षण विस्तार:

इस तरह हम देख सकते हैं कि शिशुपालसे सौ गाली खा कर उसे निजस्वरूपमें सायुज्यमुक्ति प्रदान करना जैसे भगवान् के क्षमाभावको प्रकट करनेवाली एक लीला है, उसी तरह व्रजगोपिकाओंके साथ मधुरभाववाली लीलाओंके द्वारा उन्हें स्वरूपानन्दसे भी श्लाघ्यतर भजनानन्द प्रदान करना भी एक भागवती लीला है. मूलतः तो यह ब्रह्मके आत्मरमणके ही रंगमें उभरी कोई विलक्षण झांई या आभाभेद है. अतएव अन्न-प्राण-मनोविज्ञानमयके बाद आते आनन्दमय तत्त्वके परमात्मा होनेकी उपपत्ति में 'अभ्यास' को जैसे लिङ्गतया स्वीकारा गया है, वैसेही उसी अभ्यासलिङ्गके आधारपर

रासलीलाको भी आत्मरमणतया ही स्वीकारना पड़ता है. इन अधोनिर्दिष्ट श्लोकोंमें यही सुस्पष्टतया निरूपित हुवा है:

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
प्रहस्य सदयं गोपीर् आत्मारामोऽप्यरीरमत् ।।(भाग.१०।२६।४२)
रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः ।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं... (भाग.१०।२७।३४)
कृत्वा तावन्तम् आत्मानं यावतीगपयोषितः ।
रेमे स भगवांस्ताभिर् आत्मारामोऽपि लीलया ।।(१०।३०।२०)
एवं शशाङ्कांविराजिता निशा: स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथा रसाश्रयाः ।।
(भाग.१०।३०।२६)
गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्।।(२०।३०।३६)

महाप्रभु, अतएव, इन श्लोकोंमेंसे ''आत्मारामोऽप्यखण्डितः''की व्याख्या करते हुवे कहते हैं:

> भगवान्का यह रमण निजात्मरमण ही है. इससे सिद्ध होता है कि स्वयं निष्काम भगवान्ने ही गोपिकाके कामको यथेच्छ पूर्ण किया. इस अवस्थामें भी भगवान् स्वयं तो आत्मरत ही रहे. रसका आलम्बन बनाने अपना आत्मभाव भगवान्ने गोपिकामें स्थापित किया. भगवान् की रति निजात्मामें ही मुख्यतया रहती है, क्योंकि इन्द्रियों, अन्तःकरणों अथवा विषयों से भगवान्की आत्मरति खण्डित नहीं हो पाती है. स्वानन्द यदि अन्यत्र जा सकता होता तो तो भगवान् अन्यत्र कहीं अनुरत हो पाते!

औपनिषदिक शब्दोंमें यदि कुछ कहना हो तो इस रासलीलाको भी हम आत्मरमणका ही नाम–कर्म–रूपात्मक व्याकरण कह सकते हैं.

पूर्वपक्ष:

आत्मरमणके ऐसे द्वैतघटित प्रकारको मान्य न कर पानेके कारण श्रीशंकराचार्य उपर्युद्धृत बृहदारण्यकोपनिषद्के भाष्यमें कई ऐसे विचारबिन्दु उपस्थापित करते हैं कि जिनपर ध्यान दिये बिना आगे बढ़ना इस सन्दर्भ में प्रायः दिग्भ्रमणा पैदा कर सकता है.

श्रीशंकराचार्य कहते हैं:

यहां अनेक विप्रतिपत्तियां सामने आती हैं: कुछ लोग कहते हैं कि यहां हिरण्यगर्भतया परम तत्त्वका ही प्रतिपादन अभिप्रेत है. दूसरे कुछ कहते हैं कि यहां संसारी आत्माका प्रतिपादन अभिप्रेत है. तीसरे कुछ लोग कहते हैं कि ''इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः मन्त्रवर्ण'', ''एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवाः'' इस श्रुति और ''एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्'' स्मृतिवचनके अलावा ''योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः, सर्वभूतमयो-ऽचिन्त्यः सएव स्वयमुद्रभौ'' श्रुतिवचनके आधारपर भी यहां परतत्त्वको ही अभिप्रेततया स्वीकारना चाहिये.

वैसे प्रस्तुत सन्दर्भ में उसने सारे पापको भस्मसात् कर दिया इस श्रौत उल्लेखके कारण यहां संसारी आत्माका ही प्रतिपादन अधिक उचित लगता है. क्योंकि किसी असंसारीके यहां विवक्षित होनेपर पापके दहनका निरूपण अप्रासङ्गिक ही बन जायेगा; इसी तरह 'इस आत्माके भीतर भय एवं रति के भावोंको निरूपित किया गया होनेसे भी यह संसारी ही लगता है. इसी निरूपणमें इस आत्माके मर्त्य होनेका उल्लेख भी मिलता है कि यों मर्त्य हो कर भी उसने अमृतका सृजन किया; और इसी तरह इस आत्माके जनमनेका भी उल्लेख मिलता है कि ''जनमते हुवे इस हिरण्यगर्भको देखो'' इस मन्त्रवर्णमें. 'कर्मविपाककी प्रक्रिया समझाते हुवे स्मृतिमें भी ऐसा उपलब्ध होता है कि ज्ञानियोंकी इतनी गतियां–विराट् ब्रह्मा बन जाना, मन्वादि बनना, धर्म या धर्माभिमानी यमदेव बनना, अव्यक्त प्रकृति बनना या महत् तत्त्व बनना–उत्तम तथा सात्त्विक मानी जाती हैं, अत: इस आधारपर भी यहां परम तत्त्वका प्रतिपादन अभिलषित नहीं माना जा सकता है.

यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि ऐसे परस्पर विरुद्धार्थके निरूपणवश श्रुतिका प्रामाण्य ही कहीं खण्डित न हो जाये! क्योंकि विरुद्धवचनोंके समन्वयार्थ कुछ कल्पनायें कर लेनेमात्रसे ऐसे सारे तर्कविरोधका उपशम सम्भव है ही... जैसे कि (६/क)जगत्सृष्टाकी संसारिता औपाधिकी ही होती है पारमार्थिकी नहीं. स्वतः तो वह असंसारी ही रहता है. (६/ख)इसी तरह हिरण्यगर्भ एक है या अनेक है इस विषयमें भी उभरते परस्पर

विरोधाभासके बारेमें एकत्वको अनौपाधिक और अनेकत्वको औपाधिक मान लेनेपर सारे विरोधाभास शान्त हो जाते हैं... (६/ग)यहां यह और लक्ष्यमें रखने लायक बात है कि हिरण्यगर्भकी उपाधिके अतिशय शुद्ध होनेके कारण प्राय: 'हिरण्यगर्भ' पदसे परम तत्त्वका ही निरूपण अभिप्रेत होता है जबकि उसकी संसारिता तो अपवादरूपेण कभी-कहीं दिखलायी जाती है. जीवात्माओंके बारेमें तो, तत्त्वमसि जैसे वचनोंके अपवादोंको छोड़ दें तो, उपाधिके अतिशय अशुद्ध होनेके कारण उसे संसारीके रूपमें ही श्रुति स्मृतियोंमें निरूपित किया जाता है. (६/घ)श्रुति-स्मृतियोंमें, जब शुद्ध या अशुद्ध किसी भी उपाधिकी अपेक्षा रखी नहीं जाती, तब तो सभीका परतत्त्वतया निरूपण अभिप्रेत होता है.

यों श्रुतिवचनोंमें ऐसे विरोधाभास खोजते रहनेवाले तार्किकोंके पास आगमबल तो होता नहीं है सो ?अस्ति-नास्ति – कर्ता-अकर्ता आदि अनेकविध विरोधोंका चिन्तन करते रहनेके कारण वे शास्त्रार्थको इतना आकुल-व्याकुल बना देते हैं कि शास्त्रवचनोंका अर्थनिर्धारण दुष्कर हो जाता है. इसके विपरीत जो तार्किकताके दर्पको छोड़ कर केवल शास्त्रोंका ही अनुसरण करना चाहते हैं, उन्हें तो देवताविषयक शास्त्रार्थ भी किसी प्रत्यक्षके विषय जितना निश्चित ही लगता है.

उत्तरपक्ष:

श्रीशंकराचार्यके प्रथम हेतु: १.'' 'उसने सारे पापोंको भस्मसात् कर दिया'' इस श्रौत उल्लेखके कारण यहां संसारी आत्माका ही प्रतिपादन अधिक उचित लगता है''. की उन्हींके अन्य विधानोंसे तुलना करनेपर ही हेतुबलका आकलन सम्भव होनेसे उन्हें देख लेना उपकारक होगा:

यह जगत्, जो नामरूपोंमें व्याकृत है, अनेक कर्ता तथा भोक्ता से संयुक्त है, किसी निश्चित देशमें किसी निश्चित क्रियाका कोई निश्चित फल ही होता है ऐसी प्रतिनियतिवाला है, इसकी रचनाका रूप मनमें भी उभर नहीं पाता है. इसके जन्म स्थिति और भंग जिस सर्वज्ञ और सर्वशक्ति रूप कारणसे होते हैं उसे 'ब्रह्म' कहा जाता है (ब्र.सू.भा.१।१।२).

जगत्का जैसा स्वरूप हमने दिखलाया है ऐसे इस जगत्की उत्पत्ति आदिकी, ईश्वरका जैसा रूप दिखलाया है ऐसे ईश्वरके अलावा, अन्य किसीके द्वारा... या संसारीके द्वारा सम्भावना भी शक्य नहीं है (ब्र. सू. भा. १।१।२).

वेदान्तशास्त्रद्वारा ही जगत्के उत्पत्ति स्थिति और लय के कारण सर्वज्ञ सर्वशक्ति ऐसे ब्रह्मको जाना जा सकता है. ऐसा क्यों? समन्वयके कारण, सारे ही वेदान्तवाक्यों ''वह एकमेव और अद्वितीय है'' ''पहले तो यह आत्मा ही अकेली केवल थी...'' आदिका तात्पर्य ऐसे अर्थके प्रतिपादनमें स्वीकारनेपर उनका समन्वय सिद्ध हो जाता है. इन वाक्योंमें प्रयुक्त पदोंका ब्रह्मस्वरूपके बारेमें निश्चित समन्वय दिखलायी देता होनेपर भी किन्हीं दूसरे अर्थोंकी कल्पना करना कभी उचित बात नहीं हो सकती है, क्योंकि ऐसा करनेपर जो श्रुतिमें कहा जा रहा है उसे छोड़ कर और जो श्रुतिमें कहा ही न गया हो ऐसे अर्थोंकी कल्पना करने जैसी बात होगी (ब्र.सू.भा.१।१।४).

जो जीवात्मा सगुणब्रह्मकी उपासना करके ईश्वरके साथ समनस्क सायुज्य प्राप्त कर लेती है..., उस मुक्तात्मामें अणिमादि ऐश्वर्य तो प्रकट हो जाते हैं परन्तु जगत के उत्पत्ति आदि व्यापारकी सामर्थ्य प्रकट नहीं हो पाते. जगत्के उत्पत्ति आदि व्यापार तो ईश्वरके ही होते हैं क्योंकि ईश्वरके नित्यसिद्ध होनेसे, श्रुतिवचनोंमें ईश्वरके ही सन्दर्भमें सृष्टिनिर्माणका निरूपण किया गया मिलता होनेसे ईश्वरके अन्वेषण या विजिज्ञासन के कारण ही ईश्वरेतर जीवात्माओंमें अणिमादि दिव्य ऐश्वर्य प्रकट होना वर्णित हुवा होनेसे जगत्की उत्पत्तिके समय स्वयं प्रकट नहीं हो पाये हों तो जगत् को कैसे प्रकट कर पायेंगे? इसके अलावा समनस्क मुक्तात्माओंकी अनेकताका विचार करनेपर यह सहज सम्भव है। कि किसीका मन जगत को उत्पन्न करनेका हो और किसीका मन उसके संहारका हो तो फिर जगत् का क्या होगा–उत्पत्ति या विनाश! किसी एकके संकल्पके अनुसार ही दूसरेको संकल्प करनेको बाधित होना पड़ता हो तो सिद्ध हो गया कि सर्वथा स्वतन्त्र परमेश्वरके संकल्पके आधीन ही अन्य कोई कर्ता इस सृष्टिमें कुछ

कर सकता है (ब्र. सू. भा. ४।४।१७).

''जो अपहतपाप्मा आत्मा है उसका अन्वेषण करना चाहिये उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये'', ''उसकी उपासना आत्माके रूपमें करनी चाहिये...'' ''ब्रह्मको जान लेनेवाला ब्रह्म ही हो जाता है'' इत्यादि अनेक विधानोंके रहते ''वह आत्मा कौन है– वह ब्रह्म क्या है'' ऐसी आकांक्षा होनेपर उस आत्माके स्वरूपको समझानेको सारे वेदान्त प्रवृत्त होते हैं ''वह नित्य है, वह सर्वज्ञ है, वह सर्वगत नित्यतृप्त नित्य–शुद्ध–बुद्ध–मुक्त स्वभाववाला है, विज्ञान आनन्द रूप ब्रह्म है'' इत्यादि (ब्र.सू.भा.१।१।४).

हम स्पष्टतया देख सकते हैं कि प्रथम वचनमें ब्रह्ममीमांसाके उपक्रममें श्रीशंकराचार्यने यह स्वीकार रख्खा है कि नाम–कर्म–रूपोंमें व्याकृत इस जगत्का कारण होना सर्वज्ञ–सर्वशक्ति ब्रह्मके लक्षणतया अभीष्ट है, सो वह लक्षण संसारीको कारणतया मान्य करनेपर दोषग्रस्त हो जायेगा.

द्वितीय वचनमें तो स्वयं श्रीशंकराचार्यने संसारीके जगत्कारण होनेकी जिस धारणाको निरस्त किया है, उसे ही यहां पुनः उन्हें स्वीकारनी पड़ी है.

तृतीय वचनके आधारपर यह प्रश्न उठता है कि यदि सारे उपनिषदोंके वचन एक ब्रह्मको कारणतया स्वीकारनेपर समन्वित हो पाते हों, तब भी अर्थान्तरकी जगत्कारणतया कल्पना करना श्रुतहानि और अश्रुतकल्पना करने का दोष माना जाता हो तो, इस बृहदारण्यकोपनिषद् के वचनको भी असमन्वित रहनेका दण्ड क्यों देना चाहिये? ''आत्मा वा इदमेकएव अग्र आसीत्'' (ऐत.उप.२।१।१।१) ''आत्मैव इदम् अग्र आसीत् पुरुषविधः सो अनुवीक्ष्य नान्यद् आत्मनो अपश्यत्'' (बृह.उप.१।४।१) इन दो वचनोंमें निरूपित आत्मकैवल्य या आत्माद्वैत तो सर्वथा समान ही है. अन्तर यदि कुछ है तो ऐतरेयके वचनमें उसका पुरुषविध होना उल्लिखित नहीं जबकि बृहदारण्यक के वचनमें उसका पुरुषविध होना घण्टाघोषपूर्वक कहा गया है. अतएव ''आत्मगृहीतिः इतरवद् उत्तरात्''(ब्र.सू.३।३।१६)के भाष्यमें श्रीशंकराचार्यने इस तारतम्यकी विवेचना करते हुवे कहा है कि यद्यपि इन दोनों ही वचनोंमें आदिम भूतसृष्टिके निर्माणकी चर्चा नहीं है. क्योंकि दोनोंमें ही लोकसृष्टिके निर्माणका निरूपण है. तथापि ऐतरेयवचनमें विशेषणरहित 'आत्म' पदका प्रयोग हुवा है जबकि बृहदारण्यकवचनमें 'पुरुषविध' विशेषणके सहित. अतः ऐतरेयवचनमें मुख्येश्वर लेना चाहिये जबकि बृहदारण्यकवचनमें अवान्तरेश्वर. भामतीकार भी यहां, अतएव, यही निष्कर्ष देते हैं कि जैसे श्रुतियोंमे कभी ब्रह्मने सर्वप्रथम आकाशको रचा ऐसा कहा जाता है तो कभी

तेजको. ऐसे दोनों वचनोंका समन्वय करनेपर आकाशको रच कर तेजको रचा ऐसे एक-दूसरे वचनके अर्थोंको एकदूसरेके साथ जोड़ समग्र अर्थकी पूर्ति करनी पड़ती है, ऐसे ही यहां ऐतरेयवचनमें आगे आनेवाले विशेषणोंका विचार करनेपर स्वयं परमात्माने महाभूतोंका सृजन करके लोकसृजन भी किया ऐसे समग्र अर्थकी कल्पना आवश्यक है. औपनिषद ज्ञानको किसी एक शाखाके वचनोंके आधारपर नहीं प्रत्युत सभी शाखाओंके वचनोंके आधारपर प्राप्त करना चाहिये. इसके अलावा स्वाध्याया-ध्ययनकी विधिके वश प्रारब्ध वेदराशिके अध्ययनमें आते हुवे वचनोंका सप्रयोजन होना भी आवश्यक है. सो इस ऐतरेयवचनको ब्रह्मविषयक स्वीकारनेपर परम-पुरुषार्थोपयोगिता इस वचनकी सिद्ध होगी, अन्यविषयक स्वीकारनेपर वह सम्भव नहीं. अतः लोकसर्गको भी हिरण्यगर्भ(प्रजापति या मनु) का व्यापार माननेके बजाय तदनुप्रविष्ट परमात्माका ही व्यापार मानना चाहिये. अतः ''आत्मैव...'' उपक्रम, 'ईक्षणपूर्वक सृष्टि'के मध्यभागमें आते परामर्श तथा अन्तमें समग्र भेदजातोंके ब्रह्माधिष्ठित होनेके उपसंहारवश प्रस्तुत वचनको ब्रह्मपरक ही स्वीकारना उचित है. जहां पुरुषविधताका निरूपण हो वहां गत्यन्तर न होनेसे ब्रह्मेतर पदार्थकी कारणतया कल्पना उचित होती है.

चतुर्थ वचनमें जीवात्माओंके मुक्त होनेपर, अन्य अनेक दिव्य ऐश्वर्योंक प्राप्त होनेपर भी सृष्टिके उत्पत्ति-स्थिति-लयादिकी सामर्थ्य उसे प्राप्त नहीं होती है-ऐसा स्वीकारा गया होनेसे; तथा प्रस्तुत बृहदारण्यकवचनमें नाम-रूप- कर्मात्मिका सृष्टिकी उत्पत्तिका ही निःसन्दिग्ध निरूपण मिलता होनेसे, ईश्वरकर्तृत्वसे अनिरूपित मुक्त जीवात्माका कर्तृत्व मान्य नहीं हो पाता है.

पञ्चम वचनके आधारपर इतना तो स्पष्ट ही है कि परमेश्वर के अलावा दूसरे किसीको जगत्कर्ताके रूपमें मान्य करनेपर श्रुतिके सृष्टिप्रकरणमें प्रकृत परमेश्वरका त्याग और अप्रकृतको स्वीकार करनेका व्याख्यानदोष उत्पन्न हो ही जायेगा.

ऐसी स्थितिमें मुख्यतया विचारणीय अब यही रह जाता है कि बृहदारण्यक वचनमें भी गत्यन्तर सम्भव है कि नहीं?

''अन्तर उपपत्तेः''(ब्र.सू.१।२।१३) के भाष्यमें, उदाहरणतया ही केवल क्योंकि ऐसे तो अनेकानेक विधान उपलब्ध होते ही हैं, श्रीशंकराचार्य स्वयं ''य एषो अक्षिणि पुरुषो...'' श्रुत्यर्थविवेचना करते हुवे प्रतिपादन करते हैं कि इस वचनमें आंखोंके भीतर परमेश्वर पुरुषका ही उपदेश है... आत्मता, क्योंकि, मुख्यवृत्तिसे परमेश्वर में ही उपपन्न होती है... 'अपहतपाप्मा'के रूपमें निरूपित होनेके कारण परमेश्वर जैसे सर्वदोषोंसे अलिप्त होता है, वैसे ही आंखोंका भी यहां सर्वलेपरहित होना

निरूपित हुवा है. इससे सिद्ध होता है कि 'पुरुष' पदको विशेषणतया जोड़नेमात्रसे ही सारे अनर्थ प्रकट हो जाते हों ऐसा तो कहा नहीं जा सकता.

ईक्षत्यधिकरण(ब्र.सू.१।१।५-११)में नामरूपोंकी व्याकृतिरूपा यह सृष्टि परमेश्वरके द्वारा किये गये ईक्षणवश हुयी है, ऐसा स्वीकार कर, सांख्यमताभिप्रेत प्रकृति या संसारी पुरुष की कारणता निरस्त की गयी है. सो परमेश्वरको परमकारणतया स्वीकार कर अवान्तरकारणतया तो परमेश्वरके किसी अवान्तररूपकी भी कारणता स्वीकार्य हो सकती है. वेदान्तके, परन्तु, किसी वचनमें परमेश्वरकी कारणताका अस्वीकार तो निश्यय ही वेदान्तके अप्रामाण्यमें पर्यवसित होगा. यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि भागत्यागात्मिका लक्षणावृत्तिकी कल्पनाद्वारा जब अनित्य अशुद्ध अज्ञानी संसारी ऐसे 'त्वं' पदवाच्य देहधारी जीवको 'तत्' पदवाच्य अप्रतिघ ज्ञान वैराग्य तथा ऐश्वर्य आदि दिव्यगुणोंसे युक्त परमेश्वरसे अभिन्न माना जा सकता हो तो प्रकृत बृहदारण्यकवचनमें हिरण्यगर्भ प्रजापति या मनु जो भी प्रतिपाद्य हो उसे परमेश्वराभिन्नतया लेनेमें अद्वैतवादको क्या आपत्ति होनी चाहिये?

अतः ऐसे अनेक गत्यन्तरोंके रहते व्यर्थ ही नामरूपात्मिका सृष्टि निर्माताको परमेश्वरसे भिन्न संसारी क्यों मानना चाहिये! यह यहां विचारणीय बनता ही है.

यहां निरूपित सृष्टिनिर्माताके संसारी होनेकी उपपत्तिके रूपमें जहांतक 'पापदहन' रूप हेतुका प्रश्न है तो चतुर्थ वचनमें हम सुस्पष्टतया देख सकते हैं कि?नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव विज्ञान आनन्द रूप? जिज्ञास्य ब्रह्मको भी अपहतपाप्मा माना ही गया है. ऐसी स्थितिमें कारणब्रह्म क्यों अपहतपाप्मा नहीं हो सकता?

यदि कहा जाये कि पारमार्थिकतया वैसे तो पापप्रसक्तिके अप्रसक्त ही होनेपर भी 'अपहत' रूप भूतकृदन्तके प्रयोगमें मिथ्याकल्पनाप्रयुक्त प्रसक्तिके शक्य होनेसे; तथा जिज्ञास्यब्रह्मरूप उद्देश्यकोटीके विशेषण होनेके कारण भी, उसमें गौणी विवक्षा भी मान्य हो ही सकती है. ऐसा, किन्तु, कारणब्रह्मके बारेमें स्वीकार पाना शक्य नहीं, क्योंकि वहां तो 'पाप्मन्' पद विधेयकोटीरूप 'औषत्' क्रियापदके कर्मतया उल्लिखित है. अतः वहां तो गौणी भी विवक्षा मान्य नहीं हो पायेगी. सृष्टिसे पूर्व पापोंके प्रसक्त ही न होनेके कारण, न तो परमार्थतः और न व्यवहारसत्य या प्रतिभाससत्य के रूपमें ही कल्पना शक्य होनेसे, पापोंके दहनकी कोई प्रासंगिकता ही सिद्ध नहीं होती है. इस विषयमें यह पूछा जा सकता है कि अल्पज्ञान अल्पवैराग्य तथा क्षुद्रैश्वर्य वाली जीवात्मामें आत्मैकत्वानुसन्धान सिद्ध होनेपर समस्त द्वैतप्रपञ्च बाधित हो जाता हो तो यहां स्वयं श्रीशंकराचार्यने इस सृष्टिनिर्माताके बारेमें ''ज्ञानम् अप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम्''(बृह.उप.भा.१।४।२) इस

स्मृतिवचनके आधारपर उसे ऐसा स्वीकारा है. अतः ऐसे अप्रतिघ ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य आदि शुभगुणोंसे युक्त प्रजापति या मनु, जो कोई हो, प्रपञ्चनिर्माणके बजाय निजमुक्तिसम्पादनार्थ क्यों प्रवृत्त नहीं हो जाता? यदि कहा जाये कि ज्ञानसे सञ्चित क्रियमाण और प्रारिप्सित कर्मोंका ही केवल निरसन होता है प्रारब्ध कर्मोंका नहीं तो, जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानीकी तरह इस सृष्टिनिर्माताको भी प्रारब्ध कर्मफलके भोगतया लब्ध केवल दिव्यशरीर ही धारण किये हुवे यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्? आदर्शके अनुरूप संन्यासधर्मोंमें प्रवृत्त होना चाहिये था. अरति भय स्त्रीपुरुषात्मिका रतिद्वारा सृष्टिनिमार्णके सांसारिक झमेलेमें तो कथमपि फंसना नहीं चाहिये था. श्रीशंकराचार्यने जो शंका समाधान यहां दिये हैं कि अप्रतिघ ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य आदि सहज गुणोंसे युक्त होनेपर भी प्राक्तन जन्मोंमें किये कर्मोंके निमित्तवशात्-एकाकितामें अरति और अज्ञानमूलक भय सम्भव है; अथवा, श्रद्धा-प्रणिपात(गुरूपसत्ति)के अभाव में या वेदान्तवचनोंके श्रवण मनन और निदिध्यासन के अभावमें सहजसिद्ध अद्वैतज्ञान भी अज्ञान या द्वैतज्ञान का निवर्तक नहीं हो पाता है, जैसेकि लोकमें भी अनेकविध निमित्तोंके भेदवशात् नैमित्तिक कार्योंमें अनेकविधता दिखलायी देती ही है. तब तो सृष्टिनिर्माताकी स्वनिर्मित सृष्टिसे भी दुस्तर दुरवस्था स्वीकारनी पड़ेगी! ऐसे निमित्तभेदोंकी आशंकाके रहते कोई अद्वैतज्ञान पानेकेलिये प्रवृत्त ही नहीं होगा. किसी भी हेतुके आधारपर निःशंक प्रवृत्तिकी उपपत्ति देने-खोजनेपर उससे सृष्टिनिर्माता स्वयं क्यों लाभान्वित न हो पाया? सो उस बेचारेकी स्वनिर्मित सृष्टिसे भी दुस्तर दुरवस्था सिद्ध हो जाती है! ऐसे ज्ञान वैराग्य या ऐश्वर्य को कौन अप्रतिघ स्वीकारेगा कि जिनका प्राक्तन कृत या अकृत कर्मोंके कारण प्रतिघात भी हो पाता हो! ''नास्त्यकृतः कृतेन'' (मुण्ड.उप.१।२।१२) ''एतं ह वाव न तपति''-''किम् अहं साधु न अकरवं किम् अहं पापम् अकरवम्! इति'' (तैत्ति.उप.२१९) वचनोंमें दिया गया आश्वासन भी व्यर्थ ही चला जायेगा. श्रद्धा गुरूपसत्ति प्रणिपात वेदान्तवाक्योंके श्रवण मनन या निदिध्यासन जैसे प्राक्तन जन्ममें न जाने किस या किन कृताकृत कर्मों के कारण अप्रतिघ ज्ञान-वैराग्यसे सम्पन्न होनेपर भी स्वयं सृष्टिनिर्माता प्रजापति भी अरति भय तथा मैथुनपूर्वक सृष्टयुत्पादन के कर्मबन्धनसे अपने-आपको छुड़ा नहीं पाता. तब ऐसे प्रजापतिकी सृष्टिमें रहा क्षुद्र ज्ञान-वैराग्यवाला कोई जीव अपने प्राक्तन जन्मके कृताकृत कर्मोंके बन्धनोंसे अपने-आपको कैसे छुड़ा पायेगा!

यदि इस सृष्टिनिर्माणको भी पूर्वकल्पके अभुक्त प्रारब्धकर्मकि भोगतया लेने की बात सोची जाये, तो ऐसी सृष्टिमें ब्रह्मज्ञानीके रूपमें प्रकट हुयी जीवात्माकी भी वर्णाश्रमधर्ममें प्रवृत्तिको प्रारब्धकर्मोंक ही भोगतया स्वीकारनी चाहिये थी.

श्रीशंकराचार्यने वह, किन्तु, स्वीकारे बिना शमदमादि ही ब्रह्मज्ञानीकेलिये आवश्यक माने हैं विधिर्वा धारणवत् ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें ''परिव्राजकको तो सभी कर्मोंके संन्यास कर देनेपर भी अननुष्ठानजन्य प्रत्यवाय नहीं लगता है. ब्रह्मसंस्थ होनेके कारण शमदमादि धर्म तो उसकेलिये उपोद्बलक ही होते हैं विरोधी नहीं. शमदमादिके बलपर ब्रह्मनिष्ठ रहना ही परिव्राजकोंके लिये स्वाश्रमविहित कर्म होता है; और यज्ञयागादि अन्योंकेलिये, शमदमादिका त्याग करके ब्रह्मनिष्ठा से च्युत होना परिवाज्रककेलिये भी प्रत्यवायरूप होता है...'' (ब्र.सू.भा.३।४।२०). अतः अप्रतिघ ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य आदि गुणधर्मोंवाले प्रस्तुत सृष्टिनिर्माताका शमदमादिमें प्रवृत्त होनेके बजाय मैथुनरतिपूर्वक सृष्टिनिर्माणमें प्रवृत्त होना या तो उसके उत्कृष्ट ज्ञान-वैराग्यसे सम्पन्न होनेकी बातको या तो संसारी होनेकी बातको झुठला ही देता है.

पापोंको भस्मसात् करनेका उल्लेख भी वैसे तो प्रकृत कल्पारम्भकी कथाके रूपमें तो उपपन्न नहीं हो पाता, सो पूर्वकल्पकी कथाके रूपमें ही उसे स्वीकारना पड़ा है. यों जिस कल्पमें उसने साधारण जीव होनेके कारण पाप किये होंगे तब वह प्रजापति या मनु बन नहीं पाया था; और, जब वह प्रजापति या मनु बन कर सृष्टिनिर्माता बना होता है तब तो उसने कोई पाप किये ही नहीं होते हैं. प्राक्तन जन्म या कल्प में किये हुवे किसी कर्मके कर्ताका प्रकृत जन्म या कल्प में फलभोक्ता होना तो माना जा सकता है. उदाहरणतया प्राक्तन जन्ममें पातित्यजनक किसी अभुक्तफल कर्मका फलभोग प्रकृत जन्ममें सम्भव होनेसे भोक्ता होना मान्य होनेपर भी पातित्यजनक कर्मका कर्ता भी माननेपर इस जन्ममें जो पतित न हो उसे भी पतित मानना पड़ेगा. इसी तरह प्राक्तन कल्पीय पापदहनका फलभोग तो प्रजापतिके उदाहरणमें भी सम्भव है परन्तु पापदहनरूप कर्मका कर्ता होना तो मान्य नहीं हो सकता. यह दोहराना तो अनावश्यक ही है कि प्रजापतिका पापदहनरूप कर्ममें कर्तृत्व यहां निरूपित हो रहा है. सो पापोंके दहनपूर्वक नामरूपात्मिका सृष्टिके निर्माणमें प्रवृत्त होनेकी बात भी पुनः उतनी ही असमञ्जस ही ठहरती है.

केवलाद्वैतवादके अनुसार सारे पापोंकी मूल तो अविद्या मानी गयी है. इस अविद्याको नित्य भी माना गया है, ''जीव ईशो विशुद्धा चिद् विभागस्त्वनयोर् द्वयोः अविद्या तत्कृतो बन्धः षड् अस्माकम् अनादयः'' सिद्धान्तके अनुसार. अतः अविद्याके रहते सृष्टिके प्रारम्भमें भी पापोंकी विद्यमानता और तब ऐसे विद्यमान पापोंके दहन में भी कोई विसंगति रहनी नहीं चाहिये थी. फलतः इस सृष्टिका निर्माण तब अविद्याप्रयुक्त माननेके बजाय भगवदिच्छाप्रयुक्त ही मान लेना उचित होगा. भागवतके ''श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्टयेलयोर्जया विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्''

(भाग.१०।३९।५५) श्लोकमें भगवान्की द्वादशविध शक्तियोंमें 'शक्त्या' पदसे सत्यसंकल्प परमेश्वरकी इच्छाशक्ति विवक्षित है. इसी तरह सर्वभवनसमर्थ परमेश्वरकी, अविद्यासे भिन्न, सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्ति 'माया' पदसे विवक्षित है. इन दोनों शक्तियोंके द्वारा भी सृष्टिनिर्माणकी कल्पना करना एक सम्भव गत्यन्तर है ही. यह गत्यन्तर, किन्तु, तभी सम्भव है जब इस सृष्टिको अप्रतिघज्ञानशक्ति सर्वज्ञ सर्वभवन समर्थ सत्यसंकल्प परमेश्वरकी लीलाके रूपमें स्वीकार लिया जाये. अर्थात् अविद्योपाधिप्रतिबद्ध कुण्ठितज्ञानशक्ति असमर्थ अनीश्वरके मिथ्यासंकल्पकी निर्मिति न माने तो. परमेश्वरने सृष्टिनिर्माणार्थ प्राक्कल्पीय जीवात्माओंके आविद्यक कर्मोंके बन्धनोंको भस्मसात् करके सृष्टि रची है, ऐसा मानना आवश्यक है. अर्थात् अनीशतया कर्मबन्धनवश हो कर नहीं प्रत्युत केवल निजलीलास्वभाववश सृष्टिको प्रकट किया है, ऐसी कल्पनाओंके द्वारा गत्यन्तर सम्भव हो जाता है. अतः व्यर्थमें ही परमेश्वरेतरको सृष्टिनिर्माताके पदपर क्यों आसीन होने देना चाहिये? कामदेवके दहन के बाद श्रीमहादेवका पार्वतीके साथ रमण जैसे, कामात्मक न हो कर लीलात्मक ही होता है और महादेवेतर क्षुद्र जन्तुओंके रमण अनङ्गभावापन्न कामद्वारा जन्य होते ही हैं. ऐसे ही अनीश जीवात्माओंके कर्तृत्व-भोक्तृत्वको अविद्याप्रयुक्त भी स्वीकारा जा ही सकता है. यह एक गत्यन्तर सर्वथा सम्भव ही है.

यद्यपि उपर्युद्धृत ब्रह्मसूत्र(४।१।५)के भाष्य में श्रीशंकराचार्यने यह स्वीकारा है कि ''शुक्तिकां रजतम् इति प्रत्येति'' जैसे वाक्यप्रयोगों में 'शुक्ति' पदका अर्थ शुक्तिका ही होती है और 'इति' शब्दपरक 'रजत' पद स्वयं रजत वस्तुका वाचक न होकर रजतबुद्धिका वाचक बन जाता है. फिर भी यहां कारणभूत आत्माके निरूपणके बाद उपास्यरूप जिस आत्माके निरूपणार्थ ''आत्मा इत्येव उपासीत्'' वचन आता है, वहां श्रीशंकराचार्य इसके असंसारी ब्रह्मपरक होनेकी चर्चा करते हैं. इस विषयमें उल्लेखनीय यही है कि उपक्रान्त पुरुषविध आत्माके परित्याग और अनुपक्रान्त अपुरुषविध आत्माके परिग्रह का भी कोई प्रबल हेतु सामने नहीं आ रहा है.

अतएव श्रीशंकराचार्यके दूसरे हेतु ''इस आत्माके भीतर भय एवं रति के भावोंको निरूपित किया गया होनेसे भी यह संसारी ही लगता है''. इस विषयमें भी यह कहा जा सकता है कि परमेश्वरका सृष्टयर्थ ईक्षण या काम लौकिक पुरुषोंके ईक्षण या काम जैसा तो हो नहीं सकता. इसी तरह यहां वर्णित अरति भीति मैथुनरति आदि भी लौकिक अति भीति या मैथुनरत आदि जैसी स्वीकारनेके बजाय दिव्य प्रकारकी मान लेनी चाहिये. संसारमें भी एक परस्पर कलहरत दम्पतीकी पारस्परिक अरति और गार्हस्थ्यत्यागी संन्यासीकी अरति एक ही तरहकी नहीं होती. एक सांसारिक धनिककी

सम्भावित धनहानिकी भीति और दूसरे वैराग्यधन संन्यासीकी शमदमादिमें सम्भावित प्रमादवश विषयासक्तिकी भीति भी एक ही तरहकी नहीं हो सकती. इसी तरह एक मनुष्य दम्पतीकी मैथुनरतिद्वारा प्रजोत्पत्ति और शंकर-पार्वतीकी मैथुनरतिद्वारा कार्तिकेय पुत्रकी उत्पत्ति भी एक ही तरहकी हो नहीं सकती हैं. स्वयं श्रीशंकराचार्यने भी ''येतु केवलशास्त्रानुसारिणः शान्तदर्पाः तेषां प्रत्यक्षविषय इव निश्चितः शास्त्रार्थो देवतादिविषयः'' विधानमें यही भाव प्रकट किया है.

यद्यपि श्रीशंकराचार्य ''अतएव प्रजापति होना यहां संसारविषयक ही है क्योंकि ''उस प्रजापतिकेलिये तब रमण शक्य नहीं था, वह अरतिके मनोभावसे ग्रस्त था ऐसा अर्थ हमारे जैसे ही किसीकी कथा लगती है''(बृह.उप.भा.१।४।३) ऐसा कहते हैं किन्तु आगे चलकर तब इस तरह स्त्रीरूप विषयकी लालसा रखनेवाले उस प्रजापतिने अपने-आपको ऐसा बना लिया, मानों स्त्रीका सहचारी हो. उसके सत्येप्सु होनेके कारण ही वह यह सारी सृष्टिके रूपमें इतना सब कुछ बन गया (वहीं) इस निरूपणमें श्रीशंकराचार्य जहां सत्येप्सुकी सृष्टिभावापन्नता वर्णित करते हैं तो यह बहुभवन तो सर्वथा लोकविसदृश निरूपण बन जाता है. लोकमें कोई भी केवल संकल्पवशात् अपने-आपमें से दूसरे किसीको प्रकट कर नहीं सकता है; और न मनुष्यभावापन्न जीव केवल संकल्पवशात् गाय-बैल घोड़ा-घोड़ी गधा-गधी या चींटी-चींटा ही कभी बन सकता है. इससे सिद्ध होता है कि मैथुनार्थ प्रकट भी यह मिथुनसृष्टि लौकिक मैथुनकी प्रकियासे भिन्न ही किसी प्रक्रियासे प्रकट हुयी होगी. अतएव सृष्टिनिर्माताके वर्णित मनोभाव ''उसने सोचा कि ''सृष्टि स्वयं मैं ही बना हूं. मैने ही यह सृष्टि बनायी है और इस तरह वह स्वयं ही सृष्टि बन गया''(बृह.उप.१।४।५) को श्रीशंकराचार्यद्वारा वर्णित ''पुत्र या भार्या आदिके विकल या अविकल होनेपर 'मैं विकल या अविकल हो गया हूँ'', इस तरहके बाह्यधर्मोंको आत्माके साथ भ्रान्तिवश जोड़ लेता है... इसी तरह अन्तःकरणके काम संकल्प विचिकित्सा अध्यवसाय आदि धर्मोंको भी''(ब्र.सू.भा.१।१।१) प्रकारतया तादात्म्याध्यासके रूपमें तो मान्य किया ही नहीं जा सकता है. फलतः कर्तृत्वके लौकिक तथा अलौकिक प्रकारोंमें परस्पर भेद तो मानना ही पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें कर्तृत्वप्रेरक अरति भय या मैथुनादि कर्मों को भी भिन्न प्रकारोंका ही मानना चाहिये था. फलतः प्रजापति या मनु को इनका संसारी होना अनिवार्य हो तो, सृष्टिनिर्माताके रूपमें मान्य करनेके बजाय साक्षात् परमेश्वरको ही सृष्टिकर्ता मानना युक्ततर लगता है.

यहां वर्णित सृष्टिनिर्माताके जन्म-मरणशील संसारी होनेकी श्रीशंकराचार्यके द्वारा प्रदत्त तृतीय तथा चतुर्थ उपपत्तियां यों हैं: इसी निरूपणमें इस आत्माके मर्त्य

होनेका उल्लेख भी मिलता है कि यों मर्त्य हो कर भी उसने अमृतोंका सृजन किया; और इसी तरह मन्त्रवर्णमें इस आत्माके जनमनेका भी उल्लेख मिलता है कि ''जनमते हुवे इस हिरण्यगर्भको देखो''.

इस सन्दर्भमें सर्वप्रथम मर्त्यताके हेतुके विमर्शमें यह कथनीय है कि इसी उपनिषद्में आगे चलकर ''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे... मर्त्यं च अमृतं च...''के भाष्यमें श्रीशंकराचार्यने स्वयं यह तो स्वीकारा है कि ''ब्रह्मणः परमात्मनो रूपे-रूप्यते याभ्याम् अरूपं परं ब्रह्म...'' (बृह.उप.भा.२।३।१). सो यहां 'मर्त्य होना' अब अपरमात्मा होनेके अव्यभिचारी हेतुके रूपमें मान्य नहीं हो पायेगा. वैसे प्रकृत सन्दर्भमें ''ततो मनुष्या अजायन्त''(बृह.उप.१।४।३) निरूपणमें पहले उस प्रजापतिने जो मरणशील मनुष्योंका रूप धारण किया और बादमें ''यच्छ्रेयसो देवान् असृजत् अथ यन् मर्त्यः सन् अमृतान् असृजत, तस्माद् अतिसृष्टिः..''(बृह.उप.१।४।६) वचनोक्त प्रकारसे अमर देवताओंका भी रूप धारण किया. अतः उसी अभिप्रायवश मर्त्य और अमृत की बात कही जा रही है, ऐसा स्वीकारनेपर इस मर्त्यताको सृष्टिनिर्मातापर लागू करनेका कोई समुचित हेतु रह नहीं जाता है. अतः प्रजापति स्वयं स्वरूपतः मर्त्य न होनेपर भी लीलया मर्त्यरूप धारण करता है यही अभिप्राय स्वीकारना उचित लगता है.

[४]जन्मके उल्लेखके कारण इस सृष्टिनिर्माताको परमात्मतया स्वीकार नहीं करनेकी बातको माण्डूक्योपनिषद्की श्रीगौड़पादकी ''स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते सदसत्सदसद् वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते'' कारिकाके भाष्यके सन्दर्भमें देखा जाये तो परमात्माकी बात तो दूर किसी भी वस्तुका जन्म ही सिद्धान्ततः असम्भव कथा बन जाती है. वहं भाष्यवचन यों है:

> अतएव कुछ भी पैदा हो ही नहीं सकता है... स्वयं अपने-आपको तो कोई पैदा कर ही नहीं सकता, स्वयंके ही उत्पन्न न होनेके कारण कोई भी घड़ा स्वयं अपने-आपको उत्पन्न कर नहीं सकता. न ही एक घड़े या कपड़े से दूसरा घड़ा या कपड़ा ही कभी उत्पन्न हो सकता है. परस्पर विरुद्ध होनेके कारण ही घड़ा और कपड़ा, दोनों मिल कर भी, कोई दूसरा घड़ा या कपड़ा उत्पन्न कर नहीं पाते हैं, फिर भी मिट्टीसे घड़ा और पितासे पुत्र भी पैदा होते समझमें तो आते ही हैं! यह तो सच है कि मूढ लोग ऐसे बोलते-समझते हैं कि ''यह पैदा हुवा-वह पैदा हुवा'' परन्तु विवेकी पुरुषोंका यह काम है कि ऐसी समझ और शब्दप्रयोग की परीक्षा करे कि क्या ऐसी समझ सच्ची समझ होती है कि गलत? परीक्षा

करनेपर तो ऐसी समझ और शब्दप्रयोग के विषय घड़ा या पुत्र आदि केवल बोलनेभरकी ही बातें रह जाते हैं, ''वाचारम्भणं विकारो. नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'' श्रुतिवचनके आधारपर (माण्डु उप.भा.२२।४).

यों इसे पारमार्थिक सिद्धान्त मान कर चलें तब तो प्रजापति या मनु की कथा तो दूर, किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति स्वीकारी नहीं जा सकती है. फिर भी परमार्थतः यही अभिप्रेत होनेपर भी व्यवहारमें मिथ्या जन्मको भी सम्भव मान कर चलें तब तो भगवद्गीताभाष्यमें स्वयं श्रीशंकराचार्यने जो स्वीकार रखा है उसके साथ इस विधानकी तुलना करनी पड़ेगी:

> मूर्ख लोगोंके मनमें भगवान् वासुदेवके अनीश्वर या असर्वज्ञ होनेकी जो शंका-कुशंका उठती हैं उन्हें दूर करनेको श्रीभगवान् कहते हैं- ''मैंने बहोत सारे जनम लिये हैं... जिन्हें मैं जानता हूं...'' मैं क्योंकि सर्वदा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववाला ही हूं. मेरी ज्ञानशक्ति कभी आवृत नहीं होती... फिर तो नित्येश्वर होनेके कारण न तो धर्म और न अधर्म का ही कोई सम्पर्क सम्भव होनेसे भगवान्को जन्म क्यों लेना पड़ता है? इस बारेमें भगवान्का उत्तर यह है कि वे अज अर्थात् जन्मरहित होनेपर भी जन्म लेते हैं. इसी तरह भगवान् ऐसे अव्ययात्मा भी हैं कि उनकी ज्ञानशक्ति कभी क्षीण न हो पाती है. ऐसा होनेपर भी... अपनी वैष्णवी, त्रिगुणात्मिका माया कि जिसके वशमें यह सारा जगत् रहता है..., ऐसी उस अपनी प्रकृतिको अपने वशमें रख कर भगवान् प्रकट हो जाते हैं. मानों देहवान् जैसे बन जाते हैं. यह भगवान्की अपनी माया है कि जिससे वे ऐसे बन जाते हैं. परमार्थत: लोकमें जैसे साधारण जीवात्मा जन्म लेती हैं, भगवान् वैसे नहीं जनमते हैं (भ.गी.भा.४।६).

यों इस वचनका सावधानतया अवलोकन करनेसे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि 'जन्म होना' अनीश्वर होनेके अव्यभिचारी हेतुतया स्वयं श्रीशंकराचार्यको भी सर्वदा स्वीकार्य नहीं है. अतः ''जनमनेके व्यावहारिक मिथ्या उल्लेखवशात् प्रकृतमें 'प्रजापति' पदसे परमात्माको अभिहित माना नहीं जा सकता'' यह विधान भी उपपन्न तो नहीं होता है.

इसके बाद [५] ''कर्मविपाककी प्रक्रिया समझाते हुवे स्मृतिमें भी ऐसा उपलब्ध

होता है कि ज्ञानियोंकी इतनी गतियां–विराट् ब्रह्मा बन जाना, मन्वादि बनना, धर्म या धर्माभिमानी यमदेव बनना, अव्यक्त प्रकृति बनना अथवा महत् तत्त्व बनना–उत्तम तथा सात्त्विक मानी गयी हैं, अतः इस आधारपर भी यहां परम तत्त्वका प्रतिपादन अभिलषित नहीं माना जा सकता है''. उपपत्ति बहोत विचारणीय नहीं रह जाती. क्योंकि सर्वप्रथम तो यह स्मृतिवचन जीवकी शुभगतियोंका निरूपण करता है, बृहदारण्यकोपनिषद्के प्रस्तुत वचनमें विवक्षित परमेश्वर है या प्रजापतिभावापन्न जीव इस बारेमें इदमित्थतया यहां कुछ भी कहना अभिप्रेत नहीं लगता है.

इसके बाद श्रीशंकराचार्यने श्रुतिनिरूपणमें परस्परविरुद्धताकी शंकाके समाधानार्थ कैसी कल्पनायें करनी चाहिये इस बारेमें कुछ दिशानिर्देश दिये हैं:

> यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि ऐसे परस्पर विरुद्धार्थके निरूपणवश श्रुतिका प्रामाण्य ही खण्डित हो जायेगा, क्योंकि विरुद्धवचनोंके समन्वयार्थ कुछ कल्पनायें कर लेनेमात्रसे ऐसे सारे तर्कविरोधोंका उपशम सम्भव है ही... श्रुतिवचनों में ऐसे विरोधाभास खोजते रहनेवाले तार्किकोंके पास आगमबल तो होता नहीं है सो अस्ति नास्ति कर्ता अकर्ता आदि अनेकविध विरोधका चिन्तन करते रहनेके कारण वे शास्त्रार्थको इतना आकुल व्याकुल बना देते हैं कि शास्त्रवचनोंके अर्थका निर्धारण दुष्कर हो जाता है. इसके विपरीत जो तार्किकताके दर्पको छोड़ कर केवल शास्त्रका ही अनुसरण करना चाहते हैं, उन्हें तो देवताविषयक शास्त्रार्थ भी किसी प्रत्यक्षके विषय जितना ही निश्चित लगता है.

इस विषयमें वैसे तो विशेष कुछ भी कथनीय हो नहीं सकता, क्योंकि यह तो श्रुतिप्रामाण्यरक्षणार्थ मायावादको अभिमत श्रुतिव्याख्यानके आदर्शभूत निकषोंका ही केवल निरूपण है. इसका प्रकृत विषयसे कोई सम्बन्ध नहीं है, फिरभी, इस विषयमें भी ब्रह्मवादके दृष्टिकोणको समझ लेनेको कुछ मुद्दे ध्यानमें रख लेने उपकारक होंगे. श्रुतिप्रामाण्यके रक्षणार्थ, या परस्परविरुद्धतया प्रतीत होते श्रुतिवचनोंके परस्पर समन्वयार्थ; अथवा तर्कविरोधोंके उपशमनार्थ किसी भी तरहकी कल्पना करनेसे पहले यह निर्धारित कर लेना आवश्यक है कि वह कल्पना परस्परविरुद्धतया प्रतीत होती श्रुतियोंके दो वचनोंमेंसे किसी एक श्रुतिके साथ पक्षपात तो कहीं नहीं कर रही है! अर्थात् ऐसी कल्पनाद्वारा दूसरी श्रुतिको बाधितार्थ या गौणार्थ की निरूपिका सिद्ध करने तो कहीं हम नहीं जा रहे हैं! अतएव महाप्रभुने भाष्यमें यह एक मननीय स्पष्टीकरण दिया है:

> ...तब तो अन्योन्यविरोधका बहाना बना कर किसी एक श्रुतिवचनके मुख्यार्थको बाधित मान कर चलना पड़ेगा. यों स्वरूपके बजाय कार्यके गौण होनेसे प्रपञ्चप्रतिपादक वचनोंको बाधितार्थ मान लेनेकी कल्पना करनी पड़ेगी. ऐसा करना, किन्तु, उचित नहीं होता, इसीलिये ब्रह्मसूत्रकार इस जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-लयादिमें ब्रह्मकी अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता प्रतिपादित करनेको उसे समवायी या उपादान भी सिद्ध करना चाहते हैं. इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म जैसे अस्थूल अनणु अहस्व... आदि श्रुतिवचनोंके आधारपर अविश्व रूप होता है ऐसे ही अविक्रिय ब्रह्म विश्वकर्ता एवं विश्वात्मक भी हो सकता है. मायाको विरुद्धधर्माश्रय माननेके बजाय ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय स्वीकार लेना ब्रह्मकी श्रौत एकमेवता और अद्वितीयता के सिद्धान्तके अधिक उपयुक्त होता है (ब्र. सू. भा. १११।३).

अर्थात् तार्किकताके दर्पको शान्त करके श्रुतार्थाबाधक श्रौततर्क और श्रुतार्थबाधक शुष्कतर्क का विवेक रखनेपर जैसे तात्पर्यनिर्वाहक ऊहोंकी कल्पना श्रीशंकराचार्य करते हैं यथा [६/क]''जगत्सृष्टाकी संसारिता औपाधिकी ही होती है पारमार्थिकी नहीं. स्वतः तो वह असंसारी ही रहता है''. इस विषयमें वाल्लभ दर्शन यह कहना चाहेगा कि सर्वप्रथम तो जगत्सृष्टा स्वयंमेंसे संसारी जीवोंको लीलया प्रकट करता है स्वयमेव संसारी बने बिना ही. दूसरे ऐसी दुर्घटना उसमें उसके किसी उपाधिसे ग्रस्त होनेके कारण घटित नहीं हो जाती प्रत्युत सर्वभवनसामर्थ्य सत्यसंकल्प और लीलास्वभाववश ही प्रकट होती है. [६/ख]''इसी तरह हिरण्यगर्भ एक हैं या अनेक है इस विषयमें भी उभरते परस्पर विरोधाभासके बारेमें एकत्वको अनौपाधिक और अनेकत्वको औपाधिक मान लेनेपर सारे विरोधाभास शान्त हो जाते हैं... इस विषयमें वाल्लभ दर्शनकी धारणा यह है कि एकत्व स्वाभाविक होता है तथा अनेकत्व ऐच्छिक, स्वेतरोपाधिवश औपाधिक नहीं. क्योंकि किसी सद् या सदसद्विलक्षण भी अब्रह्मात्मक उपाधिकी कल्पना करनेसे ब्रह्मका एकमेवाद्वितीय होना बाधित हो जायेगा. अनेकताके हेतुको ब्रह्मात्मक स्वीकारनेपर उसे 'इच्छा' कहो 'माया' कहो 'उपाधि' कहो 'प्रकृति' कहो 'शक्ति' कहो कुछ भी विशेष अन्तर नहीं पड़ता. [६/ग]''यहां यह और लक्ष्यमें रखने लायक बात है कि हिरण्यगर्भकी उपाधिके अतिशय शुद्ध होनेके कारण प्रायः 'हिरण्यगर्भ' पदसे परतत्त्वका ही निरूपण अभिप्रेत होता है जबकि उसकी संसारिता तो अपवादरूपेण कभी कहीं दिखलायी जाती है. जीवात्माओंके बारेमें तो,

'तत्त्वमसि' जैसे वचनोंके अपवादोंको छोड़ दें तो, उपाधिके अतिशय अशुद्ध होनेके कारण उसे संसारीके रूपमें ही श्रुति-स्मृतियोंमें निरूपित किया जाता है''. हिरण्यगर्भका संसारी होना एक बात है और संसारमूल होना दूसरी बात. अत: हिरण्यगर्भकी सृष्टिमूलताको समझानेकेलिये बहोत सारे सांसारिक भावोंसे युक्त सा उसे दिखलाया जाता है, एतावता उन मूलभूत भावोंको आविद्यक या अज्ञानजन्य मान लेना आवश्यक नहीं. कुशल अभिनेता किसी चरित्रके अभिनयार्थ हर्ष शोक मोह मद मात्सर्य आदि अनेक भावोंको प्रकट करता है, एतावता उस अभिनेय चरित्रवाले व्यक्तिकी तरह अभिनेताका भी उन भावोंसे ग्रस्त होना किसी अरसिक दर्शककी ही भ्रमणा हो सकती है! औपाधिकद्वैतका सिद्धान्त तो ब्रह्मवादका त्याग कर मायावाद अपनानेकी कथा होनेसे कुछ भी कथनीय ही नहीं है. [६/घ]''श्रुति स्मृतियोंमें, जब शुद्ध या अशुद्ध किसी भी उपाधिकी अपेक्षा रखी नहीं जाती, तब तो सभीका परतत्त्वतया निरूपण अभिप्रेत होता है''. इस विषयमें वाल्लभ दर्शन यह कहना चाहेगा कि शुद्धि या अशुद्धि के पारमार्थिक द्वैत ब्रह्मने अपनी लीलामें प्रकट किये हैं, अतः रमणार्थ प्रकट इस द्वैतका भान लीलाविशिष्ट ब्रह्मके बारेमें आसक्तिवाले जीवको तो ब्रह्माद्वैतके भानको गौण बना कर भी हो ही जाता है; अथवा, ब्रह्माज्ञानीको होता है. ब्रह्मज्ञानीकी चित्तवृत्ति लीलानुरूपा होनेके बजाय ब्रह्मस्वरूपानुरूपा होती है. अतः स्वयं चित्तवृत्तिके अद्वैताकारिका हो जानेके कारण ब्रह्मज्ञानीको द्वैतकी स्फूर्ति हो नहीं पाती. तो ऐसे सारे द्वैत ब्रह्मकी लीलाके रूपमें मान्य होनेके कारण ये निकष वाल्लभ दर्शनको स्वीकार्य नहीं हैं.

अतएव महाप्रभु कहते हैं:

> ब्रह्मके जगत्कर्तृत्वको श्रुतिविरुद्ध नहीं माना जा सकता है. जैसे सत्यत्व ज्ञानरूपत्व आनन्दरूपत्व आदि स्वरूपात्मक धर्म होते हैं, ऐसे ही कर्तृत्व भी स्वरूपात्मक धर्म क्यों नहीं हो सकता? ब्रह्मको सर्वथा निर्धर्मक माननेपर तो सत्यत्वादि धर्मोंका सामानाधिकरण्य भी उपपन्न नहीं हो पायेगा. सत्यं ज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म जैसे वचनोंमें भिन्न-भिन्न धर्मोंके विवक्षित होनेपर ही इन पदोंका सामानाधिकरण्य उपपन्न हो पाता है. देहाध्यासप्रयुक्त होनेके कारण कर्तृत्वको संसारिधर्म ही मान लेना भी उचित नहीं है, क्योंकि प्रापञ्चिक कर्तृत्व देहाध्यासप्रयुक्त होता है एतावता अलौकिककर्तृत्वको देहाध्यासप्रयुक्त माना नहीं जा सकता (अन्यथा लौकिक वस्तुओंकी सत्ता व्यावहारिकी या प्रातिभासिकी होती एतावता ब्रह्मकी भी सत्ता व्यावहारिकी या प्रातिभासिकी

माननी पड़ेगी)... प्रपञ्चमें सत्ताका भान ही नहीं होता ऐसा तो कहा नहीं जा सकता है. अतएव उसे व्यावहारिक सत्त्वके रूपमें स्वीकारना पड़ा है. यदि कहा जाये कि वह तो अधिष्ठानसत्ता ही तादात्म्याध्यासतया आरोपित नामरूपोंमें भी भासित होती है. तब तो ब्रह्मगत कर्तृत्व ही तादात्म्याध्यासापन्न जीवभावके आरोपमें भी भासित होता है, ऐसा भी स्वीकार लेनेमें भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये थी... अत: अंशिरूप ब्रह्मगत कर्तृत्व- भोक्तृत्व आदि धर्म ही जीवात्माओं में अंशतया प्रकट होते हैं, परमात्माके कारयितृत्व-भोगप्रदत्व आदि होनेके कारण.

(ब्र.सू. भा.१।१।२).

सच्चिदानन्द ब्रह्मकी आत्मक्रीड़ा सृष्टिक्रीड़ा और रासक्रीड़ा:

अतएव सृष्टिवृक्षके पुनः पल्लवन-फलनमें प्रवृत्त होनेसे पूर्व आदिबीजरूप भगवान्‌की जो स्तुति ब्रह्माजीने की है, उसके भागवतसुबोधिन्यनुसारी निरूपणमें यह स्पष्टतया उपलब्ध होता है कि जनकब्रह्मा पालकविष्णु संहारकमहादेव प्रजापति और मनु आदि अवान्तरकर्ता तथा अव्यक्तमहदादि अवान्तरोपादानकारण रूपी शाखा प्रशाखाओंके द्वारा अनेकविध नामरूपोंमें यह सृष्टि प्रकट हुयी है. अतः आदिबीजरूप-तया भगवान् ही स्वयं भुवनद्रुमरूप बने हैं. अतः इन अवान्तरकर्ताओंके चित्त यदि भगवत्पर न रह पाते हों तो अहंकारवश उन्हें गर्व होने लगेगा तथा ऐसे प्रमादके कारण इस पुण्य-पाप सुन्दरासुन्दर शुभाशुभ सुख-दुःख आदि अनेक रूपोंवाली सृष्टिमें वैषम्य प्रकट करनेके कारण सृष्टिरचनामें अवान्तरकर्ताओंको प्रमाद पक्षपात निर्दयता आदि दोषोंके अपराधी मानना पड़ेगा. अतः इस सृष्टिको भगवान्‌की निज आत्मरमणात्मिका शक्तिद्वारा ही प्रकट की हुयी स्वीकार लेनी चाहिये (द्रष्टव्य: सुबो.३।९।१६-२३).

सच्चिदानन्दात्मक परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके आत्मरमण के प्रमुख दो रूपों- [१]देश-काल-स्वरूपमें अपरिच्छिन्न आनन्दात्मक नाम-रूप-कर्मोंके द्वारा किये जाते रमण; तथा [२]आनन्दांशके निगूहनद्वारा देश-काल-स्वरूपमें परिच्छिन्न नाम-रूप-कर्मोंमें प्रकट होकर किये जाते रमण -के अलावा एक तीसरे और प्रकार [३]सदंशके भी निगूहनद्वारा केवल चेतनामें भासित होते नाम-रूप-कर्मोंको प्रकट कर किये जाते रमणको इस सन्दर्भमें जान लेना अत्यावश्यक है. अन्यथा श्रीमद्‌भागवतवर्णित रासलीलाके स्वरूपका यथार्थ बोध शक्य नहीं हो पाता.

अतएव अपने तत्त्वार्थदीपनिबन्धके आद्य शास्त्रार्थ प्रकरणके आरम्भमें ही

महाप्रभु कहते हैं:

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे।
रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः ।।

अपने इस मङ्गलाचरणमें वर्णित भगवान्की त्रिविध क्रीड़ा या रमण की व्याख्या स्वयं महाप्रभुने यों की है ''रूपनामविभेदेन यः क्रीडति, रूपनामविभेदेन यो जगत् (भूत्वा क्रीडति), रूपनामविभेदेन यतो जगत्(क्रीडति)'' यहां हम देख सकते हैं कि क्रीड़ाके प्रथम 'यः क्रीडति' प्रकारमें सच्चिदानन्द श्रीकृष्णका सर्वांशमें आत्मक्रीड़ामें कर्तृत्व निरूपित हुवा है. रासक्रीड़ा भी आत्मक्रीड़ाका ही एक विलक्षण प्रकार है, यह आगे स्पष्ट किया जायेगा. क्रीड़ाके द्वितीय ''यो जगद् भूत्वा क्रीडति'' प्रकारमें एकमेवाद्वितीय अखण्ड सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्म अपने आनन्दांशके निगूहन द्वारा, अनेक सदंशों एवं चिदंशों के खण्डों में अनेकवद्भावापन्न होकर की जाती सृष्टिक्रीड़ा करता है. क्रीड़ाके तृतीय ''यतो जगत् क्रीडति'' प्रकारमें सदानन्दांशके निगूहनद्वारा अर्थात् ब्रह्म अपने सदंशके साथ नामरूपोंमें अन्वित हुये बिना उन अनेकविध नामरूपोंका अपने चिदंशोंके भीतर केवल आभास प्रकट करनेकी संसारक्रीड़ा भी करता है, ऐसा विवक्षित है. महाप्रभुका कहना है कि क्रीड़ाके इन तीनों ही प्रकारोंको, वैसे तो अन्य भी अनेक प्रकार हो सकते हैं, स्वीकारनेपर ही ब्रह्मका स्वातन्त्र्य अक्षुण्ण रहेगा. अन्यथा ब्रह्मका स्वरूप, चाहे जैसा क्यों न हो परन्तु, सृष्टिनिर्माण में उसे या तो जीवात्माके प्राक्तन कल्पके कर्मों के आधीन या फिर मायाविद्या जैसी उपाधिके आधीन होनेसे सृष्टिनिर्माणार्थ विवश होता स्वीकारना पड़ेगा. जिज्ञास्य ब्रह्मके लक्षणतया ब्रह्मसूत्रकारने भी सर्वप्रथम उसे इस सृष्टिका उपादान कर्ता स्वीकारा है. यह इस बातका प्रमाण है कि अन्यथा रीतिसे ब्रह्मको जाननेपर, कमसे कम स्वतो-अप्राकट्य उदाहरणमें तो, मुक्ति सम्भव ही नहीं है.

इन्द्रो मायाभिः, नतु मायया, पुरुरूप ईयते!

भगवत्क्रीड़ाके इन तीन प्रकारोंमें ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते''(बृह.उप. २।५।१९) वचनमें निरूपित अनेकविध माया साधन या करण बनती हैं. भागवतके पूर्वोदाहृत वचनमें इनके जो बारह-तेरह प्रमुख भेद गिनाये गये: श्री पुष्टि गी कान्ति कीर्ति तुष्टि इला ऊर्जा विद्या अविद्या इच्छा(सत्यसंकल्परूपा) माया आदि. इनमेंसे भगवान्ने किस रूपको धारण करते समय या कैसी लीला करते समय कौन सी शक्तिका उपयोग किया है, इसे भगवल्लीलाके समीचीन बोधकेलिये जान लेना आवश्यक होता है. अन्यथा 'माया' शब्द सुनते ही, जो कुछ मायिक होता है वह मिथ्या होता है जैसी प्राग्धारणाओंके वश भगवत्स्वरूप या भगवल्लीला को भी मिथ्या मान लेनेकी धांधल

हो ही जाती है. और यह पुनः इस ब्रह्ममीमांसाको भागवती मीमांसासे अनुपबृंहित रखनेकी ही धांधलमें पर्यवसित हो जाती है.

भागवती मीमांसासे अनुपबृंहित ब्रह्ममीमांसा करनेपर सच्चिदानन्द(='सत्+चित्+आनन्द')रूप ब्रह्मकी सदंशात्मिका शक्ति, चिदंशात्मिका शक्ति या आनन्दांशात्मिक शक्ति के प्रमुखतम भेदोंकी भी अक्षम्य उपेक्षा करनेका अपराधी होना पड़ता है.

स्वयं शांकर दर्शनमें भी मूलाविद्या-तूलाविद्या, जीवाश्रिता-ब्रह्माश्रिता, आवरणरूपा-विक्षेपरूपा आदि अनेक भेद माया-अविद्याके स्वीकारने ही पड़े हैं. आत्यन्तिक अद्वैतका सिद्धान्त ब्रह्मके बारेमें कारगर हो भी जाये परन्तु अविद्याके बारेमें वह सारेके सारे व्यवहारों या प्रतिभासों की समुचित व्याख्या दे नहीं पाता. क्योंकि ब्रह्मज्ञानके बाद भी देहाध्यासकी शक्यताका वृत्तान्त आवरणशक्तिके निवृत्त होनेपर भी विक्षेपशक्तिकी अनुवृत्तिकी कल्पनाद्वारा ही उपपन्न हो पाता है. ऐसी स्थितिमें शक्तिभेदको न स्वीकारनेपर भागवतवर्णित प्रमुख द्वादशविध शक्तियोंके विशिष्ट स्वरूपोंको जान पानेकी तो दुराशा दूरापास्त ही ठहरती है.

एक गुलाबके फूलमें उसकी वर्णाकृति कोमलस्पर्श तथा सुगन्ध खण्डशः नहीं रहते हैं फिर भी कागज़ या चित्र में स्पर्श-गन्धरहित वर्णाकृतिके खण्ड प्रकट हो सकते हैं. सुगन्धरहित गुलाबके फूलोंमें वर्णाकृति तथ कोमलस्पर्श भी खण्डशः प्रकट होते ही हैं. इसी तरह रूहे-गुलाबमें वर्णाकृति तथा कोमलस्पर्श के बिना ही सुगन्ध भी खण्डशः प्रकट हो ही जाती है. इसी तरह ब्रह्ममें सत् चित् तथा आनन्द के अखण्डैकरस हो कर रहनेके बावजूद सृष्टिगत जड़वस्तुओंमें सदंशके तथा जीवात्माओंमें चिदंशके खण्डोंमें प्राकटयको उपपन्न मानना चाहिये. फलतः असंख्य अपरिमित शक्तियां तथा शक्तिमान् बह्म भी अखण्डैकरस होनेपर भी सृष्टिनिर्माणार्थ द्वैतखण्डों में प्रकट होते हैं.

जैसा कि स्पष्टतया देखा जा सकता है कि इला अविद्या ऊर्जा शक्तियां ब्रह्मके सदंशमें रही विविध प्रकारकी सामर्थ्य हैं. गी विद्या व्यामोहकमाया आदि ब्रह्मके चिदंशमें रही शक्तियां हैं. इच्छा श्री पुष्टि तुष्टि सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया आदि ब्रह्मके आनन्दांशमें रही शक्तियां हैं. आत्माराम आप्तकाम परमात्मामें प्रकट होती इच्छाशक्ति साधारण जीवात्माओंके भीतर पैदा होती इच्छाकी तरह मानी नहीं जा सकती. सर्वरूप सर्वसम सर्वात्मा भगवान्की किसी विशेष जीवात्मापर कृपाके रूपमें प्रकट होती पुष्टिशक्ति भी साधारण मनुष्यमें पैदा होती सहानुभूति या दया की तरह नहीं मानी जा सकती है. इसी तरह एकमेवाद्वितीय होनेपर भी अपने किसी स्वरूप या सामर्थ्य को तिरोहित तो दूसरी किसीको आविर्भूत रखते हुवे अनेकानेक नामरूपोंको धारण कर लेना उस ब्रह्मकी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्तिका कार्य है. इसके शास्त्रीय उदाहरण कल्पवृक्ष कामधेनु

कायव्यूहयोग आदि भी हो सकते हैं, केवल एक जादुगरके अनेक ऐन्द्रजालिक रूप ही नहीं. ये सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया जैसी शक्तियां यदि आनन्दात्मिका शक्तियां न हों तो ब्रह्मका परमात्मा भगवान् या पुरुषोत्तम होना ही अनुपपन्न हो जायेगा. ठीक वैसे ही जैसे हम साधारण जीवात्मायें अपनी आत्मिक एकरसतामें अज्ञानवश पुत्र भ्राता पति या पिता होनेके अनेकविध अध्यास पैदा कर लेते हैं.

वैसे कहने को तो कहा जाता है कि उपासनार्थ शास्त्रोपदिष्ट रूपकल्पनाद्वारा अरूप ब्रह्म भी इष्टफल प्रदान कर सकता है, यह विद्याशक्तिका रहस्य है. जैसे अंशांशिभावरहितं शुद्धचेतनामें अविद्याशक्तिके वश अंशकल्पना होनेपर अन्तःकरणाध्यास प्राणाध्यास इन्द्रियाध्यास देहाध्यास और स्वरूपविस्मृति जैसी असम्भव दुर्घटना भी घटित हो जाती हैं, ऐसे ही विद्याशक्तिके वश जिसका जो रूप न हो उसकी शास्त्रोपदिष्ट अन्यान्य रूपोंमें भी कल्पना करनेपर यथोपदेश इष्टफलोंकी भी प्राप्ति शक्य ही है.

ऐसा कहनेवाले, परन्तु, एक अन्य मुद्देकी यह बात तो भूल जाते हैं कि उपासनार्थ रूपकल्पना जैसे साधक कर सकते हैं वैसे ही उपासकानुग्रहार्थ रूपधारण करनेकी भगवान्की भी कोई पुष्टिशक्ति क्यों नहीं हो सकती है? ''तं यथा यथा उपासते तथैव भवति'' (मुद्.उप. ३); या इसे भागवतके शब्दोंमें कहना हो तो, ''यद्-यद्-धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत् तद्-वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय''(भाग.३।९।११) वचन भी मननीय हो सकला है. इस साधकानुग्रहार्थ धारण किये रूपको यदि दिव्य न मानें तो पुष्टिशक्ति और व्यामोहकशक्ति का पार्थक्य ही व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा. अतः शुद्धचेतनामें अविद्यामूलक देहाद्यध्यास जैसा ही '' 'आदित्यो ब्रह्म' इति आदेशः'' (छान्दो.उप.३।१९।१) वचनोपदिष्ट ध्यान भी यदि अध्यास ही हो तो उसे भी अनर्थरूप क्यों नहीं माना जाता? फलतः अविद्यामूलक अध्यास और विद्यारूप उपासना के बीच कुछ न कुछ अन्तर तो शास्त्रप्रामाण्यवादियोंको स्वीकारना ही पड़ेगा. इसी तरह विद्यामूलक उपासनार्थ रूपकल्पना और उपासकानुग्रहार्थ दिव्यरूपधारण के बीच भी कुछ न कुछ तारतम्य तो स्वीकारना ही पड़ेगा. अन्यथा साधारण प्राणीके आविद्यक कर्मोंके बन्धनमूलक जन्म और परमेश्वरके आत्ममायामूलक जन्म के बीच भी ''आत्मनो मायया न परमार्थतो लोकवत्''(गी.शां.भा.४।७) ऐसा स्वयं श्रीशंकराचार्य द्वारा स्वीकृत पार्थक्य भी उपपन्न नहीं हो पायेगा. अतः शास्त्रोपदिष्ट उपासनांग रूपकल्पनाद्वारा इष्टफलदायिनी विद्याशक्तिसे पृथक् ही, उपासक या अनुपासक आदि जो भी निजानुग्रहभाजन हों ऐसी, जीवात्माओंके समक्ष अपने दिव्यरूपद्वारा मुक्ति या भक्ति प्रदायक रूपोंको भगवान् अपनी पुष्टिशक्तिद्वारा ही प्रकट करते हैं. यह भी

स्वीकारना ही पड़ेगा.

इसी तरह अज्ञान रजतसंस्कार सादृश्य और अन्धकार के कारण शुक्तिपर प्रकट होते रजतके विवर्तकी तरह ही यदि ब्रह्ममें भी सृष्टिके विवर्तको स्वीकारना हो तो परमेश्वरके सत्यसंकल्प होनेकी शक्तिकल्पना भी अनावश्यक ही ठहरती है. अतएव सृष्टि, यदि परमेश्वरके सत्यसंकल्पवश यथाश्रुत रूपमें प्रकट हुयी हो तो, अविद्या या व्यामोहिका माया से अतिरिक्त एक सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाको भी स्वीकारना ही पड़ेगा. यदि सर्वभवनसामर्थ्यवश तथा सत्यसंकल्पवश परब्रह्म परमात्मा सृष्टिके अनेकानेक रूप धारण कर सकता हो तो, उसने कामना की, ''मैं अनेक बन जाऊं. उसने... यह सब कुछ रचा, यह जो भी कुछ है, उसे रच कर वह इसमें प्रविष्ट हो गया. इस तरह प्रविष्ट हो कर वह सत् और त्यत् भी बन गया...'' (तैत्ति.उप.२।६) न्यायानुसार जैसे आनन्दांशके निगूहनद्वारा आत्मोपादानक नाम-रूपोंको उसने सिरजा वैसे ही उनके बीच सच्चिदानन्दात्मक नाम-रूपोंको भी वह क्यों प्रकट नहीं कर सकता?

इन्हीं सच्चिदानन्दात्मक नाम-रूपोंके भक्ति/मुक्ति प्रदायक स्वभावके निरूपणार्थ सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायासे पृथक् योगमाया भी स्वीकारी गयी है, 'ब्राह्मण-परिव्राजक' न्यायेन.

इन त्रिविध मायाओंका निरूपण इन शास्त्रवचनोंमें भी देखा-परखा जा सकता है:

सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मूल तथा उसकी अवान्तररूपा अव्यक्तप्रकृति माया: ''... मायी सृजते विश्वम् एतत्... मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्'' (श्वेता. उप. ४१९-१०), ''भिन्ना प्रकृतिरष्टधा... प्रकृतिं विद्धि मे पराम्... दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया... मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'' (गीता. ४।४-५-१४; ९।१०), ''प्रकृतिर्ह्यस्योपादानम् आधारः पुरुषः परः सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत् त्रितयं त्वहम्'' (भाग.१११२४।१९).

योगमाया: ''परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च''(श्वेता.उप.६।८), ''मायाविग्रहधारिणः'' (कृष्णोप.१९), ''सम्भवाम्यात्ममायया - रूपं परं दर्शितम् आत्मयोगात्''(गीता.४।६-११।४७), ''यन् मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलम्'' (भाग.३।२।१२).

व्यामोहकमाया: ''तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः'' (श्वेता.

उप.४।६), ''न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः मायया अपहृतज्ञानाः'' (गीता.७।१५) ''ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्'' (भाग.२।९।३३).

इन सूक्ष्म प्रभेदोंको भलीभांति समझ लेनेपर भागवतके दशमस्कन्धमें फलप्रकरण (अध्याय:२६-३२) में वर्णित भगवल्लीलाका भी वास्तविक स्वरूप समझनेमें कोई कठिनाई नहीं रह जाती. सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदशात्मना नाम-रूप-कर्मोंके व्याकरणवाली सृष्टिलीलाके प्रकारसे पृथक् ही किसी प्रकारसे स्वयं श्रीकृष्णका भूतलपर प्राकट्य होता है. सत् चित् या आनन्द में से किसी भी अंशके निगूहनके बिना ही श्रीकृष्णके निज दिव्य नाम-रूप-कर्मोंक व्याकरणके रूपमें इसे समझा भी जा सकता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं- ''उसी परमकाष्ठापन्न वस्तुके कभी जगदुद्धारार्थ अखण्ड पूर्णतया प्रादुर्भूत होनेपर उसे 'कृष्ण' कहा जाता है'' (त.दी.नि.१।१) तथा '' 'कृष्ण' शब्दद्वारा परम तत्त्वकी बात कही जा रही है. क्योंकि 'मुझे अपने भीतर रहा परमसौन्दर्य प्रकट करना है' ऐसी इच्छाके साथ जब कभी वह साकार प्रकट हो जाता हो तो उसे 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है'' (त.दी.नि.३।१।१).

दशमस्कन्धोक्त लीलाका यथार्थ स्वरूप:

अतएव दशमस्कन्धके मुख्य वर्ण्यविषयके बारेमें प्रचलित मतभेदोंकी विवेचना करते हुवे महाप्रभुका कहना है कि न तो दशमस्कन्धीय लीलाओंको (क)सर्गादि नवलक्षणोंसे लक्ष्य आश्रयरूप श्रीकृष्णकी लीला होनेके कारण, आश्रयलीलाके रूपमें स्वीकारा जा सकता है; और न ही (ख)भगवान्ने अवतीर्ण हो कर दुष्ट राजाओंका जो निरोध (निग्रह) किया था इस अर्थ में निरोधलीलाके रूपमें ही.

(क) शांकर सम्प्रदायानुगामी भागवतव्याख्याकार श्रीश्रीधरस्वामी दशम-स्कन्धका वर्ण्य विषय आश्रयलीला मानते हैं. इसे महाप्रभु स्वीकारते नहीं हैं और इस अस्वीकारके वाल्लभ हेतु ये हैं:

[१]दशमस्कन्धमें वर्णित सर्वाश्रयरूप परमात्माका केवल स्वरूप ही लीलाके अर्थभूत स्वरूपका निर्धारक नहीं हो सकता है. क्योंकि आश्रयका स्वरूप लक्ष्य है तथा सर्ग आदिके निरूपक तृतीयस्कन्धादिसे ले कर मुक्तिके निरूपक एकादशस्कन्ध पर्यन्तकी लीलायें लक्षणरूपा हैं. सो नवविध लक्षणोंकी अपेक्षा रखनेवाले आश्रयरूप लक्ष्यका वर्णन लक्षणनिरूपणसे पूर्व अर्थात् एकादशस्कन्धसे पहले दशमस्कन्धमें कर देना सर्वथा असमञ्जस ही होगा. [२]यदि दशममें ही आश्रयका निरूपण स्वीकार लिया जाता है तो अग्रिम एकादश और द्वादश स्कन्धोंकी कथायें फलसिद्ध हो जानेके कारण

निरर्थक सिद्ध होंगी. [३]तृतीयादि स्कन्धोंसे प्रारम्भ करके उत्तरोत्तर आते स्कन्धोंमें प्रतीयमान कार्य कारणभाव खण्डित हो जायेगा, यदि बीचमें आते दशमस्कन्धमें अन्तिम आश्रयभावापत्तिकी लीलाकी कल्पना कर ली जाती है तो. [४]जिन श्रीकृष्णके वर्णनके कारण दशमस्कन्धका वर्ण्यविषय आश्रयलीला माना जा रहा है, उनका वर्णन तो एकादशस्कन्धमें भी उपलब्ध होता ही है, तो वहां भी आश्रयलीला क्यों नहीं मानी जाती? शाब्द क्रमसे आर्थ क्रमके बलवान् होनेकी बात ठीक होनेपर भी दशमस्कन्धके अर्थका गम्भीरताके साथ विचार करनेपर शाब्द और आर्थ दोनों ही क्रम सुरक्षित रह सकते हों तो व्यर्थ [५]शाब्द क्रमको गौण क्यों बनाना चाहिये? दशमस्कन्धमें वर्णित भगवच्चरित्रकी एक विशेषता या अपूर्वता, जो भारपूर्वक निरूपित हुयी है वह, तो यही है कि भगवान्की विविध लीलाओंके कारण लीलान्तः पाती जीव कैसे प्रापञ्चिक विषयोंकों भूल कर निरन्तर भगवान्के चिन्तनमें अथवा कैसे विषयासक्तिसे निवृत्ति पा कर भगवान् के स्वरूपमें या लीलानन्द में कितने तन्मय हो गये! इससे सिद्ध होता है कि दशमस्कन्धार्थ निरोधलीला ही है कि जिसका अभिप्राय अपने अनुग्रहभाजनोंके बीच प्रकट हो कर भगवान्के द्वारा की गयी ऐसी लीला है कि जिससे लीलान्तः पाती जीवोंमें अनायास भक्ति प्रकट हो जाये. [६]वैसे 'आश्रय' शब्दका अर्थ तो वही है जो यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते(=सर्ग-विसर्ग), येन जातानि जीवन्ति(स्थान- पोषण-ऊति-मन्वन्तर- ईशानुकथा-निरोध) यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति(=मुक्ति-लय), तद्... ब्रह्म(=आश्रय), (तैत्ति.उप.३।१) वचनमें कहा गया है. ऐसी स्थितिमें आश्रयके जैसा स्वरूप यहां श्रीकृष्णलीलाके अन्तर्गत लीलानायकका निरूपित नहीं हुवा है. वह तो द्वादशस्कन्धमें ही प्रलयाधिष्ठान या प्रलयशेषतया निरूपित होता स्वीकारा जा सकता है.

(ख)श्रीबोपदेव दशमस्कन्धका वर्ण्य विषय भूभाररूप दुष्ट राजाओं या असुरों का दमन मानते हैं. महाप्रभु दशमस्कन्धार्थभूत निरोधकी यह व्याख्या भी स्वीकारते नहीं हैं. क्योंकि:

[७]दशमस्कन्धकी शुरुआत या अन्त में तो दुष्टदमनलीला मिलती नहीं है. केवल दुष्टोंके निग्रहको इस स्कन्धका वर्ण्यविषय माननेपर तो निरोधका जो लक्षण स्वयं भागवताभिमत- शक्तिभिः सह अस्य आत्मनः अनुशयनं निरोधः वह भी उपपन्न नहीं हो पायेगा. स्वीकृत लक्षणविशिष्ट लीलाके न होनेपर यहां वर्णित लीला दशविधलीलासे अतिरिक्त ही कोई सिद्ध हो जायेगी. प्रथमस्कन्धमें मिलती कुन्तिस्तुति (भाग.१।१०।१९) के अनुसार भगवान्का प्राकट्य भक्तियोगवितानार्थ वर्णित हुवा है, वह भी असंगत हो जायेगा. पूर्वोत्तर स्कन्धोंके बीच रहा कार्य कारणभाव खण्डित हो

जायेगा. केवल दुष्टदमनको दशमस्कन्धका मुख्य वर्ण्यविषय माननेपर उल्लिखित लक्षण भी संगत नहीं होगा. अतः दुष्ट जीवोंके निरोधके अलावा सुष्ठु जीवोंके निरोधको भी दशमका वर्ण्यविषय मान लेनेपर केवल कुन्तिस्तुतिकी ही नहीं प्रत्युत उल्लिखित निरोधलीलाके लक्षणकी भी संगति बैठ जाती है. नवमस्कन्धका वर्ण्यविषय भक्ति है. ऐसे भक्त्यर्ह जीवोंकी भक्तिको प्रापञ्चिक विषयोंकी आसक्तिसे रहित बना कर स्वयं अपनेमें निरुद्ध कर लेनेवाली श्रीकृष्णलीला दशमस्कन्धमें निरूपित हुयी है. विषयासक्तिरहित भगवद्भक्ति शुद्धा भक्ति होती है. अतएव दशमस्कन्धमें सर्वत्र मुख्यतया प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का ही निरूपण मिलता है. सो उसे मुख्य वर्ण्यविषयतया मान्य करना चाहिये. अपने लीलान्तः पाती जीवोंकी तामसता राजसता और सात्त्विकता के अनुरूप भगवान्ने भी ऐसे ही रूपोंमें ऐसी ही लीलायें की.

महाप्रभुको अभिमत भगवत्प्राकटयका प्रयोजन:

महाप्रभुने यह भी स्पष्ट किया है कि श्रीकृष्णका भूतलपर प्राकट्य चार प्रयोजनोंकों पूर्ण करने हुवा है: [१]भूभारहरणार्थ, [२]साधुजनरक्षणार्थ, [३]दुष्टदमनार्थ; तथा [४]भक्तियोगवितानार्थ अर्थात् भक्तियोगप्रवर्तनार्थ(सुबो.१०।४७।९-१०). इनमें प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय क्रमशः राजस, सात्त्विक और तामस प्रयोजन हैं; जबकि अन्तिम प्रयोजन निर्गुण है. किसी भी सूरतमें किसी भी एक प्रयोजनको किसी दूसरे प्रयोजनका आनुषङ्गिक नहीं मान लेना चाहिये.

इस तरह हम देख सकते हैं कि दशमस्कन्धकी लीला-अपनी भक्ति करने लायक या मुक्ति देने लायक जीवोंके बीच ''फलं वा साधनं यत्र'' न्यायसे भगवान्का प्रकट हो जाना है. अर्थात् स्वयं उपेयका उपेताओंके बीच स्वप्राप्त्युपायतया निरुद्ध हो जाना है. इसे साम्प्रदायिक परिभाषा के अनुसार 'साधननिरोध' कहा जाता है. इसके बाद फलरूपतया 'फलनिरोध' उसे कहते हैं, जब इस तरह की जाती लीलाओंमें अन्तः पाती जीवात्मा यथायथ स्वस्वभावानुपाती भगवद्भावोंमें तन्मय हो जाती हैं. दशमस्कन्धमें वर्णित भगवच्चरित्र की यह एक वस्तुतः महती अपूर्वता या विशेषता है. सो इसे ही वर्ण्यविषयके रूपमें मान्य रखना उचित होगा. भक्तोंका भगवान्में निरुद्ध हो जाना ही क्रमशः पहले लीलातन्मयता है तथा अन्ततः भक्तितन्मयता है. इन दोनों प्रकारके निरोधोंको यहां 'निरोधलीला' कहा जा रहा है. अतएव महाप्रभु भगवत्प्राकट्यके प्रकार एवं हेतु की विवेचना यों करते हैं:

> भक्तोंपर अनुग्रह करनेकेलिये भगवान् भक्तोंके समान रूपवाला विग्रह प्रकट करते हैं; क्योंकि, विजातीय रूपवाले

विग्रहमें कदाचित् उन्हें रुचिकर विश्वास न भी जम पाये, (जैसे अर्जुनको दिदृक्षित विराट्र स्वरूप भी रुचिकर नहीं लगा!) अतः जैसे मनुष्योंपर अनुग्रह करनेकेलिये भगवान् मानुषविग्रह प्रकट करते हैं; ऐसे ही, गोपिकाओं को निजानन्द-प्रदानरूप अनुग्रह करनेकेलिये ही भगवान्ने अपना वैसा स्वरूप और वैसी लीलायें गोकुलमें प्रकट की (सुबो.१०।३०।३७).

जहां उपायावलम्बन देना होता है वहां दोषावेश पहले दूर किया जाता है और भगवदावेश बादमें सिद्ध होता है. जहां, परन्तु, उपेयावलम्बन प्रदान करना होता है वहां भगवदावेश पहले सिद्ध हो जाता है और दोषनिराकरण भगवदावेशके यथायथ वृद्धिंगत होनेकी प्रक्रियाद्वारा पूर्वोदाहृत सुबोधिनीका अभिप्राय कि भगवत्प्राकट्यकेलिये ज्ञान-भक्तिरूप उपायोंकी जो आवश्यकता होती है वह भगवान्के स्वतः ही प्रकट हो जानेपर तो निलम्बित सी हो जाती है. जैसे वर्षा ऋतुमें जल सर्वत्र उपलब्ध होता है, तब छतपर बरसते जलको भी एकत्रित किया जा सकता है. एतावता नदी कूप तलाव आदि सर्वथा निरुपयोगी तो नहीं बन जाते. इन्हें साम्प्रदायिक परिभाषाके अनुसार क्रमशः 'प्रमेयबल' और 'प्रमाणबल' कहा जाता है स्वतः प्राकट्य अथवा ज्ञान या भक्ति के द्वारा प्राकट्य रूप दोनों प्रकारके प्राकट्योंमें परमात्माके प्रति जीवात्माओंका स्नेह साध्य नहीं प्रत्युत सर्वदा सिद्ध ही माना गया है. परमात्माके आत्माराम और जीवात्माओंके तदंशरूप होनेके कारण निजात्मा निजदेह निजगेह आदिमें संक्रमण प्रणालीसे विषयासक्ति पर्यन्त परमात्मप्रेम ही आत्मरमणके क्षुद्रांशोंके रूपोंमें विकृत या विलसित हो रहा है, जैसा कि ''न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो विजिज्ञासितव्यो... आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितं भवति. ब्रह्म तं परादाद् यो अन्यत्र आत्मनो ब्रह्म वेद'' (बृह.उप.२।४।५-६) वचनमें सुस्पष्ट शब्दोंमें उद्घोष किया गया है.

आत्मरति पुष्टिभक्ति और निरोधलीला:

आत्मरति तो प्राणिमात्रमें सर्वत्र सर्वदा स्वतः सिद्ध ही होती है. भगवान्के स्वतः प्रकट न होनेपर भगवन्माहात्म्यके ज्ञानद्वारा ऐसी आत्मरतिका अपनी आंशिक क्षुद्रतासे उभर कर अंशी परमात्माके प्रति अभिमुख हो जाना 'मिश्रपुष्टिभक्ति' कहलाती है. वैसे ही कभी-कहीं भगवान्के स्वतः प्रकट हो जानेपर, भगवत्स्वरूप और भगवल्लीला में निरुद्ध या तन्मय हो जाना 'शुद्धपुष्टिभक्ति' या 'निरोधलीला' कहलाती है. इस तरह पुष्टिभक्तिके प्रमाणबलसे प्राकट्य और प्रमेयबलसे प्राकट्य यों दो

सम्भावित रूप हो सकते हैं. अपने प्रमेयबलसे भगवान्के स्वतः प्रकट होनेपर ऐसे स्वरूपके बारेमें पनपी स्वरूपासक्ति या लीलासक्ति के रूपोंमें भगवदभिमुख होनेवाली आत्मरति, जब माहात्म्यज्ञानसे भी मण्डित हो जाती है तो उसे 'शुद्धपुष्टिभक्ति' कहा जाता है. यह उपेयप्रयत्नात्मिका होती है, रामानुजी परिभाषाके अनुसार. स्वतो-अप्राकटचके उदाहरणोंमें वर्णाश्रमियोंको तो यावद्देहाभिमान भगवदाज्ञानुपालनार्थ एवं भगवत्प्रीत्यर्थ स्ववर्णाश्रमाचारोंके निर्वाहके साथ ही, अन्यथा वर्णाश्रमबाह्योंको उक्ताचारोंसे निरपेक्षतया भी, सत्संग गुरूपसत्ति शरणागति आत्मसमर्पण भगवत्सेवा भगवत्कथा भगवत्स्थलयात्रा आदिके उपायावलम्बनोंसे माहात्म्यज्ञान प्राप्त करके इस आत्मरतिको भगवदभिमुखीभूत बनाना पड़ता है. इसे 'मिश्रपुष्टिभक्ति' कहा जाता है. षोड़शग्रन्थान्तर्गत 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा'(श्लो.१४-१६) नामक ग्रन्थमें इस मिश्रपुष्टि भक्तिके पुनः तीन रूप गिनाये गये हैं: १.पुष्टिपुष्टिभक्ति, २.मर्यादापुष्टिभक्ति तथा ३.प्रवाहपुष्टिभक्ति. अपने चारों ही रूपोंमें पुष्टिभक्तिमें रहा स्नेहांश तो सिद्धोपाय ही होता है अर्थात् फलरूपा ही होता है. इसे प्रकट करने या भगवदभिमुख बनानेके उल्लिखित उपाय साध्यरूप हो सकते हैं, वैसे साधनाभिमान या साधननिष्ठा से बचनेके लिये इन उपायोंको भी भगवदनुग्रहरूप मानना पुनः एक भक्तिभावोपयोगी दैन्योचित अभिमत भावनात्मक उपायावलम्बन ही है. अतएव महाप्रभु कहते हैं: ''जितने भी साभिमान मार्ग हैं वे पुनरावृत्तिके हेतु बनते हैं. अतः निरभिमान मार्गको अपनाना चाहिये. ऐसा मार्ग तो भगवन्मार्ग ही हो सकता है अन्यथा... अहंकारकी निवृत्ति कभी भी सम्भव ही नहीं है. भगवान् तो सब कुछ करते ही हैं परन्तु भगवान् भी भजनके अभावमें भक्तिका दान नहीं करते. अतः भजन तो हमें अवश्य करना ही चाहिये'' (सुबो. ३।३२।२२).

इससे सिद्ध होता है कि सत्संग गुरूपसत्ति शरणागति आत्मसमर्पण भगवत्सेवा भगवत्कथा या नवधा भक्ति आदि सभी साध्योपाय ही होते हैं. प्रेमलक्षणा भक्ति अकृतक सिद्धोपायरूपा होती है. आद्यतम उपादान-कारण होनेके रूपमें भगवान् न्यूनाधिक्यतया सभी जड़-जीवोंसे जुड़े हुवे ही हैं. फिरभी, चिदानन्दांशके तिरोधानवश केवल सदशात्मना प्रकटे जड़ पदार्थोंकी तुलनामें, केवल आनन्दांशके तिरोधानवश प्रकटे चिदंश जीवोंके साथ भगवन्नैकट्य अधिक होता है. अतः भगवान्की आत्मरति या प्रियता ही जीवात्माओं में अनुगत होती है, ऐसा अर्थ ''आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति''(बृह.उप.४।५।१५) श्रुतिवचनका स्वीकारना चाहिये. क्योंकि ''यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति''(छान्दो.उप.७।२३।१) वचनके आधारपर परमात्मा ही सुखरूप होता है. प्रिय ही तो सुखरूप या सुखजनक हो सकता है. ''को ह्येवान्यात् कः

प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येव आनन्दयाति'' (तैत्ति.उप.२६) जैसे वचनोंके आधारपर यह सुख भी मूलतः तो ब्रह्मसे ही मिलता होता है (द्र.:ब्र.सू.वा.भा. १।४।१९). इस भगवन्निष्ठ जीवानुगत सहज प्रियता या प्रेम पर विषयासक्तिके आवरण-विक्षेप, यदि शांकरपरिभाषाके अनुसार बोलना हो तो, चढ़े हुवे रहते हैं. अन्यथा पुष्टिमार्गीय परिभाषामें कहना हो तो विषयासक्ति भी आत्माराम परमात्माके क्षुद्र चिदंश जीवात्माओंकी तरह ही उसी मूल आत्मरमणकी क्षुद्रांशोपमा होती है. भगवान्के स्वतः प्राकटयके समय उसका उपेयावलम्बनरूपा भगवत्स्वरूपासक्ति या भगवल्लीलासक्ति द्वारा भगवदभिमुखीकरण होता है. स्वतो-अप्राकट्यके समय इस ऐसी विषयासक्तिका उल्लिखित सत्संग गुरूपसत्ति शरणागति आदि साध्योपायोंके अवलम्बनद्वारा भगवदभिमुखीकरण होता है. षोड़शग्रन्थान्तर्गत 'भक्तिवर्धिनी' (श्लो. १-२) नामक ग्रन्थमें महाप्रभु कहते हैं कि जिस भक्तात्माके भीतर भक्तिका बीजभाव दृढ़ हो तो वह तो गृहत्याग करके भगवल्लीलाके श्रवण-कीर्तन-स्मरणद्वारा अपनी भक्तिको वृद्धिंगत कर सकता है. जिसका बीजभाव दृढ़ न हो ऐसेको अपने वर्णाश्रमधर्मके निर्वाह करते हुवे घरमें रह कर भगवत्सेवा और भगवत्कथा अर्थात् नवधा भक्तिके साध्योपायोंका अवलम्बन करके अपना बीजभाव दृढ़ करना चाहिये. तभी भक्ति सुदृढ़-सर्वतोधिक स्नेहरूपा, प्रेमलक्षणा, मानससेवारूपा, सर्वात्मभावरूपा अथवा अलौकिकसामर्थ्य रूपमें फलित हो पाती है. एतावता आत्मरमणैक-स्वभावानुपाती परमात्मासक्तिको कथमपि साध्योपाय या कृतकोपाय माना नहीं जा सकता है. आत्मरति आत्माद्वैतस्वभावानुपाती होती है; परन्तु, भगवच्छक्तिरूपा पुष्टि तथा उस पुष्टिसे आविर्भूत होती भगवत्स्वरूपासक्ति, भगवल्लीलासक्ति या भगवद्भक्ति तो लीलार्थप्रकट ऐच्छिकद्वैतसामर्थ्यानुपाती या भगवान्के द्वारा निज-निर्हेतुक भक्त्यर्थ किये गये वरणरूप बीजभावके अनुरूप भगवत्सामर्थ्यानुपाती ही होती है. परमात्मासे जीवात्माकी दिशामें निर्हेतुक निजभक्तिप्रकटनार्थ व्यापारित होती आत्मरति 'पुष्टि' कहलाती है. जिस जीवात्माका पुष्टिमार्गार्थ परमात्माने वरण किया हो उसके भीतर नित्य विद्यमान आत्मरति ऐसे पुष्टिव्यापारके कारण जब परमात्माकी दिशामें व्यापारित होने लगे तो उसे 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है.

विषयोपभोगार्थ अपेक्षित चैतन्य या कर्तृत्व अथवा विषयत्यागार्थ अपेक्षित चैतन्य या कर्तृत्व अलग-अलग अपेक्षित नहीं होते. एक ही चैतन्य या एक ही कर्तृत्व के द्वारा परस्पर अत्यन्त विरुद्ध दो कार्योंमें से जिसे भी निभाना हो निभाया जा सकता है. इसी तरह धर्म या अधर्म के अनुष्ठानार्थ दो अलग-अलग शरीर अपेक्षित नहीं होते-एक ही शरीरसे अन्यतरका अनुष्ठान शक्य होता ही है. तरह विषय या भगवान्के बारेमें आसक्ति

भी दो अलग-अलग अपेक्षित नहीं होती. इस तथ्यको भलीभांति हृद्गत कर लेनेपर जो धर्म अर्थ काम या मोक्ष रूपी पुरुषार्थचतुष्टयीके सन्तुलनकी साधनासे असंस्कृत विषयासक्ति जीवात्माओंके भीतर रहती हैं, वे ही आत्मोद्धारके शास्त्रविहित विभिन्न साधनाओं (कर्मयोग ज्ञानयोग भक्तियोग सांख्य अष्टांगयोग दान व्रत तप स्वाधाय आदि) की मर्यादाओंकी ओर अभिमुख हो जानेपर साधकको मर्यादामार्गी बना देती हैं. इसी तरह जो विषयासक्ति इस तरहके शास्त्रीय संस्कारोंसे सुसंस्कृत नहीं हो पाती, वह तो सांसारिक विषयासक्ति ही केवल रह जाती है. एतावता वह आत्माराम परब्रह्म परमात्माके आत्मरमणका अंश ही न हो ऐसा तो कह पाना शक्य नहीं है.

प्रसंगोपात्त यहां यह स्पष्टीकरण भी जान लेना उचित ही होगा कि भगवान्की अविद्याशक्तिके कारण जीवात्माको देहेन्द्रियादिके पञ्चविध अध्यास घटित हो जाते हैं. फिर भी भगवदासक्तिके साथ इन अध्यासोंका आत्यन्तिक विरोध नहीं होता है. ये ही अध्यास भी कथञ्चिद् भगवद्भक्ति में साधक भी हों पाते हैं. अविद्याशक्तिकी जैसी ही, परन्तु, दूसरी व्यामोहिका माया शक्तिके प्रभावमें ये अध्यास विषयासक्तिकी अवस्थासे आगे बढ़ कर विषयव्यामोहका रूप ले लेते हैं. यह विषयव्यामोह भगवत्स्वरूपासक्ति या भगवद्भक्ति दोनों ही में प्रतिबन्धक ही होता है. भगवान्की विद्याशक्ति (द्र.: त.दी.नि.१।३१-३५ तथा ४५-४६) के पांच पर्वोंके रूपमें गिनाये गये साध्योपाय वैराग्य सांख्य योग तप और भक्ति(=मर्यादाभक्ति)के द्वारा मूल आत्मरति शास्त्रोंकी वाचनिकी मर्यादाओंके प्रति केवल अभिमुख होनेपर शास्त्रप्रशस्त स्वर्गापवर्गादि इष्टफलोंको पानेका अधिकारी जीवात्माको बना पाती है. इसे भी आत्मरतिका अपने मूलरूपमें अवस्थान तो माना नहीं जा सकता है. वह तो अपनी पुष्टिशक्तिका प्रयोग करके, किसी जीवात्माको अंशात्मना नित्योपलब्ध, आत्मरतिको जब भगवान् निजस्वरूपाभिमुख बनायें तभी शक्य होता है. अतएव तभी इसे 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है. अब यहां यह दोहराना आवश्यक नहीं कि कैसे स्वतः प्राकटयके उदाहरणों में यह उपेयप्रयत्नात्मिका स्वरूपासक्ति एवं लीलासक्ति द्वारा सिद्ध होता है; और कैसे यह स्वतो-अप्राकट्यके उदाहरणोंमें उपेतृप्रयत्नात्मिका सत्संगति गुरूपसत्ति भगवच्छरणागति आत्मसमर्पण भगवत्सेवा भगवत्कथा आदिकी प्रणालीद्वारा सिद्ध होता है.

जो वर्णाश्रमी हों उन्हें वर्णाश्रमधर्म भी देहाभिमानके रहते निभाना आवश्यक होता है. देहाभिमान निवृत्त होनेपर भक्तिभावके आवेशमें वर्णाश्रमनिर्वाह न हो पाना दोषावह नहीं होता. साथ ही साथ यह कभी भूलना नहीं चाहिये कि जो अवर्णाश्रमी हों उन्हें भी भक्तिमार्गमें भजनका तो उतना ही अधिकार है जितना कि किसी वर्णाश्रमीका

एतावता पुष्टिभक्तोंको वर्णाश्रमधर्म कर्तव्यतया अपेक्षित होता है या नहीं, ऐसी जिज्ञासाका समाधान यही है कि अपेक्षित भी हो सकता है और अनपेक्षित भी. क्योंकि कुलपरम्परासे जो वर्णाश्रमी हो उसे जब तक देहाभिमान हो तब तक अपेक्षित होता है. भक्तिके भावावेशमें देहाभिमानके शिथिल होनेपर अथवा देश-कालके विपरीत हो जानेके कारण जिस वर्णाश्रमाचारका अनुष्ठान शक्य ही न रह गया हो तो वर्णाश्रमोचित कर्तव्यके न निभनेपर भी पुष्टिभक्तिके अधिकार या सिद्धि में कोई बाधा नहीं आ पड़ती. जो कुलपरम्परया वर्णाश्रमी न हो उसे पुष्टिभक्तिके अधिकार या सिद्धि केलिये वर्णाश्रमाचारोंको निभानेके मिथ्या दम्भका तो कोई प्रसंग ही नहीं है. अतएव भक्तिभावपूर्वक भजनके अधिकारको वर्णाश्रमधर्मके भी अनुष्ठान करनेके अधिकारके अर्थमें लेना अनावश्यक है. कर्तव्यतया प्राप्त वर्णाश्रमधर्मोंका अज्ञान प्रमाद या मोह के वश उल्लंघन जैसे दोषरूप होता है, वैसे ही कर्तव्यतया अप्राप्त वर्णाश्रमधर्मोंका पाषण्डपूर्ण अनुवर्तन भी दोषरूप ही होता है.

यह पुष्टिमार्गीय विवेक आज भूला दिया गया होनेसे पुष्टिमार्गमें वर्णाश्रम धर्मकी आवश्यकता है कि नहीं इस बारेमें ब्रह्म जितना ही व्यापक भ्रम चारों ओर दिखलायी देता है!

क्या रागानुगा भक्तिका ही दूसरा नाम 'पुष्टिभक्ति' है?

भक्तिरसकी अमृतोपम दिव्य विवेचनाकेलिये प्रकट सिन्धुराज जैसे 'भक्तिरसामृतसिन्धु' नामक ग्रन्थमें महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणके मित्र श्रील रूप गोस्वामीने पुष्टिमार्ग तथा मर्यादामार्ग के बारेमें कुछ विधान किये हैं. इनका थोड़ा-बहोत विमर्श कर लेना यहां उपकारक होगा. इस ग्रन्थपर 'दुर्गमसंगमनी' नामिका व्याख्या भी इन्हींके भतीजे श्रील जीव गोस्वामीकी उपलब्ध होती है. श्रील रूप गोस्वामीने रागानुगभक्ति और पुष्टिभक्ति, इसी तरह, वैधभक्ति और मर्यादभक्ति को एकरूप माना है. अतएव बहोत सारे आधुनिक लेखकोंकी धारणा भी ऐसी ही बंध गयी दिखलायी देती है. वस्तुतः दोनोंमें पर्याप्त अन्तर है. इसे, किन्तु, समझनेसे पूर्व भक्तिरसामृत-सिन्धुकारकी विवेचनाके मूलमें रही तत्त्वदृष्टि तथा भक्तिके स्वरूप लक्षण एवं प्रकारों को सरसरी निगाहोंसे देखे बिना तारतम्यबोधकी कठिनाई दूर नहीं हो पायेगी.

अतः श्रीचैतन्यमताभिप्रेत भक्तिके स्वरूपको भलीभांति समझना हो तो एतदर्थ अतीव उपकारक ऐसे श्रीचैतन्यचरितामृत-मध्यपरिच्छेदान्तर्गत 'श्रीसनातन शिक्षा' नामक प्रकरणके आधारपर अचिन्त्यभेदाभेदवादमें मान्य तत्त्वतालिका कुछ यों समझमें आती है:

सच्चिदानन्दश्रीकृष्ण

अंश अंशी

बहिरंगशक्ति जीवरूपतटस्थशक्ति अन्तरंगशक्ति

महदाद्युपादानभूतगुणमाया
जीवनिष्ठमाया

आवरणरूपा विक्षेपरूपा

सदंशीयसन्धिनी शक्ति चिदंशीयसंविच्छक्ति आनन्दांशीयह्लादिनी शक्ति

स्वसत्तारूपा परसत्ताप्रदरूपा ज्ञानरूपा ज्ञानप्रदरूपा
(ब्रह्मज्ञान)

सुखरूपा सुखप्रदरूप (कृष्णभक्ति)

इन विभिन्न प्रकारकी शक्तियों तथा शक्तिमान के बीच, अंशांशिभावरूप अचिन्त्यभेदाभेद मान्य किया गया है.

यह अचिन्त्यभेदाभेद क्या है?

क्या 'चिन्तामणि-तल्लब्धवस्तु' न्यायेन उपादानतया सर्वथा कार्यान्वित होनेसे स्व- अनाश्रित, स्व-अचिन्त्यशक्तिसे उत्पादित होनेसे प्रागभावप्रतियोगी; तथा देश-काल- स्वरूप भेदसहिष्णु, जगत्को उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मका स्वकार्यभूत जगत्से भेद होता है या अभेद इसमें से किसी भी एक कल्पका निरुक्तियोग्य न होना ही अचिन्त्यभेदाभेद है?

या 'सागर-तदन्तर्वर्तिजलबिन्दु' न्यायेन अंश्युपादानतया तथा अंशान्विततया अंश्यैक्यरूप ब्रह्माभेदमें देश-काल-स्वरूप-भेदासहिष्णु अंशतारूप भेद होना अचिन्त्यभेदाभेद है?

या 'सागर-तद्बहिर्भूतजलबिन्दु'न्यायेन देशकालभेदसहिष्णु होनेपर भी स्वरूपैक्यरूप अभेदमेंसे प्रकट हुवे अंशोंका नाना होना

अचिन्त्यभेदाभेद है?

या 'सागर-जलचर' न्यायेन स्वरूपतः अत्यन्त भिन्न दो धर्मिओंका देश-कालभेदासहिष्णु तदायत्त-उत्पत्तिस्थितिलयरूप आश्रयाश्रितभावैक्यरूप विशिष्टाभेद होना अचिन्त्यभेदाभेद है?

या प्रकाश-तदाश्रय'न्यायेन देशकालभेदसहिष्णु धर्मधर्मि-भावभेदसहिष्णु तथा धर्मैक्यरूप स्वाभाविकभेदाभेद अचिन्त्य-भेदाभेद है?

अथवा तो 'सुवर्ण-कुण्डल' न्यायेन अवस्थाभेदसहिष्णु स्वाभाविकस्वरूपैक्यरूप अभेद तथा ऐच्छिक नानात्वरूप भेद होना अचिन्त्यभेदाभेद है?

इसी तरह यह 'अचिन्त्यता' क्या चिन्तनार्हताका अभाव है, या चिन्तनविरुद्धताका स्वभाव है, या अंशतः चिन्तनार्ह होनेपर भी पूर्णतया चिन्तनार्ह न हो पाना है?

'अचिन्त्यभेदाभेद' घटक भेद और अभेद के बीच अन्यतरकी या उभयकी अचिन्तनीयता विवक्षित है? 'अचिन्त्यभेद' में 'भेद' का अर्थ आत्यन्तिक भेद है, या स्वाभाविक भेद है, या औपाधिक भेद है, या द्वित्वसंख्याप्रकारक ज्ञानविषयता केवल है; अथवा अन्य ही कुछ? इसी तरह 'अचिन्त्याभेद'में 'अभेद'का अर्थ भेदतुच्छत्व साधक आत्यन्तिक अभाव है, या भेदात्यन्ताभाव है, या भेदका तादात्म्याभाव है, या भेदविरुद्धता है; अथवा अन्य ही कुछ?

यहां इस धारणाकी क्या व्युत्पत्ति स्वीकारी गयी है? क्या चिन्त्य भेदाभेदका अभाव अर्थात् ''चिन्त्ययोः भेदाभेदयोः अभावो=अचिन्त्यभेदाभेदः''? अथवा अचिन्त्य परमेश्वरका अपने अंशों और शक्तियों के साथ भेद भी है और अभेद भी है, अर्थात् ''अचिन्त्ये भगवति भेदाभेदयोः सामानाधिकरण्यम्'' अथवा तो अचिन्त्य भेदाभेदका समुच्चय अर्थात् ''अचिन्त्ययोः भेदाभेदयोः समुच्चयः'' है?

कुल मिला कर प्राचीन भेदाभेदवादका जो सिद्धान्त श्रीभास्कराचार्य श्रीनिम्बार्काचार्य एवं श्रीपतिभगवत्पादाचार्य को मान्य था वही श्रीचैतन्य महाप्रभुका भी मत है या अन्य कुछ?

इन प्रश्नोंके निश्चित समाधान मुझे ज्ञात नहीं हैं सो इस विषयमें इदमित्थतया कुछ भी कह पानेमें मैं असमर्थ हूं.

श्रील जीव गोस्वामिरचित 'तत्त्वसन्दर्भ' नामक ग्रन्थकी दो व्याख्यायें इस विषय में एक-दूसरे से कुछ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणोंका अवलम्बन करती सी प्रतीत

होती हैं. 'राधामोहनी' व्याख्याका कहना है कि ''भास्करीय द्वैताद्वैतमत, जिसमें जगत्को ब्रह्मकी स्वरूपशक्तिका परिणाम माना गया है, वही अपना भी मत है''. मूलकार श्रील जीव गोस्वामी भी ऐसा ही कुछ कहते से प्रतीत होते हैं कि ''दुर्घटघटनापटीयसी ऐसी अपनी स्वाभाविक अचिन्त्यशक्तिके कारण, सूर्य और सूर्यरश्मिओंके परमाणु जैसे स्वभावतः एक-दूसरेसे भिन्न भी होते हैं और अभिन्न भी इसी तरह, जीवात्मा और परमात्मा भी हैं. दोनोंके ही चिद्रूप होनेसे श्रुतियोंमें मिलते अभेदनिरूपणका भी दोनोंमें रहे भेदसे कोई विरोध नहीं है''(षट्.सन्द.तत्त्व. वस्तुतत्त्वनिर्णय) इस प्रतिपादनके अवलोकन करनेपर 'प्रकाश- तदाश्रय' न्यायके अंगीकारका आभास होता है. इस प्रकरणमें, किन्तु, 'वैद्याभूषणी' व्याख्यामें-''जीव और ब्रह्म के बीच व्यक्तिभेद रहनेपर भी चिद्रूपतया दोनों समानजातिके हैं इस रूपमें दोनोंका केवल जात्यैक्य ही कहा जा रहा है'' ऐसे स्पष्टीकरणको देखनेपर लगता है कि दोनोंमें स्वरूपैक्य मान्य न होनेसे 'सागर-तदन्तर्वर्तिजलचर' न्यायेन विशिष्टाभेदके सिद्धान्तको ही नामान्तरसे 'अचिन्त्यभेदाभेद' कहा जा रहा है! साथ ही साथ मूल तत्त्वसन्दर्भकारका यह विधान कि ''सूर्य जैसे अपनी रश्मियोंका परमस्वरूप होता है ऐसे ही भगवान् भी सभी जीवात्माओंके परमस्वरूप होनेके कारण सभीके परमप्रेमयोग्य हैं'' तो ऐसा प्रतीत होता है कि विभु-अंशी तथा अणु-अंशों के बीच उल्लिखित 'सागर-तदन्तर्वर्तिजलबिन्दु' न्यायेन जीवात्मा और परमात्मा के बीच कदाचित् स्वाभाविक भेदाभेदका सिद्धान्त मान्य होना चाहिये. इसके विपरीत, परन्तु, पुनः 'सिद्धान्तरत्न' नामक ग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञा टिप्पणी में ब्रह्मसूत्रभाष्यकार श्रीबलदेवविद्याभूषणका कहना है कि ''अपनी कल्पनाओंकी निर्मूलताको ढंकनेकेलिये श्रुतिके भेद और अभेद के प्रतिपादक वचनोंकी संगति बैठाना चाहनेवाले भट्टभास्करादि; और, अपनी कल्पनाओंकी निर्मूलताको छिपानेकेलिये अपने-आपको 'विष्णुस्वामीके मतका अनुयायी' कहने-माननेवाले दोनों ही मन्दमति हैं. अतः श्रुतिवचनोंके अर्थोंका अवगाहन करनेमें दोनों ही सक्षम नहीं हैं''. (सि.र.टि.८।२७-२८).

अखण्डैकरस सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मका स्वाभाविकाद्वैत तथा उसके सर्वभवनसामर्थ्य तथा सत्यसंकल्प वश प्रकट हुवे नाम-रूप-कर्मोंके द्वैत स्वीकारने वाले महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणका जहां तक प्रश्न है तो उन्होंने तो श्रीविष्णुस्वामि सम्प्रदायमें कुलपरम्परागत श्रीगोपालमन्त्रकी दीक्षामें दीक्षित होनेके कारण अपने आपका उस सम्प्रदायका अनुयायी होना स्वीकारा है. जैसे गायत्रीमन्त्रदीक्षाके कारण कोई अपने आपका द्विज होना अमान्य किये बिना ही रामानुज, माध्व या गौड़ माध्व होना भी स्वीकारता हो तद्वत्. एतावता उसे अपनी निर्मूलताके आच्छादानार्थ ऐसा

विधान करनेका दोषभागी क्या माना जा सकता है? इसी तरह अपनी श्रीविष्णुस्वामि-सम्प्रदायानुगामिताको अमान्य किये बिना अपना अतिरिक्त भी कुछ मत किन्हीं अंशोंमें श्रीविष्णुस्वामीसे पृथक् भी है, ऐसा तृतीयस्कन्धकी सुबोधिनीमें स्पष्ट शब्दोंमें महाप्रभुने दरसाया ही है. एतावता उनके मतको कल्पित कह देना अतीव विस्मयजनक विधान लगता है. जैसे श्रीकृष्णदास कविराजके अनुसार:

> प्रभु हासि कहे– ''स्वामी ना माने येई जान, वेश्यार भीतरे तारे करिये गणन... श्रीधरस्वामी निन्दि निजटीका कर, श्रीधरस्वामी नाहि मान-एत गर्व धर. श्रीधरप्रसादे भागवत आमि जानि, श्रीधरस्वामी आमि जगद्गुरु करि मानी. श्रीधरउपरे जे किछु लिखिवे, अर्थव्यस्त लिखन सेइ लोके ना मानिवे''
>
> (चैत.चरि.: अ.ली. ७।११७ तथा १३१-१३४).

इस तरहके सुस्पष्ट आदेशके बावजूद तथा जिस मायावादके बारेमें श्रीचैतन्य महाप्रभुका स्पष्टतम अभिप्राय यही था कि ''जीवेर निस्तार लागि सूत्र कैल व्यास, मायावादिभाष्य शुनिले हय सर्वनाश'' (चैत.चरि.: म.ली.६।१६९), फिरभी उसी मायावादका आरोप श्रीधरस्वामीके लेखनपर लगाते हुवे श्रीचैतन्य महाप्रभुके कठोर प्रतिबन्ध- ''श्रीधरउपरे जे किछु लिखिवे अर्थव्यस्त लिखन'' की भी उपेक्षा करके स्वतन्त्र व्याख्यान भी करनेकी छूट तत्त्वसन्दर्भकार लेना चाहते हैं कि ''तद्(माया) वादेन(द्र.वै.भू.''तथापि क्वचित्क्वचिन्मायावादोल्लेखः'') कर्बुरितलिपीनां... श्रीधरस्वामिचरणानां शुद्धवैष्णवसिद्धान्तानुगता चेत् तर्हि यथावदेव लिख्यते'' (तत्त्वसन्द.भागवतस्य श्रैष्ठयम्). तो ऐसी स्थितिमें श्रील जीव गोस्वामीकी व्याख्या क्या कल्पित मत बन जाती है? यदि नहीं तो इसी तरह श्रीविष्णुस्वामीके कुलपरम्परागत साम्प्रदायिकी मर्यादाका त्याग किये बिना श्रुति-सूत्र-गीता-भागवतादिके स्वारस्यके अनुरोधवश शुद्धाद्वैतवादमूलक अर्थात् साकारब्रह्माद्वैतवादमूलक स्वतन्त्र पुष्टिभक्तिमार्गका प्रवर्तन महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने भी किया. क्योंकि श्रुतिमें स्पष्टतया अनेकत्र ''तस्माद् एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः'', ''सोऽकामयत- बहु स्यां प्रजायेय इति, तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत''(तैत्ति.उप.२।१।६-७) ऐसे प्रतिपादनोंके उपलब्ध होनेसे इस सृष्टिको आत्मस्वरूपके परिणामतया वाल्लभ मत स्वीकारता हैं. अन्यथा 'आत्म' पदको लक्षणा वृत्तिसे आत्मशक्ति या आत्मसजातीय चिदचिदंश का वाचक मानना पड़ेगा. श्रुतिव्याख्यानकी ऐसी पद्धति तो स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभुने भी उचित तो नहीं मानी है– ''मुख्यार्थ छाड़िया कर गौणार्थकल्पना, अभिधावृत्ति छाड़ि कर शब्देर लक्षणा प्रमाणेर मध्ये श्रुतिप्रमाण प्रधान, श्रुति ये मुख्यार्थ कहे सेइ से प्रमाण''

(चैत.चरि.: म.ली.६।१३४-१३५). अतः यदि श्रीधराभिप्रेत अर्थके त्यागपूर्वक अन्य अर्थ करना 'अर्थव्यस्त' लेखन न बन जाता हो तो श्रीविष्णुस्वामीको अभिप्रेत भक्तिके प्रकारको अमान्य किये बिना अन्य भी कोई अतिरिक्त अर्थ प्रमाणचतुष्टयीके अनुरोध वश स्वीकारनेमात्रसे वाल्लभ मतपर अप्रामाणिक कल्पना होनेका दोष कैसे मढ़ा जा सकता है? भाष्यकारका यह अधिकार तो सर्वमान्य ही रहा है कि मूलवचनके अर्थोंका निरूपण करते हुवे तदनुसारी अपनी बात भी वह कह ही सकता है. अतः जब तक श्रुति गीता सूत्र या भागवत के महाप्रभुद्वारा किये जाते अर्थ मूलवचनानुसारी नहीं है, यह सिद्ध नहीं हो पाता तब तक ऐसे सारे दोषारोपण निरी बौखलाहट ही लगते हैं. कुलपरम्परागत मन्त्रदीक्षामूलक भक्तिसम्प्रदायमें पहले वह अर्थ किया नहीं गया था, इतनी सी क्षुद्र बातके आधारपर किसी मतपर कल्पित मत होनेका आरोप स्वयं मीमांसापरम्परासे अपने अपरिचयका ही द्योतन है. अस्तु.

प्रकृत विषयके अनुसरणार्थ, जड़-जीवात्मक जगत् के साथ ब्रह्मका जो भेदाभेद है, उसमें दोनों ही स्वाभाविक हैं; या अभेद स्वाभाविक है परन्तु भेद सत्यसंकल्प परमेश्वरके द्वारा लीलार्थ प्रकट कृत्रिम? अथवा ब्रह्मकी उल्लिखित अनेक स्वरूपशक्तियोंका परिणामभूत होनेपर भी जगत् स्वयं शक्तिमान् ब्रह्मके स्वरूपका परिणाम नहीं हो सकता है. ऐसी विरुद्धधर्माश्रयता यहां अभिप्रेत हो तो; अथवा, सृष्ट्युपादानभूत शक्तियोंको स्वरूपात्मिका शक्ति होनेके अर्थमें नहीं परन्तु स्वरूपभिन्ना होनेपर भी केवल स्वरूपाश्रिता शक्तियां होनेके कारण 'स्वरूपशक्ति' कहा जा रहा हो, तो तटस्थजीवशक्ति भी स्वरूपाश्रिता है कि नहीं?

इसका श्रीचैतन्यमताभिप्रेत विवेचनसौक्ष्म्य अवगत न होनेसे अधिक विस्तारमें न जाना ही मेरेलिये श्रेयस्कर होगा. इस तात्त्विक सन्दर्भका 'स्थालिपुलाक' न्यायेन परिचय पा लेनेके बाद अब 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थका अवगाहन सुखेन हो पायेगा.

मूलकार भक्तिके तीन मौलिक भेद- [१]साधनरूपा, [२]भावरूपा तथा [३]प्रेमरूपा दिखलाते हैं; परन्तु, व्याख्याकारके अनुसार मूलतः दो भेद होते हैं: १.साधनरूपा और २.साध्यरूपा. इनके अन्तर्गत, मूलकार तथा व्याख्याकार दोनोंके अनुसार, साधनरूपा भक्तिके पुनः दो उपभेद होते हैं- [१/क]वैधी और [१/ख]रागानुगा. इनमें रागानुगा भक्तिके मूलकारने दो प्रभेद और दिखलाये हैं-[१/ख/अ]कामानुगा और [१/ख/आ]सम्बन्धानुगा. इसी तरह भावरूपा भक्तिके, मूलकारके अनुसार, दो उपभेद होते हैं- [२/क]वैधभावरूपा तथा [२/ख]रागानुगभावरूपा. इसी तरह प्रेमरूपा भक्तिके भी मूलकारके अनुसार दो उपभेद होते हैं- [३/क]भावोत्था और [३/ख]अतिप्रसादोत्था. इनमें भावोत्थाके पुनः दो प्रभेद यों दिखलाये

हैं– ३/क/अवैधभावोत्था और ३/क/आरागानुगभावोत्था. अतिप्रसादोत्था भक्तिके भी पुनः दो प्रभेद यों हैं– ३/ख/अमाहात्म्यज्ञानसहिता ३/ख/आकेवला. व्याख्याकारके अनुसार साध्यरूपा भक्तिके आठ उपभेद गिनाये गये हैं– २/१भाव, २/२प्रेम, २/३प्रणय, २/४स्नेह, २/५राग, २/६मान, २/७अनुराग तथा २/८महाभाव (तुलनीय: साधनभक्ति हैते हय रतिर उदय, तथा रति गाढ़ हैले तार 'प्रेम' नाम कय प्रेम वृद्धिक्रमे नाम–स्नेह मान प्रणय, राग अनुराग भाव महाभाव हय. श्रीरूपशिक्षा: १५१–१५२). श्रील जीव गोस्वामीका कहना है कि मूलकारके द्वारा साध्यभक्तिके द्विविध मात्र होनेका उल्लेख उपलक्षणार्थ है.

वैसे व्याख्याकारद्वारा प्रस्तावित वर्गीकरण वस्तुतः उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रगाढ़भावापन्न होती एक ही भक्तिकी विभिन्न अवस्थाओंके भेद हैं या भक्तिस्वरूपके प्रकारोंके भेद हैं? इस विषयमें इदमित्थतया कुछ भी कह पाना मेरे सामर्थ्यके बाहरकी बात है. अस्तु, इस मीमांसामें उलझे बिना मूलकारके निरूपणका अनुसरण करते हुवे यहां यह उल्लेखनीय है कि श्रील रूप गोस्वामीकी धारणा है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके द्वारा प्रतिपादित मर्यादाभक्ति और पुष्टिभक्ति क्रमशः १/कवैधी और १/खरागानुगा वाले उपभेदों जैसे ही भेद हैं. जैसा कि वे कहते हैं– ''शास्त्रमें उपदिष्ट तत्तत् प्रबल मर्यादाओंसे जुड़ी इसी वैधी भक्तिको कोई 'मर्यादामार्ग' कहते हैं'' (भ.र.सि.१।२।५९) ''कृष्ण और उनके भक्तों की केवल करुणाके कारण मिलनेवाली इस रागानुगा भक्तिको कोई 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं''(वहीं.१।२।८९–९०).

वैसे हकीकतमें भक्तिके इन वैधी और रागानुगा प्रकारोंको महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा प्रतिपादित मर्यादाभक्ति और पुष्टिभक्ति के स्वरूप या स्वभाव के साथ जोड़ा नहीं जा सकता है. क्योंकि भक्तिरसामृतसिन्धुकारके अनुसार जो प्रवृत्ति भगवद्रागमूलिका न हो कर केवल शास्त्राज्ञामूलिका हो उसे 'वैधभक्ति' कहा जाता है; और, व्रजवासी गोपिका आदि जनोंमें जो भगवान् के प्रति सहज रागात्मक परम आकर्षणके रूपमें जो वृत्ति प्रकट थी, तद्नुसारिणी अर्थात् उनके रागोंसे प्रेरणा ले कर प्रकट होनेवाली भक्ति ' रागानुगा' कही जाती है (द्र.: भ.र.सि.१।२।३–४ तथा १।२।६०–६२).

वाल्लभ दृष्टिकोणको यहां समझना हो तो सर्वप्रथम षोड़शग्रन्थान्तर्गत 'संन्यासनिर्णय' नामक ग्रन्थमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणने जैसा निरूपण किया है वह अनुसन्धेय बन जाता है:

(निजगृहमें भगवत्सेवा निभ न पाती हो और बीजभाव दृढ़
होनेके कारण भगवद्विरहानुभूतिकी तीव्रतामें खलल भी पड़ती हो

तो) भगवान्की विरहानुभूतिकेलिये गृहपरित्याग प्रशंसनीय हो जाता है. इस तरह लिये गये संन्यासका हेतु भगवद्विरहानुभूतिके अलावा और तो कुछ होता ही नहीं है. सो परिवारके लोगोंका अपने बारेमें मोहभंग हो जाये केवल एतदर्थ ही संन्यासिओंका सा वेश धारण कर लेना उचित होता है. अतः इस विषयमें कौण्डिन्य ऋषिको या व्रजकी गोपिकाओंको अपना गुरु मानते हुवे, भगवद् आसक्तिकी जैसी सहजतासे उन्होंने गृहत्याग कर दिया था, वैसे ही उनके भावोंकी भावना करते हुवे गृहत्याग कर देना चाहिये. वैसा भाव स्वयं उनके ही भावकी भावना करनेसे सिद्ध हो सकता है (षोड़. सं. नि.६-७).

इस वचनके अनुसार इतना तो स्पष्ट है कि अभिलषित पुष्टिभक्तिके भावोंके बारेमें कौण्डिन्य ऋषि तथा व्रजकी गोपिकाओं के भावोंको प्रेरक आदर्श ही केवल नहीं प्रत्युत गृहत्यागके समय उन्हें गुरु मान कर उनके भावोंको ही भावनीय भी माननेका यहां उपदेश है. वैसे यहां प्रतिपादनमें मुख्य मुद्दा तो यही है कि जिनसे निजगेहमें भगवत्सेवा-कथा निभ न पाती हो उन्हें ही; और भक्तिका बीजभाव यदि दृढ़ हो गया हो तभी, भगवत्सेवामें प्रतिबन्धकीभूत घरका त्याग संन्यासग्रहणके व्याजसे कर देना चाहिये. यह शुष्क त्यागसाधना या शुष्क वैराग्यपोषण केलिये नहीं है और न यह संन्यासाश्रमधर्मके निर्वाहार्थ ही है. यह भक्तिरसात्मक संन्यासकी अनुज्ञा तो भगवद्विरहानुभूति में प्रतिबन्धकीभूत घरसे छुटकारा पानेकेलिये ही केवल है! अतः यह बात पुष्टिभक्तिके सकल प्रकारोंके बारेमें नहीं कही गयी है, जैसाकि असन्दर्भोपात्त उद्धरणोंसे बहुधा तात्पर्यभ्रम हो जाता है. अन्यथा व्रजगोपिकाओं की तरह कौण्डिन्य ऋषिको भी पुष्टिमार्गमें गुरु क्यों नहीं माना जाता? उनका नाम तो गोपिकाओंसे भी पहले लिया गया है. फिरभी पुष्टिमार्गीय जीवात्माको निजगेहमें सेव्य भावात्मक भगवत्स्वरूपकी भावनाका प्रकार समझाते हुवे महाप्रभुने यह स्पष्ट किया ही है कि ''हमारेलिये सर्वभावसे सर्वदा व्रजाधिप ही भजनीय होता है... अतः गोकुलेश्वरका सर्वात्मना भजन-स्मरण कभी भी छोड़ना नहीं चाहिये''(षोड़.चतु.१-४). इस भगवत्स्वरूपकी भावात्मिका सेवा करते समय करणीय भावनाका प्रकार भी पुनः ऐसा ही समझाया गया है-''गोचारणको जब भगवान् वनमें पधारते थे तब जैसा दुःख श्रीनन्द-यशोदाजी एवं गोपिकाओं को गोकुलमें होता था, वैसा दुःख भगवत्सेवाके अनवसर में मुझे भी कभी होगा क्या! गोचारण करके सांझको भगवान्के पुनः गोकुलमें लोट कर आनेपर जैसा सुख गोपिकाओंको और सारे ब्रजवासिओंको होता था वैसा सुख सेवा करते समय

भगवान् मुझे भी कभी प्रदान करेंगे क्या!''(षोड़.निरो.१-२). इसी तरह जिससे भगवत्सेवा स्वगृहमें निभ न पाती हो, उसे भगवद्विप्रयोगकी भावना हृदयमें रखते हुवे भगवत्कथाके श्रवण कीर्तन स्मरण करने चाहिये सो उसका प्रकार भी महाप्रभुने यों ही समझाया है– ''भगवत्सन्देश लेकर उद्धवजीके व्रजमें आनेपर जैसा महान् उत्सव वृन्दावनमें और गोकुलमें हो गया था, वैसा भगवत्कथाके श्रवण कीर्तन या चिन्तन के समय मेरे मनमें कब होगा!''(वहीं.३). अतः तद्भावो भावनया सिद्धो अन्यत् साधनं न इष्यते उपदेशसे इस उपदेशका भी अन्वित होना ऊह्य ही है. अतः इन उपदेशोंके द्वारा जो बात पुरः स्फूर्तिकतया सामने आती है, वह यही कि व्रजभक्तोंके भगवद्रागपूर्ण भावोंकी भावनाके द्वारा पुष्टिभक्तिमार्गीय सेवा-कथाके अनुष्ठानमें भक्तिका रागानुगात्व भी स्वीकारा तो जा सकता है. यह, परन्तु, जैसा कि हम देख ही चुकें हैं एक साध्योपायतया दिया गया ऐसा निर्देश है कि जिससे सिद्धोपायरूपा पुष्टिभक्ति हमारे भी भीतर कथञ्चित् दशमोक्त निरोधका रूप धारण कर पाये. शुद्धपुष्टिभक्ति, भगवान् की आत्मरतिरूपा होनेके कारण, स्वतःप्राकट्यके उदाहरणोंमें प्रारम्भ भगवत्स्वरूपा-सक्तिरूपा या भगवल्लीलासक्ति-रूपा होनेपर भी अन्तमें उपेयप्रयत्नोंके द्वारा भगवद्भक्तिके या प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिके रूपमें भी फलित हो ही जाती है. ऐसे ही स्वतो-अप्राकट्यके उदाहरणोंमें परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी वह आत्मरति पूर्वोल्लिखित १.सत्संग २.स्ववर्णाश्रमधर्मानुरूपा ३.गृहस्थिति (अथवा उपलक्षणविधया तदितरोंकी अन्यथा भी मानवीय सामान्यधर्मानुरूपा गृहस्थिति) ४.गुरूपसत्ति ५.शरणागति ६.आत्मनिवेदन ७.ब्रजभक्तोंके भावोंकी भावनाके साथ की जाती भगवत्सेवा कथा (अथवा केवल भगवत्कथा भी) आदि अनेकविध उपेतृप्रयत्नोंके द्वारा सिद्ध, प्रकट या फलित हो पाती है. इस पुष्टिभक्तिके प्रकार में शास्त्रोपदिष्टतया अवश्यानुष्ठेय वर्णाश्रमधर्म पूर्वकाण्डोक्त कर्म उत्तरकाण्डोक्त ज्ञान या स्मृति-पुराण-तन्त्रोक्त नवविधभक्तिसदृश अनेक अंगोंकी भी कुछ न कुछ उपयोगिता मान्य तो की ही गयी है. जैसे केवल देह-गेहासक्तिमें फंसी हुयी मूल आत्मरति 'सांसारिक-रति' कहला जाती है, वैसे ही शास्त्रोपदिष्टतया अनुष्ठेय कर्तव्योंमें उलझी हुयी रतिको ही 'मर्यादाभक्ति' कहा जा सकता है. वही मर्यादामार्गीय कर्म ज्ञान या नवधा भक्ति, परन्तु, पुष्टिभक्तिका अंग बन जानेपर मर्यादामार्गीय न रह कर 'पुष्टिभक्ति' ही कहे-माने जाते हैं. जैसे हमारे सांसारिक अहन्ता-ममतात्मक देह-गेहादि भी भगवत्समर्पणकी प्रक्रियाद्वारा भगवत्सेवाके अंग बननेपर भगवद्भक्त्यर्थ उपादेय बन जाते हैं, तद्वत्, अर्थात् सांसारिक देह-गेहादि उपादेय न भी माने जाते हों तबभी.

इस तरह हम देख सकते हैं कि वैधभक्तिकी धारणामें मर्यादाभक्तिके सारे

भाव संकलित नहीं हो पाते. इसी तरह रागानुगभक्ति भी पुष्टिभक्तिके एक प्रमुख आयामको प्रकट करती होनेपर भी अन्यान्य विविध आयामोंको प्रकट नहीं करती है. अन्तमें आग्रहिलतया यदि कोई समानता इस वर्गीकरणमें कहीं खोजनी ही हो तो [२/क]वैधभावरूपा भक्ति मिश्रपुष्टिके अन्तर्गत प्रवाहपुष्टिरूपा भक्ति के समान कुछ हदतक स्वीकारी जा सकती है, क्योंकि महाप्रभु कहते हैं–''प्रवाहेण क्रियारताः''(षोड़.पुष्टि. १५). वैसे इस समानताको स्वीकारने के बावजूद [३/ख]अतिप्रसादोत्था भक्तिके द्विविध प्रकारोंके अन्तर्गत जो [३/ख/अ]माहात्म्यज्ञानोत्था प्रकार दिखलाया गया है, उसे महाप्रभुको अभिप्रेत मर्यादापुष्टिभक्ति या पुष्टिपुष्टिभक्ति में से किसके तुल्य मानना, यह दुर्निर्धारणी ही रहता है, अन्य किन्हीं प्रकारोंसे तो तुलनाके सर्वथा अप्रसक्त ही हो. [३/ख/आ]केवला भक्तिकी विवेचना करते हुवे श्रील रूप गोस्वामी–''रागानुगा भक्तिका आश्रय लेनेवालोंको तो प्रायशः केवलभक्ति सिद्ध होती है''(भ.र.सि.१।४।५) विधान करते हैं परन्तु श्रीरूपशिक्षा प्रकरणमें–''पुनः कृष्णरति हय दुइ त प्रकार, ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा केवला भेद आर. गोकुले केवला रति ऐश्वर्यज्ञानहीन, पुरीद्वये वैकुण्ठाद्ये ऐश्वर्यप्रवीण... केवलार शुद्धप्रेम ऐश्वर्य ना जाने, ऐश्वर्य देखिलेओ निज–सम्बन्ध से माने'' (श्रीरूपशिक्षा: १६५–१७२) श्रीचैतन्य महाप्रभुका ऐसा उपदेश भी उपलब्ध होता है. सो केवला भक्ति रागात्मिका ही है या रागानुगा भक्तिकी कोई विकसितावस्था? इस बारेमें सैद्धान्तिक निर्धारण या सम्प्रदायानुसारी ग्रन्थग्रन्थिविभेदकोंके द्वारा समन्वय क्या– कैसा दिखलाया गया है, वह मुझे अवगत नहीं है. ऐसी स्थितिमें इसे न तो 'शुद्धिपुष्टिभक्तिरूपा' का जा सकता है और न 'पुष्टिपुष्टिभक्तिरूपा' ही. क्योंकि पुष्टिपुष्टिभक्ति ऐसी कोई भक्त्यवस्था नहीं है जिसका शुद्धपुष्टिभक्तिमें विकास हो पाता हो और शुद्धपुष्टिभक्ति प्रारम्भमें माहात्म्यज्ञानोत्था न होनेपर भी बादमें माहात्म्यज्ञानसे संवलित हो ही जाती है. यह अन्य कथा है कि उसमें ''ऐश्वर्य देखिलेओ निज–सम्बन्ध से माने'' न्यायके अनुसार माहात्म्यज्ञान गौण ही रहता है, जबकि पुष्टिपुष्टिभक्तिमें माहात्म्यज्ञान एवं सुदृढ़सर्वतोधिकस्नेह परस्पर एक–दूसरेका उपमर्दन किये बिना ही एक विलक्षण भक्तिभावका रूप धारण कर लेते हैं. अतएव महाप्रभु कहते है–''पुष्टया विमिश्राः सर्वज्ञाः...शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः'' (षोड़.पुष्टि.१५–१६). महाप्रभुने अतीव मननीय स्पष्टीकरण इस विषयमें यह भी दिया है कि ''भगवान्की विद्याशक्तिके कारण जीवात्मा अपने स्वरूपमें अवस्थित हो पाती है; जैसेकि, अविद्याशक्तिके वश वह देहमें अवस्थित होती रहती है. (पुष्टिशक्तिजन्या) भक्तिका, परन्तु, कुछ ऐसा माहात्म्य है कि भगवान्की विद्या और अविद्या दोनों शक्तियां अपना प्रभाव दिखाना बन्द कर देती है''(त.दी.नि.१।३१) अर्थात् देहभाव इतना नहीं निवृत्त हो जाता कि भगवत्सेवा

या भगवत्कथा भी न निभ पाये न वह इतना अनुवृत्त ही रहता है कि भगवद्भक्तिमें भी वह प्रतिबन्धक हो जाये. बिलकुल इसी तरह भगवन्माहात्म्यका ज्ञान भी इतना नहीं बढ़ जाता कि परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण हमें आत्मतया स्फुरित न हो पायें; और न ब्रह्मजीवतादात्म्यका ज्ञान ही कभी इतना तीव्र बन पाता है कि अंशीका माहात्म्य भी अंशरूपा चेतनामें स्फुरित न होने पाये! पुष्टिपुष्टिभक्तिमें ऐसी विलक्षणता रहती है जिसका सूत्रात्मक परिचय महाप्रभु पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः वचनमें दे रहे हैं. यहीं ''शुद्धाः प्रेम्णा अतिदुर्लभाः'' जो कहा है शुद्धपुष्टिभक्तिके बारेमें है परन्तु ''भक्तिः शुद्धा स्वतन्त्रा च दुर्लभेति...''(त.दी.नि.२।९६) वचन उभयसामान्य हो सकता है (प्र.:. दी.नि.प्र.१।५०-५१ तथा २।१९६) विरुद्धधर्माश्रय भगवान्की पुष्टिपुष्टिभक्ति भगवद्भक्त जीवात्माओंको भी स्वयं भगवान्के ही जैसा विरुद्धधर्माश्रय सा बना देती है!

अपने उपवर्गोंमें अवर्गीकृत भक्तिके मूलरूपोंकी परिभाषा भक्तिरसामृत-सिन्धुकार कुछ इस तरह देना चाहते हैं- १.साधनरूपा = जो कृतिसाध्य हो और भावसाधिका हो, २.भावरूपा = जो साधनोंसे जन्य न हो और कृष्ण या कृष्णभक्तों की कृपासे प्रकट होती हो ३.प्रेमरूपा = जो कृष्णेतर विषयोंमें ममताराहित्यपूर्वक कृष्णमें प्रेमात्मकममतारूपा हो. इन परिभाषाओंके अनुसार प्रथममें पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवा और भगवत्कथा का समावेश किया जा सकता है. द्वितीयमें पुष्टिभक्तिके चारों ही प्रकारोंका समावेश विचारा जा सकता है. तृतीयमें पुष्टिभक्तिके निरोधावस्थामें विकासको खोजना ही हो तो खोजा जा सकता है.

ऐसा कहा जाता है कि श्रील रूप गोस्वामी जब इस ग्रन्थराजका लेखन कर रहे थे, तब महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणका यदृच्छया वृन्दावन पधारना हुवा था. ग्रन्थकार द्वारा निजलेखनको दिखलाये जानेपर महाप्रभुने ग्रन्थगत मङ्गलाचरणमें कुछ त्रुटियोंके बारेमें सूचना देनी चाही थी. सो उसके शोधनार्थ ग्रन्थकारने इसे महाप्रभुके श्रीहस्तमें सोंप दिया. इसपर ग्रन्थकारके भतीजे श्रील जीव गोस्वामी कुछ बुरा मान गये और अपने पितृव्यके निवासस्थलसे यमुनातटपर महाप्रभुके साथ-साथ गये. वहां जाकर उन्होंने शास्त्रार्थका आह्वान दिया कि ''अनेकानेक शास्त्र मैने भी पढ़ रखे हैं. आओ मेरे साथ शास्त्रार्थ करो!'' श्रीयमुनाजीमें स्नान करके श्रील रूपके समीप लौटनेपर महाप्रभुने इसका उल्लेख करते हुवे जीवप्रशंसा उनके पितृव्यके समक्ष की. इसपर श्रील रूप गोस्वामी अपने भतीजेपर इतने रुष्ट हो गये कि उन्हें घरसे बाहर ही निकाल दिया था*.

(*द्रष्टव्य: श्रीभक्तिविलासतीर्थ महाराज सम्पादित 'श्रीभक्तिसन्दर्भ ग्रन्थ में 'सम्पादकेर निवेदन'(पृष्ठ:६); तथा श्रीतत्त्वसन्दर्भ श्लोकसंख्या ५ की श्रीभक्तिसिद्धान्त-

सरस्वतीकृत टिप्पणी (पृष्ठ: ८). वैसे न जाने कैसी कल्पनाओं का अवलम्बन करके इन महानुभावने अन्य भी कई एक अनर्गल बातें लिखी हैं, यथा: ''... श्रीभट्ट (महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण)... आज्ञा लईया श्रील गदाधर पण्डित गोस्वामीर शिष्यत्व वरण करेन''. इत्यादि. यह तो श्रीकृष्णभक्तिके उपदेशके एकछत्राधिकारकी दुर्भावनापूर्ण मनोविकारकी ग्रन्थिसे ग्रस्त अपने साम्प्रदायिक मात्सर्यातिरेकदृष्ट स्वप्नका ही निरूपण होनेसे हास्यास्पद तथा उपेक्षणीय भी है.)

वैसे सहज सम्भव है कि वह त्रुटि भक्तिरसामृतसिन्धुके मङ्गलाचरणकी न होकर ग्रन्थकारद्वारा किये गये वाल्लभमतोल्लेखके बारेमें ही श्रीमहाप्रभुको विवक्षित होगी; परन्तु, लगता है कि इस अवांछनीय घटनाके अकस्मात् घट जानेके कारण महाप्रभुने पुष्टिभक्ति तथा मर्यादाभक्ति के बारेमें निजाभिप्राय न तो ग्रन्थकारके समक्ष और न व्याख्याकार के ही समक्ष प्रस्तुत किया होगा. इसके अलावा अन्य कोई त्रुटि दृष्टिगोचर होती तो नहीं है! अतः स्व-स्वमतानुसारी भक्तिरसकी विवेचनाको सानन्द स्वीकारनेके बजाय त्रुटियोंके केवल निर्देशनार्थ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण आग्रहिल बनें ऐसा भी सम्भव नहीं लगता. क्योंकि महाप्रभु तो सुस्पष्ट शब्दोंमें यह कहते- मानते ही हैं:

> ब्रह्म और जीवात्माओं के (स्वाभाविकाभेदमें लीलार्थ प्रकट पारमार्थिक ऐच्छिक) भेदपर भार देते हुवे पुरस्कृत भक्तिशास्त्रद्वारा तीन प्रकारके (दिव्य-सात्त्विक) गुणवाले भक्तियोगोंका उपदेश यहां भगवान्ने प्रदान किया है. इन्हीं उपदेशोंका अनुसरण करनेवाले सम्प्रति सात्त्विक-तामसभाववाली भक्तिके उपदेशक श्रीविष्णुस्वामी हैं, सात्त्विक-राजसभाववालीके भक्तिके उपदेशक श्रीरामानुजाचार्य हैं; तथा, सात्त्विक-सात्त्विकभाववाली भक्तिके उपदेशक श्रीमध्वाचार्य हैं. मेरा भार तो निर्गुणा भक्तिपर है. यों मूलतः भक्तिके ये चारों ही प्रकार भगवदुपदिष्ट ही हैं.
>
> (सुबो.३।३२।३७).

सो ऐसा कहने-माननेवाले महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण श्रीचैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायमें अभिमत भक्तिमीमांसा के बारेमें आग्रहिलतया दोषैकदिदृक्षु क्यों बनना चाहेंगे? प्रसंगोपात्त यह स्पष्टीकरण दोहरा देना यहां आवश्यक हो जाता है कि स्वतो-अप्राकट्यके उदाहरणोंमें महाप्रभु माहात्म्यज्ञानपूर्वक प्रकट हुवे स्नेहको ही 'पुष्टिभक्ति' तया मान्य करते हैं. स्वतः प्राकटयके उदाहरणोंमें स्वतोजात स्नेहको, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यविरचित सुबोधिनीके अनुसार, भगवान् अपनी विविध लीलाओं द्वारा

माहात्म्यज्ञानसे शनैः-शनैः संवलित करते हैं. अतएव प्रकट स्वरूपकी प्रकट लीलाओं में ह्रद्या तन्मयताके कारण वह बौद्धिक माहात्म्यज्ञान कभी भी स्नेहातिशायी नहीं हो पाता है. यह तब तककी कथा है कि जब तक शुद्धपुष्टिभक्तोंकी तामसभाववाली स्वरूपासक्ति और लीलासक्ति राजसभाव सात्त्विकभाव और अन्तमें निर्गुणभावोंमें उदात्तीकरणार्थ अग्रसर होना शुरू नहीं कर देती. ये उभयविध आसक्ति शनैः-शनैः जैसे-जैसे निरोधरूपा बनती जाती हैं, वैसे-वैसे इनके भीतर भक्तिरूपता उभरती जाती है. अर्थात् प्रमाण प्रमेय साधन और फल की अवस्थाओंमें क्रमशः अग्रसर होती तामसभावात्मिका भक्ति, राजसभावात्मिका सात्त्विकभावात्मिका भक्ति और अन्तमें नित्यभजनानन्दप्रदायिनी(भागवतोक्तमुक्ति+आश्रयभावापत्तिकी प्रदायिका) निर्गुणभावात्मिका भगवद्भक्तिमें भी फलित हो जाती हैं. अतः यद्यपि यह किसी भी ग्रन्थमें कण्ठोक्ततया निर्दिष्ट कथा नहीं है फिरभी कहनेको कहा जा सकता है कि इस अवस्थामें जाकर शुद्धपुष्टि और पुष्टिपुष्टि से प्रकट हुवे भक्तिके प्रकारोंमें कोई उल्लेखनीय तारतम्य नहीं रह जाता! सिवाय इसके कि प्रथम प्रकारके भक्तगण पुष्टिप्रभुकी अनितरसाधारणी कृपाके पात्र होनेसे भूतलपर स्वतः प्रकट स्वरूपद्वारा की जाती परमानन्दरूपा लीलाओंके अन्तः पाती भक्त या नित्यलीला-परिकर होते हैं. इसके विपरीत पुष्टिपुष्टिभक्तोंमें सभीका ऐसा नित्यलीलापरिकर होना अनिवार्य नहीं है. इसके अलावा इन पुष्टिपुष्टिभक्तोंको ऐसी स्पृहणीयतम भक्तिके सर्वगम्य उदाहरणतया भी मान्य नहीं किया जा सकता है. वह तो, क्योंकि, किसी भक्तकी नितान्त वैयक्तिक-भगवदनुभूति ही होती है.

शुद्धपुष्टिके अधिकारियोंकी भगवत्स्वरूपासक्ति और भगवल्लीलासक्ति को निभाते हुवे उन्हें माहात्म्यज्ञानसे संवलित करनेके अनेक उदाहरणोंमेंसे एक उदाहरण है- भगवन्मुखारविन्दमें ब्रह्माण्डके दर्शन कर लेनेके बाद भगवान्की वैष्णवी मायाके द्वारा श्रीयशोदाजीका पुनः ''प्रवृद्ध-स्नेह-कलिल-हृदया''(भाग.१०।८।४४) बन जाना अन्य भी सभी व्रजभक्तोंके समक्ष अनेकानेक प्रसंगोंमें दावानलपान गोवर्धनधारण सुदर्शनविद्याधरोद्धार आदि लीलाओं द्वारा भगवान्ने अपना माहात्म्य सभी व्रजवासियों के समक्ष प्रकट जताया ही था. व्रजवासियोंने अपने अदम्य प्रेमभावमूलक तथा अलौकिक-ऐश्वर्यके साक्षात्कारमूलक अपना विस्मय भी श्रीनन्दरायके समक्ष प्रकट कर दिया था. इसपर श्रीनन्दरायने सभी व्रजवासियोंको गर्गोक्त रहस्यसे सूचित भी किया था. अतः 'ऐश्वर्य' कहो या 'माहात्म्य' कहो उससे सभी वग्रजवासी परिचित तो हो ही गये थे. न केवल इतना अपितु जिन व्रजगोपिकाओंके स्नेहभावके स्वरूपके बारेमें यह कह जा रहा है कि ऐश्वर्यदर्शनके बाद भी वे उसे स्वीकार नहीं पाती थी सो उनके उदाहरणोंमें भी ''प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा, तन्नः प्रसीद परमेश्वरः, तव पादतलं रमायाः

दत्तक्षणं श्रीर्यत्पादाम्बुजरजश्चकमे''(भाग.१०।२६,३२,३३,३६ तथा ३७) उद्‌गारोंके अवलोकन करनेपर भगवन्माहात्म्यकी परिचयपूर्विका स्वीकृति भी सुस्पष्ट ही झलकती है. तीव्रविरहकी दशामें अन्य सारे भान भूल जानेपर भी व्रजगोपिकाओं को ''अनया-राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः, यान् ब्रह्मेशो रमादेवी दधुर्मूर्त्यघनुत्तये, रेमे तया चात्मरतः आत्मारामोऽप्यखण्डितः''(भाग.१०।२७-२९ तथा ३४) ''न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनाम् अन्तरात्मदृक् विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले''(भाग.१०।२८।४) तथा ''सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः कवय आनतकन्धरचित्ता कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः'' (भाग. १०।३२।१५) इन माहात्म्यज्ञान और प्रेमकी पराकाष्ठासे छलकते उद्‌गारोंको देखते हुवे यह स्वीकारना अशक्यप्रायः ही लगता है कि सभी व्रजगोपिकायें भगवान् के देवादिगणसे प्रार्थ्य वन्द्य और सर्वविस्मापक अलौकिक ऐश्वर्य या माहात्म्य को जानती या मानती नहीं थी! अतः प्रतीत तो यही होता है कि कुछ व्रजभक्त सब कुछ जान-मान लेनेपर भी अपने प्रेमभावको छोड़ नहीं पाते थे. इसे ही महाप्रभु 'निर्गुणा-भक्ति' कहते हैं.

केवल लीलासक्तिको ही पर्याप्त माननेपर इन माहात्म्यज्ञानको प्रकट करनेवाली लीलाओंकी या तो अकिञ्चित्करता या फिर निरर्थकता स्वीकारनी पड़ेगी. दोनोंमेंसे प्रथम कल्पको ग्राह्य माननेपर-स्वतः प्राकट्यके उदाहरणमें अन्तमें उत्पन्न भी माहात्म्यज्ञान लीलासक्तिके सामने प्रभावहीन ठहरेगा. सो यही पक्ष, निष्कर्षतया, अवलम्बनीय रह जाता हो तो न रागानुगा और न रागात्मिका ही भक्ति पुष्टिभक्तिके किसी भी प्रकारसे संगत हो पाती हैं. उल्लिखित विवरणमें रागात्मिका भक्तिके असंकलनद्वारा श्रील रूप गोस्वामी भी रागात्मिका भक्तिको प्रमेयबलजाता उपेयप्रयत्नात्मिका अर्थात् शुद्धपुष्टिभक्तिरूपा ही तो कहीं स्वीकारना न चाहते हों! यदि यह सच हो तब तो समन्वय अवश्य शक्य बन जाता है. वैसे रागात्मिका और केवला एक ही हैं या पृथक्-पृथक् इस बारेमें कुछ भी विधान करना मेरेलिये अनधिकारचेष्टा ही होगी. किसी भी स्थितिमें स्वयंको अभिप्रेत निर्गुणा पुष्टिपुष्टिभक्ति अनुसन्धानमें महाप्रभुका यह डिंडिमघोष सर्वथा श्रवणीय ही है कि- ''शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः भगवत्सेवने योग्याः नान्ये''(सुबो.१।१।३). ''अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिः विधीयताम्''(सि.मु.१२) इसके विपरीत भक्तिरसामृत सिन्धुकार तो भक्तिकी सामान्य परिभाषामें ही-''अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्, आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिर् उत्तमा'' (भ.र.सि.१।१।११) निरूपण करते हैं. इस दृष्टिकोणसे उन्हें अभिप्रेत भक्तिका स्वरूप भी यत्किञ्चित् तो स्पष्ट होता ही है. जबकि वाल्लभ सम्प्रदायमें पूर्वकाण्डोक्त वैदिककर्मोंको तथा उत्तरकाण्डोक्त ब्रह्मविद्याओंको

क्रमशः परब्रह्म परमात्माकी क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति के रूपमें मान्य किया गया होनेसे (द्र.: ब्र.सू.भा.१।१।२ तथा त.दी.नि.२।१-३) तथा गीतोक्त भगवत्प्रपत्ति तथा भागवतोक्त भगवद्भजनासक्ति को भगवत्स्वरूपके माहात्म्य और/अथवा तादात्म्य की अनुभूतिके साथ लीलानन्दात्मिका पुष्टिशक्तिके जीवात्मामें प्रतिफलनतया माना गया होनेके कारण क्रिया-ज्ञान-शक्तियोंसे अनावृत ही होना या आवृत ही होना, ऐसी कोई भी स्वाभाविकी नियति स्वीकारी नहीं जा सकती है. लीलानियतिकी कथा तो ऐच्छिक भेदपर निर्भर करती है, स्वाभाविक अभेदपर नहीं (द्र.: त.दी.नि.२।८९-९०).

निष्कर्षतया इस सन्दर्भमें महाप्रभुविरचित षोड़शग्रन्थान्तर्गत पुष्टि प्रवाहमर्यादा ग्रन्थके पूर्वोदाहृत वचनकी महाप्रभुविरचित ही तत्त्वार्थदीपनिबन्धगत कुछ कारिका-ओंके साथ संगति देख लेनी भी उपकारक होगी.

वे कारिकायें यों हैं:

स्वमते यथा भजनं तथा संकलीकृत्य आह:

(१) एवं सर्व ततः ' सर्व स इति ज्ञान-योगतो यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिः उत्तमः(=पुष्टिपुष्टिभक्तः)

(२) प्रेमाभावे मध्यमः (= मर्यादापुष्टिभक्तः) स्याद्.

(३) ज्ञानाभावे तथा आदिमः (-प्रवाहपुष्टिभक्तः)

(४) उभयोरपि अभावे तु पापनाशः ततो भवेत्. एवं सर्वम् इति, एवं सर्व निश्चित्य- [क]सर्वं भगवतएव'' [ख]''सएव च सर्वम् इति वैदिक-[क]गौण-[ख]मुख्य-ज्ञानयुक्तः-प्रेम्णा श्रवणादिप्रकारेण यो भजते स भक्तिमार्गे उत्तमः शास्त्रार्थज्ञानाभावेऽपि प्रेम्णा भजने मध्यमः 'प्रेमाभावे मध्यमः' इति वा ज्ञानाभावे 'तथा' = मध्यमः इति अर्थः; आदिमो वा उभयोः अभावे श्रवणादीनां पापनाशकत्वं, धर्मत्वं वा, नतु भक्तिमार्गः इति अर्थः.

(त.दी.नि.प्र.१।१०१-१०२).

इसे सरलतासे समझना हो तो इन समीकरणोंको दृष्टिगोचर बना लेना चाहिये: य= गौणज्ञान, र= मुख्यज्ञान, ल= प्रेम, व= श्रवणादिक्रिया अतः य+र+ल+व= उत्तमभक्ति, य+ल+व= मध्यमभक्ति, य+र+व मध्यमभक्ति, ल+व=आदिम भक्ति और व= पापनाशकधर्मरूप कर्म.

तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्मके निरूपणमें ऐसा वचन उपलब्ध होता है कि- ''रसो वै स रसं होव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति... एषह्येव आनन्दयाति''(तैत्ति.उप.२।७) इससे यह तो सिद्ध ही है कि ब्रह्म न केवल आनन्दरूप ही केवल है अपितु आनन्ददायक

भी है ही. अतः रसो वै सः वचनके अनुरोधवश उसका आनन्दरूप होना उसकी आत्मरतिका प्रमाण है. ''एष ह्येव आनन्दयाति'' वचनके अनुरोधवश वह अपनी इसी आत्मरतिद्वारा यथायथ अपनी व्यामोहकशक्ति अविद्याशक्ति विद्याशक्ति पुष्टिशक्ति अथवा श्रीशक्ति का अपने अंशरूप जीवोंमें आवेश करा कर उन्हें भी आनन्दित करता है. इन अनेकविध शक्तियोंद्वारा क्रमशः प्रवाहिजीवोंको मर्यादाजीवोंको पुष्टिजीवोंकों और नित्यलीलास्थ परिकरोंको एवं भूतलपर प्रकट अपने लीलापरिकरोंको भी आनन्द प्रदान करता है. प्रवाहिजीवोंको क्षुद्र विषयानन्द, मर्यादाजीवोंको शास्त्रप्रशस्त पुरुषार्थ-चतुष्टयानन्द, पुष्टिजीवोंको भजनानन्द और अपने लीलापरिकरोंको स्वस्वरूपानन्द एवं लीलानन्द भी इनमें जिसे श्रीचैतन्यसम्प्रदाय में 'ह्लादिनी-शक्ति' कहा जा रहा है. वह केवल नामान्तर होनेसे कभी वाल्लभ सम्प्रदायमें अमान्य हो नहीं सकती है. अतएव उसके दो रूप, सुखरूपा और सुखप्रदरूपा, भी सर्वथा स्वीकार्य ही विश्लेषण हैं. वस्तुतः पुष्टिरूप वरण ही जीवात्माके भीतर भक्तिके बीजभावतया आहित होता है, ऐसा स्वीकारनेके कारण परमात्माकी 'निजानन्दात्मिका आत्मरति' कहो, 'पुष्टिमार्गीय वरण' कहो, 'बीजभाव' कहो अथवा 'ह्लादिनी शक्ति' कहो यह तो सब कुछ ''रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः'' ही में पर्यवसित हो जाता है!

अन्य किसी मतैक्य या मतभेदों के सायास विश्लेषणोंको करते रहनेके बजाय इस पड़ावपर मिल रहे उभयाह्लादक स्वरूपसुषमाके निरायास विचारसुखार्थ इस विषयका उपसंहार यहां कर देना उचित होगा!

पूर्वसिद्ध आत्मरति ही उपेयप्रयत्नसे प्रकट होनेपर 'निरोधलीला' कहलाती है:

शांकर वेदान्तके अनुसार प्रत्यक्चैतन्यके स्वभावतः नित्य-शुद्ध-बुद्ध- मुक्त होनेके कारण उसकी मुक्तता केवल ज्ञेय ही होती है- उत्पाद्य प्राप्य या संस्कार्य नहीं. क्योंकि ऐसा होनेपर वह नित्य नहीं रह पायेगी. अतएव कहा गया है- ''नास्त्यकृतः कृतेन''. रामानुज सम्प्रदायके अनुसार आत्मोद्धारोपाय कभी साध्य तो कभी सिद्ध भी हो सकते हैं. अतएव शरणागतिके सिद्धोपाय होनेकी धारणाके अनुरूप उसे उपेयावलम्बन माना गया है, उपायावलम्बन नहीं (द्र.: श्रीव.मीमां.भा.२।१२) वाल्लभ वेदान्तके अनुसार जीवात्माके भीतर प्रकट होती भगवद्रति ब्रह्मकी आत्मरतिका ही नाम-रूपात्मक व्याकरण है. महाप्रभु कहते हैं:

> (क)स्नेह तो एक विलक्षण पदार्थ ही होता है. स्नेह भगवान्के भीतर रहनेवाला एक ऐसा धर्म है कि जिसके आदिम स्रोत तथा चरम विषय भी स्वयं भगवान् ही होते हैं. जैसे ज्ञान

अथवा ऐश्वर्य मूलमें भगवान्के भीतर रहनेवाले धर्म ही होते हैं परन्तु भगवत्सम्बन्ध या भगवन्नैकट्य के कारण अन्यत्र भी उनका भास होता है तद्वत् स्नेह भी भगवान्के नैकट्यवशात् प्रकट होता है. उष्णता, जैसे, तेजका ही धर्म है परन्तु तेजस् वस्तुके सामीप्यवश अन्यत्र भी उष्णता अनुभूत होने लगती है. अतः जैसे-जैसे जीवात्मा भगवान्का नैकट्य पाती जाती है, वैसे-वैसे ही जीवात्माके भीतर स्नेह भी बढ़ता चलता जाता है. हमारे शरीरके भीतर रहनेवाली आत्माके बारेमें हमें अतिशय स्नेहका जो भाव रहता है उसका भी मूलकारण यही है कि हमारी आत्माके भीतर ही परमात्मा भी विद्यमान है. अतएव वह हमसे अतिशय निकटवर्ती होता है. ऐसी परमात्मान्तर्गर्भित इस शरीरस्थ आत्माके अध्यासके कारण देहादिमें भी स्नेह प्रकट हो जाता है. (ख) प्रीति तो एक भगवान्के भीतर रहनेवाला धर्म है. भगवान्ने सुखदानार्थ सभी जीवात्माओंमें इसे अंशत: या खण्डशः प्रकट रख्खा है. अतः जो जीवात्मा जिस किसी विषयको चाहने लग जाती है, उसे उस विषयसे सुख मिलने लग जाता है. अन्तमें तो स्वयं अपना ही सुख हमें मिलता रहता है! (सुबो. १।१९।१६-२।२।६).

इससे सिद्ध होता है कि इस निरोधमें, प्रपञ्चविस्मृतिरूप अंश तो भगवल्लीला एवं भगवत्स्नेह द्वारा उत्पाद्य या सम्पाद्य है, परन्तु, भगवदासक्ति अथवा भगवद्व्यसन के अंश तो ब्रह्मके पूर्वसिद्ध आत्मरमणके ही नामान्तर एवं रूपान्तर से केवल प्राकट्यमात्र हैं. अतः वे कृतक (=कृत्रिम) साध्य उत्पाद्य प्राप्य या संस्कार्य भाव नहीं हैं. किसी उपायके अवलम्बनद्वारा प्रकट हुवे भाव भी ये नहीं हैं प्रत्युत उपेयरूप स्वयं परमात्मा श्रीकृष्णके साधनान्तरकी अपेक्षा रखे बिना प्रकट हो जानेके कारण प्रकट हुवे ये उपेयावलम्बी भाव हैं. वेदान्तकी परिभाषाके अनुसार कहना हो तो जीवन्मुक्ति तथा म्रियमाणमुक्ति के निरूपक ब्रह्मसूत्रचतुर्थाध्यायके प्रथम एवं द्वितीय पादोंमें प्रतिपादित विषयोंका ही यह भगवल्लीलात्मक निदर्शन है. अतः निरोधलीला लीलान्तःपाती जीवात्माओंके भीतर अपने लीलाविहार अर्थात् उपेयप्रयत्नात्मिका लोकवेदातीत फलरूपा भक्तिका एक विलक्षण एवं मधुरतम रूप है. चतुर्विध या पञ्चविध विदेहमुक्ति अर्थात् स्वस्वरूपमें पुनरवस्थान दशमस्कन्धके बाद आनेवाले एकादशस्कन्धका वर्ण्यविषय है. इसी तरह मर्यादामार्गीय एवं पुष्टिमार्गीय सभी जीवात्माओंके भगवान्में मुक्त हो जाने तथा प्रवाहमार्गीय जीवात्मसृष्टि एवं जड़सृष्टि के ब्रह्ममें लीन हो जानेके

बाद निखिल नाम-रूप-कर्मोंके आश्रयरूप ब्रह्मकी योगनिद्रा प्रलय अथवा आश्रयकैवल्य बारहवें स्कन्धका वर्ण्यविषय है.

निरोधलीलाके अन्तर्गत जन्मप्रकरण और तामसप्रकरणान्तर्गत प्रमाण-प्रमेय-साधन रूपी अवान्तरप्रकरणोंका स्वरूप:

इस निरोधलीलाके अन्तर्गत जो प्रथम जन्मप्रकरणके चार अध्याय हैं वे पूर्वोदाहत-''उसी परमकाष्ठापन्न वस्तुके कभी जगदुद्धारार्थ अखण्ड पूर्णतया प्रादुर्भूत होनेपर उसे 'कृष्ण' कहा जाता है'' तथा '' 'कृष्ण' शब्दद्वारा परम तत्त्वकी बात कही जा रही है. क्योंकि 'मुझे अपने भीतर रहा परमसौन्दर्य प्रकट करना है' ऐसी इच्छाके साथ जब कभी वह साकार प्रकट हो जाता हो तो उसे 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है'' वचनोंमें निरूपित उस परम तत्त्वकी अपनी अखण्डता एवं पूर्णता प्रकट रखते हुवे साकार प्रकट होनेकी कथा है. अपने ऐसे प्रकट सौन्दर्यद्वारा लीलान्तःपाती तामस राजस सात्त्विक; और अन्तमें निर्गुण भाववाले जीवोंकी विषयासक्तिको हठात् छुड़ा कर स्वस्वरूपानन्दके सौन्दर्यमें निरुद्ध कर लेना यह श्रीकृष्णके प्रकट होनेका प्रयोजन है ही. अतः जन्मप्रकरणके बाद महाप्रभुके अनुसार दशमस्कन्धमें मूलतया चार प्रकरण हैं: तामसनिरोध राजसनिरोध सात्त्विकनिरोध और निर्गुणनिरोध. इनके अवान्तर प्रकरण पुनः प्रमाणनिरोध प्रमेयनिरोध साधननिरोध और फलनिरोध की कथाओंके रूपमें अवस्थित हैं.

'निरोध' पद एक साकांक्ष पद है. अतः इस पदके साथ ये आकांक्षायें जुड़ी रहती हैं: १.किसका निरोध? २.किससे निरोध? ३.कहां निरोध? और, ४.कैसा निरोध?

यों जन्मप्रकरणके बाद आते सात अध्याय तामसप्रमाणनिरोध लीलाके निरूपणार्थ हैं. प्रस्तुत सन्दर्भमें हमें इसे यों समझना चाहिये-१.भगवान्के अपने शिशु बाल एवं कुमार रूपोंद्वारा की जाती लीलामें उत्सव, भय, कौतुक, गर्गमुनिके विधानोंसे पैदा हुवा विस्मय, यमलार्जुनभंग; तथा, बकघातादिकी लीलाओंके अन्तःपाती भक्त्यर्ह तामसजीवोंका निरोध, २.वह परम तत्त्व स्वतः प्रकट न होता हो तो अज्ञानमूलक या अन्यथाज्ञानमूलक श्रुत्यादि शास्त्रोंके वचनार्थनिश्चय या ऐसे भक्त्यादि भी उसे जान पानेके समुचित उपाय नहीं हो सकते. स्वतः प्रकट हो जानेपर, किन्तु, भगवत्स्वरूपासक्ति या भगवल्लीलासक्ति मूलक अज्ञान या अन्यथाज्ञान द्वारा भी उसे जाना जा सकता है. यह अप्राकट्यकालीन प्रमाणव्यवस्थासे प्राकट्यकालीन तामस प्रमाणका निरोध है. ३.स्वतः प्रकट प्रभुके शिशु-बाल-कुमारावस्थ स्वरूपमें एवं

तामस लीलाओंमें निरोध, ४.प्रभुके शिशु बाल कुमार रूपोंके अनुरूप लीलान्तः पाती जीवात्माओंके भीतर वात्सल्य सख्य आदि तामसभावरूप बीजभावके भक्तिके रूपमें अंकुरित हो जानेवाला तामसप्रेमावस्थारूप निरोध.

तामसप्रमाण प्रकरणके बाद सात अध्यायोंमें, महाप्रभुके अनुसार, तामसप्रमेयनिरोधलीलाका वर्णन अभिप्रेत है. तद्नुसार इस प्रकरणमें 'निरोध' पदकी आकांक्षाओं की पूर्ति ऐसे होती है– १.प्रभुकी पौगण्डलीलाओंके अन्तःपाती भक्त्यर्ह तामसप्रेमवालोंका निरोध, २.उस परम प्रमेयरूप परमतत्त्वके लोकवेदप्रथित अनेकानेक रूप हो सकते हैं किन्तु उन अन्य सभी रूपोंसे स्वयं अपना निरोध अर्थात् लीलामें प्रकट तामसस्वरूपकी ही लोकवेदातीत प्रमेयतामें निरोध, ३.प्रकट प्रभुके तामस पौगण्ड स्वरूप एवं तामसी पौगण्डलीलाओं में निरोध, ४.प्रभुके पौगण्ड आदि रूपोंके अनुरूप लीलान्तःपाती जीवात्माओंके भीतर वात्सल्य सख्य या माधुर्य आदि स्नेहकी तामस आसक्तिरूपा अवस्थामें पल्लवित हो जानेवाला निरोध.

तामसप्रमेयप्रकरणके बाद सात अध्यायोंमें, महाप्रभुके अनुसार, तामससाधन निरोधलीलाका वर्णन अभिप्रेत है. तदनुसार इस प्रकरणमें 'निरोध' पदकी आकांक्षाओं की पूर्ति ऐसे होती है: १.पौगण्ड–किशोररूपोंमें भगवान्के द्वारा की जाती लीलाओंके अन्तः पाती भगवदासक्तोंका निरोध, २.उस परम प्रमेयरूप परमतत्त्वकी प्राप्तिके लोकवेदप्रथित–वैराग्य सांख्य योग तप भक्ति व्रत इतरदेवयजन इतरदेवपूजा आदि–अनेकानेक साधन हो सकते हैं, उन सबसे निरोध. अर्थात् निजस्वरूपके बारेमें रही लीलान्तः पाती जीवोंकी आसक्तिको लीलार्थ ३.प्रकट स्वरूप जिन लीलोपदिष्ट उपायोंद्वारा स्नेहकी व्यसनदशामें विकसित करना चाहता हो, केवल उन्हीं उपायोंमें निरोध प्रकट ४.प्रभुके किशोररूपमें एवं किशोरलीलाओं में निरोध, प्रभुके किशोररूपके अनुरूप लीलान्तः पाती भगवदासक्तोंके भीतर प्रकटरूपके माहात्म्य ज्ञानके साथ वात्सल्य सख्य या माधुर्य आदि तामसस्नेहको व्यसनावस्थामें पहुंचानेवाला निरोध.

तामससाधनप्रकरणके बाद सात अध्यायोंमें, महाप्रभुके अनुसार, तामसफल निरोधलीलाका वर्णन अभिप्रेत है. तद्नुसार इस प्रकरणमें 'निरोध' पदकी आकांक्षा ओंकी पूर्ति ऐसे होती है– १.किशोरलीलाओंके अन्तःपाती भक्त प्रपञ्चको सर्वथा विस्मृत कर भगवान्में पूर्णतया आसक्त हो जायें ऐसा निरोध, २.उस परमतत्त्वकी प्राप्तिके लोकवेदप्रथित वैराग्य सांख्य योग तप या भक्ति आदि अनेकानेक साधनोंसे साध्य अनेकविध फल हो सकते हैं, उन सभी फलोंसे निरोध अर्थात् लीलामें प्रकट स्वरूपके बारेमें रही कायिक वाचिक तथा मानसिक व्यसनभावापन्न रतिको

निरोधलीलार्थ बाह्य या आभ्यन्तर, संयोगरसात्मिका या विप्रयोगरसात्मिका, जैसी भी अनुभूति भगवान् प्रदान करना चाहें उन फलात्मिका रसानुभूतियोंमें निरोध, ३.प्रकट प्रभुके किशोररूपमें एवं किशोरलीलाओं में निरोध, ४.प्रभुके किशोररूपके अनुरूप लीलान्तः पाती भगवत्स्वरूपव्यसनी एवं भगवल्लीलाव्यसनी भक्तोंके भीतर तामस वात्सल्य सख्य दास्य माधुर्य आदि अनेकविध रसभावोंमें निरोध(द्र.:त.दी.नि. ३।१०।१-११२).

इस तन्मयताके कारण भक्तोंके हृदयमेंसे विषयासक्ति सर्वथा निवृत्त हो जाती है और केवल भगवदासक्ति ही शेष रह जाती है. इसी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवद्व्यसनभावापन्ना भगवद्रतिके कारण जीवात्मा इतने आत्यन्तिक आत्मभावके साथ भगवदनुभूति करने लग जाती है कि परमात्मा के आत्मरमणका वह इस भूतलपर प्रकट आदर्श या उदाहरण ही बन जाती है.

साधनप्रकरण और फलप्रकरण की पूर्वोत्तरभावसंगति:

सर्वप्रथम उपसंहृत तामस साधन-प्रकरणके बाद उपक्रान्त होनेवाले तामस-फलप्रकरणकी पूर्वोत्तरभावसंगतिको संक्षेपमें दृष्टिगत कर लेना आवश्यक होगा.

प्रापञ्चिक विषयोंके बारेमें हमारे भीतर रहे व्यसन आसक्ति प्रेम और रुचि के भाव, व्युत्क्रमशः, भगवान् के स्वरूप-लीलाओंमें पनपते रुचि प्रेम आसक्ति एवं व्यसन भावोंके द्वारा निवृत्त होते जाते हैं. अर्थात् भगवद्रुचिसे विषयव्यसन, भगवत्प्रेमसे विषयासक्ति, भगवदासक्तिसे विषयप्रेम और भगवद्व्यसनसे विषयरुचि निवृत्त होती हैं. सो रुचिरहित होनेपर विषयस्मृति क्षीणतर होना शुरु कर देती है. अतः इस प्रक्रियाके अनुसार भगवदासक्तिवशात् विषयप्रेमरहित हो जानेके कारण साधन-प्रकरणके प्रारम्भमें यह निरूपित हुवा कि व्रजकी गोपिकायें सकल दैहिक भाव और दैहिकी लज्जा को छोड़ कर भगवत्प्राप्तिकेलिये जो भी लौकिक या वैदिक साधन हों उन्हें करने उद्यत थी यों भगवान्के बारेमें उनका व्यसनभाव सिद्ध हो गया था. यह दिखलानेकेलिये ही गोपकुमारिकाओंद्वारा किये गये कात्यायनीव्रतका प्रसंग निरूपित हुवा है. इस प्रसंगमें सारे लौकिक भावोंको छोड़ कर, जैसा कुछ करनेकी भगवान्ने उन्हें आज्ञा दी, तदनुसार गोपिकाओंने आज्ञानुसरण किया. बादमें गोपबालकोंको वृक्षोंकी तरह परोपकारनिरत जीवन जीनेका आदर्श समझाया गया. इसके बाद व्यसनदशा सिद्ध हो जानेपर भूख जैसी लौकिक आवश्यकताओंकी पूर्तिकेलिये भी भगवान् के अलावा अन्य कोई गोपबालकोंको याद नहीं आया, यों गोपबालकोंके भीतर भी व्यसनभावकी सिद्धि दिखलायी गयी. जैसे लौकिक विषयोंकी विस्मृति यहां दिखलायी गयी, वैसे ही वैदिक विषयोंकी विस्मृति विप्रपत्नियोंकी कथामें दिखलायी गयी है. निजपरिवारजनोंके द्वारा

रोके-टोके जानेपर भी वृन्दावनमें विहार कर भगवान् और उनके सहचारी गोपबालकों को यज्ञार्थ सम्भृत अन्न विप्रभार्याओने खिला दिया था. यह विप्रभार्याओं, और अन्तमें उनके द्वारा विप्रपुरुषोंको भी, वैदिक द्रव्य कर्मोंकी विधियोंके विषयकी विस्मृति एवं ऐसी स्मृतिकी क्षुद्रताके बोधद्वारा निरूपित हुवा है. इसके बाद अविहित होनेसे अनावश्यक इन्द्रयागके निराकरणद्वारा इन्द्रदेवका आश्रय छुड़ा कर स्वयं भगवदाश्रय द्वारा सर्वाभीष्टसिद्धिकी कथा कही गयी है. वैष्णवशास्त्रविहित व्रत भी व्रताधिपति भगवान् के स्वयं प्रकट होनेपर अकिञ्चित्कर हो जाते हैं. अतः एकादशीव्रतरत श्रीनन्दकी वरुणापहरणसे मुक्ति तथा श्रीनन्दादि गोपोंको अपने सत्य ज्ञान-अनन्तरूप अक्षरब्रह्मात्मक वैकुण्ठलोकके अचिन्त्य वैभवके प्रदर्शनद्वारा सभी व्रजजनोंमें माहात्म्यज्ञानकी सिद्धि दिखला दी गयी है.

संक्षेपमें इस साधनप्रकरणोपदिष्ट साधनोंका उपदेशसार यही है कि भगवान्के स्वतः प्रकट होनेपर, अन्यान्य लौकिक विषयोंमें रहे मायामोहसे छुटकारा पा कर तथा स्वयं धर्मके प्रकट हो जानेके कारण धर्मोपदेशक शास्त्रोंके विधिविधानोंके बन्धनोंसे भी छुटकारा पा कर, केवल भगवदाज्ञाका अनुसरण ही प्रकट स्वरूपकी फलात्मिका अनुभूति पानेका एक अपेक्षित साधन बन जाता है. अतः परोपकार दान व्रत यज्ञयाग आदि सभी भगवान् के असाधारणमाहात्म्यको जान मान कर भगवदिच्छाके आधीन करते रहने या छोड़ देने चाहिये. स्वतः प्रकट भगवान् के साथ सतत तत्पर हो कर रहना ही तामस-साधन-प्रकरणका सारभूत फलप्रापक उपदेश है.

षड्विधतात्पर्यलिंगोंके विमर्शद्वारा फलप्रकरणकी मीमांसा:

इस तरहके तामस-साधन- प्रकरणके उपसंहारके बाद तामस फल-प्रकरण प्रारम्भ होता है.

यही बात रासलीलाके प्रारम्भ मध्य और उपसंहार में अनेकरीतिसे निरूपित की गयी है. मीमांसाशास्त्र के अनुसार किसी भी शास्त्रीय प्रकरणके वास्तविक तात्पर्यके बोधार्थ छह अंग निर्धारित किये गये हैं: उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद; तथा उपपत्ति इन षड्विध अंगोंके आधारपर इस तामस फल प्रकरणके तात्पर्यकी मीमांसा भी कर लेनी आवश्यक है.

शास्त्रतात्पर्यनिर्धारक मीमांसाके पड़विध अंगोंमें सर्वप्रथम १.उपक्रम-उपसंहारका विमर्श करें तो प्रकरणारम्भमें ही ''योगमायाको अपने साथ रख कर भगवान् रासलीलार्थ प्रवृत्त हुवे'' यह उल्लेख (द्र.: भाग.१०।२६।१) मिलता है. यह योगमाया न तो सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्ति है, न अविद्याशक्ति, न व्यामोहक शक्ति; और न विद्याशक्ति ही यह योगमाया तो परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी

आनन्दात्मिका पुष्टिशक्ति जैसी एक शक्ति है. इन पुष्टिशक्ति तथा योगमायाशक्ति के द्वारा भगवान्ने अपनी आत्मरतिका नाम-रूप-कर्मात्मक अपूर्व तथा मधुरतम व्याकरण किया है. इसी तरह इस प्रकरणके उपसंहारमें केवल रात्रीलीलामें ही नहीं अपितु दिनमें भी की जाती भगवल्लीलाओंमें भी व्रजगोपिकाओंके, इसी तरहसे उपलक्षणविधिसे अन्य भी व्रजभक्तोंके, चित्तोंकी असाधारणी तन्मयताका निरूपण किया गया है. अन्यथा व्रजस्थित गोपिकाओंको वृन्दावनस्थित भगवान्की लीलाका साक्षात्कार स्वयं लीलात्मिका बने बिना कैसे सम्भव हो सकता है! अतः यह भगवान्की आत्मरतिका ही निरूपण है. साथ ही साथ यहां रासलीलाके उपक्रममें ही भगवान् के प्रति सगुण जारभावसे अभिसरण करनेवाली अनेक गोपिकायें रासलीलामें पहुंच न पायी सो दुःसह प्रेष्ठविरहके तीव्रताप और ध्यानप्राप्त अच्युताश्लेषके सुखके कारण वे शुभाशुभ कर्मबन्धनों से मुक्त हो कर भगवत्सायुज्यरूपा मुक्तिको प्राप्त हो गयी! यह कथा इस तथ्यका सुस्पष्ट संकेत है कि रासलीलामें पहुंचनेवाली गोपिकायें त्रिगुणाती सर्वात्मभावसे सम्पन्न थी. इतना ही केवल नहीं प्रत्युत अग्रिमलीला सायुज्यमुक्तिसे भी श्लाघ्यतर है, यह सिद्ध हो जाता है.

२.अभ्यासरूप अंगके ज्ञानार्थ रासलीलाके प्रारम्भ होनेसे पूर्व वहां पहुंच पानेवाली गोपिकाओंके ये वचन मननीय हैं- ''सन्त्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलं प्राप्ताः'' ''प्रेष्ठो भवान् तनुभृतां किल बन्धुरात्मा''(भाग.१०।२६।३१-३२). विषयासक्तिरहित सर्वात्मभाव, जो आत्मरतिका ही रूपान्तर है, के ही द्योतक ये वचन हैं. इसी तरह इसी अध्यायमें पुनः ''...योगेश्वरेश्वर भगवान्ने आत्माराम होनेपर भी गोपिकाओं के साथ रमण किया''(भाग.१०।२६।४२) इस वचनमें भगवान् आत्माराम होनेका निरूपण रासलीलाके आत्मरति होनेके तथ्यको ही उजागर करता है.

इसके बाद सत्ताईसमें अध्यायमें भगवान्के तिरोहित हो जानेपर गोपिकाओंकी जो 'कृष्णोऽहम्'की रसात्मिका प्रतीति वर्णित हुयी है, उसका वास्तविक अभिप्राय छान्दोग्योपनिषद्गत जिस भूमानिरूपणके आधारपर समझा जा सकता है वह वचन यों है:

> जहां और कुछ दिखलायी न पड़ता हो, और कुछ सुनायी न देता हो, और न कुछ समझमें ही आता हो उसे 'भूमा' कहा जाता है... वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दायें है, वही बांये है, वही सब कुछ है. ऐसी अनुभूति होनेके बाद 'अहं' तया उसकी अनुभूति होने लगती है कि मैं ही नीचे हूं, मैं ही ऊपर हूं, मैं ही पीछे हूं, मैं ही आगे हूं, मैं ही दायें हूं, मैं ही बांये हूं,

मैं ही सब कुछ हूं. इसके बाद उसकी आत्मतया अनुभूति होने लग जाती है कि आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायें है, आत्मा ही बांये है, आत्मा ही सब कुछ है. जो कोई भी उसे इस तरह देख पाता है, स्वीकार पाता है या जान पाता है. वह आत्मरति आत्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्द स्वराड् बन जाता है...

(छान्दो.उप. ७।२४; २५ १-२).

इस उपनिषदवर्णित सर्वात्मभावके अनुरूप ही यहां भी ''एक कृष्णमना गोपी 'मैं कृष्ण हूं! मेरी ललित गतिको देखो!!' ऐसा बोलने लगी'' (भाग.१०।२७।१९) इस वचनमें निजात्माभिन्नतया भगवान् श्रीकृष्णके प्रतिभान होनेका उल्लेख उपनिषद्वर्णित सर्वात्मभावका ही एक मधुरभाष्य है. अध्याय-समाप्तिगत यह श्लोक कि- ''इस तरह व्रजकी गोपिकायें भगवन्मनस्क बन कर भगवदालाप करती हुयी, भगवान्की चेष्टाओंको करती हुयी और भगवद्गुणोंका ही गान करती हुयी भगवदात्मिका बन जानेके कारण निजात्मगेहादि सभीको भूल गयी''(भाग.१०।२७।४३) यह भी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिरूप निरोध या आत्मरति की ही अभ्यासोक्ति है.

इसके बाद आते गोपीगीतगत ''आप हमारी व्रजरानी श्रीयशोदाके पुत्र नहीं हो! आप तो निखिल देहधारियोंके अन्तःकरणके साक्षी परमात्मा हो!''(भाग.१०। २८।४) वचनमें गोपिकायें भगवान्को जो अखिल देहधारियोंके भीतर रहनेवाले 'अन्तरात्मदृक्' कह रही हैं, वह भी शब्दान्तरमें भगवान्के आत्मरमणका ही निरूपण है.

उन्नतीसवें अध्यायकी ''नाहंतु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्...''(भाग.१०।२९। २०) कारिकाके व्याख्यानमें भगवान्के आत्माराम होनेके कल्पका निराकरण जो महाप्रभुने किया है उसका तात्पर्य 'माहात्म्यज्ञान' न्यायेन उट्टंकित करना चाहिये. अर्थात् इस सृष्टिको प्रकट करना परब्रह्मके अचिन्त्य असीम सामर्थ्यके विचार करनेपर वस्तुतः कोई माहात्म्य जैसी बात बनती नहीं है. उदाहरणतया किसी राजाका राजसिंहासनपर आ कर बिराजमान होना कोई विशेष माहात्म्यकी बात नहीं प्रत्युत एक सहज बात ही होती है. फिरभी साधारणजनकी दृष्टिमें उसे राजाके माहात्म्यतया जाना कहा जाता है. इसी तरह भगवान्का आत्माराम आप्तकाम आत्मरति आत्मक्रीड़ आदि होना जीवदृष्ट्या माहात्म्य बन जाता है. अतः विधान्तरसे यह भी इस रासलीलाके आत्मरमण या आत्मरति होनेके उपोद्बलक अभ्यासार्थ ही है. सो इस व्याख्यानको भी एक बार दृष्टिगत कर लेना यहां उपकारक ही होगा:

मैं तो भगवान् हूं– जीव नहीं हूं. अतएव न तो मैं आत्माराम हो सकता हूं और न आप्तकाम ही. वस्तुतः तो मैं केवल राम ही हूं–आत्माराम भी हो नहीं सकता हूं. क्योंकि मेरेलिये आत्मभिन्न कोई कुछ हो तो; और, उसके साथ में रमण न करता होऊं तो मुझे 'आत्माराम' कहनेका कोई औचित्य हो सकता है. मेरे मूलस्वरूप का, अतः, कोई भलीभांति निरूपण करना चाहता हो तो उसे मुझे 'आत्माराम भी नहीं कहना चाहिये. न मुझे 'आप्तकाम' ही कहा जा सकता है. क्योंकि कोई अपने कामकी पूर्ति अपनेसे अन्य किसी विषयसे न करके स्वतः ही कर लेता हो तो ऐसेको 'आप्तकाम' कहा जा सकता है. मेरे भीतर जब काम होता ही नहीं तो मुझे 'आप्तकाम' कैसे कहा माना जा सकता है! ऐसे सारे शब्दप्रयोग जीवात्माके बारेमें प्रयुक्त होनेपर सार्थक हो सकते हैं, मेरे बारेमें प्रयोग किये जानेपर नहीं. (सुबो.१०।२९।२०).

संक्षेपमें इसे हम यों समझ सकते हैं कि अखण्डसच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मके स्वाभाविक अद्वैतकी दृष्टिसे देखनेपर वह केवल राम ही होता हैं, आत्माराम भी नहीं. वही ब्रह्म जब सृष्टयुपादान सृष्टिकर्ता और सृष्टिनियन्ता बनता है तब– ''य आत्मनि तिष्ठन् ... आत्मानम् अन्तरो यमयति...'' (माध्यन्दिनशाखीयबृहदारण्यकोपनिषद्) श्रुतिवचनके आधारपर सर्वान्तर्यामी बन जात है. इस ऐसे परमात्माके सर्वभवन सामर्थ्यद्वारा प्रकट ऐच्छिकद्वैतकी दृष्टिसे विचार करनेपर उसे 'आत्माराम' माना– कहा जा सकता है. यह आत्माराम होना परमात्माके ऊपर एक बन्धन या सीमित वृत्तकी परिधिके भीतर घिर जाने जैसी कथा नहीं होती. अतएव–''अजायमानो बहुधा विजायते''(तैत्ति.आर.३।१३।१) श्रुतिमें कहे प्रकारसे वे भगवान् जब साधुजन–परित्राणार्थ दुष्टजन–दमनार्थ या धर्मसंस्थापनार्थ अपनी सृष्टिमें स्वयं निजपुष्टिशक्तिद्वारा प्रकट भी हो जायें तो लीलाराम भी बन सकते हैं. इसी तरह वह पुष्टिप्रभु भगवान् साधननिरपेक्ष हो कर जब कभी अपनी पूर्णताके साथ अपने स्वरूपानन्दकी पूर्णतया रसानुभूति प्रदान करनेको जब श्रीकृष्णतया प्रकट हो जाते हैं तब तो गोपिकाराम भी बन ही सकते हैं. जैसे आत्माराम बनने पर रामत्व छूट नहीं जाता, ऐसे ही लीलाराम बननेपर आत्माराम होना निवृत्त नहीं हो जाता. ठीक इसी तरह अपने लीलाविहार में गोपिकाओं के साथ रमणकी लीलामें भी भगवान्का स्वाभाविकाद्वैत और ऐच्छिकद्वैत दोनों ही अक्षुण्ण रहते हैं. ऐसे विरुद्धधर्माश्रयरूप सर्वात्मात्मरूप भगवान में जब कोई विषयासक्तिको छोड़ कर अनन्यतया आसक्त हो पाता है, तब अंशतः वही

विरुद्धधर्माश्रयता इस उदाहरणमें भी काम कर रही होती है. अर्थात् भगवान्में हमारी अनन्यतन्मयताको आत्मरति ही समझनी चाहिये.

अतएव तीसवें अध्यायकी ''जितनी गोपिकायें थी अपने-आपको उतने रूपोंमें प्रकट करके भगवान्ने आत्माराम रहते हुवे उन गोपिकाओंके साथ भी रमण करनेकी लीला की''(भाग.१०।३०।२०) इस कारिकाके व्याख्यानमें महाप्रभु कहते हैं:

> जितनी गोपियां हैं, भगवान् उनके ही लिये प्रकट हुवे होनेसे, उतने ही रूप धारण करके उन गोपिकाओंके साथ रमण करने लगे. आत्माराम न होनेपर भी जैसे लीलया भगवान् आत्माराम बनते हैं, वैसे ही गोपिकाराम भी. एतावता भगवान्का आत्मारामत्व निरस्त नहीं हो जाता. अन्यान्य अवतारोंमें भगवान्ने जैसे अनेकानेक रूप धारण किये वैसे ही इन गोपिकाओंके लिये भगवान्ने आत्माराम रहते हुवे ही गोपिकारमण होना भी लीलया स्वीकारा है.

यह पुनः प्रस्तुत रासलीलाके आत्मरमण होनेकी ही निषेधके बावजूद दी जाती एक आलंकारिक विलक्षण उपपत्ति ही है, अतएव- ''श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः''-''रेमे स्वयं स्वरतिर् आत्तगजेन्द्रलीलः''(भाग.१०।३०।२३-२४) वचनों की व्याख्या करते हुवे महाप्रभुने अतीव सरस विधान किया है:

> जलकी रक्षाकेलिये जो बांध बांधे जाते हैं उन्हें मदमत्त गजराज बहुधा तोड़ देते हैं. इस लीलामें भगवान्ने भी न केवल अपनी ब्रह्ममर्यादा और आत्माराम होनेकी मर्यादाके बांधोंको ही प्रत्युत जीवोंके साधनमर्यादाके बांध भी सारे तोड़ देनेकी लीला की है... फिरभी भगवान्की आत्मरति खण्डित नहीं हुयी! अर्थात् स्वरूपतः आत्माराम रहते हुवे ही भगवान्ने सारी मर्यादाओंको तोड़ देनेकी भी लीला की!

मध्यपाती अध्याय माहात्म्यज्ञापनार्थ है. साथ ही साथ फलावस्थामें प्रमाणतत्पर होनेमें विघ्नोंकी सम्भावना और अन्तमें स्वयं भगवान् ही उनका निवारण भी करते हैं, इस लीलाभिप्रायके प्रकटनार्थ भी होनेसे इस इकत्तीसवें अध्यायमें इस पहलुका निरूपण न मिलना स्वाभाविक ही है.

अन्तमें बत्तीसवें अध्यायके उपसंहारमें दिनमें भी व्रजगोपिकाओंकी भगवल्लीलाके श्रवण-कीर्तन-स्मरणमें तत्पर होनेकी कथा प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके निरूपणद्वारा निरोधलीलाके वर्णनार्थ ही है. सो वह भी आत्मरतिका ही सोपपत्तिक अभ्यास है.

३.तात्पर्यनिर्धारक तृतीय निकष अपूर्वताके आधारपर इस प्रकरणकी मीमांसा करनी हो तो थोड़ा सिंहावलोकन करना पड़ेगा. अर्थात् इस प्रकरण प्रथमाध्यायगत राजा परीक्षित एवं श्रीशुकदेवजी के शंका-समाधानका अवगाहन करने उद्यत होना पड़ेगा: कुछ गोपिकायें ब्रह्मभावसे भजनेके बजाय भगवान्को जारभावसे निहारती थी. उन्हें रासलीलामें पहुंचनेसे रोक दिये जानेपर रुकना पड़ा था. अतः प्रियतमके तीव्र विरहतापके कारण उनके त्रिगुणात्मक देह छूट गये और वे ''भगवान्में सायुज्यलाभ पा गयी. इस निरूपणके बारेमें राजाके मनमें यह आशंका उठी कि- भगवान्में इस तरहकी सगुणबुद्धि रखनेवाली गोपिकाओंका त्रिगुणात्मक-प्रकृति-नियत जन्म-मरणप्रवाहका उपरम क्यों-कैसे हो गया? समाधानतया श्रीशुकदेवजीने एक अतीव महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण यह दिया कि-अव्यय अप्रमेय प्राकृतगुणरहित अप्राकृतगुणात्मा भगवान्का यह प्राकट्य तो निःश्रेयस् प्रदान करनेकेलिये ही हुवा है. सो स्त्रियोंको कामवश, शत्रुओंको क्रोधवश, दुष्टवध्योंको भयवश, सम्बन्धियोंको स्नेहवश, ज्ञानियोंको ऐक्यबुद्धिवश; और, भक्तोंको सौहृदवश-कुल मिला कर जिसका चित्त भगवान् श्रीहरिमें जिस किसी भी भावके कारण एकतान बन गया था उसे भगवदात्मक हो जानेके कारण मुक्ति मिल गयी थी''. ऐसे अश्रुतपूर्व भगवन्माहात्म्यके निरूपणार्थ ही यह लीला कही गयी है, सो साध्योपायद्वारा मोक्ष प्रदान करनेकी वेदादि शास्त्रोंमें पूर्वसिद्ध रीतिके बजाय किसी अपूर्वरीतिसे सिद्धोपायतया भगवान् स्वयं प्रकट हुवे थे. प्रापञ्चिक विषयासक्तिजन्य दुःखोंको दूर करके निजस्वरूपमें लीलान्तःपाती जीवात्माओंको निरुद्ध करनेकेलिये ही यह लीला की गयी.. है. आत्मोद्धारक इस अपूर्व उपायके स्वरूपका विमर्श करनेपर भी आत्मरतिका ही नाम रूप- कर्मात्मक विलक्षण लीलात्मक व्याकरण यह सिद्ध होता है.

४.तात्पर्यनिर्धारक चतुर्थ निकष फलका निरूपण एतत्प्रकरणगत तीसवें अध्यायके अन्तिम चालीसवें श्लोकमें उपलब्ध होता है:

विक्रीडितं व्रजवधूभिर् इदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयाद् अथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगम् आश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ।।

(भाग.१०।३०।४०)

भावार्थ: अपने हृदयमें भक्तिभावके वृद्धयर्थ तथा विषयकाम के निवृत्त्यर्थ जो कोई व्रजवधुओंके साथ भगवान्की इस विशेष क्रीड़ाको श्रद्धापूर्वक सुनता है और सुन कर उसका कीर्तन करता है तो शीघ्र ही उसके हृदयमें परा भक्ति प्रकट जाती है!

जिस लीलाके साभिप्राय श्रद्धापूर्वक श्रवण-कीर्तनसे परा भक्ति प्रकट हो

पाती हो, वह लीला यदि आत्मरतिरूपा न हो तो ऐसी फलसाधकता उसकी अनुपपन्न हो जायेगी. अतएव तृतीयस्कन्धमें भी यही कहा गया है:

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्व गुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ।।
लक्षणं भक्ति योगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।।
सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।।
स एव 'भक्तियोगा'ख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
ये नातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावा योपपद्यते ।।

भावार्थ: भगवान्के गुणोंके श्रवणमात्रसे सभी प्राणियोंके भीतर रहनेवाले भगवान् में अविच्छिन्ना, बिना कहीं रुके अटके जैसे गङ्गा सागरकी ओर बहती रहती है ऐसी, मनोगतिका सिद्ध हो जाना 'निर्गुणभक्तियोग' कहलाता है. किसी भी अन्य प्रयोजन या व्यवधान के बिना पुरुषोत्तमके बारेमें ऐसी भक्ति कि जिस भक्तिके कारण भगवत्सेवा न मिल पाती हो तो सालोक्यादि पञ्चविध मुक्ति भी भक्त स्वीकारना नहीं चाहता, उसे 'आत्यन्तिक-भक्तियोग' कहा जाता है. इस ऐसे भक्तियोगके कारण भक्त सात्त्विकादि तीनों गुणोंकी सीमाको लांघ कर स्वयं भगवदात्मक हो जाता है.(भाग.३।२९।११-१४)

ऐसी ही भक्ति व्रजभक्तोंको सिद्ध हो गयी थी और उस ऐसी निर्गुणभक्ति जनिका लीलाकी फलश्रुतिके आधारपर भी इस रासलीलाको आत्मरतिका ही एक विलक्षण रूप मानना उचित होगा.

५-६.तात्पर्यनिर्धारक पांचवें और छठे अंग अर्थवाद और उपपत्ति के अनेकविध रूपोंमेसे कुछ तो यहीं तीसवें अध्यायमें उपलब्ध हो जाते हैं. इन सोपपत्तिक निन्दार्थवाद और स्तुत्यर्थवाद के स्वरूप भी मननीय ही हैं. रासलीलाके वर्णनके पूर्ण होनेपर महाराजा परीक्षितने पुनः अपने हृदयकी एक आशंका श्रीशुकदेवजीके समक्ष यों प्रकट की कि धर्मके संस्थापन और अधर्मके प्रशमन केलिये अवतीर्ण होनेवाले तथा धर्ममर्यादाओंके वक्ता कर्ता और अभिरक्षिता आप्तकाम भगवान्ने परदाररमणके जैसा विरुद्ध आचरण क्यों किया ? इस आशंकाके समाधानार्थ श्रीशुकदेवजीने जो कुछ कहा वह यों है:

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।

तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ।।
नैतत्समाचरेद् जातु मनसापि ह्यनीश्वरः
विनश्यत्याचरन् मौढयाद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ।।
ईश्वराणां वचस् तथ्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमान् तत् समाचरेत् ।।
कुशलारितेनैषाम् इह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेण वानर्थी निरहङ्कारिणां प्रभोः ।।
किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ।।
यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ताः।
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानास्।
तस्येच्छयात्तवपुषः कुतएव बन्धः ।।
गोपिनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडेनेनेह देहभाक् ।।
अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडाः याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ।।

(भाग.१०।३०।३०-३७)

भावार्थ: ऐश्वर्यशाली पुरुषोंके आचरणमें कई बार धर्मके व्यतिक्रमका भी ऐसा साहस दिखलायी देता है. इन्हें, परन्तु ऐसे व्यतिक्रम करनेसे दोष नहीं लगता. जैसे सर्वदाहक-सर्वभक्षक अग्नि सबको भस्मसात् कर देती है(रासलीलादिव्यत्वोपपत्ति) ऐश्वर्यरहित पुरुषको ऐसी बात मनमें भी आने नहीं देनी चाहिये. अन्यथा नीलकण्ठ भगवान् रुद्रने समुद्रमन्थनमें प्रकटे विषका जो पान किया, उसका अनुकरण करने जानेपर दूसरे किसीका तो ध्रुव विनाश ही निश्चित समझ लेना चाहिये (विषयासक्तपुरुषके ऐसे आचरणकी निन्दाका अर्थबाद). ऐश्वर्यशाली पुरुषके वचन कभी मिथ्या नहीं होते, परन्तु, आचरण ऐसे ऐश्वर्यशाली पुरुषोंके स्वयं उनके वचनोंके अनुरूप हों तभी सच्चे मानने चाहिये. अतः इनकी आज्ञा अनुसरणीय होती है परन्तु आचरण अनुकरणीय नहीं होता. यथाविधि कुशलाचरणके निभानेसे अहंता-ममता-राहित्यरूप ऐश्वर्यके धनी इन महापुरुषोंका कोई स्वार्थ

सिद्ध नहीं होता; और, न विधिविपरीत अकुशलाचरणसे इनके स्वार्थकी हानिकी ही कोई सम्भावना इन्हें रहती है (निन्द्रार्थवादोपपत्ति), जो सभी ईशितव्य पशु-पक्षी मनुष्य और देवताओं के ईश्वर हैं उनकेलिये कौन सा कर्म कुशल या कौन सा कर्म अकुशल हो सकता है! जिनके चरणकमलोंकी परागसे परितृप्त होनेवाले, अपने योगप्रभावसे सारे कर्मबन्धनका प्रक्षालन कर देते हैं और स्वैराचरण करनेपर भी बंध नहीं पाते, वे भगवान् स्वयं अपनी लीलाभिलाषाके अनुरूप नरदेहका स्वरूप धारण करते हों तो किस कर्मका कैसा बन्धन उनपर लागू हो सकता है? गोपिकाओं और उनके पतियों के ही केवल नहीं प्रत्युत प्रत्येक देहधारीके भीतर अन्तरात्मतया बिराजमान अन्तर्यामी भगवान् स्वयं अनुग्रहार्थ लीलया नरदेहका सा स्वरूप धारण कर इस रासलीलाको कर रहे हैं कि जिसके श्रवणमात्रसे भगवान्में चित्त तत्पर हो जाता है (सोपपत्तिक- स्तुत्यर्थवाद).

इस तरह उपक्रमादि छहों अंगोंके विमर्श करनेपर, श्रीकृष्णप्राप्त्यर्थ व्रतरूपा साधना करनेवाली ऋषिरूपा कुमारिकाओंके साथ उनके व्रतफलरूप श्रीनन्दकुमारकी फलादपि कमनीयतर यह रासलीला है. इसी तरह श्रुतिरूपा व्रजवधूओंके साथ श्रुतिओंके परमतात्पर्यविषयीभूत उस परमप्रमेयमें अवान्तर-प्रमेयोंके विरोधाभासरहित परमसमन्वयरूपा यह रासलीला है. अतः परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके आत्मरमणका ही यह एक विलक्षण मधुर रूप है, यह सिद्ध होता है. इस तरह यदि तामस फल- प्रकरणगत वर्णन औपनिषदिक आत्मविद्याका ही कुछ वैलक्षण्यसे निरूपण सिद्ध होता हो तो ब्रह्मसूत्रके फलाध्यायमें एतत्प्रकरणगत वचनोंका विचार अथवा यहां ब्रह्मसूत्रके फलाध्यायकी संगतिका विचार भी अन्तमें एक ही सिक्केके दो पहलु सिद्ध होते हैं.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य: ''कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुस्साध्या इति मे मतिः'':

आधुनिक पुष्टिमार्गमें न तो भलीभांति उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र भाष्योंका ही व्यवस्थित अध्ययन करनेवाले और न श्रीमद्भागवत-सुबोधिनीकी ही बारहखड़ी जाननेवाले भी उपदेशकम्मन्य बहुधा प्रमाणवादके झंडाबरदार बनकर फलाध्यायपर भाष्यकारकी भागवतवचनानुसारिणी मीमांसाको भागवती भावुकताका अतिरेक मानकर निन्दा करते रहते हैं. इसी तरह प्रमेयबलकी झंडाबरदारी करनेके मोहमें कतिपय देवलक महानुभाव उपनिषदादि शास्त्रोंकी विचारणाके भी पुष्टिभक्तिसे विरुद्ध होनेका

फतवा काढ़ते रहते हैं! इन्हें क्या कहना? ''अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं न रञ्जयति'' की नीतिका अनुसरण करते हुवे– ''उपेक्ष्यं भगवद्भक्तैः श्रुतिस्मृतिविरोधतः, कलौ तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतः तमः'' इस श्रीमहाप्रभूक्तिके विषय होनेसे इन्हें उपेक्ष्य ही मानना चाहिये!!

प्रस्थानचतुष्टय नहीं किन्तु ''एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं (सत्) प्रमाजनकम् इति अर्थ'':

श्रीमध्वाचार्यने श्रीमद्भागवतके बारेमें गरुड़पुराणका एक सुन्दर वचन उद्धृत किया है:

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थ परिबृंहितः ।।
पुराणानां साररूपः साक्षाद् भगवतोदितः।

(भाग.तात्प.नि. १।१।१).

मूलतः श्रीमद्भागवतके ऐसे स्वरूपके शास्त्रमान्य होनेके कारण ही महाप्रभुने तत्त्वार्थदीपनिबन्धके प्रथम प्रकरणमें इसे सर्वसन्देहवारकतया मान्य किया है. न जाने कब किसने एक सर्वलेखकव्यापिनी भ्रान्ति ऐसी फैला रखी है कि प्रस्थानत्रयवादी अन्य आचार्योंसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी विलक्षणता प्रस्थानचतुष्टयवादी होनेमें है. महाप्रभुका इस विषयमें एक भी वचन कमसे कम मुझे तो आज तक कहीं दृष्टिगत नहीं हुवा है. महाप्रभुके जिस वचनको बहुधा उद्धृत किया जाता है– ''वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्'' (त.दी.नि.१७) इसकी व्याख्या करते हुवे स्वयं ग्रन्थकारने यह स्पष्टीकरण दे ही रखा है कि– एतत् चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं (सत्) प्रमाजनकम् अर्थात् जिस तरहके तात्पर्यके ऊह करनेके कारण वेद गीता ब्रह्मसूत्र और भागवत इन चारों शास्त्रोंके वचनोंमें परस्पर एकवाक्यता स्थापित हो पाये उसे प्रमाणतया स्वीकारना चाहिये. यह निजमतको केवल चार ही प्रस्थानोंके आधारपर प्रस्तुत करनेकी अथवा तो स्वाभिमत प्रमेयके साधक पृथक्–पृथक् प्रमाणोंकी संख्याके चार होनेकी प्रतिज्ञा नहीं है. इन चारोंको परस्पर असमन्वित रखते हुवे इनमेंसे किसी भी एक प्रमाणवचनके व्याख्यानकी धांधलीसे बचनेकी चेतावनी हैं. लक्ष्यमें रखने लायक बात इसमें यह भी है कि यह व्यवस्था शास्त्रार्थजिज्ञासुको समझायी जा रही है–''त्रयम् एतद्(शास्त्रार्थ–सर्वनिर्णय–भागवतार्थरूपप्रकरणत्रयम्) उपदेशन्यायेन कथयामि''(त.दी.नि.प्र.११५). शास्त्रविज्ञ व्याख्याताओंके शास्त्रार्थविचारणाकी शर्तके रूपमें नहीं. यदि अलग–अलग प्रस्थान

इन्हें आप स्वीकारते होते तो इन सभी प्रस्थानोंपर अलग-अलग भाष्य प्रस्तुत करना आपका उत्तरदायित्व हो जाता. वेदार्थनिरूपण आप पूर्वोत्तरमीमांसाभाष्योंसे गतार्थ मान कर चले थे तथा गीतार्थनिरूपण भागवतटीकासे. आज ये ग्रन्थ समग्रतया उपलब्ध नहीं होते वह दूसरी कथा है. पुराणोंको आप वेदवत् पूर्वसिद्ध स्वीकारते हैं. नित्य काम्य-विकृतिरूप वैदिककर्मोंकी तरह नित्य काम्य-विकृतिरूपा धर्मार्थकाममुक्तिके अलावा भक्तिको भी आपने पुराणोंके प्रमुख विषयतया स्वीकारा है. आपने यह भी खुलासा दिया है कि श्रौतधर्म देहस्थानीय होता है और स्मार्तधर्म गृहस्थानीय परन्तु पौराणिक धर्म उपकरणस्थानीय होता है. जीवनोपकरणोंके अभावमें केवल देह-गेहोंमें आत्मोपस्थिति शक्य नहीं रह जाती. पुराणोंके भलीभांति ज्ञानके अभावमें सर्वथा मूढ़ता ही प्रकट होती है, अतः वेदोक्तकर्मोंक गूढ़ाभिप्रायके उपदेशक पुराणोंको 'हृदय' वत् मान्य किया गया है. सभी तरहकी सृष्टिके पदार्थोंका यथार्थज्ञान पुराणसे मिलता होनेके कारण वेदकी अनेक शाखाओंकी तरह पुराणोंके भी अनेक विभाग है... वेदके सर्वगोप्य अर्थको भगवान्ने स्वयं गीतामें प्रकट किया और भागवत उस गीताका ही विस्तार होनेके कारण इसमें उपदिश्यमान अर्थ वैदिक ही है. फिरभी श्रुतिमें उत्पत्ति-स्थिति-मुक्ति-लयका स्वरूप जैसी सूत्रात्मक शैलीमें किया गया है, उन्हीं सूत्रोंको यहां १.सर्ग २.विसर्ग ३.स्थान ४.पोषण ५.ऊति ६.मन्वन्तर ७.ईशानुकथा ८.निरोध ९.मुक्ति और १०.आश्रय यों दशविधलीलाओंके विस्तृत लीलात्मक भाष्यद्वारा समझाया गया है. इसी तरह श्रुति स्मृतिमें देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मके छह अंगोंवाले साध्योपायरूप द्विजाधिकारक धर्मकी फलसाधकता जो कही गयी है, वह कलियुगमें इन अंगोंके दुर्बल हो जानेके कारण निर्बल हो गयी है, एतदर्थ, गीता-भागवतमें सिद्धोपायरूपा सर्वाधिकारक प्रपत्ति भक्तिरूप धर्मोंकी सर्वसाधकता प्राधान्येन क्रमशः प्रतिपादित हुयी है (द्र.: त.दी.नि.प्र.२।४८-६९). वेदोपनिषदोंमें जगत्का मुख्यत्वेन ब्रह्मकार्यके रूपमें निरूपण है जो मुख्यतया-ब्रह्मज्ञानमें पर्यसित होता है. पुराणोंमें उसी कार्यका भगवल्लीलाके रूपमें निरूपण है जो मुख्यतया भगवद्भक्तिमें पर्यवसित होता है (द्र.: सुबो.१।१।४).

अतएव प्राधान्येन श्रीकृष्णप्रपत्तिकी प्रतिपादिका गीतामें तथा प्राधान्येन श्रीकृष्णभक्तिकी प्रतिपादिका भागवतमें भी प्रतिपाद्य विषय-वस्तुके सन्दर्भमें महाप्रभुकी सैद्धान्तिक निष्कर्षरूपा-शास्त्रको भलीभांति समझ कर मन-वचन-तनसे श्रीकृष्ण ही हमारेलिये सेव्य होता है (त.दी.नि.प्र. ११४) उक्तिको जो हृदयंगत कर पाते हैं, उनकेलिये तो प्रमाण/साधन-बल अथवा प्रमेय/फल-बल इन दोनों से किसी एककी झंडाबरदारी न केवल महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य चरणके हार्द या अभिप्राय की

हास्यास्पद नासमझ है प्रत्युत निजाचार्यविद्रोह भी है.

इस अपरिहार्य विषयान्तरके बाद अब प्रकृत विषयके अनुसन्धानार्थ यह कहा जा सकता है कि व्रजमें सिद्धोपायतया प्रकट परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी व्रजगोपिकाओंके साथ की गयी रासलीला यदि आत्मरमण या आत्मरति का ही लीलात्मक भाष्य हो तो ब्रह्मसूत्रके फलाध्यायके साथ प्रस्तुत तामस-फल-प्रकरणवर्णित लीलाकी संगतिको ठीक तरहसे समझ लेना भी अतीव उपकारक ही होगा. सो उसके विमर्शार्थ अब हमे प्रवृत्त होना चाहिये.

अर्थो अयं ब्रह्मसूत्राणाम्!:

जैसा कि पहले निरूपण हो ही चुका है तदनुसार इस लीलाका मुख्यतया सम्बन्ध ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके प्रथमपादके साथ बहोत गहरा है. श्रीशंकराचार्यके अनुसार इस पादके चौदहमें से आरम्भके आठ अधिकरणोंमें तृतीयाध्यायमें अवशिष्ट रह गये विषयका विचार किया गया है- ''तीसरे अध्यायमें परा विद्या तथा अपरा विद्याओंके बारेमें साधनाश्रित विचार प्रायशः पूर्ण हुवा. अब यहां इस चौथे अध्यायमें फलाश्रित विचार किया जायेगा. प्रसंगवशाद् अन्य भी कुछ विषयोंका चिन्तन किया जायेगा. प्रारम्भके कुछ अधिकरणोंमें तो साधनाविचारमें जो कुछ विषय छूट गया है उसे ही विचारा जा रहा है... यहां आ कर अब तीसरे अध्यायका विषय पूर्ण हुवा'' (ब्र.सू.भा.४।१।१-१३).

वाल्लभ भाष्यके अनुसार -जैसे तामस-फल-प्रकरणमें भगवान्के छह गुणधर्मों एवं एक धर्मी के निरूपक सात अध्याय हैं, उसी तरह यहां फलाध्यायके प्रथमपादमें भी, चौदहके बजाय सात ही अधिकरण स्वीकारे गये हैं. अतएव शांकरादि भाष्योक्त पूर्वोत्तरसंगतिकी तरह ही इस पादमें अधिकरणोंकी चौदह संख्या भी वाल्लभ वेदान्तको स्वीकार्य नहीं है. स्वाभाविकतया यहां इस प्रथम पादके विचार्य वस्तुकी विवेचना हमें भी सात अधिकरणों में ही करनी अभीष्ट है. इसे, किन्तु, सर्वमान्य नहीं मान लेना चाहिये. अतः सम्भावित भ्रान्तिके निवारणार्थ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है. अस्तु. ब्रह्मकी साक्षाद् अनुभूतिके बिना किये जाते श्रवण मनन या निदिध्यासन साधनरूप होते हैं. वे ही श्रवण मनन या निदिध्यासन अपरोक्ष ब्रह्मानुभूति हो जानेके बाद फलानुभूत्यन्तः पातितया भी स्पृहणीय बन जाते हैं. सो यहां चतुर्थाध्याय प्रथमपादके इन आरम्भिक एकसे ले कर ग्यारह सूत्रोंमें भी फलात्मक श्रवण मनन निदिध्यासन का निरूपण ही अभिप्रेत है. जिसे जीवितावस्थामें ब्रह्मानुभूति हो जाती है, ऐसा ब्रह्मविद् श्रवणादिका त्याग नहीं कर देता प्रत्युत उन्हें फलानुभूतिकी महनीयताके

साथ अपनाये रख कर उनका आवर्तन करता रहता है. कुछ साधन ऐसे होते हैं जिन्हें फललाभके बाद अपनाये रखना निरर्थक हो जाता है परन्तु सभी साधनोंके बारेमें यह बात खरी नहीं उतरती. उदाहरणतया चलना सीखना चाहते एक बालककेलिये अपने पैरोंपर खड़ा होना एक प्राथमिकी साधनाकी तरह ही होता है. बालकको जब चलना आ जाता है, तब वह अपने पैरोंपर खड़े होनेकी सामर्थ्यको निरर्थक मान कर पुनः भूल जानेकी कभी नहीं सोचता! अपितु खड़े रहनेकी साधना और चलनेकी सिद्धि का यथोचित आनन्द लेता है. ऐसे ही परमात्माके श्रवण मनन निदिध्यासन भी परमात्मसाक्षात्कारार्थ ही अपनाये गये होनेपर भी इन्हें परमात्मसाक्षात्कारके बाद भी करते रहना परमात्मप्रेमका ही एक रसानुभाव बन जाता है. अतएव शिष्येषणारहित होनेपर भी योग्य श्रवणाधिकारीके उपस्थित होनेपर ऐसे ब्रह्मविद्वारा इन श्रवणीय मननीय या निदिध्यासनीय विषयों का उपदेश या कीर्तन भी उस ब्रह्मविद्के परमात्मप्रेमकी ही अभिव्यक्ति होते हैं.

फलतः इस भिन्न परिप्रेक्ष्यमें देखनेपर ही इन अधिकरणोंके फलाध्यायान्तःपाती होनेकी संगति समझमें आ जाती है. साथ ही साथ लोपदेशमुखमें वर्णित भाष्यरूपा भागवती लीलाके ही ये सूत्रात्मक शैलीमें निरूपित सिद्धान्तोपदेशमुख वचन हैं, ऐसी संगति भी समझमें आ सकती है.

(१)आवृत्त्यधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोपदेश तथा आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता:

[क]**आवृत्तिर् असकृद् उपदेशात्** [ख]**लिङ्गात् च** (ब्र. सू. ४।१।१।१-२).

(१)केवलाद्वैतवादी श्रीशंकराचार्यके अनुसार प्रस्तुत सूत्रमें श्रवण मनन निदिध्यासन आदि विद्याके अंगोंका अनुष्ठान एक-एक बार कर लेना पर्याप्त नहीं होता. अतः आत्मदर्शन पर्यन्त इन अंगोंकी आवृत्ति करते रहना चाहिये. इस आवर्तनमें ऐसी कुछ तत्परता अभिप्रेत होती है, जैसी कि गुरु या राजा की उपासना कर रहा है अथवा अपने परदेश गये पतिका ध्यान लगाये बैठी है कहनेपर शिष्य सेवक या पत्नी की अपने-अपने गुरु राजा या पति के बारेमें जैसी तत्परता अथवा जैसी उत्कण्ठापूर्वक निरन्तर स्मृति का बोध होता है. अकेले आदित्यकी एक बार उपासना करनेवालेको एक ही पुत्र हुवा था. अतः अनेक रश्मिओंकी उपासना करनेकी आवश्यकता दिखलानेसे भी यह सिद्ध होता है कि आवर्तन करना ही चाहिये.

(२)औपाधिकद्वैताद्वैतवादी श्रीभास्कराचार्य कहते हैं कि केवल एक ही बार श्रवण मनन या निदिध्यासन कर लेने मात्रसे आत्मसाक्षात्कारी ज्ञान हो जानेकी धारणा

तो सर्वथा निर्मूल ही होती है. बहुत सारी बार सुन कर, सोचविचार कर ध्यान धरे बिना स्वयं श्वेतकेतुके भी अज्ञान और संशय दूर नहीं हो पाये, तो रागादियुक्त चित्तवाले आधुनिक मुमुक्षुओंको एक बार किये गये श्रवण मनन और निदिध्यासन से मुक्तिलाभ सम्भव है, ऐसा कौन मान सकता है! अतः ज्ञान वैसे तो अपने-आपमें दृष्टलाभकेलिये ही होता है फिरभी शास्त्रीय विधिके अनुसार औपासनिक प्रत्ययोंके आवर्तनद्वारा अदृष्टसामर्थ्य कोई ऐसा उत्पन्न होता है कि उससे अपुनर्जन्म सिद्ध हो जाता है. अन्यथा एक बारके ज्ञानसे निवृत्त हुयी अविद्या भी, सुषुप्ति या प्रलय की तरह, लौट लौट कर पुनः पुनः आती रहेगी ही. श्रीशंकराचार्यके अनुसार ब्रह्मज्ञानार्थ की जाती उपासना करनेवालेको आश्रमधर्मोंका निर्वाह अनिवार्य नहीं रह जाता. श्रीभास्कराचार्य इसे स्वीकारते नहीं हैं. उनके अनुसार अज्ञानस्वभाववश अनेक जन्मोंसे चली आ रही कर्मवासनाओंके कारण पैदा होते मलोंके नष्ट होनेपर मुक्ति मिलती है. इन्हीं रागात्मिका कर्मवासनाओंके कारण मुमुक्षु साधक स्नान आचमन या भोजन तो छोड़ नहीं देता. तब आश्रमकर्मोंको छोड़ देनेकी छूट उसे कैसे मिल सकती है? सूत्रमें शांकर धारणाकी आलोचना करते हुवे श्रीभास्कराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है जबकि अन्य सभी कुछ ब्रह्मके प्रकाशनसे प्रकाशित होते हैं यह बात दो एक बार सुन नेपर किसीके भी समझमें आ ही सकती है. ऐसी स्थितिमें, 'तत्' पद और 'त्वं' पदके अर्थोंको सुन लेनेके बाद भी, वाक्यावर्तनके कारण कभी वाक्यार्थज्ञान प्रकट हो जायेगा, ऐसा सोचना तो केवल दुराशा ही है.

(३)विशिष्टाद्वैतवादी श्रीरामानुजाचार्यके मतके अनुसार मुक्ति प्रदान करनेवाले ब्रह्मकी प्राप्तिके साधन असकृद् आवर्तनीय होते हैं, ध्यान उपासनाके रूपमें उसे करनेका उपदेश किया गया होनेसे ऐसी वाक्यरचना प्रस्तुत सूत्रकी स्वीकारते हैं. यहां ध्यान या उपासना को अविच्छिन्नस्मृतिके रूपमें स्वीकारा गया है. इस तैलधारा जैसी अविच्छिन्न स्मृतिको या एकाग्रचित्तवृत्तिकी निरन्तरताको ही भक्तिके रूपमें भी स्वीकारा गया है. द्वितीय खसूत्रमें विष्णुपुराणके-''अन्यस्पृहारहित होकर तद्रूपप्रत्यय की एक अविच्छिन्न धाराको 'ध्यान' कहा जाता है'' वचनको सन्दर्भोपात्त मान रहे हैं.

(४) द्वैताद्वैतवादी श्रीनिम्बार्काचार्यकृत सूत्रवृत्ति तथा श्रीश्रीनिवासाचार्यकृत भाष्य के अनुसार वेदाध्ययनकी विधिके कारण ही एक बार तो वेदान्तवाक्योंका श्रवण पूर्वसिद्ध ही होता है; फिरभी, दुबारा श्रवण मनन और निदिध्यासन की विधिको निरर्थक न बनना हो तो यह आवश्यक है कि इन ब्रह्मदर्शनोपायोंके विधानका अभिप्राय आवर्तनार्थ स्वीकारना चाहिये. 'मनन' का अर्थ होता है तत्त्वचिन्तन और 'निदिध्यासन' का अर्थ होता है ध्यान इस ब्रह्मध्यानरूप अन्तिम उपायके कारण ब्रह्मके

अनुग्रहवशाद् ब्रह्मदर्शन हो पाता है. द्वितीय खसूत्रमें गीताके– अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय वचनकी विवक्षा स्वीकारी गयी है.

(५)केवलद्वैतवादी श्रीमध्वाचार्य अपने अध्यायभाष्य पादभाष्य अधिकरणभाष्य तथा सूत्रभाष्य के क्रमशः 'अणुभाष्य' 'न्यायविवरण' 'अनुव्याख्यान' तथा 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' नामक पृथक्–पृथक् भाष्य प्रकट किये हैं. इनमें प्रथममें यह कहा है कि विष्णु ब्रह्म तथा दाता के रूपोंमें नित्य उपासना करते रहनेसे उसका अपरोक्ष साक्षात्कार होता है(अणुभा.). उपनिषद्वचन और उसके तात्पर्य के श्रवण मनन और निदिध्यासन के आवर्तन किये बिना यदि अपरोक्षज्ञान शक्य होता तो सभी मुक्त हो गये होते. यह तो महाफल है अतः सभीको सुलभ न होना इसका गुण ही है, यह दोष नहीं है (न्या.वि.) ब्रह्मसूत्रके प्रथम और द्वितीय अर्थात् समन्वय और अविरोध साधक अध्यायोंके द्वारा उस परतत्त्वकी विरोधरहित सिद्धि की गयी. तृतीयमें उसकी प्राप्तिके अशेष साधनोंको निर्धारित किया गया. यहां इस फलाध्यायमें नित्यशः आत्यन्तिकतया अवश्यकर्तव्यरूप साधनका चिन्तन किया जा रहा है. तुम वह नहीं हो जैसे वेदान्तवचनोंका श्रवण मनन और निदिध्यासन एक बार करके छोड़ नहीं देना चाहिये. उसे निरन्तर करते रहने चाहिये(अनुव्या.).

अतः इस अध्यायके चार पादोंमेंसे प्रथममें अनिष्टकर्मोंके नाशद्वारा अनिष्टकर्मोंके कारण होते दुःखानुषंगका भी नाश होनेपर मिलती जीवन्मुक्तिका प्रतिपादन अभिप्रेत है. द्वितीय पादमें दुःखरहित ब्रह्मविद्को यथेच्छ मिलनेवाली विदेहमुक्ति निरूपित हुयी है. तृतीय पादमें देहत्यागके कारण इहलोकसे विमुक्तिरूप उत्तरोत्तर अधिक सुखोंवाली अर्चिरादि देवोंके स्थानमें मिलनेवाली मुक्तिका वर्णन अभिप्रेत है. चतुर्थ पादमें लिङ्गशरीरसे भी विमुक्तिरूपा निःशेषदुःखोंकी निवृत्ति और परमसन्तोषरूपा सुखानुभूति की प्रदायिका मुक्ति प्रतिपाद्य है (तत्त्वदीपिका)

तद्नुसार यहां इस पादके आदिम सूत्रमें अग्निष्टोमादि कर्मोंकी तरह केवल एक बार ही नहीं अपितु निरन्तर सम्भावित सभी विघ्नोंके प्रतिकारद्वारा सकलनियामक सुसूक्ष्म विष्णुतत्त्वका और स्वयं साधकके तदधीन होनेका श्रवण मनन और निदिध्यासन करते रहने चाहिये. यह निरूपित किया गया है. कर्मनाशार्थ ही पहले भी वरुणपुत्र भृगुने पुनः पुनः तपके आवर्तनद्वारा उपदेशका श्रवण मनन और निदिध्यासन किया था, ऐसा तैत्तिरीयोपनिषद् में भी वर्णन मिलता है. तन्त्रोंमें भी ऐसा ही उपदेश मिलता है कि श्रवणादि नित्यशः करने चाहियें (ब्र.सू.भा.)

(६)विशेषाद्वैतवादी श्रीपतिभगवत्पादाचार्य कहते हैं कि प्रस्तुत पादमें तृतीयाध्यायोक्त सभी विद्याओंके फलका निरूपण अभिप्रेत है. [क]केवल एक बार आवर्तन

करनेसे बुद्धि शिवात्मिका नहीं हो पाती है. परिणामतः विस्मरणकी सम्भावना बनी रहती है. अतः सर्वदा शिवोपासनापरायण रहना चाहिये. जहां एक बार भी किसी मन्त्रके उच्चारणमात्रसे या एक बार भी भगवान्‌की शरणागति ले लेनेमात्रसे मुक्ति मिलनेके विधान उपलब्ध होते हैं वे, कर्तव्योपदेशार्थ वचन नहीं हैं. ऐसे वचन तो माहात्म्यप्रतिपादनार्थ ही हैं. [ख]''ऊर्ध्वाय... ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः'' जैसे वचनोंमें शिवलिङ्गकी सर्वात्मकता निरूपित हुयी है. तदनुसार बाह्य भौतिक पदार्थोंमें तथा अपने शरीरमें भी बाह्याभ्यन्तर शिवलिङ्गकी भक्तिमयी स्थापना करके शिवाराधनाके अनुवर्तनार्थ चलते-फिरते उठते-बैठते सर्वदा अनन्यभावके साथ श्रवण कीर्तन स्मरण ध्यान पूजन आदि करते रहनेकी रीतिके कारण भी असकृद आवर्तनकी बात पुष्ट हो पाती है.

(७) अविभागाद्वैतवादी श्रीविज्ञान भिक्षुके अनुसार तृतीयाध्यायकी समाप्तिमें जो यह कहा गया था कि विद्यालभ्य ज्ञानमें कई बार ऐहिक, अर्थात् शारीरिक या मानसिक आदि, प्रतिबन्ध अकस्मात् ही बीचमें आ पड़ते हैं. सो यहां इस पादमें अब उन आकस्मिक प्रतिबन्धोंके निराकरणार्थ तथा असम्प्रज्ञातसमाधि जब तक सिद्ध न हो जाये तब तक, विद्याके सतत आवर्तन करते रहनेकी बात समझायी जा रही है. इसकी प्रमाणोपपत्तिके रूपमें ''तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः'', ''एतद् ज्ञेयं नित्यमेव आत्मसंस्थम्'', ''तमेव एकं जानथ आत्मानम्'' आदि वचनोंके आधारपर सतत आवर्तन की अपेक्षा कही जा रही है. इस ऐसे अभ्यासके बिना हमारे चित्तकी सकल वृत्तियोंका निरोध शक्य नहीं हो पाता. अतः ध्येयविषयक ध्यान-धारणा और तदितरविषयों में वैराग्य के सतत अभ्यासद्वारा ही समाधि ध्येयसाक्षात्कारजनिका हो पाती है.

इस पूर्वसन्दर्भोपात्त चिन्तनकी पृष्ठभूमिका विहगावलोकन करनेसे जो बात उभर कर सामने आती है वह यह है कि (१)केवलाद्वैतवादके अनुसार मुक्ति आत्यन्तिक निर्विशेषाद्वैतरूपा होनेसे उस अवस्था तक पहुंचानेवाले श्रवणादिका अनुवर्तन भी वहां अनावश्यक होनेके कारण ही इन्हें साधनाध्यायशेष विचारके रूपमें इस अधिकरणको लेना पड़ा है, अन्यथा फलाध्यायगत साधनमीमांसाकी प्रकरणोपात्त अपूर्वता उपेक्षणीय क्यों हो पाती? साधनाध्यायके सर्वापेक्षाधिकरणमें भाष्य भामती तथा वेदान्तकल्पतरु ने विशद् विमर्शद्वारा यह सिद्धान्तित किया है कि ब्रह्मज्ञान, अपने चतुर्विध-१.श्रवण, २.मनन, ३.निदिध्यासन और ४.साक्षात्कारात्मकवृत्ति रूप-सोपानक्रमोंमें प्रथम द्वितीय सोपानोंपर आरोहणसे पूर्व यज्ञ-दान-तपोरूप विद्याके बहिरङ्ग साधनरूप आश्रमकर्मोंकी अपेक्षा रखता है. आरोहणके समय शम दम उपरम

तितिक्षा और समाधिरूप साधनोंको सप्रयत्न किये जानेकी अपेक्षा रखता है. तृतीय सोपानपर आरूढ़ होते ही अप्रयत्नसिद्धतया अर्थात् स्वभावसिद्धतया शमादि अन्तरङ्ग साधनोंकी अनुवृत्ति बनी रहती है– ''तस्माद् यथैव शमदमादयो यावज्जीवम् अनुवर्तन्ते एवम् आश्रमकर्मापि इति असमीक्षिताभिधानं... शमदमादीनां तु विद्योत्पादाय उपात्तानाम् उपरिष्टाद् अवस्थास्वाभाव्याद् अनपेक्षितानामपि अनुवृत्तिः''(भामती) 'परमशान्तं ब्रह्म अस्मि' इति पश्यतः स्वभावादेव शमादि स्याद् न यत्नसाध्यम्'' (वेदा.कल्प.) (ब्र.सू.भा. ३।४।२६–२७). चतुर्थ सोपानपर आरूढ़ होते ही सारे ही साधन स्वतोनिवृत्त हो कर आत्मकैवल्य सिद्ध हो जाता है. इस प्रक्रियामें यदि विदेहमुक्ति ही केवल सिद्धान्ताभिमत होती तो कथा सरल हो जाती परन्तु जीवन्मुक्ति– ''जिसकी आत्मचेतनामें अविद्याका विक्षेप भी भासित न होता हो उसे ब्रह्मविद् नहीं माना जा सकता है, वह तो स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है. ब्रह्मदर्शन या ब्रह्मादर्शन दोनोंसे परे जो स्वयंके कैवल्यमें अवस्थित हो जाता है वह तो ब्रह्म ही होता है ब्रह्मविद् नहीं'' (पञ्चदशी: ४१६१) जैसे वचनोंमें मान्य रखखी गयी है. इस जीवन्मुक्तिमें शमदमादिकी तरह श्रवण मनन ध्यान उपदेश आदिका अनुवर्तन भी आविक्षेप मान्य होनेसे उन्हें 'अवस्थास्वाभाव्यात्' होना चाहिये था. उसे यहां स्वीकारे जानेपर साधनाध्यायावशिष्ट चिन्तनकी उखढ प्रकरणानभिप्रेत सिद्ध हो जाती. (२)केवल वेदान्तवचनोंके आवर्तनमात्रसे नहीं अपितु कर्मसमुच्चित ज्ञानसे प्रकट हुवे अदृष्टके कारण, अर्थात् शब्दजन्य अपरोक्षानुभववादके निरसनद्वारा, ब्रह्मदर्शन स्वीकारनेवाले श्रीभास्कराचार्य की व्याख्यामें इससे अधिक विशेष कुछ उल्लेखनीय नहीं है. (३)श्रीरामानुजाचार्यकी व्याख्यामें तृतीय सोपान निदिध्यासनको ही, ध्रुवा या अविच्छिन्ना स्मृति होनेके कारण, भक्तिरूप माना गया है. यह वस्तुतः उल्लेखनीय तथ्य है. अर्थात् जीवन्मुक्त होना ज्ञानीका एकाधिकार नहीं क्योंकि भक्त भी जीवन्मुक्त हो सकता है. (४)श्रीनिम्बार्काचार्यके अनुसार श्रवणादिके अभ्यासके अलावा भगवदनुग्रहको भी दर्शनकारणतया मान्य किया जाना भी साधना तथा फलानुभूति की धारणामें एक उल्लेखनीय क्रोशस्तम्भ है. (५)अभेदभाव रख कर श्रवणादिका अभ्यास नहीं किन्तु 'अतत्त्वमसि' वचनोक्त भेदभावमूलक अभ्यासपर भार देनेवाले श्रीमध्वाचार्यसे ब्रह्म–जीवके स्वाभाविकाभेदमें ऐच्छिकभेद देखनेवाली शुद्धाद्वैतदृष्टि मान्य करनेकी अपेक्षा तो रखी ही नहीं जा सकती. फिरभी उनके द्वैताग्रहको ऐच्छिकद्वैतके रूपमें मान्य कर लेनेमें शुद्धाद्वैतवादको कोई विशेष कठिनाई अनुभूत नहीं हो सकती. (६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके अनुसार शिवलिङ्गकी बाह्याभ्यन्तर भक्तिमयी स्थापनाके साथ–साथ अपने आराध्यके श्रवणकीर्तनपूजनादिके आजीवन आवर्तन तथा अपने

आराध्य की बाह्याभ्यन्तर भक्तिरूपा अनुभूतिकी महत्ता भी वस्तुतः अतिशय उल्लेखनीय अधिकरणाभिप्राय है. अन्तमें (७) श्रीविज्ञान भिक्षुद्वारा इस सारे सन्दर्भको इतरविषयोंसे व्यावृत्त चित्तवृत्तिकी अपने ध्येयविषयके बारेमें असम्प्रज्ञात समाधिके रूपमें देखनेका प्रतिपादन प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिके अर्थात् निरोधके समानान्तर हमें पहुंचा देता है.

(८)अतएव इस अंशपर शुद्धाद्वैतवादी भाष्य प्रकट करनेवाले महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य और तदात्मज श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण कहते हैं कि सभी श्रुतिवचनोंके परस्पर समन्वय एवं अन्यान्य प्रमाणाभासोंके कारण प्रतीत होते विरोधके निराकरण के सिद्ध हो जानेपर श्रौत साधनोंका आश्रय ले कर प्रकृत जीवनमें ही ब्रह्मविद् हो पानेवालेकी अग्रिम व्यवस्था इस पादमें दिखलायी जा रही है. [क]ऐसे जीवन्मुक्तके द्वारा किये जाते श्रवण मनन और निदिध्यासन, भगवद्दर्शनरूप दृष्टोपकारार्थ ही होनेसे, इनकी आवृत्ति करते रहनी चाहिये. वैसे तो यह फलप्रकरण है फिरभी साधनरूप भी श्रवणादि फलानुभूतिके अन्तरंग उपाय होते हैं अतः यह निरूपण किया जा रहा है. [ख]श्रवणादिके फलतया तो दर्शनको स्वीकारा गया है, सो फलाध्यायमें उस भगवद्दर्शनकी मीमांसा करनेके बजाय पुनः श्रवणादि साधनोंकी मीमांसा, इस तथ्यका द्योतन करती है कि परमात्माका परोक्षज्ञान भी अवान्तरफलरूप होता है (वैसे भक्तिमार्गकी दृष्टिसे अवलोकन करनेपर तो भगवद्दर्शन भी इतरविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके साथ न होता हो तो परमफलरूप नहीं होता). इतरविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके साथ किये गये होनेपर भगवद्दर्शनरूप परमफलसदृश होनेसे परमात्मसम्बन्धी श्रवण-मनन-निदिध्यासन भी फलमध्यपाती ही हो जाते हैं. फलप्रकरणमें साधनविचार इसी निगूढाशयवश किया गया है. शाब्दक्रमकी तुलनामें आर्थक्रमको बलवान मान कर कर्म ज्ञान-भक्तिरूप तीनों ही मार्गों के फलोंके विचारक्रमके अनुसार प्रथम कर्मफल जन्ममरणावृत्तिरूप होता है, ऐसा भी वर्णकान्तर भाष्यकारने प्रस्तावित किया है (सो.अर्थापत्तिद्वारा अवशिष्ट ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग जन्ममरणचक्रावृत्तिसे रहित होते हैं यह भी ध्वनित हो ही जाता है).

फलप्रकरणगत लीलोपदेश:

फलतः भगवान्के समीप गोपिकाओंका रासलीलार्थ अभिसरण कर्ममार्गीय न होनेसे जन्ममरणचक्रावृत्तिरहित हो जानेवाला है, ऐसा भी विचारा जा सकता है. तत्त्वार्थदीपनिबन्धके द्वितीय प्रकरणमें महाप्रभुने शास्त्रीय कर्मके तीन- [१]आधिभौतिक [२]आध्यात्मिक तथा [३]आधिदैविक-रूपोंका विवेचन किया है. इनमें प्रथमकें दो अवान्तर- प्रकारोंके अन्तर्गत [१/क]काम्यकर्मोंका फल यथाकाम होता है परन्तु सकाम

अधिकारीद्वारा भी अनुष्ठित [१/ख]नित्यकर्मोंका फल जन्म-मरण-चक्रावृत्तिके सहित लोकात्मक स्वर्गप्राप्ति माना है. द्वितीय ब्रह्मज्ञानरहित कर्मोंका फल जन्म-मरण-चक्रावृत्तिरहित आत्मसुख या आत्मानन्द स्वीकारा है. तृतीय ब्रह्मज्ञानसहित कर्मोंके दो उपभेदोंके अन्तर्गत मर्यादया क्रममुक्ति अथवा कृपया सद्योमुक्ति भी स्वीकारी है (द्र.: त.दी.नि.२।१-१९) अतः यहां जिस कर्ममार्गको आवृत्तिसहित निरूपित किया जा रहा है वह प्रथम प्रकारके कर्ममार्गके सम्बन्धी विधान है. शास्त्रविहित कर्मको महाप्रभु केवल भगवत्प्रीतिसाधक होने के बजाय भगवद्रूपतया ही स्वीकारते हैं (द्र.: त.दी.नि.२।२). अतएव सकामकर्मों के अनुष्ठानमें ब्रह्मानन्द स्वरूपेण अनुभूत होनेके बजाय आनन्दांशके तिरोधानद्वारा नाम रूपात्मना परिणत वैषयिक क्षुद्रसुख अथवा आनन्दाभास के रूपमें ही प्रकट हो पाता है. अतएव ''एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति'' (बृह.उप.४।३।३२) जैसे वचन इसी तथ्यको प्रमाणित करते हैं. स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञानसहित कर्मफलका विचार ज्ञानफलके विचारसे विचारितप्राय: है तथा आत्मसुखरूप कर्मफलका विचार ज्ञानमार्गीय फलके अन्तर्गत क्रममुक्तिके विचारसे विचारितप्रायः है.

यहां तक पहुंच जानेपर अब रासलीलाके बारेमें वाल्लभ दृष्टिकोणको समझने हम प्रवृत्त हो सकते हैं.

तामस प्रमेय-प्रकरणमें वेणुगीतके प्रसंगमें सुबोधिनीमें यह कहा गया है कि वृन्दावनमें किया गया वेणुकूजन गोकुलमें गोपिकाओं को जो श्रुतिगोचर हुवा वह कोई लौकिक प्रक्रियाद्वारा तो शक्य नहीं था. यह तो औपनिषदिक विद्याओंके अभ्यासके कारण जैसे ब्रह्मका स्वरूप अधिकारीकी समझमें शनैः-शनैः आने लगता है, वैसे ही ब्रह्मविद्याके स्थानापन्न स्वस्वरूपबोधके जननार्थ स्वयं भगवानद्वारा अभ्यासरूपेण अनुष्ठित वेणुवादनकी कोई अलौकिकप्रक्रिया थी. प्रतिदिन गोचारणके समय इस वेणुवादनाभ्यासके द्वारा सम्पन्न श्रवणाभ्यास मननाभ्यास और ध्यानाभ्यास व्रजभक्तोंको सिद्ध हुवे थे. इसे ही भागवती भाषामें कहना हो तो वेणुकूजनके श्रवण, वेणुगोपालकी लीलाके कीर्तन; तथा इसके कारण बने रहते अखण्ड भगवत्स्मरण आदि उपायोंद्वारा सभी व्रजभक्तोंके हृदयमें भगवत्स्वरूप एक स्थिर प्रमेयतया निरुद्ध हो गया था. अतः फलप्रकरणके प्रारम्भमें वर्णित वेणुनाद फलात्मक श्रवण ही था, यह सुनिश्चित हो जाता है. इस वेणुवादनद्वारा भगवान् रासलीलार्थ आमन्त्रित कर रहे हैं ऐसा झटिति समझमें आ जाना वस्तुतः लीलौपयिक फलात्मक मनन था. और ''ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिः पुत्रबन्धुभिः गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः'' (भाग.१०।२६।८) वचनमें दिखलाया गया सिद्धोपायरूप भगवान् के बारेमें गोपिकाओंका मोह

श्रुतवेणुनादकी तात्पर्यमीमांसाद्वारा निर्धारित निर्विचिकित्स नादाभिप्रायबोध ही था. इसी तरह ''मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्'' (भाग.१०।२६।३१) वचनमें निरूपित प्रतिवाद भी निदिध्यासितार्थकी ही उपपत्ति थी!

रासलीलार्थ अपने घरसे निकल न पानेवाली अन्तर्गृहगता गोपिकाओं के वर्णनमें आता है कि वे जारभावसे भगवान्को चाहती थी. वे रासविहारी भगवान् तक सदेह उपगमन कर पानेके बजाय विदेह उपगमन करनेमें ही समर्थ हुयी. अर्थात् उन्होंने भगवान्में सायुज्य प्राप्त कर लिया. यह ''मुक्तोपसृप्य ब्रह्मके स्वरूपमें रही आत्मरतिका ही अत्यद्भुत आधिदैविक नाम-रूप-कर्मात्मक विस्तार यह रासलीला है'' इस तथ्यके द्योतनार्थ है. विद्यारूप वेणुनादका अनंगवर्धक श्रवण, समस्त अशुभ कर्मफलोंका नाशक ऐसा जारभावात्मक तीव्रतापरूप मनन तथा, अपने प्रियतमका ध्यानप्राप्त समस्त शुभकर्मफलातिशायी आश्लेष यानि निदिध्यासन प्रस्तुताधिकरणोक्त औत्सर्गिक नियमका अपवाद है. क्योंकि भागवत तो उपेयप्रयत्नरूपा लीलाओंका निरूपण करनेवाला एक भाष्य है.

आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश:

आधुनिक पुष्टिमार्गीय इसी अनुभावना में परायण हो पायें एतदर्थ उपदिष्ट प्रकरणग्रन्थोंमें श्रीयमुनाष्टक (कारि.७ तथा९) में 'तनुनवत्व' तथा 'स्वभावविजय' पदोंके द्वारा भूतलपर विद्यमान पुष्टिभक्तकी फलानूभूतिका निरूपण किया गया है. इसी तनुनवत्वका सिद्धान्त मुक्तावली (कारि.१ तथा २)में ''मानसी सा परा मता'' द्वारा मुख्यफलके रूपमें निरूपण है; और ''ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिः ब्रह्मबोधनम्'' द्वारा अवान्तर फलोंका. पुष्टिप्रवाहमर्यादा (कारि.१७- २१) में इसे ''भगवानेव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेद्'' इन शब्दोंमें कहा गया है. भूतलके ऊपर स्वरूपप्राकट्य स्वसेवाप्रदानार्थ और गुणप्राकट्य स्वीय गुणोंके श्रवण कीर्तन एवं स्मरण करानेके लिये होता है. व्रजभक्तोंके सर्वात्मभाव जैसी ही हमारी भी भक्तिके विकासार्थ सर्वसमर्पणोपदेशक सिद्धान्तरहस्य (कारि.७ तथा ९) में ''तथा कार्यं समप्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः वचनोंद्वारा'' जीवितावस्थामें होती फलानुभूतिका निरूपण है. विवेकधैर्याश्रय (कारि.१३) में ''अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः'' वचनमें 'अलौकिकमनः सिद्धिः' पदद्वारा इसी अवस्थाको भगवच्छरणागतिद्वारा चाहे पाये जानेकी बात बतायी गयी है. यहां 'पारलौकिकमन: सिद्धि' शब्दप्रयोग करनेके 'अलौकिकमनःसिद्धि' पदका प्रयोग इस फलके इहलोकमें प्रदानको सूचित करता है.

चतुःश्लोकी (कारि.४)में भी ऐसे ही अलौकिकमनके द्वारा पुष्टिमार्गीय मोक्षपुरुषार्थतया भगवत्स्मरणभजनके आजीवन आवर्तनका उपदेश मिलता है. भक्तिवर्धिनी (कारि.१ तथा ५) में भक्तिके बीजभावके दृढ़ होनेकी स्थितिमें गृहत्यागपूर्वक आजीवन किये जाते श्रवण-कीर्तनकी फलरूपताका निरूपण तथा भक्तिकी व्यसनदशाके रूपमें भी इसी जीवनमें मिलती फलानुभूतिका निरूपण अभिप्रेत है. विषयविस्मृति या विषयविरक्ति के शुष्क मनोभावोंके साथ अथवा तो साधनरूप श्रवण-स्मरण-कीर्तनके निर्वाहार्थ भी आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके लिये संन्यास या गृहत्याग सर्वथा अनावश्यक ही होता है. आत्मरतिके विप्रयोगात्मक रसानुभावके रूपमें श्रवण-मनन-निदिध्यासन या श्रवण-कीर्तन-स्मरण के आवर्तनार्थ फलात्मक संन्यास अनुज्ञात है, यह संन्यासनिर्णय (कारि.१९-२०) में दिखलाया गया है. निरोधलक्षण ग्रन्थ तो सम्पूर्णतया भागवतकी दशमस्कन्धीय लीलाओंको आधुनिक पुष्टिभार्गीय भी कैसे निर्बाध जी पायें, एतदर्थ इन लीलाओंके आस्वादनीय भावोंकी भावनाओं, बजाय अनुष्ठेय उपायों; तथा अवर्जनीय सावधानियोंके उपदेशार्थ ही प्रकट हुवा है. अन्तमें सेवाफल (कारि.१ तथा ४) में 'पारलौकिकसामर्थ्य' पदका प्रयोग न करते हुवे 'अलौकिक सामर्थ्य' पदका प्रयोग तथा उसे 'निष्प्रत्यूह-महान् भोग' के रूपमें बिरदाना भी, यह फलानुभूति इसी भूतलपर विद्यमानतामें सिद्ध होनेवाली ब्रह्मकी फलात्मिका अनुभूति है, इस तथ्य की पुष्टि है.

(२)आत्माधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोपदेश तथा आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता:

[क]'आत्मा' इति तु उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च. [ख]न प्रतीके न हि स. [ग]ब्रह्मदृष्टिर् उत्कर्षात्(ब्र.सू.४।१।३-५).

(१)केवलाद्वैतवादके अनुसार [क]वैसे परमेश्वर अपहतपाप्मा होता है और जीव तद्विपरीत फिरभी परमेश्वरोपासना आत्मतया ही करनी चाहिये. क्योंकि जाबाल परमेश्वरको -''तुम मैं हो मैं तुम हूं'' इस तरह समझते हैं और ''यह तुम्हारी आत्मा अमृत अन्तर्यामी है'' जैसे वचन भी यही बात हमें समझाते हैं. यहां निजात्माकी ब्रह्मप्रतीकतया उपासनाकी विधि होनेकी कल्पना नहीं की जा सकती. क्योंकि एक तो ऐसी स्थितिमें 'आत्मा' पदको गौण मानना पड़ेगा और दूसरी बात यह कि आत्मत्व प्रतिपादक वचन श्री विरूप बन जायेगा. प्रतीकोपासनामें किसी एक वस्तुको अन्यका प्रतीक मान कर उस अन्यके रूपमें इसकी उपासना करनेको कहा जाता है. एक-दूसरे को कभी इतरेतरात्मक नहीं माना जाता. इसके अलावा अपने उपास्यकी भेददृष्टिसे उपासना करनेकी निन्दा भी की गयी है, उदाहरणतया, ''जो अपने उपास्यको अपनेसे

अन्य देवता मान कर उपासना करता है, वह उपासना कैसे करनी यह जान ही नहीं पाया है''–''इस तत्त्वमें जो कोई नाना जैसा कुछ देखता है वह मृत्युसे भी भयंकर मृत्युको प्राप्त करता है''– ''उसका सर्वत्र पराभव होता है जो आत्मासे अन्यत्र कुछ भी देखता है'' जैसे अनेक वचनोंमें. अपनी आत्माके रूपमें परमेश्वरकी उपासना करनेका एक फलितार्थ या तो यह होगा कि परमेश्वरको भी संसारी मानना पड़ेगा सो वह परमेश्वर ही नहीं रह जायेगा. संसारी पुरुषको, अथवा, परमेश्वरतया स्वीकारनेपर उसे किसीके उपासक बननेकी आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी. ऐसा सोच भी वस्तुतस्तु अनावश्यक ही है, क्योंकि शास्त्रप्रामाण्यके आधारपर ही जैसे परमेश्वरको अपहतपाप्मा माना जाता हैं ऐसे ही जीवात्माको संसारी भी; और, इन दोनोंके ऐसे ही होनेके बावजूद परमेश्वरकी आत्मतया उपासना भी शास्त्रप्रामाण्यसिद्ध ही है. [ख]''न प्रतीके न हि सः'' सूत्रको श्रीशंकराचार्य पृथक् अधिकरणतया स्वीकारते हैं और इस सूत्रका अभिप्राय यों बताते हैं कि अद्वैतात्मरूप अधिष्ठानपर जैसे अपने संसारी जीव होनेका भ्रमारोपण होता है, ऐसे ही स्वेतर समस्त दृष्टादृष्ट विषयोंका भी एतावता जहां प्रतीकोपासनाकी विधि हो वहां भी आत्मतया ही उपासनाकी धांधल नहीं कर देनी चाहिये क्योंकि अपनी मिथ्या संसारिताके अपोहनद्वारा अपनी आत्माको ब्रह्म या परमेश्वर के रूपमें जाननेका जो उपदेश है, वह अपने आपको ब्रह्मका एक प्रतीक मान कर प्रतीकोपासनाके विधानतया नहीं है. अतः किसी प्रतीककी प्रतीकताके अपोहनद्वारा ब्रह्मदृष्टिका उपदेश स्वीकारनेपर वह प्रतीक नहीं रह जायेगा. और प्रतीकतया स्वीकारनेपर तो ब्रह्माभेददृष्टिका उपदेश ही अनुपपन्न हो जायेगा. इसी तरह [ग]''ब्रह्मदृष्टिर् उत्कर्षात्'' सूत्रको भी पृथगधिकरणतया स्वीकार कर श्रीशंकराचार्य यह शंका–समाधान करते हैं कि ''आदित्यो ब्रह्म'' जैसे उपासनाविधायक वाक्योंमें आदित्यकी ब्रह्मतया अथवा ब्रह्मकी आदित्यतया उपासना स्वीकारनी? इस जिज्ञासाका समाधान यह है कि उत्कृष्ट वस्तुके रूपमें किसी निकृष्ट वस्तुकी उपासना करनी चाहिये, निकृष्ट वस्तुके रूपमें उत्कृष्ट वस्तुकी नहीं. साधारण क्षत्रियको 'राजा' कहनेमें कोई अविवेक नहीं होता परन्तु राजाको 'साधारण क्षत्रिय' कहनेमें अविवेक हो जाता है. 'आदित्य' जैसे शब्दोंके प्रत्यक्षादि प्रमाणगम्य अर्थ, बुद्धिमें पहलेसे ही आरूढ़ हो जाते होनेसे, उनका गौणार्थ ले पाना कठिन होता है. शास्त्रैकगम्य ब्रह्मरूप अर्थ बुद्धिमें देरसे उपस्थित होता होनेसे, इस प्रसंगमें आदित्य न होनेकी बात समझमें आनेपर 'ब्रह्म' का गौणार्थ भी स्वीकार लेनेमें कोई बाधा नहीं आती. जैसे प्रतिमाको विष्णु आदि देवताके रूपमें स्वीकारनेपर कुछ भला होता है (विष्णुको, किन्तु, जड़ प्रतिमा मानना विष्णुका अनादर ही होगा) इसी तरह ब्रह्मका ऐसा फलप्रदायक माहात्म्य है कि आदित्यके बारेमें ब्रह्मदृष्टि रख कर

उसकी उपासना से हमारा कुछ भला होता है.

(२)श्रीभास्कराचार्य यहां [क]सूत्रमें यह विशेषतया प्रतिपादन करते हैं कि परमेश्वर और जीव दोनों परस्पर विरोधी गुणोंवाले होते हैं सो ऐसी स्थितिमें परमेश्वरकी आत्मतया उपासनाको कैसे उचित माना जा सकता है? भेद और अभेद दोनों ही नित्यसिद्ध होते हैं फिरभी उपाधिकृत भेद अभेदभावनाके द्वारा दूर हो जाता है. आगमें तपानेसे सोनेमें रहा पूर्वसिद्ध मल जैसे निवृत्त हो जाता है. [ख]सूत्रके भाष्यमें श्रीभास्कराचार्यने यह शंका-समाधान किया है कि उपादेय कार्यको उपादानकारणतया भी देखा जाता होनेसे आदित्यो ब्रह्म जैसे वचनोंके आधारपर; और क्योंकि, जिस ब्रह्मकी उपासना आत्मतया कर्तव्य है, उस ब्रह्मसे प्रतीक भी अभिन्न होता है, सो एतावता आदित्यादि प्रतीकोंकी आत्मतया उपासना नहीं की जा सकती. अतः प्रतीकोपासनाकी विधियोंमें कार्यवस्तुकी उपासनाका उपदेश है, कारणवस्तुकी उपासनाका नहीं जैसे ''वस्त्रदान करो'' विधानमें कार्यवस्तु पटका दान अभिप्रेत होता है, कारणवस्तु तन्तुओंका नहीं. सूत्रमें कोई उल्लेखनीय व्याख्यान्तर नहीं दिया गया है.

(३)श्रीरामानुजाचार्यका कहना है कि [क]शास्त्रोंमें भेददृष्टिकी कहीं निन्दा तो कहीं प्रशंसा भी दिखलायी देती है. अतः जैसे अपने शरीरसे अपनी आत्माके कुछ अधिक होनेपर भी शरीरकी तरह ही आत्माके बारेमें अहंताका अनुसन्धान हमें होता है, इसी तरह परमेश्वरके बारेमें भी वह हमारी आत्माके भी भीतर बिराजमान आत्मासे कुछ अधिक अन्तर्यामी परमात्मा है, ऐसे आधिक्य तथा अभेद दोनोंका अनुसन्धान रखना आवश्यक होता है. [ख]सूत्र के बारेमें श्रीरामानुजाचार्यका कहना है कि प्रतीकोपासनामें उपास्य प्रतीक होता है स्वयं परमात्मा नहीं. वह प्रतीक उपासकान्तर्यामी नहीं होता सो प्रतीककी आत्मतया उपासना नहीं करनी चाहिये. सूत्रमें यह कहा गया है कि ''मनो 'ब्रह्म' इति उपासीत'' जैसे वचनोंमें मन आदिकी ब्रह्मदृष्टया उपासना करनी चाहिये, ब्रह्मकी मनोदृष्ट्या नहीं.

(४)श्रीनिम्बार्काचार्यकृत वृत्तिके अनुसार भाष्य लिखनेवाले श्रीश्रीनिवासाचार्यने सूत्रगत 'उपगच्छन्ति' और 'ग्राहयन्ति' पदोंके बहुत ही स्वीकार्यतर श्रौत सन्दर्भ क्रमशः यों उद्धृत किये हैं ''एष मे आत्मा अन्तर्हृदये एतद् ब्रह्म''(छान्दो. उप.३।१४।४) ''एष ते आत्मा सर्वान्तरः'' (बृह.उप.३।४।१). परमेश्वरको आत्मतया स्वीकारनेकी दृष्टिकी विवेचना करते हुवे भाष्यकार कहते हैं कि अज्ञ जीव अंशभूत होता है तथा सर्वज्ञ ब्रह्म अंशी यों स्वरूपतः भिन्न होनेपर भी वृक्षपर उगते वृक्षात्मक पत्तोंकी तरह जीव भी ब्रह्मात्मक होता है. सूर्य स्वयंप्रकाशमान होने और परप्रकाशनका भी कार्य करनेको स्वाधीन होता है. उसकी किरणें, परन्तु, सूर्याधीन होती हैं. उसी तरह

ब्रह्म स्वाधीन होता है और जीव ब्रह्माधीन. ब्रह्मनिरपेक्षतया अपनी स्थिति या प्रवृत्ति के हेतु अक्षम होनेके कारण भी जीव ब्रह्मात्मक होता है. दो पदार्थोंके बीच किसी तरहके अभेदके रहनेपर ही दोनोंके बीच तादात्म्यसम्बन्ध स्वीकारा जा सकता है. एक वस्तुका स्वयं अपने आपके साथ तादात्म्यसम्बन्ध स्वीकारा नहीं जाता; और, न गाय और घोड़े की तरह सर्वथा इतरेतरानात्मक वस्तुओंके बीच भी वह तादात्म्यसम्बन्ध उपपन्न होता है. कार्य-कारण, गुण-गुणी और शक्ति-शक्तिमान जैसी दो भिन्न वस्तुओंके बीच ही तादात्म्यसम्बन्ध उपपन्न होता है. ये भेद और अभेद दोनों ही स्वाभाविक होते हैं. ख-ग सूत्रोंमें कोई उल्लेखनीय व्याख्यान्तर नहीं दिया गया है.

(५)श्रीमध्वाचार्यके अनुसार ये तीनों ही सूत्र पृथक्-पृथक् अधिकरण हैं. प्रथम [क]सूत्रमें इनके अनुसार 'आत्मा' शब्दका अर्थ स्वामी होता है और स्वामीकी तरह विष्णुकी उपासना अन्य किसी भी प्रकारकी उपासनाके बजाय अधिक फल देनेवाली होनेसे नित्यशः करनी चाहिये(न्या.वि.) 'आत्मा' यह साक्षात् नारायणका ही नाम होनेसे इस नामद्वारा सभी सन्त पुरुष उसकी उपासना करते हैं और इसी नामका उपदेश भी देते रहते हैं(अनुव्या.). अतः 'आत्म' शब्दद्वारा विष्णुकी स्वामित्वेन उपासना अन्य सभी उपासनाओंसे अधिक फल देनेवाली होनेके कारण नित्यशः करनी चाहिये. क्योंकि उपनिषदोंमें भी इसी तरह उपासना की और करायी गयी निरूपित हुयी है. चाहे कैसा भी क्लेश जीवनमें सहन क्यों न करना पड़ता हो पर विष्णुको अपनी आत्मा = स्वामीके रूपमें कभी विस्मृत नहीं करना चाहिये(ब्र.सू.भा.) इसके बाद आते [ख]सूत्रके व्याख्यानमें कहा गया है कि जो अपने-आपको, या किसी प्रतिमाको, या देवतान्तरको; अथवा किसी भी चेतनाचेतन वस्तुको केशवके रूपमें निहारता है, उस ईशापहारी चोरको कौन सा पाप नहीं लगता! वह तो अन्धन्तम-नरकगामी ही बनता है. अतः प्रतीकत्वेन नहीं परन्तु प्रतीकान्तःस्थितत्वेन ही विष्णुकी उपासना करनी चाहिये (अनुव्या.). अनेकत्र अनेकानेक वस्तुओंके बारेमें उनकी ब्रह्मतया उपासना करनेके उपदेशको देख कर भ्रमित नहीं हो जाना चाहिये परन्तु उन सभीके अन्तः स्थिततया विष्णु अवस्थित रहता है ऐसी बुद्धि करनी चाहिये. अतः ऐसे प्रतीकोंकी ईश्वरत्वेन उपासना नहीं करनी चाहिये (ब्र.सू.भा.). इसके बाद आनेवाले सूत्रमें श्रीमध्वाचार्यका कहना है कि विविध गुणोंके चिन्तनद्वारा उपासना करने से विष्णुकी प्रीति अधिक सम्पादित हो पाती हो तो नित्य केवल ब्रह्मतया ही उपासना क्यों करनी करनी चाहिये? इस प्रश्नका समाधान यह है कि 'ब्रह्म' के रूपमें विष्णुकी उपासना करनेपर विष्णुके अशेषगुणोंका बोध होता होनेसे ब्रह्मतया उपासना तो नित्य ही करनी चाहिये (न्या. वि.). जैसे विष्णुको सर्वदा आत्मदृष्टिसे निहारना आवश्यक होता है ऐसे ही ब्रह्मदृष्टिसे

भी ब्रह्मत्वरहित केवल आत्माके रूपमें विष्णुको कभी नहीं निहारना चाहिये. 'ब्रह्म' यानि जो पूर्ण, भूमन् या महान् हो. अतः 'ब्रह्मात्मा' शब्दका समुदितार्थ होगा सर्वोत्कृष्ट स्वामी इस तरह उसके माहात्म्यको स्वीकार करके उपासना करनेवालेपर वह प्रसन्न होता है (ब्र.सू.भा.).

(६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके अनुसार सूत्रगत 'उपगच्छन्ति' और 'ग्राहयन्ति' पदोंके अर्थ क्रमश 'प्राप्त कर लेना' और 'जान लेना' स्वीकारा गया है. इनके अनुसार उपासनाकी तीन तरहकी रीतियां होती हैं: १.'' 'अहं' ग्रहोपासना'', यथा, दहरविद्या शाण्डिल्यविद्या वैश्वानरविद्या उपकोसलविद्या आदि. २.प्रतीकोपासना, यथा, जड़ पदार्थरूप ताम्र-मृण्मय-शिलादिके विग्रहोंकी शिवकेशवादि देवोंके रूपमें उपासना ३.अङ्गावबद्धोपासना, यथा, यज्ञकर्माङ्गभूत उद्गीथ आदि पदार्थोंकी यज्ञकर्मानुष्ठानके समय ब्रह्मदृष्टिसे उपासना. जीवमात्रके अन्तर्यामी स्वयं शिवकी उपासना तो चेतनाचेतनविलक्षणतया ही करनी चाहिये. साथ ही साथ, परन्तु, चेतनाचेतन पदार्थोंकी शिवतया भी उपासना करनी चाहिये. क्योंकि अन्यदेवोंकी उपासनाके त्यागपूर्वक परमोपास्य शिवके निरन्तर ध्यान = उपासनाके बिना उपासक जीवमें से न तो पशुत्व निवृत्त हो सकता है और न शिवतत्त्वकी प्राप्ति ही उसे हो पाती है. लोहसदृश जीव और सुवर्णसदृश शिव के बीच सृष्टिदशामें भेद होनेपर भी पारसमणिके स्पर्श जैसे निरन्तर शिवध्यानके कारण मुक्तिदशामें जीव वस्तुतः शिवभावापन्न हो जाता है. [ख-ग]सूत्रोंमें यह विवक्षित माना गया है कि जैसे ऊंचे भवनके ऊपरले तल्लेपर जो स्वतः नहीं पहुंच सकता, वह भी सीढ़ियोंपर चढ़ कर शनैः-शनैः तो पहुंच ही सकता है. इसी तरह शिवका ध्यान धरने जो समर्थ न हो, वह भी शिवोत्पन्न अन्न प्राण चक्षु श्रोत्र मन या वाक् आदिका उत्कृष्टशिवतया ध्यान धर कर शिवध्यानकी ऊंचाई तक भी पहुंच ही सकता है. शिवका ध्यान परन्तु कभी भी इन अपकृष्ट अन्नादिके रूपोंमें नहीं धरना चाहिये.

(७) श्रीविज्ञान भिक्षुने [क]'उपगच्छन्ति' पदका श्रौतसन्दर्भ ''तद् इदमपि एतर्हि य एवं वेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति'' (बृह.उप.१।४।१०) वचनमें खोजने के बजाय तद् आत्मानमेव वेद्- 'अहं ब्रह्म अस्मि इति' (वहीं.१।४।१०) वचनमें असावधानतया खोजा लिया है. वैसे 'ग्राहयन्ति' पदका सुन्दर श्रौतसन्दर्भ: ''स आत्मा तत् त्वम् असि'' (छान्दो.उप.६।७।७) वचनमें ही खोजा है. अतः श्रीविज्ञान भिक्षु कहते हैं कि जो ब्रह्म सत्यसंकल्पादि गुणोंवाला है तथा जो निःशेष प्रकृति-पुरुष आदि अखिल प्रपञ्चका प्रलयावधिभूत तत्त्व है, उसका अपनी आत्माके रूपमें अनुभव भी करना चाहिये तथा उपदेश भी जैसे जीवात्माको 'अहं'तया स्वीकारनेपर देह इन्द्रिय प्राण एवं अन्तःकरण के

संघातमें अभिमान पैदा करनेवाली अविद्या निवृत्त हो जाती है, उसी तरह परमात्माको 'अहं'तया स्वीकारनेपर जीवात्मविषयक अभिमान पैदा करनेवाली अविद्या निवृत्त हो जाती है. एतावता जीवात्माको अनात्मा ही नहीं मान बैठना चाहिये. क्योंकि रात्रिमें चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना वस्तुओंका प्रकाशन करती होनेपर भी सूर्योदयके बाद वह नहीं कर पाती. सूर्योदय होनेपर तो प्रखर सूर्यतेजसे ही वस्तुओंका प्रकाशन होने लगता है, चन्द्रज्योत्स्नाद्वारा नहीं. इसी तरह सृष्टिकालमें निखिल भोग्यपदार्थ एवं तदुपकरणों का भी प्रकाशन जीवात्माके चैतन्यद्वारा ही होता है. प्रलयकाल या मुक्तावस्था में निखिल भोक्तृ-भोग्यप्रपञ्चका प्रकाशन प्रधान-पुरुषातीत परमात्माद्वारा ही होने लगता है. जैसे दोपहरके सूर्यके प्रखर प्रकाशमें अन्य सारे प्रकाश लीन हो जाते हैं उसी तरह, सर्वावभासिका ब्रह्मचेतनामें सृष्टिकालिक सारेके सारे भोक्तृ-भोग्यभावोंके प्रकाशन प्रलीन हो जाते हैं. अतएव ऐसे ब्रह्ममें आत्मबुद्धि रखनी चाहिये. [ख]सूत्रगत 'प्रतीक' पदको अंग या अंश का पर्याय मान कर श्रीविज्ञान भिक्षुका कहना है कि जीवात्माका द्रष्टृत्व कर्तृत्व या भोक्तृत्व मिथ्या न होनेपर भी पारमार्थिक या तात्त्विक नहीं माना जा सकता है. वह तो व्यावहारिक ही होता है. अतः प्रतीकोपम होनेसे एक ही संघातमें दो आत्मा होनेका दोष इस विवेचनापर लागू नहीं हो पाता. ऐसी स्थितिमें जीव आदिके बारेमें उपनिषदोंमें मिलते इनके ब्रह्म होनेकी बात असंगत हो जायेगी, ऐसा भी नहीं सोच लेना चाहिये क्योंकि इनमें ब्रह्मदृष्टि आहार्यज्ञानरूपा अर्थात् उपासनार्थ ही होती है. प्रधान या पुरुष वस्तुतः ब्रह्मात्मक नहीं होते परन्तु ब्रह्मसे इन्हें विभक्त भी किया नहीं जा सकता. उदाहरणतया घट-पट आदि वस्तु आकाशात्मक नहीं होते; फिरभी, न तो इन्हें आकाशरूप आधारमें से बाहर निकाला जा सकता है और न इनके भीतर अन्तर्व्याप्त आकाशको इनसे विभक्त किया जा सकता है. इसे ही 'अविभागाद्वैत' कहते हैं.

इन विभिन्न वेदान्तोंकी निरूपणशैलीमें से (१)सर्वप्रथम श्रीशंकराचार्यने जो ''आत्मदृष्टि प्रतीकोपासना नहीं है'', ऐसा प्रतिपादन किया है, वह तो शुद्धाद्वैतवादको भी सर्वथा मान्य ही है. यहां फिरभी जिस एक महत्त्वपूर्ण श्रुतिवचनकी उपेक्षा की गयी है वह है-''य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानः अन्तरो, यम् आत्मा न वेद, यस्य आत्मा शरीरं, य आत्मानम् अन्तरो यमयति. एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः''(द्र.: ब्र.सू.शां.भा. २।३।४३). अतः इस वचनमें अधिष्ठानरूप या शरीररूप अज्ञानी नियम्य जीवात्मा और अधिष्ठातृरूप आत्मशरीर अज्ञात नियामक=अन्तर्यामी परमात्मा, इन दोनोंके बीच, ''तत् त्वम् असि'' वचनमें जैसे द्वैतात्यन्ताभाव माना गया है वैसा द्वैतात्यन्ताभाव यदि भागत्यागलक्षणया स्वीकारा जाये तो पुनः गौणत्वप्रसंग आ पड़ेगा. यदि आत्यन्तिकद्वैत

स्वीकारते हैं तो प्रतीकता ही एक आश्रयणीय कल्प रह जायेगा. अन्यथा औपाधिकद्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, स्वाभाविकद्वैताद्वैत, विशेषाद्वैत, अविभागाद्वैत अथवा शुद्धाद्वैत(=स्वाभाविकाद्वैत+ऐच्छिक द्वैत) स्वीकारे बिना कोई गति नहीं रह जाती. इन परस्पर विरोधी गुणोंको मिथ्या मान लेनेसे काम नहीं चल सकता है. शारीरकभाष्यके अंशाधिकरणमें ''श्रुति यदि भेदाभेद प्रतिपादन करना चाहती होती तो बात और होती. श्रुति तो अभेदका ही प्रतिपादन करना चाहती है. क्योंकि जीवकी ब्रह्मताके प्रतिपादनद्वारा पुरुषार्थ सिद्ध होता दिखलाया गया है. प्रत्यक्षसिद्ध होनेके कारण भेदका तो प्रतिपादन नहीं केवल अनुवाद ही हो रहा है. ब्रह्मके निरवयव होनेके कारण ही जीव ब्रह्मका पारमार्थिक अंश तो हो ही नहीं सकता है''(ब्र.सू.भा.२।३।४७) यह श्रीशंकराचार्यने स्वीकार रखखा है. अतः जीवेश्वरभेद ही प्रत्यक्षसिद्ध है परन्तु औपाधिक भेदाभेद विशिष्टाभेद स्वाभाविकभेदाभेद विशेषाभेद अविभागाभेद या शुद्धाभेद तो प्रत्यक्षसिद्ध नहीं होनेसे, इनमें से किसी एकको श्रुतिके तात्पर्यगोचरतया स्वीकार लेना उचित होता. यों पुरुषार्थसाधक ब्रह्मात्मकताका निर्वाह भी शक्य बन ही जाता. वैसे भी मायिकद्वैतको भी प्रत्यक्षसिद्ध तो माना नहीं जा सकता है. क्योंकि किसी वस्तुके पहले प्रतीत होनेपर भी बादमें बाधित हो जानेपर ही मिथ्यात्व समझमें आता है. अन्यथा इसे प्रतीति-बाधान्यथानुपपत्तिके द्वारा सिद्ध करना भी आवश्यक न होता. स्पष्ट है कि प्रतीति यहां शाब्देतरप्रमाणगोचर होती है परन्तु बाध तो शब्दकगम्य ही होता है. बाधज्ञानके बिना द्वैतका मायिकत्व सिद्ध नहीं हो सकता. अतः मायिकद्वैतको पुनः श्रुतिप्रतिपाद्य स्वीकारना ही पड़ेगा. निष्कर्षतया किसी न किसी तरह द्वैत; और, किसी न किसी तरह अद्वैत, दोनोंको ही श्रुतिप्रतिपाद्य माने बिना कोई चारा ही नहीं रह जाता है. मायिकद्वैत स्वीकारनेपर तो ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं...तत् त्वम् असि'' ''अयम् आत्मा ब्रह्म'' ''अहं ब्रह्म अस्मि'' ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' आदि सभी केवलाद्वैतवादके आधारप्रद वचन भी गौणार्थकल्पना बिना उपपन्न नहीं हो पाते हैं. क्योंकि तथाकथित महावाक्य अखण्डार्थबोधक होनेपर भी ''तत् त्वम् अस्ति'' न हो कर 'त्वं तद् असि'' विधानतया अभिप्रेत है. अतः पूर्वसूत्र (४।१।२) में श्रीशंकराचार्यने-'' 'तत् त्वम् असि' वचनमें यहां 'त्वं' पदका जो अर्थ है वही 'तत्' पदका भी अर्थ है, ऐसी विवक्षा है ऐसा विधान किया है. इसी तरह यहांके इस पांचवें सूत्रमें बुद्धिमें प्रथमोपस्थित होनेवाले विरोधाभासरहित 'आदित्य' जैसे शब्दोंके मुख्यार्थ ही ग्राह्य होते हैं. इन 'आदित्य' आदि शब्दोंकी मुख्यवृत्तिद्वारा बुद्धिके अवरुद्ध हो जानेके बाद, उपस्थित होनेवाले 'ब्रह्म' शव्दका अर्थ मुख्यवृत्तिसे स्वीकारनेपर 'आदित्य' पदोंके साथ 'ब्रह्म' पद जुड़ ही नहीं पायेगा. अतः 'ब्रह्म' पद ब्रह्मदृष्टिके विधानार्थ ही सिद्ध होता है

(आदित्यकी ब्रह्मरूपताकी सिद्धिके लिये नहीं)'' (ब्र. सू. भा. ४।१।५) विधान भी किया ही है. अब इसी युक्तिके आधारपर यह भी कहा जा सकता है कि 'त्वं' पदार्थसे बुद्धिके अवरुद्ध हो जानेके बाद उपस्थित होनेवाले 'तत्' पदार्थका अपनी मुख्यवृत्तिद्वारा तो जुड़ पाना सम्भव न होनेसे 'त्वं' पदार्थमें ब्रह्मदृष्टिके विधानार्थं क्यों इसे भी न स्वीकार लेना? वैसे जहां तक तत् त्वम् असि वचनका सवाल हो तो यह भी विचारणीय है कि सम्पूर्ण वाक्यका स्वरूप क्या है? वह यों हैं- ''स य एषो अणिमा''. ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्. तत् सत्यम् स आत्मा तत् त्वम् असि'' यहां 'सः त्वम् असि' नहीं कहा गया है. अतः यहां पूर्वपरामर्शी 'तत्' सर्वनामद्वारा 'आत्मा' पदके अर्थका नहीं प्रत्युत 'ऐतदात्म्यम् पदके अथवा 'सत्यम्'पदके अर्थका ही परामर्श अभिप्रेततर लगता है. ऐसी स्थितिमें '' 'सत्'+'त्यत्'='सत्य' '' समीकरणमूलक 'सत्य' पदके अर्थका परामर्श स्वीकारते हैं तो अपरोक्ष होनेसे नियम्यात्माको सत् मानना पड़ेगा और श्रुत्येकगम्य परमात्माको त्यत् मान लेनेपर पुनः बुद्धि अपरोक्षार्थावरुद्ध हो कर सत्को त्यत्के प्रतीकतया लेने उद्यत हो जायेगी. अतः अखण्डसच्चिदानन्दैकरस निरवयव ब्रह्ममें जैसे अंशकल्पना उपपन्न नहीं हो पाती है, वैसे ही ब्रह्मेतर मायाकी कल्पना भी उपपन्न नहीं हो पाती है. पारिशेष्यात् 'ऐतदात्म्यम्'का परामर्श 'तत्' पद अथवा 'तत्त्व' पद द्वारा स्वीकार लें तो उसके तो पूर्वसिद्ध न होनेसे अप्रतिपाद्य या अनुवाद होनेकी कथा भी नहीं सतायेगी और श्रुतिप्रतिपादित आत्म-परमात्म-तादात्म्य भी उपपन्न हो कर जीवात्माको ब्रह्मप्रतीकतया देखनेकी आपत्ति भी दूरापास्त हो जायेगी.

वैसे ''यथा एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं 'विकारों' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्... सदेव इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्... तद् ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति'' (छान्दो.उप.६।१-२) वचनके आधारपर यह तो निश्चित ही है कि श्रुतिमें ब्रह्मका अद्वैत, सृष्टिगत नाम-रूप- कर्मोंके व्याकरणसे पूर्व, व्याकृतावस्थामें; और इन नाम-रूप-कर्मोंके उस परमसत्में प्रलीन या सायुज्य-भावापन्न होनेपर भी अभिप्रेत है. सो तादात्म्यके अनेक प्रकारोंके अन्तर्गत ब्रह्मस्वरूपदृष्ट्या स्वाभाविकाद्वैत और तल्लीलादृष्ट्या ऐच्छिकद्वैत तादात्म्यके इन सभी प्रकारोंमें भी उपपन्नतम प्रतीत होता है.

श्रीमध्वाचार्यने (५)'आत्मा' 'प्रतीक' और 'ब्रह्म' शब्दोंकी जैसी परिभाषा प्रस्तुत की उन्हें सर्वथा यथावत् मान्य कर पाना तो शुद्धाद्वैतवादमें शक्य न होनेपर भी परिभाषित अर्थोंके अनुसार भगगवान्को दाता स्वामी प्रतीकान्तः स्थित तथा पूर्ण भूमन् या महान् माननेकी आवश्यकताका अस्वीकार शक्य नहीं है. लीलार्थ प्रकट द्वैतभावमें सिद्धान्ततः और स्वरूपतः रहे वास्तविक अद्वैतभावकी अनुभूति न हो पानी स्वयं

परब्रह्मके सत्यसंकल्प और सर्वभवनसामर्थ्य की ही यशोगाथा है. फिरभी न केवल शास्त्रोपदिष्ट प्रतीक ही अपितु प्रतीकतया अनुपदिष्ट वस्तुमात्रमें वह परमतत्त्व सर्वोपादानतया सर्वव्यापितया तथा सर्वान्तर्यामितया अवस्थित रहता ही है. अतः सर्वात्मभावके सिद्ध न होने अर्थात् ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूति अथवा सानुभावात्मिका भगवद्भक्ति के बिना भी शास्त्रप्रामाण्यवादियोंके लिये परब्रह्म परमात्मा भगवान्को सर्वान्तर्यामितया सर्वान्तः स्थित मानना आवश्यक तो होता ही है. अपनी मतिको शुद्धाद्वैतावलम्बिनी बनाये रखनेके बावजूद भगवदिच्छयैक- प्रकट द्वैतका सन्मान दैन्यभावके साथ निभाना उचित ही होता है. अतः सहसा शुद्धाद्वैतानुरोधी व्यवहार प्रकट करनेकी धांधल कर देनी आवश्यक नहीं होती. अतएव महाप्रभुने यह स्पष्टीकरण दिया है कि ब्रह्मरूपेण जगत्को जान लेना आवश्यक होनेपर भी जागतिक नाम रूप-कर्मों के बारेमें भगवद्भावोचित आसक्ति नहीं रखनी चाहिये क्योंकि ब्रह्म जगदात्मना प्रकट होनेपर भी अपनी जगदुत्कृष्टता निभाये रखता है (द्र.: सुबो.२।९।३५). द्वैतवादकी ही तरह जीवात्माको ब्रह्मके स्वरूपसे व्युच्चरितांश न स्वीकारनेवाले द्वैताद्वैतवादके विभिन्न(२-४-६-७) प्रकारोंके बारेमें यह सावधानतया विचारणीय है। कि 'सत्' या 'ब्रह्म' कोई पदवीनाम नहीं है. यह तो वस्तुनाम या व्यक्तिनाम ही है. अतः ''इस राज्यमें राजा एक ही है, दूसरा कोई नहीं'' जैसे विधानोंमें राजाके पदपर आसीन व्यक्तिके एक ही होनेका बोध हो सकता है और अतएव राजपरिवार और राजपरिकर का निषेध भी सिद्ध न होना भी उचित ही है. इसी तरह, किन्तु, सत् या ब्रह्म के एकमात्र होनेका अभिप्राय सत् या ब्रह्म के पदपर आसीन दूसरे किसीके निषेधके रूपमें लेनेपर इन्द्र आदिके सदृश किसी पदवीका 'सत्' या 'ब्रह्म' पदसे बोध होगा परमतत्त्वका नहीं. अतः ब्रह्मके एक होनेके अलावा दूसरे किसीके भी न होनेका उद्घोष जो 'एकमेवाद्वितीयं' विधानमें मिल रहा है, वह यदि अब्राह्मिक जड़-चेतनप्रयुक्त सद्वितीयताको सहनेवाली बात होती तो सृष्टिसे पूर्व भी तादात्म्यको सिद्ध कर पाती. तादात्म्यसम्बन्ध ''तो तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत''(तैत्ति.उप.२।७।१) वचनोक्त आत्मोपादानात्मिका सृष्टिके प्रकट हो जानेके बाद आनेवाली कथा है. इस तादात्म्यके कारण ही उस परम तत्त्वकी एकमेवाद्वितीयता अनेकविध-नाम-रूप-कर्मोंकी सृष्टिके बावजूद अक्षुण्ण रहती है.

इस ब्रह्मोपादानात्मिका ब्रह्मकर्तृका ब्रह्मात्मिका आत्मलीलारूपा सृष्टिके प्राकटयके सिद्धान्तके हृद्गत हो जानेपर शुद्धाद्वैतके प्रतिपादक वाल्लभ भाष्यके अवबोधनार्थ अब हम उद्यत हो सकते हैं.

(८) वाल्लभ मतके अनुसार इस अधिकरणमें भी पूर्ववत् दो वर्णक मिलते है.

प्रथम [क/१] वर्णकमें यह कहा गया है कि ब्रह्मको आत्मतया मान कर ज्ञानमार्गी उसकी आजीवन उपासना करता है. देह छूटनेपर उपासनाके फलतया अक्षरब्रह्ममें वह लीन हो जाता है. अर्थात् वह सायुज्यमुक्ति पा लेता है. ब्रह्मके ज्ञानगम्य होनेकी इच्छाके अनुरोधवश अर्थात् ब्रह्मभावावेशमें ही वह योग्य अधिकारीके उपस्थित होनेपर ऐसे ब्रह्मतादात्म्यका उपदेश भी दे पाता है (द्र. छान्दो. उप. ६।८।७: ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत्तत्[(=सत्यं /ऐतदात्म्यं)] सत्यं स आत्मा, त्वम् असि) इस ब्रह्मभावापन्न ज्ञानीके द्वारा दिये जाते उपदेश और शिष्येषणावश दिये जाते उपदेश के बीच महान् तारतम्य रहता है. अतएव ज्ञानमार्गमें अवान्तरफलतया यह मान्य है. इसी तरह परब्रह्म परमात्मा भगवान्के माहात्म्यको भलीभांति जान लेनेके बाद श्रीकृष्णके प्रति सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहभाववाला पुष्टिमार्गीय भक्त तो उन्हें आत्मात्मतया मान कर भक्तिभावानुरूप बहिः प्रकट पुरुषोत्तमके समीप पहुंच कर भजन करता है. पूर्ववत् ही भगवद्भावावेशमें यह भगवान्की भक्तिगम्य होनेकी इच्छाके अनुरोधवश योग्य अधिकारीको भगवान् श्रीकृष्णके आत्मात्मा परमात्मा होनेका भगवद्भजनप्रवर्तक उपदेश भी दे पाता है. यह भगवल्लीलाकीर्तन भी भक्तिकी फलदशामें किये जाते भगवल्लीलाश्रवणकी तरह भक्तिका एक चमत्कारी अनुभाव ही होनेसे पुनः शिष्येषणारहित अर्थात् विषयासक्तिरहित होनेके कारण आत्मरति या आत्मात्मरतिरूप अवान्तरफल ही होता है. द्वितीय [क/२] वर्णकमें यह प्रतिपादित किया गया था कि स्वतन्त्रकर्म जन्म-मृत्यु-चक्रकी आवृत्तिका जनक होता है. इसके बाद अब यह दिखलाया जा रहा है कि ज्ञानांगतया अथवा भक्त्यंगतया अनुष्ठित वर्णाश्रमाचारानुरूप यज्ञादि कर्म उक्त आवृत्तिका जनक नहीं भी होता है [ख] सूत्रमें यह कहा जा रहा है कि ज्ञानमार्गमें ब्रह्मको आत्मतया और इसी तरह भक्तिमार्गमें आत्मात्मतया जाननेका उपदेश प्रतीकोपासना का उपदेश नहीं है. क्योंकि ज्ञानीको अपने उपास्यमें सायुज्यलाभ होता होनेसे; तथा, भक्तके लिये भक्तिभावके अनुरूप भगवान् स्वयं अपना स्वरूप प्रकट करते होनेसे, ज्ञानी या भक्त का ज्ञेय या भजनीय रूप कभी प्रतीक नहीं हो सकता. अर्थात् रह ही नहीं पाता है, ताकि ज्ञानी या भक्त प्रतीकोपगमन कर रहा है ऐसा कहा जा सके! [ग] सूत्रमें अभिप्रेत यह है कि ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' ((छान्दो.उप.३।१४।१) जैसे वचनोंमें वस्तुमात्रमें ब्रह्मदृष्टिका जो मुक्तिप्रापक उपदेश है वह कर्तव्यविधान या साधनोपदेश न हो कर मुक्त्यनुभूतिसिद्ध तत्त्वस्वरूपका अनुवादरूप उपदेश है. अर्थात् फलानुभूतिसामयिक अनुभूतिका यह निरूपण है.

यह समग्र सृष्टि ही आत्मोपादानात्मिका आत्मकर्तृका आत्म-नाम-रूप कर्म-व्याकरणात्मिका आत्मक्रीड़ा है. इस आत्मक्रीड़ामें वह परमात्मा स्वात्मांशभूत

जीवोंको निजात्मानन्द प्रदान करनेके हेतु प्रकट होता है. अतः वह अपने विविध रसात्मक स्वरूपको जब भूतलपर प्रकट करता है, तब ऐसे स्वरूपके प्रति यदि जारभाव भी मुक्तिप्रद हो पाता हो तो आत्मभाव क्यों भक्तिप्रद नहीं हो पायेगा!

फलप्रकरणगत लीलोपदेश: अतएव रासलीलामें जो गोपिकायें भगवान्के समीप पहुंच पायी उनके भगवान्के प्रति आत्मभावके अनुभावात्मक ये वचन नितान्त मननीय हो जाते हैं:

> ''अपने-अपने पति पुत्र और सुहृदों की अनुवृत्ति करना तो स्त्रियोंका धर्म है'' ऐसा जो धर्मोपदेश आपने धर्मविद् बन कर दिया, उसे हम स्वीकारती हैं. अतएव स्वयं आप धर्मोपदेशककी ही अनुवृत्ति हम, सर्वप्रथम, गुरुबुद्धया करना चाहती हैं. क्योंकि आप न केवल हमारे ही अपितु प्रत्येक देहधारीके पति -पुत्र-सुहृदाधिक प्रेष्ठ बन्धु और आत्मा भी हो! हमारे आत्मा! जो कुशल रतिकर्ता होते हैं वे तो सनातन प्रियतमके साथ ही अपनी रति जोड़ते हैं. क्योंकि लौकिक पति-पुत्र आदि तो कभी प्रिय लगते हैं, तो कभी दुःखप्रद भी, सो उनसे स्नेह जोड़नेसे क्या लाभ!
>
> (भाग.१०।२६।३२-३३).

इस सुबोधिन्यनुसारी भागवतश्लोकके भावार्थके आधारपर यह सिद्ध होता है कि रासलीलामें पहुंच पानेवाली गोपिकायें ब्रह्मसूत्रोक्त '' 'आत्मा' इति उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च'' सिद्धान्तका ही स्वयंको अभिमत भाष्य स्वयं भगवान्को भी यहां समझा रही हैं! वे अपने लौकिक प्रियतम या जारपुरुष को परमात्मा मान कर प्रतीकोपासना नहीं कर रही है.

सारे के सारे रूप ब्रह्मने धारण किये हैं. अतः अपने-अपने पति -पुत्र-सुहृदोंकी ब्रह्मबुद्धया अनुवृत्ति भी आत्मरति क्यों नहीं हो सकती? ऐसे प्रश्नका समाधान यही है कि सर्वात्मभावको स्थायिभाव मान कर चलें तो उसके सञ्चारिभावतया सर्वप्रथम तो अपने सारे भावोंके अनुरूप केवल अपने ध्येयको ही निहारना चाहिये ऐसी वेदान्तप्रक्रिया है. इसके सिद्ध हो जानेपर देश-काल-मर्यादातीत ध्येयका अनुभव सर्वत्र होने लगता है. इसके भी सिद्ध हो जानेपर देश-काल-मर्यादातीत ही नहीं प्रत्युत स्वरूपमर्यादातीत ध्येय-ध्यात्रभेदानुसन्धानरूपा भी अनुभूति होने लगती है. ज्ञानमार्गीय अनुभूति यहां इस सोपानपर अटक जाती है परन्तु भक्तिमार्गीय अनुभूति एक और ऊंचे सोपानपर आरोहण कर अपने ध्येयको सर्वात्मतया अनुभूतिगोचर बना पाती है. इसे भी सर्वात्मभावका एक उत्कृष्ट प्रकार समझा जाता है. यह तृतीय अवस्था कर्तव्यरूप

उपाय या साधना नहीं होती प्रत्युत देश-काल-स्वरूपकी मर्यादामें की जानेवाली लीलाके कर्ताकी देश-काल-स्वरूपोंकी मर्यादासे रहित अनुभूति होती है. वह अग्रिमलीलाका वर्ण्यविषय है. अस्तु.

इन उपेतृ-बोध-प्रयत्नोंके रूपमें उपदिष्ट सिद्धान्तोंका ही भागवतके दशमस्कन्धीय रासलीला प्रकरणमें उपेय-प्रयत्नरूपा लीलाका उपदेशक भाष्य कैसे हुवा, इसका विमर्श कर लेनेपर अब आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके सन्दर्भमें इसकी उपदेशरीतिके विमर्शार्थ अग्रसर हुवा जा सकता है.

आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश:

प्रकरणग्रन्थोंके अन्तर्गत सिद्धान्तमुक्तावली(कारि.११-१२ तथा १५-१६) में आत्मरतिके रसानुभावतया पुष्टिभक्तिको निभानेकी ही बात ''परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः, अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिः विधीयताम् तथा तस्मात् श्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः, आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्, लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा'' वचनोंद्वारा दोहरायी गयी है. अर्थात् लौकिक विषयोंके प्रति हमारे मन में रहे आकर्षण या कामना की पूर्तिसे प्रेरित हो कर की जाती श्रीकृष्णभक्ति आत्मरति होनेका गौरव झेल नहीं पाती है. इसके विपरीत श्रीकृष्णभक्तिकी कामनाकी पूर्तिसे प्रेरित विषयासक्ति भी काफी हद तक श्रीकृष्णके बारेमें हमारी आत्मरतिके अनुभावतया भी प्रकट हो सकती है. पुष्टिप्रवाहमर्यादा (कारि. ४) में ऐसी आत्मरतिके ही बारेमें ''सर्वत्र उत्कर्षकथनात् पुष्टिः अस्ति इति निश्चयः'' कहा गया है. चतुःश्लोकी (कारि.३) में भी इसी आत्मकामका उपदेश पुष्टिमार्गीय कामपुरुषार्थतया भगवान्को सर्वात्मना हृदयमें धारण करनेकी प्रशंसाद्वारा दिया गया है. द्वितीयाधिकरणके प्रथम सूत्रमें प्रयुक्त 'ग्राहयन्ति' पदकी व्याख्या ही आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके फलात्मक कीर्तनके सन्दर्भमें जलभेद (कारि.१४-१९) में दी गयी है. इसी सूत्रके 'उपगच्छन्ति' पदका आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके फलात्मक श्रवणके सन्दर्भमें पञ्चपद्यानि (कारि.१) में विवरण दिया गया है. संन्यासनिर्णय (कारि.११-१२) में आत्मरतिके ही, संयोग एवं विप्रयोग, उभयपक्षोंमें आत्मरूप भगवान्के बहिः प्रकट होनेपर उनमें स्वरूपासक्ति और अन्तस्तिरोहित होनेपर उनके बारेमें गुणासक्ति की व्यवस्था समझायी गयी है. ''न प्रतीके न हि सः''-''ब्रह्मदृष्टिः उत्कर्षात्'' सूत्रोंके प्रतिपाद्य विषयके अनुरूप ही आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके भजनीय=सेव्य भगवत्स्वरूप भगवत्प्रतीक नहीं होते. व्रजभक्तोंके बीच नन्दात्मज बन कर भगवान् स्वयं द्वापरान्तमें पुष्टिलीलार्थ प्रकट हुवे थे. उसी तरह पुष्टिभक्तिप्रकटनार्थ पुष्टिमार्ग में अङ्गीकृत

जीवात्माके गृह परिवारके बीच भी उनके भक्तिभावोंके अनुरूप की जानेवाली सर्वस्वसमर्पणात्मिका सेवाके सुखके प्रदानार्थ प्रकट भगवद्विग्रह साक्षात् भगवत्स्वरूप ही होता है. इसे पाञ्चरात्रोक्त और रामानुज सम्प्रदायमें भारपूर्वक स्वीकृत 'अर्च्यावतार' की तरह ही समझना चाहिये. यही सिद्धान्तमुक्तावली (कारि.५-१२) में यों दिखलाया गया है कि ''ब्रह्मके तीन रूप होते हैं: आधिभौतिक(उद.गंगाजल) प्रत्यक्षगोचर जगत् आध्यात्मिक(उद.गंगातीर्थ) अक्षरब्रह्म; तथा, आधिदैविक(उद.गंगादेवी) श्रीकृष्ण इनमें आधिभौतिक प्रत्यक्षप्रमाणका गोचर होता है. आध्यात्मिक शास्त्रविधिप्रमाणित अनुष्ठानद्वारा प्रकट होता है. आधिदैविक भक्तिभावोंके अनुरूप प्रमेयबलसे प्रकट होता है. आधिभौतिक और आधिदैविक रूपोके बीच आत्यन्तिक भेदबुद्धि रखनेवालेको भक्तिगोचर रूपका अनुभव दुःशक होता है. अपना भक्तिभाव प्रतीकोपासनामें कहीं पर्यवसित न हो जाये एतदर्थ साकारब्रह्मवादके सिद्धान्तको भलीभांति समझ कर श्रीकृष्णसेवाद्वारा भक्तिमार्गपर अग्रसर होना चाहिये'' यह समझाया गया है. यही बात पुष्टिप्रवाहमर्यादा(कारि.१२-१६) में भी कही गयी है कि इस भूतलपर आत्मरतिके अनुभावतया भगवद्रूपसेवाके सुख लेनेको और प्रदान करनेको जीवात्माओंका पुष्टिमार्ग में भगवान् वरण करते हैं. इसी तरह निरोधलक्षण(कारि.१७) में भी यह कहा गया है कि देह इन्द्र प्राण अन्तःकरण आदिकी सकलवृत्तियोंके तथा भगवद्भजनोपयोगी ममतास्पदीभूत सकलवस्तुओके भगवदर्थ और/अथवा भगवत्सेवार्थ विनियोग करनेपर भक्तगण भगवान्में निरुद्ध हो पाते हैं. यह समझाते हुवे यहां कहा गया है कि चित्तमें सर्वदा भगवन्मूर्तिका ध्यान धरते रहना चाहिये. भक्तोंके भावोके अनुरूप स्वरूपधारणके भगवान् के पुष्टिमार्गीय संकल्प के कारण तथा भक्तोंके भगवद्भजनके पुष्टिभक्तिमार्गीय *संकल्पके कारण भी सेव्यस्वरूपके दर्शन स्पर्शन आदि सभी साक्षात् भगवत्स्वरूपके ही होते हैं, भगवत्प्रतीकके नहीं.

*द्रष्टव्य: ''एको देवो बहुधा निविष्टो अजायमानो बहुधा विजायते तमेतम् 'अमिः' इति अध्वर्यवः उपासते 'यजुः' इति एष हि इदं सर्वं युनक्ति 'साम' इति छन्दोगाः... 'विषम्'इति सर्पाः 'सर्पः' इति सर्पविदः. 'ऊ' इति देवाः 'रयिः' इति मनुष्याः 'माया' इति असुराः 'स्वधा' इति पितरः 'देवजनः' इति देवजनविदः. 'रूपम्'इति गन्धर्वाः 'गन्धर्वः' इति अप्सरसः तं यथा यथा उपासते तथैव भवति तस्माद् ब्राह्मणः पुरुषरूपं परं ब्रह्मैव अहम् अस्मि इति भावयेत् तद्रूपो भवति य एवं वेद'' (मुद्ग. उप.२।३). ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'' (गीता.४।११). ''त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोजः:.. यद् यद्-धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तवपुः प्रणयसे सद्नुग्रहाय'' (भाग.३।९।११).

(३) आदित्याद्यधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोप- देश तथा

आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता

[क]आदित्यादिमतयश्च अङ्ग उपपत्तेः [ख]आसीनः सम्भवात्. [ग]ध्यानात् च. अचलत्वं च अपेक्ष्य. [ङ]स्मरन्ति च (ब्र. सू. ४।११६–१०).

(१) [क]''यएव असौ तपति तम् उद्गीथम् उपासीत'' ''लोकेषु पञ्चविधं साम उपासीत'' जैसी कर्मागभूत एवं स्वतन्त्र उपासनाओंका निरूपण करनेवाले वचनोंमें कर्मींगभूत उद्गीथ आदिकी आदित्य आदि बुद्धिद्वारा उपासना करनी चाहिये. क्योंकि कर्मागभूत उद्गीथकी आदित्यबुद्धिसे उपासना करनेसे पैदा होनेवाला अपूर्व कर्मापूर्वसे संनिकृष्ट होगा. आकाशस्थ सूर्यकी, जबकि, उद्गीथबुद्धया उपासना करनी प्रकृत कर्मसे असंनिकृष्ट ही रहेगी. विद्याके साथ कर्म करनेसे कर्मके वीर्यवत्तर बनते होनेके सिद्धान्तके कारण कर्मसमृद्धि होगी. स्वतन्त्र उपासनाओंमें भी जो जैसे कर्मके लिये अधिकृत होता उसे ही वैसे कर्ममें अधिकारी मानना चाहिये, ऐसे नियमके कारण, प्रकृतापूर्वसे संनिकृष्ट उद्गीथ सामकी ही आदित्यादि लोकोंके रूपमें उपासना स्वीकारनी चाहिये. अतः कर्मोंके जो अंग न हों ऐसे आदित्य आदिकी कर्मागभूत उद्गीथ आदिके रूपमें उपासना अनावश्यक होती है, यह सिद्ध होता है. सातसे दसवें सूत्रोंमें यह कहा जा रहा है कि [ख]कर्मागभूत उपासनाओंमें यथाकर्म अवस्थितिके नियमके कारण आसन आदि विचारणीय विषय नहीं होते. इनके अलावा जो उपासनायें होती हैं उन्हें बैठ कर या लेट कर या चलते–फिरते कैसे करनी चाहिये? 'उपासना' पदका अर्थ होता है किसी एक प्रत्ययका धारावाहिक आवर्तन करना उसे चलते–फिरते या दौड़ते हुवे किये जानेपर चित्तमें विक्षेप पैदा होनेकी सम्भावना प्रबल बन जाती है. लेटे हुवे करनेकी प्रक्रियामें निद्रा आ जानेका भय भी रहता है. बैठ कर करनेपर ऐसे उपद्रव कम हो जाते हैं. [ग]'ध्यान' पदका अर्थ होता है: सारी आंगिक चेष्टाओंको शिथिल बना कर, दृष्टिको एकाग्र बना कर, किसी एक विषयपर चित्तको लगाना. यह तो बैठ कर किये जानेपर ही भलीभांति शक्य हो पाता है. [घ]किसीके अचल बैठे होनेपर कहा जाता है कि ध्यान लगा रहा है. [ङ]गीता आदि शास्त्रोंमें ''पवित्र देशमें आसनपर स्थिरतया बैठ कर'' आदि निर्देश मिलते हैं.

(२)श्रीभास्कराचार्यने छठे [क]सूत्रमें शांकर भाष्योक्त निरूपणसे अधिक कुछ नहीं कहा है. सातवें [ख]सूत्रमें, किन्तु, बैठ कर ध्यान करनेका नियम दहरविद्या जैसी परविद्याओंके सन्दर्भमें स्वीकारा है. खड़े रह कर ध्यान धरनेपर चित्तके व्यग्र होनेकी तथा लेट कर ध्यान धरनेपर निद्राभिभूतहो जानेकी भीति रहती है. आठवें [ग]सूत्रमें 'ध्यान' को मनः समाधिपूर्वक उपासनाके अर्थमें स्वीकारा है. निश्चल सुखासन या स्वस्तिकासन की मुद्रामें बैठ कर परमात्माके ध्यान धरनेका उपदेश नौंवे तथा दसवें

[घ-ङ]सूत्रोंमें अभिप्रेत माना है

(३)श्रीभाष्यकारके अनुसार [क]यज्ञकर्माग उद्गीथ आदिमें सूर्यदेवरूप उत्कृष्टवस्तुविषयिणी बुद्धि रख कर ध्यान करना चाहिये. क्योंकि आदित्यदेवताके आराधनके द्वारा कर्म भी उत्कृष्टफल प्रदान कर पाता है, ऐसा अभिप्राय स्वीकारा गया है. [ख]सूत्रमें विशेष कुछ उल्लेखनीय नहीं है. श्रीशंकराचार्यके भाष्यसे अलग हट कर श्रीभास्कराचार्यकी तरह ही आठवें नौंवे तथा दसवें [ग-घ-ङ]सूत्रोंमें, किन्तु, मोक्षसाधनतया वेदान्तविहित निदिध्यासनरूपा उपासना या ध्यान की ही चर्चा श्रीरामानुजाचार्यने भी स्वीकारी है.

(४) वृत्ति तथा भाष्य कार यहां रामानुजभाष्यानुसारी प्रतिपादन ही कर रहे हैं.

(५)श्रीमध्वाचार्यके अनुसार प्रथम [क]सूत्र एकसूत्रात्मक आदित्यादिमत्यधि-करण है. बादमें आते पांच सूत्रोंवाला आसनाधिकरण है. प्रथम सूत्रमें भाष्यकारका कहना है कि भगवान् के विराट् स्वरूपके नेत्र आदि अंगोंसे जैसे सूर्य आदि देवताओंकी उत्पत्ति वर्णित हुयी है तदनुसार भी उपासना करनी चाहिये. क्योंकि अपनी उत्पत्ति और स्थिति के आश्रयीभूत स्थानोंमें ही मुक्त होनेपर लय होता होनेसे ऐसी उपासना करनी उपपन्न होती है. वैसे भी भगवान्के सारे गुणोंका स्मरण कर पाना शक्य न हो तब भी भगवान् विष्णुके केवल ब्रह्म होनेका स्मरण भी निभा रहे तो उस ब्रह्म होनेमें सारे गुणोंका अन्तर्भाव हो जाता है. विभिन्न देवताओंके लिये भी विष्णुके तत्तद् अंगरूप अपने उद्भवस्थानोंका चिन्तन करना वहां पुनः प्रवेशरूपा मुक्तिका हेतु बनता है. [ख]सूत्रमें बैठ कर उपासनाकी उपयोगिता निखलायी गयी है. [ग]सूत्रमें भाष्यकारने पृथक्करण किया है कि स्मरणोपासना और ध्यानोपासना के बीचमें स्मरण सर्वदा करना चाहिये परन्तु मनोवृत्तिका नैरन्तर्य ध्यानोपासना होनेसे उसे आसनपर भलीभांति बैठ कर करनी चाहिये. लेटे हुवे या चलते-फिरते नहीं, निद्रा या विक्षेप रूपी विघ्नोंकी सम्भावनाके कारण [घ]सूत्रमें यह अभिप्रेत है कि शरीरको अचल बना कर यदि ध्यान किया जाता है तो मन भी अचल बन पाता है. [ङ]इस ध्यानोपासना की विधि भगवद्गीताके ''समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरं सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्'' (भ.गी.६।१३) श्लोकमें निर्दिष्टरीतिसे करनी चाहिये. अग्रिम सूत्रका कथ्य है–देश-कालादिके नियम केवल मनः प्रसादार्थ होते हैं नियतांगतया नहीं.

(६) विशेषाद्वैतवादी भाष्यने अतीव सावधानतया [क]''आदित्यं यूपम् उपासीत''-''आदित्यं 'ब्रह्म' इति उपासीत'' जैसे वचनोंकी मीमांसामें यह सवाल उठाया है कि ब्रह्मबुद्धया उपासनीय आदित्य जैसे तत्त्वोंको उत्कृष्ट मानना या उस कर्माग यूपको कि जिसकी बुद्धि रख कर आदित्य भी उपास्य बनता है? इस सन्दर्भमें गम्भीर

विश्लेषणद्वारा कई मननीय मुद्दे प्रस्तुत किये हैं. सर्वप्रथम तो श्रीपतिभगवत्पादाचार्यने यह स्पष्टीकरण दिया है कि ब्रह्मप्रकरणरूप उपनिषदोंमें आती आदित्यादिकी यूपादिबुद्धया उपासनायें साक्षाद् ब्रह्मविद्यांगभूत ही होती हैं. दूसरी बात यह कि जड़रूप बाह्य स्थूलध्येयोंकी तुलनामें मानसिक आन्तर सूक्ष्मध्येय उत्कृष्ट होते हैं. तीसरे जिन बाह्य ध्येयोंके भीतर शिवके विद्यमान होनेकी बात आयी है, वह तो सर्वान्तर्यामी होनेके रूपमें शिवमाहात्म्यके निरूपणार्थ ही है, उन-उन वस्तुओंके माहात्म्यके निरूपणार्थ नहीं. अतः ब्रह्मविद्यांगभूत होनेसे सूक्ष्म मानसयूप उत्कृष्ट होता है. लोकात्मक आदित्यकी मानसयूपदृष्ट्या उपासना करना अपकृष्टकी उत्कृष्टबुद्धया उपासना ही है. यह एकसूत्रात्मक अधिकरण है तथा अग्रिम सातवें सूत्रसे लेकर बारहवें [ख-ग-घ-ङ]सूत्रों तक परविद्यारूप शिवध्यानके सन्दर्भमें स्थल, आसन, ध्यान; तथा, कितने समय तक ध्यान करना इसकी अवधि आदि विषयोंके बारेमें स्पष्टीकरण दिये गये है.

(७) श्रीविज्ञान भिक्षुने यहां प्रश्न उठाया है कि श्रुतिमें ऐसा निरूपण मिलता है कि [क]''पहले ब्रह्म ही केवल था. उसने यह सोचा, 'मैं ब्रह्म हूँ... परन्तु जो कोई देवताको अपनेसे अन्य मान कर उसकी उपासना करता है-'उपास्य देव कोई और है और मैं कोई और हूं' वह अज्ञानी तो अपने इष्टदेवका पशु ही रह जाता है'' ऐसी स्थितिमें आदित्य आदिकी उपासना जहां समझायी गयी है, वहां आदित्यकी उपासना आत्मतया करनी अभिप्रेत है कि नहीं? हो तो आदित्य मेरी आत्मा है सोच कर उपासना करनी कि अपनी आत्माकी आदित्यतया उपासना करनी कि मैं आदित्य हूं? इसके समाधानतया श्रीविज्ञान भिक्षुका कहना है कि अपने अंगोंमें आदित्य आदि देवताओंकी बुद्धि करनी चाहिये. न तो आदित्यकी उपासना आत्मतया करनी चाहिये और न आत्माकी उपासना आदित्यतया. क्योंकि ये देवता हमारे तत्तद् अंगोंके अधिष्ठाता होते हैं. अतः इन्हीं अंशोंमें आदित्य आदि देवताओंको अपनी आत्माके रूपमें निहारा जा सकता है, सर्वांशमें नहीं मनुने सारे देवताओंका आत्मामें संनिवेश दिखलाया है. ब्रह्म तो प्रकृति-पुरुष दोनोंका ही अधिष्ठान होनेसे उभयात्मतया उपास्य हो सकता है. [ख]सातवें सूत्रमें, श्रीविज्ञान भिक्षुके अनुसार, प्रथमसूत्रोक्त आवर्तनीय श्रवणादिके सहयोगी अंगोंका निरूपण अभिप्रेत है कि पद्मासनमुद्रामें बैठ कर श्रवणादिका आवर्तन करना चाहिये. [ग]ध्यानरूप साधनके द्वारा भी आवृत्तिरूप समाधि सिद्ध हो सकती है. [घ]चित्तमें अचल धारणाके द्वारा भी समाधि सम्पन्न हो सकती है. धारणा-ध्यानके लक्षण योगशास्त्रोक्त ही लेने चाहिये. नाभिचक्रादिमें चित्तको बांधनेकी क्रिया 'धारणा' कहलाती है, उसके सिद्ध होनेपर अन्तर्यामी आदि रूपोंके अवलम्बनद्वारा चित्तकी एकतानता अर्थात् प्रत्ययान्तरापरामृष्ट धारावाहिक प्रत्ययको

'ध्यान' कहा जाता है. स्वप्रतिभासरहित ध्येयमात्रके निर्भासक प्रत्ययको 'समाधि' कहा जाता है. दसवें ँसूत्रमें यह पूर्वोक्त प्रक्रिया ही वशिष्ठादि ऋषियोने अपनी-अपनी स्मृतियोंमें अष्टांगयोगके रूपमें समझायी है, ऐसा निरूपण किया गया है.

इस तरह देखा जा सकता है कि पूर्ववर्ती भाष्यकारोंमें (१)सर्वप्रथम श्रीशंकराचार्यके अनुसार ''आसीनः सम्भवात्''से लेकर ''यत्र एकाग्रता तत्राविशेषात्'' सूत्रोंमें जो इतिकर्तव्यताके निर्देश मिलते हैं वे न तो कर्मांगभूता विद्याओंके हैं और न परा विद्याओंसे सम्बद्ध ही वे कहते हैं-''कर्मांगों से जुड़ी उपासनाओंके तो कर्मतन्त्र होनेके कारण ही कैसे बैठना, कहां बैठना या कब तक बैठना आदि विषयोंकी मीमांसा आवश्यक नहीं रह जाती है. इसी तरह सम्यग्दर्शनके बारेमें भी वह अनावश्यक होती है, क्योंकि सम्यग्विज्ञान क्रियानुष्ठानात्मक न हो कर वस्तुतन्त्र ही होता है'' (ब्र.सू.भा. ४।११७). (२)इसके विपरीत श्रीभास्कराचार्यसे आरम्भ कर महाप्रभु पर्यन्त सभी भाष्यकार एकमत हैं कि ये निर्देश परा विद्याके साथ भी जुड़े हुवे हैं ही. यहां श्रीभास्कराचार्यद्वारा किये गये 'दहरविद्या' के साभिप्राय उल्लेखके कारण यह अवधेय हो जाता है कि दहरविद्यामें स्वयं श्रीशंकराचार्यको भी जीवात्मासे भिन्न परमात्माका उल्लेख स्वीकारना पड़ा है. वैसे यह तो स्वाभाविक ही है कि उन्होंने इसे कल्पितभेदके रूपमें स्वीकार कर अविरोधसाधन तो किया ही है. ''दहराकाश परमात्मा है जीवात्मा नहीं'' ऐसे मननके बाद किया जाता निदिध्यासन भी, यदि चलते-फिरते दौड़ते-भागते या लेटे हुवे किया जाये तो चित्तमें सम्यग् विज्ञानके बजाय विक्षेप या निद्रा की ही सम्भावना बलवती लगती है. (३)श्रीरामानुजाचार्यने यहां यह प्रतिपादन किया है कि मोक्षसाधनतया विहित निदिध्यासनसे जुड़ी बैठने आदिकी रीति इन सूत्रोंमें निरूपित हुयी है. इस विधानके बारेमें विवादका तो कोई विषय हो ही नहीं सकता है. फिरभी इस निरूपणमें कुछ और अधिक जोड़ लेना उपयुक्त होगा: भजनीयके साथ भक्तके संयोग एवं विप्रयोग के भक्तिभावोंके की विभिन्नतामें मुक्त्यनुभूतिको भी गौण बना देनेवाली भगवत्स्वरूपानुभूति एवं भगवल्लीलानुभूति की रीतियोंका निरूपण भी यहां अभिप्रेत है. (६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्यने बाह्य आदित्यके बजाय आन्तर यूपको उत्कृष्ट माना है. इसकी तुलना बाह्यसेवा या बाह्यलीलानुभूति के बाद मानससेवा या आन्तरलीलानुभूति के सिद्ध होनेपर पूर्ण फलानुभूतिके सिद्ध हो जानेकी वाल्लभधारणाके साथ की जा सकती है: ''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता'' (षोड़.सि.मु.१) अथवा तो ''बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरं तु परं फलम्'' (सुबो.१०।२६। १). बाह्यानुभूतिके बाद जब आन्तरानुभूति सिद्ध हो जाती है तब बाह्याभ्यन्तर दोनों ही पहलु आनन्दान्भूतिसे पूर्ण हो जाते हैं. अतः महाप्रभुका एक और उद्घोष जो सर्वदा सर्वथा अविस्मरणीय हैं

वह यों है कि ''बाह्याभावे तु आन्तरस्य व्यर्थता''(सुबो.१।६।१) इन दोनों विधानोंकी एकवाक्यता साधे बिना बिना यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषात् अग्रिम सूत्र, जिसका विशद् विवेचन वहीं होगा, उसका वाल्लभ हार्द कभी समझमें आ ही नहीं सकता. (७) शारीरकभाष्यके निरूपणसे विपरीत श्रीविज्ञान भिक्षुने प्रथम सूत्रोक्त श्रवणादिके आवर्तन करते रहनेकी बात बतायी है- चाहे साक्षात्कार हो गया हो अथवा नहीं, श्रुत्युपदिष्ट प्रत्ययकी आवृत्ति देहत्याग पर्यन्त करते रहनी चाहिये (ब्र.सू.भा.४।१।१२) यह तो भक्तिकी फलदशामें भी भक्तिके साधनीभूत श्रवणादि त्रिकका या श्रवणादि नवकका भी भक्तिभावके स्वाभाविक अनुभावतया प्रेमलक्षणानुरोधी आवर्तन चलता ही रहता है. ऐसे वाल्लभ दृष्टिकोणके सर्वथा अनुरूप ही निरूपण है.

अतः इन सूत्रोंके वाल्लभ भाष्यमें अब इस साम्य-वैषम्यको निरायास निहारा जा सकता है.

(८)वाल्लभ भाष्यके अनुसार प्रस्तुत पञ्चसूत्रात्मक अधिकरणमें यह विचार किया गया है कि [क]प्रतीकोपासकोंको यदि शास्त्राप्रशंसित फल प्राप्त होता हो तो उनका निरूपण ही वेदान्तशास्त्रको करना नहीं चाहिये था! सिद्धान्ततः, वैसे, प्रतीकोपासना या तो किसी श्रुतिविहित कर्मके अंगकी उपासना होती है या फिर साकार व्यापक ब्रह्मके किसी अंगकी उपासना होती है. अतः जो जघन्याधिकारी होते हैं, उन्हें स्वाधिकारानुरूप फलदानद्वारा अंगी ब्रह्मके माहात्म्यके ज्ञापनार्थ इनका निरूपण किया गया है. अतएव छान्दोग्योपनिषद् के पञ्चमाध्यायमें वैश्वानरोपासनाके प्रकरणमें दिव आदित्य वायु आकाश आप पृथिवी आदिकी ब्रह्मत्वेन उपासना जो प्रतिपादित हुयी है, वह साकार ब्रह्मके ही व्यापक भी होनेके कारण, उसके प्रत्येक अंगोंकी उपासनाओंके फलोंका निरूपण है. क्योंकि साकार व्यापक ब्रह्मके अंग भी ब्रह्मात्मक ही होते हैं. अतः तत्त्वदृष्टया तो उन्हें प्रतीक मानना आवश्यक नहीं होता. फिरभी परिमित फलोंकी कामना, जघन्याधिकारियों को स्वाधिकारानुरूप, ब्रह्मके अंगोंमें भी परिमितबुद्धि या परिमितभाव से ही उपासनार्थ प्रेरित करती है, एतावता उन्हें 'प्रतीकोपासना' कहा-माना जाता है. अन्यथा अब्रह्मात्मक ही होनेपर तो प्रतीकोंका उपासन फलदायक ही नहीं हो पायेगा. इस तरह भगवदुपासनांगभूत भगवद्धर्मोंकी उपासनाके फलोंका निरूपण हो जानेके कारण [ख-ग-घ]सूत्रोंमें स्वयं धर्मिरूप भगवानकी उपासनाके बाह्याभ्यन्तर फलोंका निरूपण अभिप्रेत है. तदनुसार उपासककी भक्तिपूर्ण भावनाओंके उत्कट होनेपर 'आसक्तिभ्रम' न्यायेन भगवत्स्वरूप एवं लीलाओं का बाह्यानुभूतिगोचर प्राकट्य होता है. [ङ]सूत्रमें कहा गया है कि अन्यथा हृदयमें भी भगवत्स्वरूप एवं भगवल्लीला का अनुसन्धान निरन्तर बना रहता है. भगवत्स्वरूपके प्रकट होने या न

होने जैसी, कोई भी एक अपेक्षा रखे बिना कुछ भक्तोंमें भगवत्स्मरण भगवल्लीला-श्रवण भगवल्लीलाकीर्तन का भावावेश (भूलना नहीं चाहिये कि ''रसो वै सः'' श्रुतिके अनुसार भगवान् के रसात्मक होनेके कारण भगवद्भाव भगवदात्मक ही होता है) इतना तीव्र हो जाता है कि वे लौकिक या अलौकिक सभी विषयोंमें सर्वथा निस्पृह हो कर, अपने भक्तिभावोंके अनुभावोंकी विविध लहरियोंमें ही निरन्तर हिलोरे लेते रहते हैं.

भगवान्के विराट् स्वरूपके तत्तद् अंग-प्रत्यंगोंमें संनिवेशित तत्तद् देवगणोंकी उपासना के दो प्रभेद वाल्लभ वेदान्तमें मान्य किये गये हैं. शास्त्रविहित अवश्य-कर्तव्यबुद्धिसे अनुष्ठेय नित्यकर्मोंके अन्तर्गत भगवच्छेषतया इतरदेवोंका पूजन अन्याश्रयरूप न हो कर भगवत्प्रीत्यर्थ ही होता है (द्र.: सुबो.२।३।१-१२ तथा सुबो. १०।८७।१७) तत्तद् देवताओंके बारेमें वे कर्मात्मक-ब्रह्मके अंग हैं, भगवान्की अनेकविध विभूति हैं; अथवा, भगवान्के सेवक हैं, ऐसी बुद्धि रखनेपर अन्यान्य देवताओंका भी निष्काम उपासन मुक्तिप्रदायक हो पाता है(द्र.: त.दी.नि.प्र.२।५, २१८ तथा २६५-२६७). यह अंगोपासनाका कल्प है. अपने-अपने इष्टदेवका ब्रह्मके प्रतीकतया उपासन निष्काम होनेपर भी मुक्तिप्रदायक नहीं होता. ब्रह्मका इष्टदेवतया उपासन मोक्षदायक होता ही है. अपने-अपने इष्टदेवका शास्त्रविहित सकामोपासन तत्तत् क्षुद्रफलोंके प्रदानद्वारा ब्रह्ममाहात्म्यके ज्ञापनार्थ होता है.

फलप्रकरणगत लीलोपदेश: हमने देखा कि अपने इष्टदेवको ब्रह्म मानना और ब्रह्मको अपने इष्टदेवतया भजना, इसमें अन्तर यहीं पड़ जाता है कि ब्रह्म सभी कुछ बना है सो अपने आराधककी बुद्धि या भक्तिभाव के अनुसार सारे रूप धारण करके वह प्रकट हो सकता है. किसी आराधकको इष्टतया अभिमत हर किसी देवतामें यह सामर्थ्य मान्य नहीं हो पाती है. अतएव परमात्माको कान्ततया भजनेपर वह अपना कान्तस्वरूप और अपनी वैसी लीला प्रकट कर सकता है. एतावता उसे कान्त होनेकी परिधिमें परिच्छिन्न नहीं बनाया जा सकता है. जो देश-काल-स्वरूपगत परिच्छिन्नता वह निजानुग्रहवश स्वीकारता है, उस वरदानरूपेण सिद्ध होती फलप्राप्तिमें प्राप्त्यर्हतारूप अधिकार तो किसीका भी हो सकता है. एकस्वत्वरूप या स्वामित्वरूप अधिकार, परन्तु, हर किसीका मान्य नहीं हो पाता. ऐसी बुद्धि या ऐसे भाव ब्रह्म परमात्मा भगवान्को देश-काल-स्वरूपतया परिच्छिन्न अनात्मा अनीश्वररूप विषय या क्षुद्रदेव बनाने में पर्यवसित होने लगते हैं. श्रीकृष्णको यदि पुरुषोत्तमकी विभूति या क्षुद्रदेव बना कर भजन किया जाता है तो आत्मरति होनेकी गरिमा भजनमें खण्डित हो जायेगी. अतः ऐसी भक्तिको फिर 'पुष्टिभक्ति' भी कहा नहीं जा सकेगा. प्रभुचरण, अतएव, आज्ञा करते हैं-''भगवत्स्वरूपातिरिक्त कोई भी फल प्रदान करनेवाले कर्म या ज्ञान (या

उपासना) को 'भक्ति' नहीं कहा जा सकता; और, भक्ति कभी भगवत्स्वरूपानन्दसे अतिरिक्त कोई फल प्रदान करती नहीं है... अन्य किसी फलका अनुसन्धान रखे बिना अपने आराध्य के बारेमें उसके पुरुषोत्तम होनेकी भावना करनेवालेके अन्तःकरणमें तथा आराध्य में भी पुरुषोत्तमका आवेश हो पाता है. अर्थात् वह पुरुषोत्तमकी विभूति बन जाता है. ऐसी विभूत्याराधनासे भक्तिप्राप्ति सम्भव है परन्तु भगवत्प्राप्ति तो केवल भगवत्कृत वरणद्वारा ही सम्भव होती है'' (द्र.: भ.हं.). अतएव ऐसे दिव्य और सूक्ष्म रहस्यके बोधनार्थ ही भगवान् रासलीलामें गोपिकाओं के बीच तिरोहित हो गये थे. यह फलप्रकरणकी इन कारिकाओं में वर्णित हुवा है:

> इस तरह अपनी कामनाके अनुसार परमात्मा भगवान् कृष्णको पा लेनेके कारण भूतलपर अपने-आपको सर्वश्रेष्ठ मानने लगी. उनके ऐसे सौभाग्यमद और मान के प्रशमनार्थ केशव उनपर कृपा करनेको तिरोहित हो गये (भाग.१०।२६।४७-४८).
>
> उस गोपिकाके साथ भी अखण्डित आत्माराम भगवान्ने आत्मरत रहते हुवे रमण किया, जैसे कोई कामी जन कान्ताके समक्ष अपना दैन्य प्रकट करता है, तद्वत् दैन्य प्रकट करते हुवे.... उसे अपने सर्वश्रेष्ठ होनेका मान जग गया कि सबको छोड़कर मेरे ही साथ भगवान् रमण करना चाहते हैं. सो वनके भीतर जानेके बाद उसने सगर्व केशवको कहा, ''अब चल नहीं सकती हूं, अतः मुझे उठाकर ले चलो जहां ले जाना चाहते हो!'' तब... कृष्ण अन्तर्हित हो गये (भाग.१०।२७।३४-३८).

अतः अपने-अपने इष्टदेवोंका ब्रह्मतया भजन विभूतिपर्यवसायी होता है. ब्रह्मका, किन्तु, निज इष्टदेवतया भजन मुक्ति या भक्ति में पर्यवसित हो पाता है, भगवान्के आत्माराम होनेके स्वभावके अनुरूप होनेसे. अन्यथा उसे क्षुद्रदेव बनानेकी कुचेष्टा सिद्ध होती है, क्षुद्रदेव और परब्रह्म परमात्मा के बीच रहा तारतम्य गीताके (कारिका: ३।११-१२, ७ २३ तथा ९।२५) वचनों में सुस्पष्टतया निरूपित किया गया है. अतएव इस रहस्यके बोधनार्थ भगवान् के तिरोहित होनेपर भगवद्विरहवशाद् भगवद्भावके उत्कट होनेपर रासस्थगोपिकाओं में आसक्तिभ्रमन्यायेन अध्यासरूप भगवत्प्राकट्य और भगवल्लीलाप्राकट्य ''कृष्णोऽहम्''की आत्मरतिके परिपाकरूप (द्र.: भाग.१०।२७।१-२३) प्रकट हुवा. यों आठवें नौवें और दसवें ब्रह्मसूत्रोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तका ही भाष्य भागवतमें भी उपलब्ध होता ही है.

आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश: अतएव आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके

लिये उपदिष्ट प्रकरण ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम बालबोध (कारि.१०-१९)में भगवद्गुणावतार ब्रह्मा विष्णु और शिव को न केवल नियतार्थ फलोंके दाता अपितु ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतया उदितौ भी कहा गया है.

सिद्धान्तमुक्तावली (कारि.९-१२) में भी लौकिक कामचारकी पूर्ति ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा दिखला कर स्वमार्गमें तो ब्रह्मवादके अनुसार श्रीकृष्णको परंब्रह्मतया स्वीकारते हुवे भजन करने की आवश्यकतापर भार दिया गया है. अतएव विवेकधैर्याश्रय (कारि.१३-१४) में अन्यदेवोंके भजनमें होते अन्याश्रयदोषसे अपने आपको बचाने की आज्ञा भी दी गयी है; क्योंकि, श्रुतिमें भी ''यो वै स्वां देवताम् अतियजते प्र स्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान् भवति'' (तैत्ति.संहि. २।५।४) कहा गया है. इसी तरह कृष्णाश्रय (कारि.८) में पूर्णानन्द होनेसे केवल श्रीकृष्ण ही हमारेलिये आश्रयणीय हैं, यह भी दिखलाया गया है. पूर्वसूत्रोक्त 'ग्राहयन्ति' पदद्वारा अविवक्षित होनेसे वर्ज्यत्वेन निर्धारित वक्ताओंके निरूपणके अन्तर्गत जलभेद (कारि.१९) में ''देवाद्युपासनोद्भूताः 'पृष्वा' भूमेः इव उद्गताः'' वचनमें अन्यदेवोपासक वक्ताओंके मुखसे भगवद्गुणगानको श्रीकृष्णभक्तिमें अनुपयोगिता अश्रवणीय माना गया है. इसी तरह निरोधलक्षण (कारि.१२-१९) में प्रस्तुत अधिकरणगत सातसे दसवें सूत्रों के निर्देशोंके अनुसरणद्वारा 'आसक्तिभ्रम' न्यायेन आन्तर-बाह्य भगवदध्यासकी परमफलात्मिका भगवदेकतानताकी अवस्था दिखलायी गयी है.

(४) यत्रैकाग्रताधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोपदेश तथा आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता:

यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषात् (ब्र.सू. ४।१।११).

(१)इस सूत्रके भाष्यमें श्रीशंकराचार्यका कहना है कि सामान्यतया सभी वैदिक अनुष्ठानों में दिशा देश और काल के नियम दिखलायी देते हैं. उदाहरणतया प्राङ्मुख हो कर कर्मानुष्ठान करनेके नियम, तीर्थक्षेत्रोंके देशादिनियम अथवा प्रातर्मध्यान्हसायं या ऋतु-मास पक्ष तिथि नक्षत्रोंके कालनियम के बन्धन इन उपासनाओंमें आवश्यक नहीं होते. किसी भी दिशा देश या काल में एकाग्रताके सौकर्य मिलनेपर उपासना की जा सकती है. वैसे वस्तुतः तो कुछ नियम स्वीकारे गये ही हैं फिरभी इनकी बारीकियोंमें उपासक कहीं उलझ ही ना जाये एतदर्थ सूत्रकार उपासकके प्रति सौहार्द बरतते हुवे केवल एकाग्रतापर ही भार दे रहे हैं.

(२)श्रीभास्कराचार्य (३)श्रीरामानुजाचार्य (४)श्रीनिम्बार्काचार्य-

श्रीश्रीनिवासाचार्य (५)श्रीमध्वाचार्य या (६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्य ने यहां इस सूत्रमें उल्लेखनीय विशेष कुछ भी नहीं दिखलाया है.

(७)श्रीविज्ञान भिक्षुने इन भाष्यकारोंके निरूपणकी तुलनामें यह विशेषतया प्रतिपादित किया कि स्वयं अपने घरमें या वनमें अथवा गिरिगुहाओंमें कहीं भी योगसाधना की जा सकती है. शास्त्रोंमें एतद्विषयक अरण्य या गिरिगुहादि के उल्लेख नियमद्योतनार्थ न हो कर व्यासंगादि दोषोंके परिहारार्थ ही केवल दिखलाये गये हैं. अतः जो जनकादिकी तरह अपने घरमें भी योगसमाधि लगा पाता हो, उसे भी योगसाधनाके लिये अरण्यमें ही जाना चाहिये, ऐसा कोई नियम घड़ा नहीं जा सकता है.

समाधिके सिद्ध हो जानेपर भी गृहस्थिति अथवा गृहत्याग के बीच अनियमकी कथामें, अविभागाद्वैतवादी और शुद्धाद्वैतवादी दोनों ही वेदान्त सम्प्रदायोंकी, उल्लेखनीय समानता है.

(८)वाल्लभ भाष्यके अनुसार यहां यह विचारणीय माना गया है कि श्रवण-मनन-निदिध्यासन अथवा श्रवण-कीर्तन-स्मरणादि में तत्पर जीवात्माके समक्ष बाहर भगवत्प्राकट्य हो; अथवा, बाहर न हो कर जिसके हृदयमें भीतर भगवत्प्राकट्य होता हो, उनमें परस्पर किसी तरहका तारतम्य होता है कि नहीं? उत्तररूपेण यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि अन्तर्हृदयमें प्रकट होनेवाले अथवा नयनोंके समक्ष बाहर प्रकट होनेवाले भगवान् के स्वरूपों में से जिस किसी स्वरूपमें, भक्तका चित्त इतना परायण बन जाता हो कि स्वयं उसे आन्तर-बाह्यका कोई होश न रह जाये, तब भीतर या बाहर जहां भी भगवत्स्वरूपानुभूति हो उसमें न तो भक्तके भावोंमें और न भगवत्स्वरूप में ही किसी तरहका कोई अन्तर खोजा जा सकता है. अतः कुछ भी तारतम्य रह नहीं जाता.

सुदूर भूतकालसे पुष्टिमार्ग में एक विवाद चला आ रहा है कि भगवत्संयोगके समय होती भगवत्स्वरूप-लीलाकी बाह्यानुभूति परमफलरूपा होती है या भगवद्विप्रयोगके समय होती भगवत्स्वरूप-लीलाकी आन्तर अनुभूति परमफलरूपा होती है? इसी तरह बाह्य तनुवित्तजा सेवा क्या साधनरूपा ही होती और मानसी सेवा ही क्या फलरूपा होती है; या, इनमें अन्यथाभाव भी सम्भव है? इन जिज्ञासाओंके समाधान भी यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषात् सूत्रके फलितार्थकी उपेक्षाके कारण मिल नहीं पाते ऐसा दृढ़निर्धारणके साथ कहा जा सकता है.

फलप्रकरणगत लीलोपदेश: इस सारे सन्दर्भको स्फुटतर समझानेवाली रासलीलाकी कथामें अतीव रसात्मिका उपपत्ति तामस फलप्रकरणके सत्ताईसवें अध्यायके प्रारम्भमें महाप्रभु कहते हैं कि जीवात्मामें अपने पारमात्मिक आनन्दको

प्रकट करनेके लिये भगवान्‌की ये सारी लीलायें हैं. भगवान्ने संयोगरसात्मिका बाह्यलीलाओंके द्वारा व्रजगोपिकाओंके बाह्य देहों और इन्द्रियों में वह पारमात्मिक आनन्दको प्रकट किया. उसे ही और भी अधिक पुष्ट बनानेकी प्रक्रियाके रूपमें लीलाविशिष्ट भगवान् ने उनके अन्तःकरणोंमें प्रवेश किया. अर्थात् विप्रयोगरसात्मिका आन्तरलीला की. इसे श्रुतिमें वर्णित परमात्माके- ''वह एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें विचरण करता है... वह सभी जनोंके मनमें बिराजमान आत्मा सर्वान्तर्यामी तथा सर्वात्मा है... वह अनेक रूपोंको घड़नेवाला कुशल कारीगर है... वह सभीके भीतर रह कर कार्य करनेवाला देवोंका बन्धु हमारी हृदयगुहामें छिपा हुवा रहता है... सदा ही साथ रहनेवालेको भी देवगण जान नहीं पाते हैं''(तैत्ति.आर.३।११।१-५) इन निरूपणांशोंका लीलात्मक भाष्य समझा जा सकता है. अतएव बृहदारण्यकोपनिषद् (१।४।१०) में ब्रह्मानुभूतिके निरूपक वर्णनमें ''पहले ब्रह्म अकेला ही था. उसने अपने-आपको ब्रह्मतया जाना और वह अनेक बन गया. जिन देवताओं अथवा ऋषियों ने भी अपने-आपको ब्रह्मतया जाना वे ब्रह्म बन गये. ऋषि वामदेवने अपने आपको इसी तरह जब जाना तो उन्हें लगा कि 'मैं ही मनु हूं- मैं ही सूर्य हूं' आज भी जो इस रहस्यको जान पाता है, वह यह सब कुछ बन पाता है''. व्रजगोपिकाओंके भी भीतर जब भगवान् प्रविष्ट हो गये तो न केवल उन्हें शिशु कुमार पौगण्ड एवं किशोर अवस्थापन्न 'कृष्णोऽहम्'की रसात्मिका आत्मप्रतीति हुयी अपितु कृष्णलीलाके अन्तर्निविष्ट जड़-चेतन दानव मानव आदि सभी विषयोंमें स्व-स्व-आत्मभाव पनप गया ऐसा वर्णित हुवा है. महाप्रभु कहते हैं कि भगवान्‌को उलूखलमें बांधने तककी ही लीलाओंके अनुकरणके कारण यह सिद्ध होता है कि ''भगवान् कथञ्चित् उनके वशमें आकर प्रकट हो जायें!'' ऐसे गोपिकाओंके हृदयमें रहे निगूढ़ भक्तिभावकी झलक मिल रही है. इस अन्तः प्राकट्यका ही दूसरा पहलु है: बाह्यतिरोधान. उसपर ध्यान जानेपर गोपिकाओंने गुणगानका आश्रय लिया. इस तरह फलप्रकरणके छब्बीसवें अध्यायकी ४२-४६वीं कारिकाओंमें, उनत्तीसवें अध्यायकी २-२२ वीं कारिकाओंमें तथा तीसवें अध्यायकी १-२६ वीं कारिकाओं में बहिः संयोग वर्णित हुवा है. इसी तरह छब्बीसवें अध्यायकी अन्तिम ४७-४८ वीं कारिकाओंमें, अग्रिम सत्ताईसवें अध्यायकी १ ली कारिकामें, ४- १४वीं कारिकाओंमें, २४-४४ वीं कारिकाओंमें तथा सम्पूर्ण अठ्ठाईसवें अध्यायमें बहिर्विप्रयोग वर्णित हुवा है. सत्ताईसवें अध्यायकी २-४थी कारिकाओंमें, १५-२३वीं कारिकाओंमें तथा अग्रिम समग्र ३२ वें अध्यायमें आन्तरसंयोग वर्णित हुवा है. यों कभी निजगत प्रेमभावकी अथवा तो कभी दृष्टिगोचर तो कभी हृद्रत भी प्रियतम-तल्लीलाओंकी अनुभूतिके रसात्मक चक्रके आवर्तनके

वश निज देह-गेहको भूल कर गोपिकायें तब भगवन्मनस्क भगवदालाप-परायण भगवद्विचेष्टापरायण और भगवदात्मिका ही बन गयी थी. छब्बीसवें अध्यायसे तीसवें अध्यायोंमें वर्णित वृन्दावनमें मिलती आलम्बनविभावात्मक भगवत्स्वरूपानन्दकी रसानुभूति या बत्तीसवें अध्यायमें वर्णित व्रजस्थगृहोंमें मिलती उस रसस्थायि-भावात्मिका अनुभूतिमें अनुभवकर्त्री और अनुभवविषय में किसी तरहका तारतम्य नहीं था. अन्यथा तीसवें अध्यायको धर्मिनिरूपक अध्यायतया मान्य करनेका हेतु स्वतोनिरस्त हो जाता है. यों बाह्यसंयोग बाह्यविप्रयोग आन्तरसंयोग एवं आन्तर-विप्रयोग की इस रसचक्रात्मिका अनुभूतिमें से इस प्रकरणमें निरूपित तीन घटकोंवाली फलानुभूतिके प्रत्येक घटकमें गोपिकाओं की परम एकाग्रताका यहां वर्णन भागवतको यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ब्रह्मसूत्रका लीलाभाष्य होना सिद्ध करता है.

अतः, उनत्तीसवें अध्यायके प्रारम्भमें महाप्रभु कहते हैं कि गोपिकाओं ने निःसाधनभाववश भगवद्विरहमें रोदन जो किया, वह उनके मानप्रशमनका अनुभाव था. सो भगवान् प्रसन्न हो कर उनके बीच प्रकट हो गये. क्योंकि साधनसम्पत्तिके कारण भगवान् जितने प्रसन्न नहीं होते उतने दैन्यभावपर प्रसन्न होते हैं. साधनसम्पत्तिका, निरहंकार अनुष्ठान एक बात है और साहंकार अनुष्ठान दूसरी बात हो जाती है. निरहंकार अनुष्ठानका आत्मरतिके साथ सामञ्जस्य अधिक होता है. भागवतकथोपजीवी आधुनिक कई कथाव्यासोंको इससे यह भ्रान्ति सताती है कि कथा करते-करते थोड़े-थोड़े अन्तरालमें श्रोताओंके समक्ष सायास कण्ठावरोध और रोदन करते रहना भगवत्प्राप्तिका दैन्यभावात्मक एक श्लाघ्यतम साधन है. यह तो निःसाधनभावात्मक रोदन न हो कर रोदनमें साधनबुद्धिका मतिवैपरीत्य है! भागवतकथाके समय भगवान् के बजाय श्रोतृसमुदायको हृदयमें बसा कर किया गया रुदन और भगवान् के हृदयमें छिपे होनेके कारण बरबस फूट पड़ते रुदनमें आकाश पातालका अन्तर होता है. एक साध्योपाय होता है जबकि दूसरा सिद्धोपाय. इसी सिद्धोपायरूप भगवान्के प्रति दैन्यभावकी अनुवृत्तिको स्फुट करते हुवे महाप्रभु कहते हैं:

> भगवान् के दर्शन पा लेनेके कारण जिसके सारे दोष दूर हो गये ऐसी एक गोपिकाने पहले तो अपलक दृष्टिसे भगवान्को निहारा और फिर अपने नयनद्वारा प्रकट भगवान्के उस अत्यलौकिक सौन्दर्य, लावण्य, एवं माधुर्य को अपने हृदयमें पूरी-पूरी तरह भर लेनेकी भावनासे अपने नेत्र मींच लेने चाहे इस लावण्यामृतपानवश प्रकटे रोमन्थमें लेशमात्र भी व्यवधान कहीं न आ जाये! इस प्रक्रियामें किन्तु वह गोपिका इतनी तो सफल हो

पायी कि चाहें तो भगवान् पुनः तिरोहित भी हो जाते तो उसे भगवद्विप्रयोग अब कभी न सता पाता! फिरभी प्रकट भगवत्स्वरूपके सौन्दर्यातिशयके कारण वह अपने सामर्थ्यको भूल बिसर कर पुनः भगवान्को निहारती ही रह गयी!

इस गोपिकाने अपने समक्ष प्रकट भगवत्स्वरूपकी उपेक्षा करके विप्रयोग अनुभूतिमें भगवान् के गुण स्वरूप और लीलाओं को याद कर करके रोदनसाधनमें परायण रहना उचित नहीं माना! पुष्टिमार्गीय विडम्बनाकी यह पराकाष्ठा है कि निजगृहमें बिराजमान भगवत्स्वरूपकी जन्माष्टमी जैसे उत्सवोंकी भी सेवा त्याग कर सारी दुनियामें भागवतकथाओंके लिये भटकनेवाले भगवत्स्वरूपके विरहमें भागवतकथामें रोदनसाधनाको कुछ आधुनिक शुक पुष्टिमार्गमें एक प्रमुख साधन मान बैठे हैं!

आधुनिक पुष्टिमार्गयों को कर्तव्योपदेश: अतएव आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके हृदयों में दैन्यभावका उद्बोधन 'अन्तःकरणप्रबोध' 'विवेकधैर्याश्रय' एवं 'कृष्णाश्रय' नामक ग्रन्थोंद्वारा महाप्रभुने किया है. इसी तरह पञ्चश्लोकी(कारि.५)में ''आत्मनिवेदन और दीनता शरणागति कहलाती हैं'' वचनमें यही उपदेश दिया गया है. बाह्य या आन्तर भगवत्प्राकट्यके प्रकारोंमें तारतम्य नहीं होता, यह बात पुष्टिप्रवाहमर्यादा (कारि.१७) में ''भगवान् ही फलरूप होते हैं, अर्थात् अपने गुण या अपने स्वरूप के भेदोंमें वे जैसे भी इस भूतलपर प्रकट होते हों, वे पुष्टिजीवोंके लिये फलरूप होते ही हैं'' वचनमें उपलब्ध होती है. तथा भक्तिवर्धिनी (कारि.९) में आते सेवा अथवा कथा दोनों ही या दोनें से किसी एकको भी यावज्जीवन दृढ़ आसक्ति के साथ निभानेवालेका कभी नाश नहीं हो पाता वचनमें भी यही बात कही गयी है. यह भगवत्सेवा करनेवालोंको उसे छोड़ कर आजीविकार्थ की जाती भागवतकथाके विकल्पकी कथा नहीं है. भगवान्के बाह्यस्वरूपकी सेवा बाह्यावलम्बनके द्वारा भीतर भगवत्प्राकट्यकी प्रक्रिया है. इसी तरह भगवद्गुणगान या भगवत्कथा के श्रवण-कीर्तन-स्मरणके अवलम्बनसे भीतर रहे भावात्मक स्वरूपको बाहर अनुभव करनेकी प्रक्रिया है. इनमें साधनदशामें दोनोंका ही निर्वाह अभीष्ट होता है. फलदशामें किसी एकके भी निभ जानेपर किसी तरहकी भीतिका कोई हेतु नहीं रह जाता. वैसे स्वयं भगवान् और भगवत्कथा के बीच घनीभूत रस और तरलीभूत रस जितना अन्तर जो नहीं होता तो भगवान्के तिरोहित हो जानेपर गोपिकाओंने भी केवल भगवत्कथाद्वारा सन्तुष्ट हो जाना उचित मान लिया होता! (द्र.: सुबो.१०।२८१९).

साधनाध्यायके भाष्य (३।३।३९) में प्रभुचरण कहते हैं कि भक्तिसाधनामें शास्त्रोक्त निखिल साधनोंका साक्षात् अथवा परम्परया अन्तर्भाव सम्भव हो ही जाता

है. यह बात जिस एक तथ्यके विचार करनेपर और दृढ़ होती है, वह यह है कि सामान्यतया मोक्षमें प्रतिबन्धरूप माने जानेवाले हेय काम-क्रोध-द्वेषादि दुर्गुण भी भक्तिके परम-चरम स्वभाव-चित्तकी भगवदेकतानता या एकाग्रता में पर्यवसित होनेपर मुक्तिप्रापक हो पाते हों तो स्वयं भक्तिके उत्कर्षकी कोई सीमा कैसे बांधी जा सकती है! भक्तिके विहिता और *अविहिता दो भेद होते हैं.

* यहां पूर्वप्रतिपादनानुसार यह पुनः अनुसन्धेय है कि 'विहिता' पदका तात्पर्य विहितानुष्ठानद्वारा प्रेमलक्षणा भक्तिको उत्पन्न करने, या प्राप्त कर लेने अथवा उसे सुसंस्कृत बनानेमें नहीं है. क्योंकि वह तो आत्मरति होनेके कारण प्रत्येक जीवात्मामें अंशात्मना स्वतः सिद्ध होती ही है. अतः उसका प्रागभाव ही जब न हो तो उसे उत्पन्न करनेका प्रसंग ही उठ नहीं सकता. इसी तरह जीवात्माओंके भीतर रही विषयासक्तिकी परतोंमें दबी होनेपर भी आत्मरति विद्यमान तो रहती ही होनेसे उसे प्राप्त करनेकी अपेक्षा नहीं रहती. आत्मरति स्वरूपेण स्वयं ब्रह्मकी तरह ही अविकृत रहती होनेसे उसमेंसे नाम रूप कर्मात्मिका विषयासक्ति परिणत होती होनेसे उसे संस्कारकी भी अपेक्षा नहीं रहती है. अतएव वह सिद्धोपायरूपा ही होती है. फिरभी विषयाकर्षणोंसे आवृत होनेके कारण पूर्वसिद्ध होनेपर भी वह अप्रकट रहती है. विहित साध्योपायों, नामशः, श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य तथा आत्मनिवेदन, के प्रमाणबलमूलक अनुष्ठानोंद्वारा विषयाकर्षण ही निवृत्त होता है. अतः विहितोपायद्वारा वह केवल प्रकट होती होनेके कारण उसे 'विहिता' कहा जाता है. इसी तरह जिस जीवात्माका भक्त्यर्थ भगवान्ने वरण किया हो उसके समक्ष अपने प्रमेयबलसे प्रकट स्वरूपके बारेमें अविहितोपाय या निषिद्धोपाय रूपी कामादि भावोंद्वारा भी चित्तकी तदेकतानताके रूपमें प्रकट हो जाती होनेसे इसी भक्तिको 'अविहिता' भी कहा जाता है. अतएव भक्तिको पूर्वसिद्ध नवमस्कन्धका प्रतिपाद्य विषय माना गया है. विषयासक्तिके आवरणोंके निवारणद्वारा उस पूर्वसिद्धा भक्तिका शनैः-शनैः निरोधात्मना उत्तरोत्तर निरावृत स्वरूपमें प्रकट होते जाना ही दशमस्कन्धका प्रतिपाद्य विषय माना गया है.

परमेश्वर होनेके माहात्म्यको भलीभांति जान कर भगवान्में निरुपाधिक स्नेह हो जाना भक्तिकी विहिता रीति है. भगवान्के स्वतः प्रकट स्वरूपके बारेमें वात्सल्यभाव कामभाव अथवा द्वेषभाव आदि उपाधियोंके कारण चित्तकी भगवदेकतानता प्रकट हो जानी भक्तिकी अविहिता रीति है. इसी तरह गृह- परिवारकी संसारासक्तिमें फंसे रहना भी मुक्तिमें अत्यन्त अन्तरायरूप माना गया है. फिरभी अपना सर्वस्व भगवान्को निवेदित करके अपने घरमें भगवत्सेवा निभानेवालेके गृह परिवार भगवदुपयोगी बन जाते हैं. अतः मुक्तिमें वे प्रतिबन्धक नहीं हो पाते. क्योंकि ऐसोंका घर तथा परिवार स्वयं भगवन्मन्दिर तथा भगवत्परिकर ही बन जाता है. यों बाधक भी साधक बन जाते होनेसे भक्तिका उत्कर्ष अनितरसाधारण होता ही है. फिरभी भगवद्विरहावेशवश प्रकट होती विकलताके कारण किन्हीं-किन्हीं भक्तोंको घरमें रहना

सुहाता नहीं है. सो ऐसे भावावेशमें वे कभी गृहत्याग भी कर देते हैं. वस्तुतः यह गृहत्याग किया नहीं जाता परन्तु स्वतः ही हो जाता है. यों गृहत्यागका भी एक कल्प भक्तिशास्त्रानुमत है, ऐसा अणुभाष्य (३।४।४२) में कहा गया है. साथ ही साथ कुछ आगे (ब्र.सू.भा. ३।४१४७) चल कर भाष्यकार यह भी कहते हैं कि इस तरह त्याग करनेवालोंके केवल वाचिक-मानसिक व्यापार ही भगवान् के साथ जुड़ पाते हैं, जबकि, स्वयं अपने घरमें भगवत्सेवा निभानेवाले भक्तके तो कायिक वाचिक तथा मानसिक सारे व्यापार ही केवल नहीं प्रत्युत पारिवारिक जन भी भगवद्भक्तिमें विनियुक्त हो जाते हैं. सो ऐसे इन भक्तोंकी भक्तिमें एक विलक्षण परिपूर्णता सिद्ध हो जाती है. इसमें शर्त केवल यही दिखलायी गयी है कि अपने भगवद्भावका निरर्थक प्रदर्शन नहीं करना चाहिये. उसे अपने पारिवारिक या वर्णाश्रमोचित कर्तव्योंमें छिपाये रखनेपर ही वह भगवद्भाव वृद्धिंगत हो पाता है. क्योंकि हृदयमें भगवान्के आविर्भूत न होनेपर भगवद्भाव दूसरोंके समक्ष प्रकट हो जाते हैं. हृदयमें, परन्तु, भगवान्के आविर्भूत होनेपर वह शक्य नहीं रह जाता.

कतिपय लोग इस सन्दर्भमें यों कहना चाहते हैं कि उल्लिखित भक्तिमार्गीय सारे कर्तव्यनिर्देश स्वयं महाप्रभुने गोवर्धनगिरिपर श्रीगोवर्धननाथके सार्वजनिक देवालय में निजसेवा करनेकी भगवदाज्ञाको स्वीकारने बाद निजगृहमें भगवत्सेवाके सिद्धान्तको छोड़ दिया था. हकीकत इस विषयमें यह एक और है कि तब साम्प्रदायिकी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा भी न लेनेवाले बंगालियोंको वहां भगवत्सेवामें स्वीकारा गया था. तो क्या आज भी विसम्प्रदायी जनोंको श्रीगोवर्धननाथजीकी सेवा करनेका अधिकार मान्य रखना चाहिये या नहीं? गुरूपदिष्ट कर्तव्योंका लेशमात्र अनुसन्धान रखे बिना; और, गुर्वाचरितके हेतु प्रयोजनोंकी भी लेशमात्र जिज्ञासा रखे बिना, गुर्वाचरणके अनुकरण करनेके पक्षको कुछ लाभपूजैकपरायण पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणिताके रूपमें मान्य रखना चाहते हैं. इनका कहना है कि भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा के सार्वजनिक प्रदर्शनको यहां वर्जित नहीं मानना चाहिये. भगवत्स्वरूप तथा भगवत्सेवा सम्बन्धी भावोंके ही केवल सार्वजनिक प्रदर्शनका यहां निषेध मानना चाहिये. यह तो पुष्टिभक्तिमार्गके मौलिक सिद्धान्तोंसे सर्वथा स्वयंके अपरिचित होनेके रहस्यका ही उद्घाटन है! क्योंकि भगवत्स्वरूप और भगवत्सेवा दोनोंका भावात्मक होना तो प्रत्येक पुष्टिमार्गीय कहता-मानता आया है! अर्थोपार्जनको ही परम कर्तव्य माननेवाले अन्य कतिपय लोग, क्योंकि स्वयं महाप्रभु तो भक्तिके व्यावसायिक प्रदर्शनद्वारा अर्थोपार्जन करनेके सर्वथा विरुद्ध हैं, अतः महाप्रभुके बजाय महाबकके अनर्गल प्रलापोंका अनुमोदन करना चाहते हैं. इन अनर्गल प्रलापोंके अनुसार पुष्टिमार्गीय भावोंकी

सार्वजनिक चर्चा, सार्वजनिक विवाद; तथा सार्वजनिक प्रवचनोपदेश की यहां निन्दा है, अर्थात् पुष्टिप्रभुके वित्तोपार्जनार्थ सार्वजनिक प्रदर्शन या पुष्टिभक्तिमार्गीय भगवत्सेवाके नित्यक्रमका, या ऋतूत्सवोंपर अनुष्ठेय नैमित्तिकक्रमका; अथवा लाभपूजाकी कामनासे आयोजित होते छप्पनभोग-कुंडवारा-हिंडोला-फूलमंडली आदि काम्य मनोरथोंका सार्वजनिक प्रदर्शन का निषेध नहीं है. अतः स्वमार्गीय सेवाभावी (वित्तदायी) वैष्णवोंको आमन्त्रित करके दर्शन कराने ही चाहिये. इन आमन्त्रणोंद्वारा पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंके साथ-साथ अपुष्टिमार्गीय भी आ धमकते हों तो चिन्ताकी कोई बात नहीं होती. क्योंकि गैरब्रह्मसंबंधियोंके लिये ऐसे प्रदर्शन निष्फल जाते होनेपर भी आनेवाले सभी दर्शनार्थी जनोंमें स्वमार्गीय परमभगवदीय होनेकी बुद्धि रखनी आवश्यक मानते हैं!

यह बड़े खेदका विषय है कि ऐसी अर्थोपासनाका एक भी अधिकरण भगवान् सूत्रकारने फलप्रकरणमें रचा नहीं है! और न ऐसा कोई उत्सूत्र भाष्य ही आचार्यविरचित कहीं उपलब्ध होता है!! रासपञ्चाध्यायीके भी किसी श्लोकमें रासलीलाके दर्शन या मनोरथी बननेको वित्तजा सेवा करनेका विज्ञापन स्वयं भगवान् या गोपिकाओं नें भी प्रकाशित नहीं करवाया; क्योंकि, व्यासजीके द्वारा कीर्तनीय भक्त और भगवान् जैसे द्रव्योपार्जनार्थ रासलीलामें सम्मिलित या उसे आयोजित नहीं कर रहे थे, वैसे ही व्यासजीके उपदेश्य भी भक्तयर्थी भगवदाराधक ही हैं लाभपूजार्थी प्रतीकोपासक नहीं!!!

इस तरहके जघन्यभावोंसे प्रेरित भगवद्भक्ति करनेकी दुर्वृत्तिका परिणाम यह आया है कि पुष्टिभक्तिमार्गीय सावधानीकी आज घोर उपेक्षा की जा रही है. साधारण अनुगामिजनोंकी कथा तो बहोत दूर परन्तु स्वयं पुष्टिमार्गीय आचार्योंके घरोंमें की जाती भगवत्सेवा ही आज केवल आजीविकोपार्जनके गर्ह्यतम सार्वजनिक प्रदर्शनके स्तरपर विकृत हो गयी है! ईश्वरेच्छा बलीयसी!!

(५)आप्रायणाधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोपदेश तथा आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता:

आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् (ब्र.सू.४।१।१२).

(१) प्रस्तुत अधिकरणमें श्रीशंकराचार्यका कहना है कि सभी तरहकी उपासनाओंमें आवृत्तिकी उपयोगिता समझा दी गयी है. उसके साथ यह भी समझा दिया गया कि सम्यग्दर्शनार्थ जो उपासनायें होती हैं उनमें तो कार्यसिद्धि पर्यन्त ही आवृत्ति अपेक्षित होती है. क्योंकि सम्यग्दर्शन सिद्ध होनेके साथ विधियोंके आधीन साधक रह

नहीं जाता. अवशिष्ट रह गया प्रश्न यह है जो उपासनायें अभ्युदयार्थ की जाती हैं उनकी आवृत्ति थोड़े–बहुत काल तक करनी या आजीवन उनकी आवृत्ति करते ही रहनी चाहिये? उत्तर यह है कि आजीवन उनकी आवृत्ति करनी चाहिये. क्योंकि मरणवेला तक आवर्तन निभानेपर कोई ऐसा अदृष्ट उत्पन्न होता है कि जिसके कारण अभीष्ट फल प्राप्त हो जाता है. कर्म भी तो अपने कुछ फल जन्मान्तरमें प्रदान करते होनेसे मृत्यु पर्यन्त उपासनाका आवर्तन न करनेपर जन्मान्तरोपभोग्य फल प्रदान कैसे कर पायेंगे? अभ्युदयार्थ आजीवन आवर्तनीय इस उपासना करनेकी रीतिको भगवद्गीताके आधारपर भी प्रमाणित करनेको श्रीशंकराचार्यने ''प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'' वचन भी उद्धृत किया है.

(२)श्रीभास्कराचार्यने विशेष कुछ उल्लेखनीय विधान यहां नहीं किया

(३)श्रीरामानुजाचार्यने सुस्पष्ट शब्दोंमें इस अधिकरणमें अभ्युदयफलार्थ की जाती उपासना नहीं परन्तु अपवर्गार्थ ही की जाती उपासनाओंकी आवृत्तिका विधान स्वीकारा है.

(४)श्रीनिम्बार्काचार्य तथा श्रीश्रीनिवासाचार्य ने यहां उल्लेखनीय कोई विशेष विधान नहीं किया है.

(५)श्रीमध्वाचार्य यहां कहते हैं कि अन्य किसी भी साधनकी तुलनामें ध्यानको गौण नहीं मान लेना चाहिये, क्योंकि विष्णुध्यानके बिना विष्णुका साक्षात्कार हो नहीं सकता(न्या.वि.) यहां ब्रह्मसूत्रभाष्यमें बहोत ही सुरुचिर विधान करनेवाले शास्त्रवचन भाष्यकारने उद्धृत किये हैं कि न केवल आमोक्षलाभ अपितु मुक्त होनेके बाद भी उपासना चालु रखनी चाहिये. जब तक भलीभांति समझमें न आ जाये तक तक श्रवणका आवर्तन निभाना चाहिये, मननका आवर्तन जब तक युक्तता न लगने लगे तब तक, ध्यानका आवर्तन जब तक ईक्षा न उत्पन्न हो जाये तब तक. ईक्षाका बाध तो कभी होता नहीं है. क्योंकि साक्षात्कार = दर्शन तो स्वतः भी निरन्तर रह सकता है परन्तु दर्शन कभी थोड़ी दैरके लिये न भी होता हो तो तबभी साक्षात्कृत तत्त्वका ध्यान तो शक्य रहता ही है. ध्यातवस्तुके दर्शन और दृष्टवस्तुके ध्यान की आवृत्तिको निभानेवाली भक्तिको तो जीवात्मा अनन्तकाल तक निभा ही सकती है. अन्तर केवल यहां इतना ही होता है कि मुक्त होनेसे पूर्व नैरन्तर्यनिर्वाह विधिविषय होता है, जबकि मुक्त हो जानेपर वह स्वभावसिद्धतया निभता होनेसे विधिकी अपेक्षा रह नहीं जाती है (ब्र.सू.भा.).

(६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्यने यहां, स्वाभाविकतया, शिवध्यानकी आमरण

अनुवृत्तिका उपदेश स्वीकारा है. स्थूलपाशरूप स्थूलदेह तो अनेक बार छूटता रहता है और पुनः मिल भी जाता है. आमरण, किन्तु, शिवके श्रवण कीर्तन पूजन ध्यान करते रहनेवालेको सदा शिवभावभावित होनेके कारण सूक्ष्मपाशरूप सूक्ष्मदेहके छूटनेपर शिवतादात्म्य प्राप्त हो जाता है.

(७)श्रीविज्ञान भिक्षुके अनुसार देह छूटने तक उपदिष्ट प्रत्ययोंकी आवृत्ति निभाये रखनी चाहिये, चाहे साक्षात्कार न हुवा हो या हो भी गया हो तब भी. जिसे साक्षात्कार हो गया हो उसे असम्प्रज्ञातसमाधिमें पहुंचनेके लिये आवृत्ति निभानी चाहिये.

इस तरह हम देख सकते हैं कि श्रीशंकराचार्यके अलावा प्रायः सभी भाष्यकार इस विषयमें एकमत हैं कि प्रस्तुत सूत्रमें आभ्युदयिक उपासनाओंसे सम्बद्ध प्रत्ययोंकी आवृत्तिका नहीं प्रत्युत आत्यन्तिक निःश्रेयस्की प्रापिका विद्याओंके अंगभूत प्रत्ययोंकी ही आवृत्तिका उपदेश दिया जा रहा है. जीवात्मा-परमात्मा उपास्य उपासक बद्ध-मुक्त अथवा तो ज्ञातृ-ज्ञेय आदि सारे द्वैतोंके आत्यन्तिक बाध (अर्थात्, ऐसे कोई द्वैत न तो कभी थे, न कभी हो सकते हैं; और, न कभी हो ही पायेंगे) की दार्शनिक धारणाके पुरस्कर्ता श्रीशंकराचार्यकी व्याख्यानशैलीमें, सद्यो विदेहमुक्तिके बाद औपासनिक प्रत्ययोंके आवर्तनकी सम्भावना तो, स्वाभाविकतया ही अप्रासंगिक होती है. जीवन्मुक्तके उदाहरणमें, किन्तु विधिबल अकिञ्चित्कर हो जाता होनेसे, स्वभावप्राप्त आवर्तन भी आत्मकैवल्यमें एक स्वतोनिवर्त्य विक्षेपरूप ही होता है. यह और बात है कि यह विक्षेप अन्य सांसारिक विक्षेपोंकी तरह मुक्तिमें बाधक न बनता हो, जैसे जलको निर्मल बनानेवाली कतकरेणु जलमालिन्यको निवृत्त कर स्वयं भी नीचे बैठ जाती है. इसे, परन्तु, किसी भी सूरत में मुक्तिप्रद विद्याके सहयोगी प्रारब्धकर्मों के परिणामतया तो मान्य रखना ही पड़ेगा. सो विक्षेपरहित मोक्ष पुनः कर्मनाशजन्य अबाधित कृतक ही सिद्ध होता है. तत्त्वज्ञानगोचर सर्वद्वैतबाधावशिष्ट अकृतक नहीं. क्योंकि ज्ञान तो पहलेसे ही सिद्ध होनेपर भी केवल आवरणका ही निवारण कर पाता है, विक्षेपका नहीं. परिणामतः मुक्तिकी चरमसामग्रीके रूपमें ब्रह्मज्ञान और फलभोगनाश्य कर्म का समुच्चय = द्वैत तो अकामगलेपतित लगता है. सो इस द्वैतको यदि जीवन्मुक्ति सह पाती हो तो विधिपराधीन होनेके द्वैतको क्यों सह नहीं पाती? अतएव इस बारेमें महाप्रभुद्वारा द्वितीयाध्याय (ब्र.सू.भा.२।३।३८) में किये गये विश्लेषणको एक बार व्याख्यासहित देख लेना उपकारक होगा:

भगवत्सदंशरूप सूक्ष्म-स्थूल देहोंके साथ भगवच्चिदंशरूप आत्माका सम्बन्ध दो तरहसे जुड़ता है:

(१)भगवान्‌की लीलेच्छाके कारण प्रकटित वास्तविक संयोगरूप सम्बन्ध.

(२)भगवान्‌की अविद्याशक्तिद्वारा प्रतिभासित आध्यासिक इतरेतरतादात्म्यभासरूप सम्बन्ध.

जीवन्मुक्त अधिकारी भी इस लोकमें (भगवत्कार्यसिद्धयर्थ, लोकसंग्रहार्थ अथवा शास्त्रविधिरूपा भगवदाज्ञाओंके परिपालनार्थ) लोकव्यवहार तो निभाते ही हैं. भगवान्ने अपनी लीलेच्छाके अनुसार निजचिदंशमें आनन्दांशके तिरोधानद्वारा स्वरूपविस्मृति उत्पन्न करके उसे जो सदंशरूपा प्रकृतिके चार उपकरणों–१.चतुर्विध अन्तःकरण २.पञ्चविध प्राण ३.दशविध इन्द्रियां तथा ४.पाञ्चभौतिक देह के साथ जोड़ा है. इसी कारणसे जीवचेतनामें उल्लिखित आविद्यक पर्वोंका तादात्म्याध्यास उत्पन्न हो जाता है. इन्हें ही दृष्टिगत रख कर शास्त्रोंमें कर्तव्याकर्तव्योंका विधान किया गया है. अन्यथा ब्रह्मविद्योपदेशार्थ ही स्वाध्या–योपदेश हो तो तथाकथित कर्ममूलक अज्ञाननिवारणो–पायके उपदेशके बजाय अज्ञानमूलक कर्मोंका ही उपदेशविस्तार वेदादि शास्त्रोंको क्यों करना चाहिये था! कई सारे कर्तव्योंको यावज्जीवन निभानेका उपदेश दे कर अन्तमें यह कहना कि यह सारा उपदेश अज्ञजनाधिकारक है, एक असमञ्जस उपदेशशैली ही लगती है. वस्तुतः शास्त्रारम्भमें ही ''प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूराद् अस्पर्शनं वरम्'' न्यायेन स्पष्टतम शब्दोंमें यह कह देनेमें वेदशास्त्रको कौन सा अधिक भार होता कि जीवनमें जिन्हें अज्ञान दूर न करना हो उनकेलिये पूर्वकाण्डोक्त कर्म अध्येय तथा अनुष्ठेय होते हैं; और, जिन्हें अज्ञाननिवारणपूर्वक मुक्त होना हो उन्हें केवल उपनिषदोक्त उपाय ही अध्येय तथा अनुष्ठेय होते हैं. वैसे तो देहाभिमाननिवर्तक वैराग्य–त्याग संन्यास भी भगवत्सम्पादित देहके तथ्यको स्वीकारनेपर ही सार्थक हो पाते हैं.

इस तरह हम देख सकते हैं कि शांकर वेदान्ताभिमत विक्षेप वाल्लभ वेदान्तमें भगवल्लीलाके रूपमें मान्य हुवा है; और, वहांका आवरण यहां भगवच्छक्तिरूपा अविद्याकेद्वारा सम्पादित पञ्चपर्वात्मक तादात्म्याध्यासजन्य अज्ञानके रूपमें माना जाता है. इस पूर्वप्रतिपादित सन्दर्भको दृष्टिगत कर लेनेपर अब प्रस्तुत सूत्रके भाष्यतात्पर्यका

अवगाहन सुकर हो जाता है. क्योंकि शांकरेतर सभी वेदान्तोंकी तरह वाल्लभ वेदान्त भी अभीष्ट फलकी प्राप्तिके बाद भी उपदिष्ट प्रत्ययोंकी आवृत्तिको यावद्देह विधिप्राप्त और तत्पश्चात् उनकी स्वभावप्राप्त अनुवृत्तिको भी अशक्य तो नहीं मानता है.

(८) श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण कहते हैं कि जिन भक्तोंको अपने हृदयके भीतर भगवत्स्वरूप एवं लीलाओं की अनुभूति होती है और जिन्हें अपने नयनोंके समक्ष बाहर भगवत्स्वरूप एवं लीलाओं की अनुभूति होती है, उन्हें अपने चित्तकी भगवत्स्वरूप विषयिणी तन्मयता और लीलाविषयिणी तल्लीनता के कारण अन्तर्बाह्योका तारतम्य सताता नहीं है. 'प्रायण' शब्दको भगवद्वाचक मान कर भाष्यकारका कहना है कि एक बार फलतया भगवदनुभूति हो जानेपर वह अवस्था सर्वदा बनी रहती है. अर्थात् ऐसे भक्त भगवान्की बाह्याभ्यन्तर चलती लीलाओंमें इतने तल्लीन हो जाते हैं कि वे भगवत् स्वरूपमें लीन होने, अर्थात् सायुज्य पाने के बजाय नित्यलीलामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं.

फलप्रकरणगत लीलोपदेश: रासलीलामें वर्णित गोपिकाओंका भगवद्विषयक काम असत्य नहीं था. अर्थात् वैषयिक कामकी तरह विरसता–पर्यवसायी नहीं था. क्योंकि जड़ या चेतन में सत्ताके अलावा विषयगत चैतन्य या आनन्द तो कभी किसी द्रष्टा = विषयीकी अनुभूतिमें ग्रहणयोग्य बन नहीं पाते हैं. जड़वस्तुओंमें चिदंश और आनन्दांश दोनोंके तिरोहित हो जानेसे वे अनुभूतिगोचर नहीं हो पाते. सांसारिक चेतनव्यक्तिओंमें यद्यपि आनन्दांश ही केवल तिरोहित होता है, फिरभी एक चिदंशका चैतन्य भी जब दूसरे चिदंशको अनुभूतिगोचर नहीं हो पाता तो तन्निष्ठ निगूढ़ आनन्द कहांसे गृहीत हो पायेगा? चिदंशरूप जीवात्माके भीतर धर्मिरूप परमानन्द जबकि अन्तर्यामी (अन्तर्निगूढ़) के रूपमें विद्यमान रहता है; अतः, जैसे धर्मिरूप अग्नि राखसे ढंकी होनेपर भी उस अग्निकी धर्मरूप गरमी वहां बनी रहती है, वैसे ही चिदंश जीवात्माको भी उस धर्मिरूप भूमा आनन्दके साथ नैकटयके कारण धर्मरूप आनन्दकी क्षुद्र अनुभूति मिलती रहती है. इसीके कारण आत्माको स्वयं अपने भीतर निरुपाधिकप्रियताकी जो अनुभूति होती है, वह पारमात्मिक धर्मका जीवात्मामें संक्रमण है. ऐसी जीवात्मा स्वयं जब देहादि संघातमें संक्रान्त होती है, तब देहादि संघातमें भी उस पारमात्मिक प्रियताका अनुसंक्रमण होता है. ऐसे इस अहंकारास्पद देहके साथ ममताकी शृंखलामें बन्धे हर जड़/चेतन विषयोंमें भी उस प्रियताका ममतामूलक प्रतिफलन हो जाता है. परिणामतः शारीरिक या मानसिक रूपसे निरन्तर हमारे निकटवर्ती रहनेवाले विषयोंके/बारेमें हमें प्रेमभाव जग जाता है. यह तत्तद् विषयका गुणधर्म नहीं होता परन्तु पारमात्मिक आनन्दका अतिक्षुद्रांशोंमें अनुसंक्रमण या प्रतिफलन ही केवल होता है. अतएव स्वगत ही आनन्द विषयोंपर आरोपित होकर

अनुभवगोचर होता रहता है, विषयगत आनन्द नहीं. वैसे तो अपनी चेतनामें निगूढतया अवस्थित होनेके कारण धर्मिरूप आनन्दके निकट होनेपर भी जीव उसे जान नहीं पाता है. फिरभी अग्निसे अनतिदूरवर्ती वस्तु जलती न भी हो परन्तु गरम तो हो जाती ही है. अतः तथाकथित आनन्ददायक विषयोंमें जो आनन्द तिरोहित होता है वह तो सर्वात्मभावसहित ब्रह्मानन्दानुभूतिके बिना अनुभूतिगोचर हो नहीं पाता. निष्कर्षतया विषयकामके बारेमें श्रुतिका सुस्पष्ट अभिप्राय यही है कि वह सत्य नहीं होता है. आत्मकाम ही वस्तुतः विषयोंपर प्रतिफलित हो जाता है–''न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'' (बृह. उप. २।४।५).

आनन्दानुभूतिकी इस दार्शनिक धारणाकी पृष्ठभूमिपर रासाभिसारिका गोपिकाओंके कामकी मीमांसा करते हुवे महाप्रभु स्वीकारते हैं कि भगवान्के साथ विहार करनेवाली गोपिकाओंके काम असत्य नहीं थे. क्योंकि न तो वह वैषयिक कामकी तरह परिणामविरस थे और न किसी तिरोहितानन्द वस्तुके बारेमें ही थे. सर्वान्तरात्मा परमानन्दरूप भगवद्विषयक काम ही थे.

रासलीलामें तीन तरहकी गोपिकाओंने या तो केवल आत्मना अथवा सर्वात्मना भाग लिया था १.अन्तर्गृहगता गोपिकायें जो सदेह रासलीला में पहुंच न पानेके कारण भगवत्स्वरूपमें केवल आत्मना सायुज्यलाभ पाकर नित्यसम्बद्धा बन गयी थी. २.ऋषिरूपा अनन्यपूर्वा गोपिकायें; तथा, ३.श्रुतिरूपा अन्यपूर्वा गोपिकायें सदेह भगवान्के समीप पहोंचकर सर्वात्मना रासलीलाक अनुभव कर पायी थी. इस तरह तीनों तरहके गोपिकाओंके काम या तो भगवान्के नित्यस्वरूपमें सायुज्यमोक्ष प्रदान करनेवाले काम थे; याफिर, भगवान्की नित्यलीलामें नित्यविहारार्ह ब्रह्मभावापत्तिरूप मोक्षमें पर्यवसायी होनेवाले काम थे. क्योंकि इन उदाहरणोंमें ब्राह्मिक आत्मरति विषयकामके रूपमें नहीं प्रत्युत परमात्मकामके नामान्तर रूपान्तर और कर्मान्तर के लीलाभावको प्रकट कर रही थी. अतएव इस प्रकरणके उपसंहारमें महाप्रभुका यह निरूपण नितान्त अनुसन्धेय हैं कि लौट कर पुनः घर जानेकी भगवदाज्ञाका पालन करती हुयी गोपिकाओंके मनमें न तो आज्ञाके प्रतिवाद करनेकीकोई आवश्यकता रह गयी थी; और न लौट कर पुनः घर जानेपर पुनः उन्हें संसारासक्तिकी कोई बिभीषिका ही शेष रह गयी थी (द्र.: सुबो. १०।३०।३९).

आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश: षोड़शग्रन्थान्तर्गत चतुश्लोकी (कारि.१–४) में महाप्रभु यह समझाते हैं कि हम आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके लिये प्रारम्भमें पुष्टिभक्तिके अंग बननेवाले धर्म अर्थ काम और मोक्ष रूपी चारों ही पुरुषार्थ अन्तमें पुष्टिभक्तिरूप ही बन जाने चाहिये. ऐसे कि हमें अपना परम–चरम स्वधर्म

भगवद्भजन ही लगने लगे, हमारा परम- चरम अर्थ सर्वसमर्थ पुष्टिप्रभु ही लगने लगें, हमारा परम-चरम काम श्रीगोकुलाधीशको हृदयमें संजोये रखनेका ही केवल शेष रह जाये; और हमारा परम- चरम मोक्ष इन्हीं गोकुलेश्वरके चरणकमलके निरन्तर चलते स्मरण और भजन के आवर्तनके निभ पानेमें ही हमें लगने लगे. ऐसा मोक्ष भगवान् इस लोकमें प्रदान करें या परलोकमें उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता! अतएव शिक्षाश्लोकी (कारि.२-४) में महाप्रभु कहते हैं कि ''श्रीकृष्ण हमारे लौकिक प्रभु नहीं हैं अतः हमारे लौकिक भावोंको स्वीकारते भी नहीं हैं. अपना भगवद्भाव तो उन्हें अपना सर्वस्व, ऐहिक भी और पारलोकिक भी, माननेका होना चाहिये. अतः श्रीकृष्ण तो सर्वथा सर्वभावेन ही सेव्य होते हैं''. अतएव भगवत्सेवाकथात्मिका पुष्टिभक्तिकी फलावस्थाका निरूपण करते हुवे 'सेवाफलविवरण' (कारि. १) में भी महाप्रभु कहते हैं कि १.अलौकिकसामर्थ्य २.सायुज्य और ३.वैकुण्ठादि दिव्यलोकोंमें सेवोपयोगिदेह की प्राप्ति, यों तीन तरहकी सम्भावनायें रहती हैं.

इनमें प्रथम सम्भावना जैसे गोपिकाओं को अपने घरमें रहते हुवे ही परोक्षमें वृन्दावनमें की जाती भगवल्लीलाकी अपरोक्षानुभूति बनी रहनेकी अलौकिक सामर्थ्य के रूपमें सिद्ध हो गयी थी, वैसे ही संसारमें रहनेपर भी भगवानकी भक्त्यात्मिका अनुभूति अनवरत होती रहनेकी अलौकिकसामर्थ्य हमें भी सिद्ध हो सकती है. यह इसी लोकमें अनुभूत होनेवाली ऐसी कोई विलक्षण अलौकिकसामर्थ्य है कि संसारमें रहते होनेपर भी हम किसी भी सांसारिक विषयकी ओर आकृष्ट हुवे बिना भगवदभिमुख रहते हुवे भगवत्सेवा और भगवत्कथा निभा पाते हैं. दूसरी सम्भावना तो वही है कि अन्तर्गृहगता गोपिकाओंकी तरह हमें भी भगवत्सायुज्य प्राप्त हो जाये. तीसरी सम्भावना भागवतके एकादश द्वादश स्कन्धोंका वर्ण्यविषय है. ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायमें भी यह अग्रिम द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ पादोंका वर्ण्य विषय है.

(६) तदधिगमाधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोपदेश तथा आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता:

[क]तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोः अश्लेषविनाशी तद्व्यपदेशात्. [ख]इतरस्यापि एवम् असंश्लेषः पाते तु. [ग]अनारब्धकार्यएव तु पूर्वे तदवधेः. [घ]अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् (ब्र.सू. ४।१।१३-१६).

(१)श्रीशंकराचार्यके अनुसार यहां आकर अब साधनाध्यायशेषकी मीमांसा समाप्त हो कर फलमीमांसा आरम्भ होती है. भाष्यकार कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान होते ही पूर्वकृत पापोंका नाश हो जाता है. ब्रह्मज्ञानीको भविष्य में होनेवाले पाप भी लगने बन्द

हो जाते हैं. इसे वेदान्तमें कर्मशक्तिकी अस्वीकृति नहीं परन्तु उसे अप्रभावी बना देनेकी प्रक्रिया समझनी चाहिये. स्वयं कर्मनियमोंके तहद् भी दुष्कर्मके प्रायश्चित्तके विधान मिलते ही हैं. सो एक कर्मसे दूसरे कर्मको यदि अप्रभावी बनाया जा सकता हो तो ब्रह्मज्ञानसे भी वह क्यों शक्य नहीं हो सकता है? श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि सगुणोपासनाओं में तो पूर्वकृत पापोंके क्षयपूर्वक ऐश्वर्यप्राप्तिके निरूपक वचन मिलते हैं. ऐसे निर्गुणविद्याओंके बारेमें नहीं मिलते हैं. फिरभी ''अकर्ता-अभोक्ता होना साधकका पारमार्थिक स्वरूप होता है'' ऐसी बात जो कही गयी है, वह कर्म और तत्फल के बन्धनोंसे ब्रह्मज्ञानीके ऊपर उठ जानेके तथ्यकी पुष्टि है. ब्रह्मज्ञानीको ज्ञान प्रकट होनेपर अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्वका त्रैकालिक बाधज्ञान हो जाता है. उसे लगता है- ''न तो किसी कर्मका मैं कर्ता था, न हो सकता हूं; और न कभी हो पाऊंगा!'' देश-कालके निमित्तोंकी अपेक्षा रखते हुवे कर्मफलकी तरह मोक्ष कभी उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा होनेपर मोक्ष भी अनित्य ही सिद्ध होगा.

[ख]इस सूत्र में यह दिखलाया गया है कि पूर्वकृत और आगामी पापोंकी तरह ही पूर्वकृत और आगामी पुण्योंके बन्धनसे भी ब्रह्मज्ञानी मुक्त हो जाता है. धर्माधर्मका बन्धन ही बन्ध होता है और इनके बन्धनसे मुक्त हो कर अन्तमें देहके विक्षेपसे भी रहित हो जाना मुक्ति है.

[ग]इस सूत्र में यह विचार किया गया है कि पूर्वजन्म या प्रस्तुत जन्म में किये गये सुकृत-दुष्कृतरूप सञ्चित प्राक्कर्मों के फलभोगकी नियतिसे तथा भविष्यमें किये जानेवालोंके फलभोगकी नियतिसे ब्रह्मज्ञानी मुक्त हो जाता है. पूर्वजन्म या प्रस्तुतजन्म के, किन्तु, जिन सुकृत- दुष्कृत कर्मोंके फल मिलने शुरु हो गये हों उन्हें तो ब्रह्मज्ञान भी निरस्त नहीं करता. क्योंकि ब्रह्मज्ञानयोग्य देह भी स्वयं इसी तरहके सुकृतका फल होता है. अकर्ता होनेके आत्मबोधके कारण मिथ्याज्ञान निवृत्त हो जाता है अतः तन्मूलक निखिल कर्म भी उच्छिन्न हो जाते हैं. फिरभी बाधित वस्तुकी भी प्रतीति कुछ समय तक बनी रहती है. उदाहरणतया कुम्हार अपने चक्केको चलाना बन्द भी कर दे, तबभी थोड़ी देर तक तो वह चलता ही रहता है. इसी तरह यहां भी समझ लेना चाहिये. स्वयं ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्मानुभूति तथा देहानुभूति दोनों तरहकी अनुभूतियां एक साथ होती ही हों तो अन्य कोई अज्ञानी ''उसे ऐसी परस्पर विरोधाभासी अनुभूति नहीं हो सकती'' ऐसा कैसे कह सकता है? श्रुति स्मृतियोंमें स्थितप्रज्ञके जो लक्षण दिखलाये गये हैं, उनके आधारपर भी यह निश्चित होता है कि जिन सुकृत-दुष्कृतोंके फल मिलने शुरू न हो गये हों उन्हींका विद्याकी सामर्थ्यसे क्षय होता है.

[घ]पापकी तरह पुण्यकर्मोंका भी अश्लेष-विनाश हो जाता है, इस नियमका

अपवाद यहां दिखलाया जा रहा है कि सारेके सारे पुण्यककर्मोंके बारेमें यह बात लागू नहीं होती. अर्थात् विद्याके उत्पन्न हो जानेके बाद जो कर्मक्षय होनेकी बात कही गयी थी, उसमें जैसे प्रारब्धकर्म अपवादरूप होते हैं, इसी तरह कुछ अप्रारब्ध फलवाले पुण्यकर्म भी पुनः इस नियममें अपवादरूप होते हैं. क्योंकि आरूढ़ योगीकेलिये तो केवल प्रारब्धकर्मों के फल ही भोगार्थ अवशिष्ट रहते हैं परन्तु आरुरुक्षु योगीकेलिये तो अप्रारब्ध फलवाले नित्यकर्म, नामशः, अग्निहोत्रादि भी अनुष्ठेय होते ही हैं. आरुरुक्षु योगी ज्ञानी होनेपर भी नित्यकर्मोंका त्याग नहीं कर सकता है. क्योंकि नित्यकर्मका ज्ञानसंयुक्त निष्काम अनुष्ठान मुक्तिलाभमें परम्परया हेतु बनता ही है. ब्रह्मज्ञानीके तो अनियोज्य होनेसे उसपर यह नियम लागू नहीं हो सकता है. सगुणविद्याओंके अभ्यासी ज्ञानीका कर्तृत्व निवृत्त नहीं हो पाता है. सो उसकेलिये यह विधान किया गया समझ लेना चाहिये.

(२)श्रीभास्कराचार्यने उल्लेखनीय विशेष कुछ भी नहीं कहा है. श्रीशंकराचार्यकी तरह ही श्रीभास्कराचार्य भी इसी सूत्रसे ब्रह्मविद्याके फलकी मीमांसाका आरम्भ स्वीकारते हैं.

[ख-ग-घ]यहां भी श्रीशंकराचार्यकी तरह ही जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति के प्रभेद स्वीकारते हुवे श्रीभास्कराचार्य कहते हैं कि जो अग्नि काष्ठेन्धनको जला पाती है वही मेघपटलको नहीं जला पाती. ठीक इसी तरह ब्रह्मविद्या भी उन पुण्य-पापोंको कि जिनके फल मिलने शुरु न हुवे हों जला पाती है; परन्तु, जिनके फल मिलने प्रारम्भ हो गये हों वे तो अपना-अपना फलदान करनेके बाद ही समाप्त होते हैं. भाव-पदार्थोंकी शक्तियोंमें ऐसी विचित्रता स्वभावसिद्ध ही होती है. मायावादमें यह व्यवस्था किन्तु उपपन्न नहीं हो सकती, ऐसा श्रीभास्कराचार्यका स्पष्ट अभिप्राय है. क्योंकि विद्याके उत्पन्न होनेपर वहां कृत्स्नमाया अर्थात् मायाके आवरण-विक्षेपरूप दोनों ही अंशोंका वारण होना चाहिये. श्रीशंकराचार्यद्वारा दिया गया उदाहरण कि कुम्हारकी फिरानेकी इच्छाके निवृत्त होनेके बावजूद उसका चक्का कुछ देर तक फिरता रहता है, स्वयं मायावादकी धारणाके साथ संगत नहीं हो पाता है. क्योंकि वहां वास्तविक चक्केके, वास्तविक परिभ्रमणका कारक, वास्तविक वेगसंस्कार, वास्तविक कर्ता कुम्हारद्वारा (विवर्तोपादान नहीं, क्योंकि विवर्तोपादानरूपा रस्सीके आंधी में उड़ जानेके बाद उसपर होनेवाली सर्पकी भ्रान्ति टिक नहीं सकती है. कुम्हार, किन्तु, चक्केका ऐसा विविर्तोपादानकारण नहीं होता) उत्पन्न किया गया होता है. सो उसकी इच्छाके निवृत्त होनेके बाद भी वेगसंस्कारवश चक्केका फिरते रहना असम्भव बात नहीं है. मायावादमें, जबकि, आवरण और विक्षेप दोनों ही अज्ञानकल्पिततया अवास्तविक होते हैं. अतः

उस अज्ञानके ब्रह्मज्ञानसे निवृत्त हो जानेपर आवरण-विक्षेप दोनों ही अंश निवृत्त हो जाने चाहिये. अतः बाधितानुवृत्तिकी उपपत्ति मायावादमें सुसंगत नहीं हो पाती है. श्रीभास्कराचार्य अतः भेदाभेदमूलक ज्ञानकर्मके समुच्चयसे ही मुक्ति सम्भव मानते हैं, केवल कर्म या केवल ज्ञानसे नहीं. अतः नित्यकर्मोंको निभानेवाला जब ब्रह्मविद्यासे सम्पन्न हो जाता है, तो सञ्चित पुण्य-पापोंका क्षय हो जाता है. जबकि प्रारब्ध फलवाले पुण्य-पाप तो फलदानद्वारा स्वतः क्षीण हो जाते हैं.

(३)श्रीरामानुजाचार्य भी यहां यही व्याख्या दे रहे हैं कि [क]अब तक जो कुछ कहा गया वह विद्याके स्वरूपके विशोधनार्थ था जबकि यहां से अब विद्याफलका विमर्श प्रारम्भ हो रहा है. ''अपने फलका उपभोग कराये बिना कर्मोंका क्षय नहीं होता है'' यह नियम कर्मोंक फलजननसामर्थ्यको दृढ़तया स्थापित करता है. ब्रह्मज्ञानी पापकर्मोंके बन्धनसे परे हो जाता है यह नियम प्राक्तन पापकर्मोंकी फलजननशक्तिके प्रतिबन्ध करनेका विद्यामें सामर्थ्य है, इसका निरूपण करता है. अतः दोनों नियमोंमें परस्पर विरोधाभास नहीं रह जाता है. श्रीरामानुजाचार्यने यहां पापोंके अनेक प्रकारोंकी विवेचना की है. वे कहते हैं कि ''पाप तीन तरहके होते हैं: १.वैदिक कर्मक अनुष्ठानार्थ अयोग्य बना देनेवाले पाप, २.अपने जैसे दूसरे पापकर्म करनेको प्रेरित करनेवाले पाप; तथा ३.साधारण दोषजनक पाप. ब्रह्मज्ञानीको पाप लगते नहीं हैं इस विधानका अर्थ यह होता है कि उक्त तीनों तरहके अनिष्ट परिणामोंको उत्पन्न करनेकी पापोंकी शक्ति उत्पन्न ही नहीं हो पाती''. पापोंमें रही इस शक्तिका स्वरूप भी श्रीरामानुजाचार्यने बहोत सुन्दर समझाया है कि परमपुरुष श्रीनारायणकी अप्रसन्नताको ही पापकर्मोंकी शक्तिके रूपमें समझ लेना चाहिये. इसी तरह वेदिताका वेद्यको अतिशय प्रिय बन जाना ही परमपुरुषाराधनरूपा विद्या है. अतएव विद्याके कारण पापशक्तिका प्रतिबन्ध हो जाना भी सुसंगत हो जाता है. 'लगते नहीं' कहनेका अभिप्राय प्रमादवश हो जाते पापोंके सन्दर्भमें लेना चाहिये क्योंकि प्रतिदिन आवर्तनीय विद्या स्वयं ही दुश्चरितोंसे विरति पैदा करनेवाली होती है, सो विद्यारत अधिकारी ज्ञानपूर्वक [ख]पापकर्ममें प्रवृत्त ही नहीं हो सकता है. पापकर्मोंक फलकी तरह ही पूर्वकृत पुण्ययकमक भी जो फल मुक्ति पानेमें प्रतिबन्धरूप होते हैं, वे मुमुक्षुको अभीष्ट न होनेसे नष्ट हो जाते हैं. यथाकथञ्चित् अकस्मात् हो जानेपर पुण्य भी, पापोंकी तरह ही लगते नहीं हैं. [ग]इस सूत्रमें विशेष कुछ उल्लेखनीय कहा नहीं गया है, सिवाय इसके कि अपने पुण्यापुण्यके कारण भगवान्को प्रिय या अप्रिय होनेके अलावा शरीरको टिकाये रखनेवाले संस्कार जैसा कुछ भी होता नहीं है. [घ]ब्रह्मविद्याभ्यासमें रत साधकको अग्निहोत्रादि आश्रमकर्मोंका अनुष्ठान निभाना या नहीं? इस जिज्ञासाका समाधान इस सूत्रमें दिया गया है कि आश्रमकर्मोंको निभाना

ब्रह्मविद्याके फलजननमें सहायक ही होता होनेसे, उन्हें निभाना ही चाहिये. अन्यथा विद्योत्पत्तिमें भी प्रतिबन्धकी सम्भावना रहती है.

(४)श्रीनिम्बार्काचार्य तथा श्रीश्रीनिवासाचार्यने [क ख ग]सूत्रोंमें उल्लेखनीय विशेष कुछ भी नहीं कहा है. [घ]सूत्रमें एक सुन्दर पृथक्करण यह दिया गया है कि पुण्यकर्मोंके अन्तर्गत काम्यकर्मोंका ही ब्रह्मविद्याद्वारा विनाश एवं अश्लेष होता है, अग्निहोत्र दान तप आदि नित्य नैमित्तिक आश्रमकर्मोंका नहीं. क्योंकि वे तो विद्याके उपकारक अंग ही होते हैं. विद्या यावज्जीवन नित्यानुष्ठेय होती है; अतएव, इन्हें भी नित्यानुष्ठेय ही समझना चाहिये.

(५)श्रीमध्वाचार्यने इस [क]सूत्रमें उल्लेखनीय विशेष कुछ नहीं कहा है. [ख]इस सूत्र में श्रीमध्वाचार्य कर्मकी गहना गति दिखलाते हुवे कहते हैं कि जैसे मुक्तात्माके पूर्वकृत पापोंका नाश तथा आगामी पापोंके साथ उसका अश्लेष होता है, वैसे ही तामसी गतिमें पड़ने जाते हुवे व्यक्तिके पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका नाश तथा आगे किये जानेवाले पुण्यकर्मों के साथ अश्लेष भी होने लगता है. [ग]यहां यह कहा जा रहा है कि पूर्वकृत पुण्य-पापोंके नाशके नियमानुसार वैसे तो अनारब्ध पापोंका ही नाश होता है; परन्तु, ब्रह्मके बारेमें हीनदृष्टि रखनेवाले अथवा भगवद्द्वेष करनेवाले के तो अनारब्ध पुण्यकर्मोंकी तरह आरब्ध पुण्यकर्मोंका भी नाश हो जाता है. पुण्य-पापोंकी मात्राके अल्प होनेपर भी कभी-कभी आरब्ध पुण्य-पापोंका नाश सम्भव हो जाता है. [घ]यहां उल्लेखनीय विशेष कुछ उपलब्ध नहीं होता है. अतएव न्यायविवरणमें श्रीमध्वाचार्य निष्कृष्ट शंका-समाधान इस तरह देते हैं कि या तो ज्ञानके उदय होनेसे सभी तरहके कर्मोंका क्षय स्वीकारनेपर सद्योमुक्ति होनी चाहिये; या फिर उसके न होनेपर कर्मक्षयका सिद्धान्त अनुपपन्न हो जाना चाहिये. ऐसा विचार, किन्तु, उचित नहीं है; क्योंकि, विष्णु अप्रारब्ध कर्मोंका ही विद्यासे विनाश करते हैं और प्रारब्ध कर्मोंका तो भोगसे ही विनाश कर जीवात्माको अपने लोकमें ले जाते हैं.

(६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके अनुसार अभी तक विद्यास्वरूपका विशोधन चल रहा था, अब यहांसे विद्याफलका विचार आरम्भ हो रहा है. भाष्यकारके अनुसार इस [क]सूत्रमें यह दिखलाया गया है कि कर्म चार तरहके होते हैं: [१]सञ्चित, [२]प्रारब्ध, [३]अतीत; तथा [४]आगामी. प्रथम प्रकारके अन्तर्गत पूर्वजन्ममें उत्तरजन्मोपयोगी देह प्रदान करनेवाले तथा स्वर्गादि फलोंकी कामनासे किये गये कर्म आते हैं. द्वितीय प्रकारके अन्तर्गत श्रवण कीर्तन मनन पूजन आदि मोक्षसाधनोपयोगी वर्तमान शरीरारम्भक पूर्वजन्मकृत कर्म आते हैं. तृतीय प्रकारके अन्तर्गत ब्रह्मसाक्षात्कार उत्पन्न होनेसे पूर्वके

जन्म या जन्मान्तरों में ब्रह्मसाक्षात्कारके उद्देश्यसे किये गये कर्म आते हैं. चतुर्थ प्रकारके अन्तर्गत ब्रह्मसाक्षात्कारके बाद इसी जन्ममें किये जानेवाले कर्म आते हैं. इन चतुर्विध कर्मोंके अन्तर्गत सञ्चितकर्म अपने फल अर्थात् भावी शरीरको उत्पन्न किये बिना नष्ट हो जाते हैं. प्रारब्धकर्मोंका नाश तो फलभोगद्वारा ही हो पाता है. आगामिकर्म तो बिना देहाभिमानके किये गये होनेसे बन्धनरूप ही नहीं हो पाते. श्रीपतिभगवत्पादाचार्य स्कान्द वचनके आधारपर ब्रह्मज्ञानीके चार प्रकार दिखलाते हैं: १.ब्रह्मविद् २.ब्रह्मविदवर, ३.वरीय-ब्रह्मविद्; और, ४.वरिष्ठ-ब्रह्मविद्. इनमें ब्रह्मविद् काम्यकर्मोंके त्यागपूर्वक श्रौतस्मार्त कर्मोंको शिवभक्तिके साथ निभाते हुवे संसारी जैसा ही होता है. ब्रह्मविद्वर पूर्ण वैराग्य सिद्ध हो जानेके कारण भिक्षाप्राप्त अन्नका परिमित भोजन करते हुवे तथा श्रौतस्मार्त कर्मोंका त्याग करके वेदान्तचिन्तनमें परा ध्याननिष्ठामें तत्पर हो जाता है. वरीय-ब्रह्मविद् अयाचित परदत्त अन्नका भक्षण करते हुवे, अन्य सारे व्यापारोंका त्याग करके, निरन्तर शिवध्याननिष्ठाके कारण विश्वविस्मृतिकी निद्रोपमसिद्धि प्राप्त कर, किसी एक जगह नित्यानन्दस्वभावमें निरत रहता है. वरिष्ठ-ब्रह्मविद् शिवतत्त्वमें निरन्तर चित्तको विलीन बना कर ध्यानशक्तिद्वारा मानों शरीर हो ही नहीं इस तरह जीवनयापन करता हुवा शिवतादात्म्यको पा कर रहता है. इन चारोंकी मुक्तिओंमें, मुक्तिके रूपमें एक ही होनेपर भी, कुछ न कुछ तो तारतम्य रहता ही है. प्रथम तथा द्वितीय प्रकारके ब्रह्मविदोंको प्रारब्ध कर्मोंका बन्धन रहता है. तृतीयको प्रारब्ध कर्मोंका कहने भरको अनुभव होता रहता है परन्तु चतुर्थ प्रकारके ब्रह्मविद्को न तो प्रारब्ध कर्मोंका लेप होता है और न स्पर्श ही.

ॐवरिष्ठब्रह्मविद्के तो मनः शून्य बन जानेके कारण आगामी कर्म जैसा कुछ बच नहीं जाता सो उसका सर्वथा कर्मनिर्लिप्त होना उचित ही है. अन्य ब्रह्मविदोंके उदाहरणोंमें, परन्तु, अज्ञानकृत सारे कर्म तो नष्ट हो सकते हैं. ऐसी स्थितिमें शिवज्ञानके बाद किये गये आगामी कर्मोंकी क्या गति होगी? भाष्यकारका कहना है कि ऐसे ब्रह्मविदोंपर जब गुरु कृपा करके शक्तिपात करते हैं, तब शिवज्ञानके बाद इन्हें सारे पुण्य-पाप लगने बन्द हो जाते हैं. शक्तिपातकी दीक्षाके अभावमें भी गुरूपदेशपूर्वक शिवयोगका दृढ़ अभ्यास करनेवालेको भी योगमहिमाके कारण पाश-अविद्या-अज्ञान-माया आदि संज्ञावाले तमोरूप कारणशरीरसे विच्छेद सम्भव हो जाता है. मूढ़ लोगोंकी तरह शिवज्ञानी अपने अहंकारके वश तो कभी पापाचरण कर नहीं सकता परन्तु प्रारब्धवशात् प्रमादसे कभी पापाचारण हो जानेपर भी उसे शिवज्ञानयोगके अभ्यासकी महिमाके कारण ऐसे पाप लगते नहीं हैं. पापकी तरह ही पुण्य भी मुक्तिमें प्रतिबन्धक हो सकते हैं परन्तु शिवभावनाके साथ किये गये नित्य नैमित्तिक धर्माचरण

भी शिवज्ञानीको लग नहीं सकते.

[ग]ब्रह्मविदोंको आगामी कर्म प्रतिबन्धक नहीं होते परन्तु जड़भरत आदिके उदाहरणोंमें तीन जन्मोंकी कथा आती है उसके समाधानार्थ इस सूत्रमें यह कहा जा रहा है कि शिवज्ञानकी सम्पूर्ण सिद्धि होनेतक बद्धजीवोंकी तरह शुद्धजीवोंको भी मुक्तिमें कुछ विलम्ब होता है. जड़भरत आदिको विषयवासनारहित शिवज्ञान सिद्ध नहीं हुवा था इसलिये मुक्तिमें विलम्ब हुवा जबकि ऐसे ज्ञानवाले वामदेव आदिको अविलम्बेन मुक्तिलाभ हो गया था. वैद्यशास्त्रोक्त निदान जान लेनेके बाद तच्छास्त्रोक्त चिकित्सा किये बिना केवल औषधी आदिके परोक्षज्ञानके कारण कोई रुग्ण स्वस्थ नहीं हो पाता. ऐसे ही पशुपाश-विच्छेदरहित शिवज्ञानसिद्धिकें बिना केवल परोक्षज्ञानसे किसीको शिवत्व प्राप्त नहीं हो सकता है.

[घ]यहां उल्लेखनीय कोई विशेष बात नहीं कही गयी है.

(७) श्रीविज्ञान भिक्षुके अनुसार यहां इस [क]सूत्रसे ब्रह्मविद्याके सद्योमुक्तिरूप फलका विचार आरम्भ होता है. यथोक्त साधनोंद्वारा ब्रह्मको जान लेनेपर ब्रह्मात्मताका साक्षात्कार जब होता है तब उत्पन्न हुवे अघोंका तो विनाश और उत्पन्न होनेवाले अघोंसे अश्लेष हो जाता है. यहां 'अघ' पद कर्ममात्रका उपलक्षक है. 'कर्म' यानि विहित निषिद्ध कर्मोंका आचरण इसे कर्मजन्य अदृष्टके रूपमें नहीं समझ लेना चाहिये. अतएव उत्तरकालिक स्वयंसे जन्य अदृष्टद्वारा कर्मों के अश्लेष-विनाश सम्भव हो पाते हैं. प्रमाद अशक्ति अथवा समाधि आदि निमित्तोंके वश होनेवाले उत्तरकालिक अघोंसे अश्लेष होता है. विहितकर्मोंके वृथा त्याग अथवा निषिद्धकर्मोंक वृथा आचरण करनेपर अश्लेष नहीं होता. क्योंकि यह यदि अनुमोदनीय होता तो जनक आदि क्यों कर्मोंका निर्वाह करते? ऐसोंने लोकसंग्रहार्थ कर्मनिर्वाह किया यह कहनेपर भी यदि वे लोकसंग्रहार्थ कर्म न करते तो लोकघात करनेके वे प्रत्यवायी हो जाते, ऐसी कल्पना करनी पड़ती है. अन्यथा लोकपर करुणा आदिके भाव रखनेपर भी उन्हें कौनसे पुरुषार्थकी सिद्धि होनेवाली थी! पूर्वकर्मोंका विनाश उसके क्लेशरूप सहकारीके उच्छेदके रूपमें समझना चाहिये.

[ख]कर्मक्षय होनेके कारण देहपात होनेपर सुख-दुःख आदि अशेषगुणों से रहित विदेहकैवल्य भी यहीं इस लोकमें सिद्ध हो जाता है. ब्रह्मात्मज्ञानसे यद्यपि अविद्या भी निवृत्त होती है फिरभी पूर्वसूत्रमें अविद्यानिवृत्तिकी बात न कह कर ज्ञानसे कर्मनिवृत्तिकी जो बात कही गयी उससे यह सिद्ध होता है कि कर्मनिवृत्ति ही मोक्षकी साक्षाद् हेतु बनती है. अर्थात् इस सूत्रमें लौकिक सुखदुःखरूप अनर्थोंकी निवृत्तिके रूपमें मुक्तिकी बात ही बतायी गयी है-आनन्दावाप्तिरूपा मुक्तिकी नहीं.

[ग]इस सूत्रमें विवक्षित यह है कि जिन पुण्य-पापोंके विनाशकी बात कही गयी है, वह जिनके फल मिलने शुरू न हो गये हों ऐसे पुण्य-पाप समझने चाहिये. क्योंकि यदि ज्ञानसे तत्क्षण मुक्ति मिलती होती तो ''ब्रह्मज्ञानीकेलिये उतनी देरी बाकी रह जाती है कि जब तक वह मुक्त नहीं हो जाता'' जैसे श्रुतिवचन व्यर्थ हो जायेंगे. अतः कर्मपात जब तक नहीं होता तभी तक प्रारब्धकर्म प्रतिबन्धरूप होते हैं. जिसे ज्ञान उत्पन्न हो गया उसे भी, कर्मपातके बाद ही मोक्ष मिलता होनेसे, विद्योपदेश दे पाना भी सम्भव हो पाता है. अविद्यानिवृत्तिके बाद अभिमानके भी निवृत्त हो जानेपर भी देहधारण, इसीलिये, उपपन्न होता है क्योंकि देहधारण कर्मजन्य होता है. अतः देहारम्भक कर्मके प्रारब्ध रहते फलभोगद्वारा ही उसका नाश होता है, यह सिद्ध होता है.

[घ]अग्निहोत्र आदि नित्यकर्म तो ज्ञानके जो कार्य हैं कर्मक्षय आदि उनमें ही सहकारी बनते हानेसे ब्रह्मदर्शनके ये अङ्ग नहीं बन पाते हैं. ऐसा उल्लेख श्रुतिमें मिलता है. अन्यथा नित्यकर्मके त्याग करनेपर प्रत्यवाय लगने पर अशेषकर्मोंक उच्छेद हुये बिना मोक्षमें विलम्बकी सम्भावना बनी रहती है.

वेदान्तकी इन विभिन्न प्रक्रियाओंके अन्तर्गत सर्वप्रथम (१) श्रीशंकराचार्यने यह जो निरूपण किया कि सगुणोपासनामें ऐश्वर्यप्राप्ति दिखलायी जाती हैं निर्गुणविद्यामें नहीं. इस विषयमें वाल्लभ वेदान्तका दृष्टिकोण यह है कि सर्वप्रथम तो स्वयं ब्रह्म ही जब साकार भी है और निराकार भी, स्वांशभूत सकल नाम रूप कर्मोंके उपादानतया सर्वात्मक भी है और अविकारी अंशरूप कर्ता होनेके रूपमें सर्वातीत भी, सकल ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयके लीलात्मक द्वैतोंमें स्वयं ही प्रकट हुवा होनेपर भी देश-काल-स्वरूपतः सजातीय-विजातीय-स्वगत-द्वैतवर्जित शुद्धाद्वैतरूप भी है. ऐसी स्थितिमें स्वयं ब्रह्मको ही यदि निर्गुण-निराकार या सगुण-साकार के विकल्पोंमें बांधा न जा सकता हो तो उसके ज्ञानार्थ उपदिष्ट विद्याओंमें सगुणविद्या या निर्गुणविद्या के तात्त्विक भेद कैसे उपपन्न हो पायेंगे ? अतएव श्रुति कहतीहै:

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तम् आत्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।।
तद् एतद् इति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथंनु तद् विजानीयां किमु भाति न भाति वा ।।
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति ।।

(कठोप. २२११३-१५)

अतएव ब्रह्मोपदेशपरक विद्याओंकी फलश्रुतिमें भी ''जो इस तरह उसे जान

लेता है वह प्रतिष्ठित अन्नवान् और अन्नभोजी बन जाता है, वह अपनी प्रजा अपने पशु ब्रह्मवर्चस्व और कीर्ति के द्वारा महान् बन जाता है'' (तैत्ति. उप. ३१६) तथा ''... इस तरह जाननेवाला आत्मरति आत्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द हो कर स्वराड् बन जाता है. वह यथेच्छ लोकोंमें विचरण करनेमें भी समर्थ बन जाता है'' (छान्दो.उप. ७।२५।२) इन निरूपणोंमें ब्रह्मज्ञानीको भी ऐश्वर्यप्राप्तिके वर्णन मिलते ही हैं. अतएव ब्रह्मज्ञानसे जीवात्माके कर्तृत्व- भोक्तृत्व निवृत्त हो जाते हों ऐसा वाल्लभ वेदान्तको मान्य नहीं है. वाल्लभ वेदान्तमें भक्तिके जो निर्गुण और सगुण भेद माने गये हैं, वे ब्रह्मतत्त्वके स्वभावानुपाती न हो कर, लीलार्थ परिगृहीत अनेक रूपोंवाली जीवात्माओं के अनेकविध भावानुपाती होते हैं. '' [क]ब्रह्मको [ख]जाननेवाला [ग]उस परमतत्त्वको [घ]पा लेता है. इसे यों समझाया जाता है: [क]ब्रह्म सत्य है, ज्ञानरूप है तथा अनन्त है. [ख]जो अपनी हृदयगुहाके भीतर परम व्योममें निहिततया उसे जान लेता है ऐसा ब्रह्मविद् [ग]उस विपश्चिद् ब्रह्मके साथ [घ]सारे कामोंका उपभोग करता है.''(तैत्ति.उप.२।१) इस वचनमें भी ब्रह्मज्ञानके बाद भी लौकिक कामनाविषयोंका न सही अलौकिक कामनाविषयोंका उपभोग करता हुवा तो ब्रह्मविद् स्वीकारा ही गया है. अतः भोक्तृत्व ही निराकृत नहीं होता तो कर्तृत्व क्यों ब्रह्मज्ञानसे निराकृत हो पायेगा? जीवन्मुक्त भी प्रारब्धशेषतया ब्रह्मज्ञानोपदेशार्थ कर्तृत्वरूप विक्षेपवान् हो सकता हो; और, उस गुरुत्वके विक्षेपवशात् शिष्योपढौकित अन्नके भोक्तृत्वरूप विक्षेपको निभा सकता हो तो, मुक्तात्मा भी दिव्य ब्राह्मिक कर्तृत्व- भोक्तृत्ववान् क्यों नहीं हो सकती? अविद्योपाधिप्रयुक्त कर्तृत्व- भोक्तृत्व अवास्तविक होनेसे बन्धनरूप हो सकते हैं परन्तु भगवल्लीलोपयोगितया वास्तविक होनेपर इनका बन्धनरूप होना आवश्यक नहीं रह जाता.

(२) श्रीरामानुजाचार्यने जो पापकी व्याख्या भगवदप्रसन्नताके रूपमें दी वह भी लीलार्थ अंगीकृत मर्यादाकी दृष्टिसे सर्वथा मान्य ही हैं. फिरभी ''उसने यह सब सिरजा... वही सत् बना और असत् भी... वही विज्ञान बना और अविज्ञान भी, वहीं सत्य बना और अनृत भी'' (तैत्ति. उप. २ ६) इसी तरह स्वयं सूत्रकारद्वारा उद्धृत श्रुति भी ''ब्रह्म दाशाः ब्रह्म दासाः ब्रह्मैव इमे कितवा:'' (आथर्वणिक ब्रह्मसूक्त) इन वचनोंके अनुसार सदसन्मार्गगामी अनेकविध जीव वही बना है. इसी तरह सदसन्मार्गप्रेरक ज्ञानाज्ञान या सत्यानृत कर्म-ज्ञान-भाव भी वही लीलार्थ बना है. ऐसा स्वीकारनेके कारण वाल्लभ वेदान्त लीलाविहारी भगवत्स्वरूपकी दृष्टिसे तो इस मर्यादाको अमिट नहीं मानता है. लीलामें जैसे परमेश्वरको प्रसन्न या अप्रसन्न बनानेवाली बातोंकी मर्यादाओंका निरूपण हुवा है, उसी तरह परमात्माकी करुणा दया

क्षमा कृपा या अनुग्रह आदिकी लीलायें भी वर्णित हैं ही. अतएव ''कामं क्रोधं भयं स्नेहम् ऐक्यं सौहृदमेव वा नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते'' (भाग.१०। २६।१५) जैसे वचनोंकी व्याख्याके रूपमें महाप्रभु कहना चाहते हैं कि ''भगवान् अद्भुतकर्मा होनेके कारण असाधनको भी साधन बना सकते हैं'' (द्र.: त.दी.नि.१।१) इस बारेमें प्रमाणबल तथा प्रमेयबल की व्यवस्था तो हम पहले ही दिखला चुकें हैं. मुक्तिमें विषयकामपूरक पुण्य प्रतिबन्धक होते हैं तथा विषयवासनारहित नित्यकर्मजन्य पुण्य प्रतिबन्धक नहीं होते, यह भी लीलादृष्ट्या मान्य होनेपर भी परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपकी दृष्टिसे कभी अन्यथा भी हो सकता है.

(३)श्रीश्रीनिवासाचार्यके अनुसार यहां शास्त्रीय वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाओंके सन्दर्भमें प्रारब्ध कर्म तथा मुक्ति सम्बन्धी विचार किये गये हैं. यह वाल्लभ वेदान्तको सर्वथा मान्य होनेपर भी भगवान्की लीलामें मुक्त्यर्ह अथवा भक्त्यर्ह पुष्टिजीव केवल वर्णाश्रमधर्मानुगामी समुदायमें जन्मग्रहण करते हैं, ऐसा मान्य नहीं. वाल्लभ वेदान्त वर्णाश्रमियोंको नित्यकर्मोंकी अनिवार्यता और अवर्णाश्रमियोंको उनकी अननिवार्यताको भी दृष्टिगत रख कर अधिकरणरचना करना चाहता है. यह वेदाध्ययनके अनधिकारी अवर्णाश्रमियोंकी ब्रह्मजिज्ञासाको मान्य करनेको नहीं प्रत्युत परमात्माके मोक्षदानके प्रमाणानुरूप और प्रमाणातिरेकी उभयविध सामर्थ्येका ज्ञान वर्णाश्रमियोंको प्रदान करने ही.

स्वयं भागवतमें कहा गया है कि ''किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीर-कङ्का यवनाः खसादयो, येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्धयन्ति'' (भाग.३।४। १८): इस वचनकी व्याख्यामें महाप्रभु कहते हैं कि जातितः तथा कार्यतः दुष्ट लोग भी भक्तोंका सहारा लेकर न केवल शुद्ध हो जाते हैं बल्कि स्वयं भक्तोंकी तरह भगवत्सेवायोग्य भी बन जाते हैं. अन्य भी जिन्हें प्रायश्चित्त करनेका भी अधिकार दिया नहीं गया है वे भी भगवत्सेवायोग्य बन जाते हैं. भगवान्के प्रमेयस्वरूपका निरूपण करते हुवे न केवल अवर्णाश्रमी मनुष्योंको; प्रत्युत पशु-पक्षी-वृक्ष चेतन तथा अचेतन वस्तुओंको भी भक्तिमार्गदृष्ट्या स्पृहणीयतम भगवद्भावोपेत माना गया है (द्र.: भाग.१०।१८।७-२० तथा भाग.१०।३२।२-२५). अतः साधन-फलमीमांसाके अन्तर्गत ही इस पक्षको भी विचारणीय मान कर वाल्लभ वेदान्त चलना चाहता है.

आधुनिक कई लेखक इन्हें काव्योद्भावनाओंके रूपमें देखना चाहते हैं. तब तो भगवान्के मत्स्याश्वकच्छपादि अवतारोंको भी काव्योद्भावना' मानना पड़ेगा. हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु रावण वृत्रासुर पूतना शकटासुर तर्णावर्त यमलार्जुन वत्सासुर बकासुर धेनुकासुर अजगर शंखचूड़ केशि व्योमासुर कंस शिशुपाल आदि अनेकोंके

उद्धारकी मुक्तिकथाको भी काव्योद्भावनाके = रूपमें स्वीकारना पड़ेगा. कुल मिला कर सारे पौराणिक वृत्तान्त काव्यकल्पनाके रूपमें देखने पड़ेंगे! अन्तमें परमेश्वरपर भी प्रतिबन्ध लागू करना पड़ेगा कि वह अपनी सृष्टिमें प्रविष्ट या प्रकट नहीं हो सकता! अवैदिक धर्मोंमें भी या तो भगवदवतारोंकी या भगवद्दूतावतारोंकी या भगवद्भावापन्न तीर्थंकरोंकी चमत्कारपूर्ण लीलाकथायें उपलब्ध तो होती ही हैं. हमारे, किन्तु, अवतारोंके अद्भुतकर्म उन्हें न रुचते हों तो वह उनकी स्वधर्मनिष्ठा या स्वपक्षाग्रहिलता भी हो सकती है! वैसे तो उनके धार्मिक चरित्रोंकी चमत्कारपूर्ण कथायें हमें भी विश्वसनीय न लगती हों यह तो सम्भव ही है. यह तो समान मनोवृत्तिके आधारपर भी समझमें आनेवाली बात है. अन्तमें इस सृष्टिको ईश्वरकृत मानना भी सृष्टयुत्पत्तिकी एक चमत्कारपूर्ण व्याख्या नहीं तो और क्या है!

इन अवतारलीलाओंके आधारपर भी साधनमीमांसा तथा मुक्तिमीमांसा करना वाल्लभ वेदान्तका एक अनूठा महत्त्व है. अन्यथा वाल्लभ वेदान्तको साधन-फल-मीमांसा ही अपूर्ण लगती है. अन्तर केवल इतना ही है कि वाल्लभ वेदान्तमें स्वाभिमत श्रुत्यादिप्रमाणबल एवं स्वानुष्ठेय श्रौतादिसाधनबल द्वारा, उसे जान पाने और उसे प्राप्त कर पाने की कुछ अपनी सीमायें मानी गयी हैं. इस मान्यताके आधारपर वाल्लभ वेदान्त यह भी मानता है कि इन्हीं सीमाओंमें परमेश्वरको घिरा हुवा नहीं माना जा सकता है. अतः प्रमेयबलकी अद्भुतकथाओंको भी वाल्लभ वेदान्त धैर्यपूर्वक मीमांस्य मानता है ''अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''.

(५)इसी तरह श्रीमध्वाचार्यने जो यह विधान किया है कि हीनदृष्टिसे ब्रह्मको निहारनेवालोंके अथवा हीनवस्तुओंको ब्रह्मदृष्टिसे निहारनेवालोंके के सारे पुण्यकर्म नष्ट हो जाते हैं, यह धारणा ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' श्रौतवचनानुसारी तथा दिव्यदृष्टयैकदृश्य प्रत्यक्षनिदर्शनरूप भगवद्गीतोक्त विरादर्शनमूलक शुद्धाद्वैतवादमें अस्वीकार्य ही है. स्वयं अर्जुनने भी ''सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'' (भ.गी.११।४०) स्वीकारा ही है. एतावता उसके पुण्यकर्मोंका क्षय स्वीकार्य नहीं हो सकता है. भगवद्वेषी शिशुपाल आदि अनेक असुरोंकी तरह आसुरीभावोंवाले जीवोंकी भी मुक्तिके वर्णन ''प्रमाणबलकी व्यवस्थासे विपरीत प्रमेयबलकी भिन्न व्यवस्था होती है'' ऐसा सूचित करते ही हैं. अपने अंशीको अस्वीकार करके जब कोई अंश अपने-आपको ही परमेश्वर मान लेता है, करूषपति पौण्ड्रकं वासुदेवकी तरह तो, ऐसा अन्यथाज्ञान उसे वधयोग्य बना सकता है. साथ ही साथ भागवतका यह डिंडिमघोष भी कभी भूलना नहीं चाहिये कि वह पौण्ड्रक भगवान् श्रीहरिके स्वरूपका स्वाँग नित्य ही धारण करनेकी प्रक्रियाको अपना कर भगवद्ध्यानके द्वारा अखिल बन्धनोंको प्रध्वस्त करता हुवा

अन्तमें तन्मय हो गया! (भाग.१०।६३।२४). स्पष्ट है कि यह यहां शास्त्रमर्यादाके रूपमें निरूपित नहीं हुवा है. यह तो निश्चय ही प्रमाण–साधन–मर्यादामें कैद न होनेवाले भगवान्के प्रमेयबलका ही वर्णन है. चाहे जो कुछ हो इतना तो निश्चित ही है कि उपेतृप्रयत्नसे न सही परन्तु उपेयप्रयत्नके द्वारा ऐसे उदाहरणोंमें भी मुक्ति मिल सकती है. प्रमाण समन्वय, प्रमेय = अविरोध, साधन और फल रूपिणी ब्रह्ममीमांसाके साथ इस लीलामीमांसाकी एकवाक्यता दिखलानेको ही महाप्रभुने भगवल्लीलाकी भी मीमांसा ऐसे ही प्रकरणविभाजनद्वारा करनी चाही है. (६)अतएव श्रीपतिभगवत्पादाचार्यद्वारा निर्धारित शिवतादात्म्यकी रीति भी केवल ब्रह्ममीमांसामूलक ही है–ब्रह्ममीमांसा तथा तदवतारलीलामीमांसा की एकवाक्यतामूलक नहीं. (७)श्रीविज्ञान भिक्षुका यह कहना कि देह कर्महेतुक मिलता है, अज्ञानहेतुक नहीं. यह तो वाल्लभ वेदान्तके अनुकूल ही कथा है. फिरभी इतना इसमें और अधिक जोड़ लेना चाहिये कि यह देहग्रहण करनेकी मर्यादारीति है. अन्यथा शापमूलक, वरदानमूलक अथवा भगवत्परिकरोंके तो कभी–कभी भगवल्लीलासंकल्पवशात् भी देहधारितया जनमनेके वृतान्त लीलाकथाओंमें मिलते ही हैं.

(८)अतः वाल्लभ भाष्यके अनुसार विगत ९९सूत्रोंमें पुष्टिमार्गीय भक्त फलके निरूपणके बाद यहां इस कसूत्रमें मर्यादामार्गीय भक्तके फलका निरूपण अभिप्रेत है. क्योंकि कर्ममर्यादा स्वयं भगवान्ने ही बनायी है. सो जब उसका उल्लंघन किये बिना भगवान् फलदान करते हैं तब उसे मर्यादामार्गीय फलतया स्वीकारा जाता है. मर्यादाके अन्तर्गत तो फलभोगके बिना कर्मक्षय असम्भव होता है. अतएव भोगानुकूल कर्मोंको करते रहनेपर अन्य सजातीय कर्म और पैदा हो जाते होनेसे मुक्ति सर्वसुलभ नहीं हो पाती. दुष्कर्मोंके प्रायश्चित्तरूप कर्मके अनुष्ठानवश दुष्कर्मफल भी मिलने बन्द हो जाते हैं. इस तरह, परन्तु, ज्ञानको भी प्रायश्चित्तरूप नहीं समझ लेना चाहिये क्योंकि न तो ज्ञान प्रायश्चित्तके रूपमें विहित है और न अनुष्ठेय ही होता है. हमारे दुराचरणोंके कारण हमारा चित्त अशुद्ध हो जाता है. अतः ऐसे चित्तके पुनः शुद्ध होनेपर ही ब्रह्मज्ञान प्रकट होता है और ब्रह्मज्ञानके प्रकट होनेपर भक्ति प्रकट हो पाती है, यह मर्यादा है. अतः ज्ञानोदय होनेपर पूर्वकृत सारे पाप ज्ञानके स्वभाववश ही नष्ट हो जाते हैं. ''उत्तरकालमें पाप उत्पन्न होते हैं परन्तु लगते नहीं'', ऐसा अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं है, प्रत्युत उत्पन्न ही नहीं होते ऐसा भाव है. उपायरूप साधनोंके बिना उपेय भगवत्स्वरूपके प्रमेयबलसे कोई कार्यके सिद्ध होनेपर पुष्टि समझी जाती है. भगवन्निर्धारित ज्ञानरूप उपाय या साधन का स्वरूप ही ऐसा होता है कि वह नियतकर्मोंका विरोधी होता है. इसलिये कर्मभोगका नियम ज्ञानीतर जीवात्माओंके बारेमें होता है. पापकर्मोंसे चित्तमें अशुद्धि

या असद्वासना पैदा होती है. उस अशुद्धचित्त किये जाते कर्म मोक्षमें प्रतिबन्धक होते हैं. इस मुक्तिप्रतिबन्धिका शृंखलाकी प्रथम कड़ी चित्ताशुद्धि या असद्वासना तो गुरूपसत्ति श्रवण मनन विष्णूपासना रूपी ज्ञानोत्पादिका सामग्रियोंद्वारा ही नष्ट हो जाती हैं. अन्तमें अविद्या जो बचती है वह तो ब्रह्मज्ञानद्वारा नष्ट होती है. अतः. ज्ञानी दुष्कर्मोंसे बचा हुवा रहता है.

ख इसी तरह पूर्वकृत पुण्य भी नष्ट हो जाते हैं और अनन्तर कोई पुण्य उत्पन्न होते नहीं हैं. वैसे कदाचित् प्रारब्धवशात् भगवद्भावसे च्युति होनेपर उत्तरकालिक कर्म उत्पन्न हो भी सकते हैं.

ग ज्ञानसे कर्मनाश होनेपर कर्मजन्य देह भी नष्ट होता हो तो मर्यादामार्गीय आचार्य कोई भी मर्यादामार्गीय उपदेश देनेकेलिये भी भूतलपर विद्यमान ही नहीं रह पायेगा! ऐसी आशंकाके निवारणार्थ इस सूत्रमें यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि अपने-अपने फलोंका दान आरम्भ न कर दिया हो ऐसे पुण्य पापोंका ज्ञानसे नाश होता है प्रारब्धकर्मोंका; अर्थात् फल देना जिन्होंने आरम्भ कर दिया हो ऐसे कर्मोंका नहीं. क्योंकि फलदान देना शुरू हो गया हो ऐसे पुण्य पापोंका तो फलोपभोगद्वारा ही नाश होनेकी मर्यादा स्वयं भगवान् के द्वारा निर्धारित है. फिरभी निजलीलामें ज्ञानद्वारा संचितकर्मोंकी तरह प्रारब्धकर्मोंका भी नाश, यदि कभी भगवान् करना चाहें तो वह सम्भव है ही.

घ इस सूत्रमें यह दिखलाया जा रहा है कि जो ब्रह्मविद् हो उसे भी अग्निहोत्र सदृश नित्यकर्म प्रारब्धभोगके रूपमें ही करने चाहिये क्योंकि जिनके पूर्वकृत सत्कर्म ऐसे हों कि वे अगले जन्म में निर्विघ्न स्वधर्माचरणका निर्वाह कर पायेंगे, उन्हें प्रारब्धभोगतया नित्यकर्मोंको निभाना ही पड़ेगा. ऐसोंको नित्यकर्मके भोग करनेसे पुनः कोई कर्मसंश्लेष नहीं होता है.

फलप्रकरणगत लीलोपदेश: तामसफलप्रकरणमें रासलीलावर्णनके उपसंहारके इसके बाद दो लीलाओंके वर्णन मिलते हैं: १.व्रजके गोपजनोंका कौतुकवश तीर्थयात्रा करने जाना, वहां लीलापरिकरेतर देव-देवीका व्रत-पूजनरूप अन्याश्रय करना, उस समय अजगरद्वारा निगले जानेपर भगवान्द्वारा श्रीनन्दरायका मुक्त हो पाना; और, अन्तमें श्रीनन्दरायजीको निगलना चाहते अजगरका भी उद्धार. २.पूर्ववर्णित सर्वात्मभाववती उत्तमाधिकारिणी रासविहारिणी गोपिकाओंसे भिन्न मध्यमाधिकारिणी ' कुछ अन्य गोपिकाओंका प्रमेयस्वरूप श्रीकृष्ण और प्रमाणस्वरूप श्रीबलराम के साथ रात्रिविहार. इस कामविहारमें शंखचूड़द्वारा किया गया उनका अपहरण; और उसे मार कर उसकी शिखामें रही मणिका श्रीकृष्णद्वारा श्रीबलरामको

भेंटस्वरूप दिया जाना. इन दोनों लीलाओंमें किसी न किसी तरहकी मर्यादाके अनुकरणकी कुछ वृत्ति परखी जा सकती है. महाप्रभु कहते हैं:

> यह लीला कालको प्रधान बना कर की गयी है. अतएव इस लीलामें दैत्य बाधा पहुंचा सकते हैं. भगवान्‌के द्वारा उस दैत्यका वध किया जाना और उसकी शिखामें रही मणि अपने अग्रजको दे देनेके कारण यहां वेदावतारूप श्रीबलरामका अर्थात् शब्दप्रामाण्यकी मर्यादाका महत्त्व द्योतित होता है. वेदका लौकिकालौकिक वास्तविक माहात्म्य समझमें न आनेपर सारा वेद केवल हमारेलिये स्वकर्तव्यबोधार्थ अपेक्षित एक उपकरणमात्र रह जाता है. अन्य सभी कुछ अपार्थक होनेकी उत्प्रेक्षा कर ली जाती है... यह क्रीड़ा पहले जिन गोपिकाओंका वर्णन किया गया उनसे भिन्न हैं. ये वे गोपिकायें हैं जो पहले शास्त्रीयमर्यादा और लौकिक कर्तव्यों में परायण रहनेके अपने मनोभाववश भगवदभिमुख हो नहीं पायी थी. भगवान्‌के अनेकविध देवगणमान्य माहात्म्यको निहार कर अन्तमें सर्वात्मभावरहित केवल कामभावसे भगवान् और बलभद्र की और आकृष्ट हुयी थी... इससे यह द्योतित हुवा कि मध्यमाधिकारियोंका वेदपरायण होना दोषरूप नहीं होता. क्योंकि यदि दोषरूप होता तो वेदात्मक श्रीबलरामके साथ की जाती क्रीड़ामें बाधा पहुंचानेवाले दैत्यका वध भगवान् स्वयं न करते और ना उस दैत्यवधसे प्राप्त मणि श्रीबलरामको भेंटरूप प्रदान ही करते.

तदनुसार एकत्र स्वतः चतुर्विध प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलतया प्रकट भगवान्‌के अनन्याश्रयसे च्युति; और, अपरत्र ऐसे भगवान्में, मध्यमाधिकारानुरूप, माहात्म्यज्ञानकी प्रधानता तथा अनन्यासक्तिकी न्यूनताका बोध हो रहा है. इसे आत्मात्मभाव या परमात्मभावं से अर्थात् माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़सर्वतोधिकस्नेहके भावसे लेशतः च्युति जैसी कथा समझी जा सकती है. इन उभयविध च्युतियोंके निवारणद्वारा पुनः भगवद्भावसे तत्तल्लीलान्तःपाती व्रजभक्तोंको मण्डित किया गया. अतः मर्यादामार्गसदृश ही यहां भी कर्मोंसे असंश्लिष्ट ही रखा गया, यह द्योतित हुवा.

कतिपय मूढ़ लोग यहां ऐसा दुरर्थ करते हैं कि प्रमाणरूप श्रीबलरामके साथ की गयी होनेके कारण इस रासलीलामें शंखचूड़ दैत्यकी बाधा उत्पन्न हुयी. अतः पुष्टिमार्गमें शास्त्रचिन्तन अधिक नहीं करना चाहिये. इन्हें न तो सुबोधिनीके भावका

भान हैं और न प्रमेयरूप श्रीकृष्णमें स्वरूपासक्ति ही. केवल 'प्रमेय प्रमेय' के कोलाहलद्वारा अपनी क्षुद्र एवं गर्ह्य वासनाओंको सन्तुष्ट करते रहनेके बहाने खोजने में इनकी रुचि अदम्य होती है. दैत्यबाधा जो श्रीबलरामके साथ क्रीड़ाके कारण हुयी होती तो महाप्रभुके इस अधोलिखित विधानकी क्या व्याख्या क्या करनी?

> गोपिकाओंके द्वारा शब्दब्रह्मानन्द भी सभीके भीतर पूरणार्थ यहां पुनः शब्दात्मक बलभद्रके साथ भी गोपिकाओं की क्रीड़ाका निरूपण अभीष्ट है... यह लीला कालको प्रधान बना कर की गयी होनेसे इसमें दैत्य बाधक हो पाते हैं. फिरभी भगवत्सामर्थ्यके द्वारा उन बाधाओंका निराकरण हो जानेपर शब्दका ही माहात्म्य निरूपित होता है... इससे यह सिद्ध होता है कि जो मध्यमाधिकारी होते हैं उनके प्रमाणपर अर्थात् वेदपरायण होनेमें कोई दोष नहीं होता. अतएव इस लीलाका निरूपण किया गया है. अन्यथा जो प्रमाणपरायण होंगे उनका अनन्यभाव ही भंग हो जायेगा
>
> (सुबो.१०।३१।२०).

इस स्पष्टीकरणके रहते कि प्रमाणपरायण होनेमें अनन्यभाव खण्डित नहीं होता (द्र.:त.दी.नि.३।६।४१-४२), फिरभी अपने-आपको सर्वात्मभाववती गोपिकाओंकी तरह उत्तमाधिकारी मान कर चलना, वस्तुतः प्रमेयपरायणता नहीं प्रत्युत भगवान्की प्रमेयबलसे की गयी लीलाओंके नामपर चर खानेकी जघन्यतम अधिकारियोंकी दुर्वृत्ति भरी शिश्नोदरपरायणता ही लगती है.

आधुनिकपुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश: आधुनिक पुष्टिमार्गियोंकेलिये अन्याश्रयत्यागोपदेशके बारेमें तो पहले ही दिखलाया जा चुका है. शास्त्रप्रामाण्यके अनुरोधवश वर्णाश्रमधर्मके अनुष्ठानका मुख्यकल्प गौणकल्प और विकल्प आदिका सूक्ष्म निरूपण करते हुवे महाप्रभुने अनेक स्पष्टीकरण दिये हैं. महाप्रभु कहते हैं:

> **मुख्यकल्प:** श्रुत्यादि प्रमाणोंमें वर्णाश्रमियोंके धर्मके रूपमें जो कुछ विहित हो, उसे यथाविधि निभाना चाहिये. अपने वर्णाश्रमके अनुरूप जो वृत्ति शास्त्रने वैध ठहरायी हो उसी आजीविकासे वृत्त्युपार्जन करनेपर ही इस वर्णाश्रमधर्मका निर्वाह भी सफल हो पाता है. अन्यथा नहीं. क्योंकि वर्णाश्रमाचार वृत्तिहीन होनेपर अर्धाशमें ही फलित होता है सर्वाशमें नहीं (द्र: त. दी. नि. २११८५). भक्ति अपने आश्रमधर्म तथा ज्ञान के साथ निभायी जाती होनेपर भगवत्तिरोधानको दूर कर पाती है:

भगवन्माहात्म्यको भलीभांति जान लेनेके बाद प्रकट होनेवाले परमप्रेमको 'भक्ति' कहा जाता है. ऐसी इस भक्तिके साथ-साथ यदि भगवत्परिचर्या भी की जाये तो तिरोधान दूर होता है. भगवत्सेवाको स्वतः पुरुषार्थके रूपमें निभाया जाता हो तो उसे 'स्वतन्त्रा भक्ति' कहा जाता है. अर्थात् स्वाश्रमाचारोंके सहित, ब्रह्मानुभवके सहित; और, माहात्म्यज्ञानपूर्वक स्नेहके कारण ब्रह्मभाव सिद्ध हो जाता है. भगवत्परिचर्याके साथ इस स्नेहके निभनेपर भक्ति 'आनन्दरूपा-भक्ति' कहलाती है. ऐसी भक्तिकी फलावस्थामें यदि अपने आश्रमाचारोंको निभानेपर फलानुभूति में किसी तरहके प्रतिबन्धकी सम्भावना लगती हो तो ऐसी अवस्थामें वर्णाश्रमाचारोंका त्याग भी किया जा सकता है. अन्यथा उन्हें निभाये जाना चाहिये. अपने आपकी भगवद्भक्तिको सहसा फलावस्थामें पहुंची हुयी नहीं मान लेना चाहिये, क्योंकि ब्रह्मभावापन्न जीव कदाचित् सुलभ हो सकते हैं परन्तु फलावस्थावाली भक्तिवाले इससे भी दुर्लभ होते हैं.

(द्र.: त.दी.नि.२।१९६).

गौणकल्प: वर्णाश्रमवालोंका मुख्यधर्म तो नष्टप्रायः हो गया है, अतः आत्मवंचनार्थ निभाये जानेपर भी वास्तविक धर्मसिद्धि होनी उससे शक्य नहीं है. फिरभी उसे यथाकथञ्चित् निभाते हुवे भक्तिमार्ग में अपनी आस्था दृढ़ रखनी चाहिये.

(द्र.:त.दी.नि.२।२२३-२२४).

क्योंकि जब तक यह देह है तब तक वर्णाश्रमधर्मोंको ही अपना स्वधर्म समझना चाहिये-भगवद्धर्मोंको भी तब विधर्म या परधर्म समझा जा सकता है. जब अपने बारेमें देहादिके संघातसे पृथक् आत्मा होनेका भाव दृढ़ बने तभी भगवद्दास्य स्वधर्म बन पाता है; और अतएव तभी, वर्णाश्रमधर्म आदि भी पराये (देहाभिमानी) के से धर्म लगने लगते हैं. अतः उन्हें अपनी शक्तिके अनुसार निभाते हुवे ही भक्तिमार्गपर दृढतया आरूढ़ होना चाहिये (द्र.: सुबो. ३।२८ २).

विकल्प: भक्तिमार्ग सर्वमागमें उत्तम मार्ग है. इस मार्गमें स्वयं भगवान् ही मोचक बन जाते होनेसे पतनकी सम्भावना बिलकुल

नहीं है. अतः इस मार्गमें आदिम साधनतया दम्भादिरहित श्रीकृष्णसेवापरायण एवं श्रीभागवततत्त्वज्ञ पुरुषको ही अपना गुरु बनाना चाहिये (द्र.: त.दी.नि.२।२२२-२३८).

यहां आवरणभंग व्याख्या लिखनेवाले गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि यह सावधानी न रखनेपर एकके बजाय दो अन्धोंका एकसाथ गर्तमें निपात हो सकता है. ऐसे गुरु न मिलनेपर स्वयं महाप्रभुको गुरुतया मान्य रख कर महाप्रभूपदिष्ट रीतिको अनुसरते हुवे भगवत्सेवामें भक्त्यनुकूल परिवारजनोंके साथ प्रवृत्त हो जाना चाहिये, यह भी श्रीपुरुषोत्तमजीने सुस्पष्ट किया है.

इसके बाद महाप्रभु इस विषयमें और भी अधिक मार्गदर्शन प्रदान करते हुवे कहते हैं:

अपने परिवार या उदर के निर्वाहार्थ कभी भी निषिद्ध (उदा. धनोपार्जनार्थ भगवत्सेवा या भगवत्कथा करने जैसी) आजीविका नहीं अपनानी चाहिये. श्रीभागवतोक्त भगवल्लीलाओंका अवगाहन करते रहना चाहिये. सबके भीतर कृष्णभावना रखते हुवे सहिष्णु वैराग्ययुक्त तथा परितोषयुक्त बनना चाहिये. अपने इन्द्रियाश्वोंको निग्रहमें रखना चाहिये.

आवरणभंगकार यहां भी एक अतीव मननीय शंका समाधान यह करते हैं कि वामदेव्यसामोपासकको जैसे हर किसी स्त्रीके साथ संभोगकी अनुमति दी गयी है, ऐसे ही भक्तिमार्गमें भी वह छूट ली जा सकती है या नहीं?

शंका: रासपञ्चाध्यायीके उपसंहारमें अन्योंकेलिये भगवदनुकरणका निषेध किया गया है, उसे क्यों रासलीलाके ही केवल निषेधपरक नहीं ले लेना अर्थात् परदाराभिमर्शनके निषेधपरक ही क्यों लेना? भक्तिमार्गीय भावनाओंके अनुसार, हमारा लौकिक शरीर चाहे स्त्रीरूप हो या पुरुषरूप, सच्चे पुरुष तो एक भगवान् ही होते हैं. उन्हें ही सभीको गोपिकाभावसे भजना चाहिये. सो जब लौकिक पुरुष वस्तुतः पुरुष न हों तो परदारारमण भी परमार्थतः परदारारमण नहीं सिद्ध हो पाता! अतः कोई करता भी हो तो वह दोषजनक क्यों होना चाहिये?

समाधान: सेवाफल ग्रन्थमें जिसकी स्पष्टतम शब्दोंमें निन्दा की गयी है ऐसे लौकिकविषयोंके उपभोगकी वृत्तिद्वारा किया जाता यह तो भक्तिभावका निरा पाखण्ड ही है!!

(द्र.: त.दी.नि.आ.२।२३८)

इसके बाद महाप्रभु इसी मार्गके मुख्यकल्प गौणकल्प और विकल्पों को विस्तारसे समझाते हुवे कहते हैं:

> ऐसे भक्तोंको भगवद्गुणों तथा भगवन्नामों का उद्घोष सभा भी निस्पृह एवं निर्भय हो कर करना चाहिये परन्तु श्रीभागवतका पाठ तो निर्दम्भ तथा सर्वहेतुविवर्जित ही करना चाहिये. वैष्णवताके चिह्नरूप तिलक- मुद्राओंका धारण करना चाहिये. वैष्णव व्रतोत्सवको मनाना चाहिये. (अनुकल्प.१)यह जिनसे न निभ पाता हो उन्हें निस्पृह एकाकितया शान्तिपूर्वक कृष्णतत्पर हो कर तीर्थयात्रा करते रहनी चाहिये. (अनुकल्प.२) यह सम्भव न हो तो अपनी आजीविकाका साधन न बन जाये ऐसी अतिशय सावधानी रखते हुवे भागवतपठन, (आधुनिक पुष्टिमार्गमें चल पड़ी धनसंग्रहार्थ आयोजित भागवत सप्ताहोंका श्रवण नहीं) (अनुकल्प/विकल्प)वह भी सम्भव न हो श्रीजगन्नाथपुरी पंढरपुर श्रीरङ्ग तिरुपति या अन्य भी ऐसी वैष्णवतन्त्रानुसारिणी पूजाप्रणाली जहां हो वहां प्रपत्तिमार्गका अनुसरण करते हुवे रहना चाहिये.

अतएव षोड़शग्रन्थान्तर्गत सेवाफल(कारि.२)में यह कहा गया है कि पुष्टिमार्गमें फलसिद्धि या अधिकार दोनोंमेंसे किसी एक विषयमें भी काल कभी नियामक नहीं होता. फिरभी भोग उद्वेग या प्रतिबन्ध बाधक हो पाते हैं. अतएव शिक्षाश्लोकीमें भी महाप्रभु कहते हैं कि जो जीव भगवदभिमुख रह पाते हैं उनका तो काल कुछ भी बिगाड़ कर नहीं सकता है. बहिर्मुख बन जानेवाले पुष्टिमार्गीय जीवको, परन्तु, काल एक अजगरकी तरह समग्रतया निगल भी सकता है! अतएव आधुनिक पुष्टिजीव भी अपने आपको गोपिकाओंकी तरह उच्चाधिकारी मान कर शास्त्रीय मर्यादाओंसे विपरीताचरण करता हो तो भोगोद्वेगप्रतिबन्धके शिकार होनेपर उसके लिये भी कालकृत प्रतिबन्ध सर्वथा अशक्य नहीं है.

(७)अतोऽन्याधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोपदेश तथा आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता:

[क]अतो अन्यापि हि एकेषाम् उभयो:.

[ख]यदेव विद्यया इति हि.

[ग]भोगेन तु इतरे क्षपयित्वा अथ सम्पद्यते

(ब्र.सू. ४।१।१७–१९).

(१)श्रीशंकराचार्यके अनुसार यह सूत्र तथा विगत ''अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव दर्शनात्'' सूत्र मिलकर एक अधिकरण बनाते हैं. तदनुसार पूर्वसूत्रमें यह कहा गया था कि वैदिक अग्निहोत्रादि नित्यकर्म यद्यपि मोक्षजनक नहीं होते फिरभी उन्हें करते रहना चाहिये क्योंकि मोक्षजनक जो ज्ञान होता है उसके जनक वे हो सकते हैं. अतः परम्परया उन्हें भी मोक्षजनक माना जा सकता है. परमार्थतः अपने अकर्ता–अभोक्ता ब्रह्म होनेका ज्ञान उत्पन्न हो जानेपर उन्हें करते रहना आवश्यक नहीं रह जाता, क्योंकि ब्रह्मविद्को विधिनियोज्य नहीं बनाया जा सकता है. अतः नित्याग्निहोत्र जैसे वैदिककर्मों के फल मुक्तिमें प्रतिबन्धक नहीं होते सो उनका अश्लेष नहीं होता है. यदि इनका अश्लेष न होता हो तो जहां एक श्रुतिवचनमें यह कहा गया कि ''उसके द्वारा किये गये सारे पुण्य उसके सुहृदोंको लग जाते हैं और उसके पाप उसके साथ द्वेष करनेवालोंको लग जाते हैं'' ऐसे वचनोंकी क्या गति होगी? क.यहां जैमिनि और बादरायण दोनों आचार्योंके अनुसार नित्यकर्मों के अलावा और भी कुछ जो सकामकर्मक पुण्य हों उनकी विवक्षा मान लेनी चाहिये क्योंकि उनका ब्रह्मज्ञानमें कोई उपयोग सम्भव नहीं होता. ख.इस सूत्रमें यह दिखलाना अभिप्रेत है कि विद्याविहीन और विद्यासहित दोनों ही तरहके अग्निहोत्र, चाहे प्रस्तुत जन्ममें या जन्मान्तरमें किये हों, मोक्षके प्रयोजनवश अनुष्ठित होनेपर, यथायथ सामर्थ्यद्वारा ब्रह्मज्ञानमें प्रतिबन्धक दुरितोंके क्षयद्वारा ज्ञानको उत्पन्न करते हैं. अतः ये ज्ञानके अन्तरंगकारण श्रवण मनन श्रद्धा आदि अंगोंवाली ब्रह्मविद्याकी तरह मोक्षजननार्थ उपयोगी हो सकते हैं. ग.जिनका फल मिलना आरम्भ न हुवा हो ऐसे पुण्य पाप तो विद्याके सामर्थ्यवश क्षीण हो जाते हैं, परन्तु जिनका फल मिलना आरम्भ हो गया हो उनका तो फलभोग करनेके बाद ही क्षय होता है. यहां एक शंका उठती है कि ब्रह्मज्ञान सिद्ध हो जानेपर भी देहपातसे पहले भेददर्शन तो बना ही रहता है उसी तरह कर्मफलोंकी भी अनुवृत्ति बनी ही कहीं रह न जाये! ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि उपभोगशेषका क्षपण वहां निमित्त होता है, ऐसा कोई निमित्त ब्रह्मज्ञानके बाद बचा हुवा रह नहीं जाता है.

(२)क.इस सूत्रमें श्रीभास्कराचार्यने विशेष कुछ भी नहीं दिखलाया ख.''यदेव विद्यया इति हि'' सूत्रको अप्रामाणिक एवं निरर्थक मान श्रीभास्कराचार्यने भाष्य भी नहीं लिखा है. ग.यहां भाष्यकार कहते हैं कि प्रारब्धके फलभोगके बाद मुमुक्षु ब्रह्मभावसे सम्पन्न हो जाता है. यद्यपि प्रस्तुत जन्ममें ही पारमेश्वर गुण तो अभिव्यक्त नहीं हो पाते परन्तु शास्त्रप्रामाण्यवश मुक्तात्मामें वे गुण अवश्य प्रकट होते हैं, ऐसा स्वीकारना चाहिये.

(३)यहां श्रीरामानुजाचार्यके अनुसार क.कर्मनियतिके अनुसार ब्रह्मज्ञानीके सुकृत उसके सुहृदोंको मिल जाते हैं और दुष्कृत उसके द्वेषियोंको यह ब्रह्मज्ञानीपर परमात्मा के प्रसन्न होनेके कारण वैसे पारमात्मिक संकल्पवशात् ही यह घटित होता है. ख.प्रकृत विषयोपपादनार्थ पहले दिये जा चुके ''यदेव विद्यया करोति'' श्रुतिवचनके स्मारणार्थ यह सूत्र है. इस सूत्र में ब्रह्मविद्याधारणाह जो प्रस्तुत शरीर होता है उसके साथ जुड़े प्रारब्धकर्मोंके क्षयके बाद; अथवा, प्रारब्धकर्मके ही फलोपभोगवशात् अन्य भी कुछ शरीर या शरीरों के छूटनेके बाद ही ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मको पा लेता है. ब्रह्मज्ञानीके सशरीर होनेपर ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिसे पहले जो भी सुकृत या दुष्कृत रूप सञ्चितकर्म होते हैं, वे तो ब्रह्मविद्याके माहात्म्यवश ही भस्मसात् हो जाते हैं. विद्याप्राप्तिके बाद मिलते शरीर या शरीरोंसे प्रमादवश जो सत्कर्म या दुष्कर्म हो जाते हैं, उनका तो फल स्वयं ब्रह्मज्ञानीको मिलनेके बजाय उसके सुहृद या द्वेषियों को ही मिलता है.

(४)[क ख ग]नैम्बार्क भाष्यमें यहां रामानुजीय भाष्यका ही अनुसरण करते हुवे विशेष कुछ भी कहा नहीं गया है.

(५)श्रीमध्वाचार्यके अनुसार ''तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्'' तेरहवें सूत्रसे लेकर ''भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पत्स्यते'' उन्नीसवें सूत्र तक एक ही अधिकरण बनता है. तद्नुसार तेरहवें सूत्रसे ले कर सोलहवें सूत्रोंका तात्पर्य तो हम देख चुके अब [क]इस सूत्रमें मुक्तिकी अनुभूतिमें जो कारणभूत हों ऐसे पुण्योंके अलावा अन्य भी सारे पुण्य, वे चाहे अनारब्ध हों या फलार्थ अनभीष्ट हों, ऐसोंका क्षय हो जाता है. श्रीमध्वाचार्य कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानीके जब अनभीष्ट और अनारब्ध पुण्य भी नष्ट हो जाते हों तो पाप क्यों नष्ट नहीं हो पायेंगे! ''सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्'' वचनके आधारपर यह सिद्ध होता है. इस [ख]सूत्रमें यह दिखलाना अभीष्ट है कि ब्रह्मदर्शक अल्प भी पुण्य महान् और अनन्त बन जाते हैं. अज्ञानी या ब्रह्मद्वेषीके महान् भी पुण्य निष्फल हो जाते हैं. [ग]इस सूत्रमें यह विवक्षित है कि आरब्ध पुण्य-पापोंका भोगद्वारा क्षय होनेपर ब्रह्मदर्शी तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है. इसी तरह ब्रह्मद्वेषी घोर तमको प्राप्त कर लेता है. यहां ब्रह्मादि लोकोंमें क्रममुक्ति और उनकी अवधि भी श्रीमध्वाचार्यने दिखलायी है.

(६)[क]श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके अनुसार जो अग्निहोत्रादि साधुकर्म शिवत्व-प्राप्तिके उद्देश्यवश अनुष्ठित होते हैं, उनसे तो शिवत्वप्रापिका विद्याका उपकार ही होता है. शैवविद्याप्राप्तिसे पूर्व, किन्तु, अनेकानेक पूर्वजन्मोंमें जो अग्निहोत्रादि साधुकर्म अनुष्ठित होते हैं उनका फल शिवत्वप्राप्ति तो सम्भव नहीं सो प्रश्न उठता है कि उनके फल मुक्तिमें प्रतिबन्धक हो सकते हैं कि नहीं? इसका उत्तर प्रस्तुत सूत्रमें दिया जाना

अभीष्ट है. ऐसे साधुकर्मों के फल शिवज्ञानीकी शिवत्वप्राप्तिमें प्रतिबन्धक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इनके फल ऐसे मुक्त्यधिकारीके सुहृदोंको मिल जाते हैं. [ख]जो दहर-शाण्डिल्यादि विद्याके साथ अनुष्ठित सत्कर्म होते हैं, वे ही इस जन्म में ब्रह्मज्ञानके साधन बनते हैं. दहरादि उपासनारहित परमेश्वरार्पित साधुकर्म भी ब्रह्मज्ञानके केवल साधन बन पाते हैं परन्तु कालविलम्बके साथ. [ग]दहरादि विद्याओंके उपासक विद्वान् भक्तोंके पुण्यापुण्यरूपं प्रारब्धकर्मोंका क्षय सुखदुःखात्मक फलोंके भोगसे ही हो जाता है. आगामी पुण्य-पाप तो विद्याकी महिमासे उत्पन्न ही नहीं हो पाते. सो यथेष्ट चतुर्विध मुक्ति उन्हें मिल जाती है. मन्दप्रज्ञ होनेसे जो विद्याके द्वारा अपने कर्मको वीर्यवत्तर नहीं बना पाते परन्तु अपने सत्कर्मोंको परमेश्वरको अर्पित करते हैं, उन्हें कुछ जन्मोंके बाद मुक्ति मिल जाती है.

(७) श्रीविज्ञान भिक्षु [क]इस सूत्रके भाष्यमें कहते हैं कि यहां सूत्रकार मतान्तरसे अपने मतका संवाद दिखला रहे हैं. केवलविद्याके अपेक्षा कर्मसमुच्चिता विद्या भिन्न ही होती है और वही मोक्षका साधन होती है. [ख]कहीं ज्ञानको कर्मका अङ्ग- ''यदेव विद्यया करोति'' वचनोंमें तो अन्यत्र ''तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन'' जैसे वचनोंमें कर्मको ज्ञानका अङ्ग कहा जाता है. अतः अव्यवस्थाके निराकरणार्थ कर्म-ज्ञानसमुच्चय अर्थात् परस्पर सहकारी होनेका सिद्धान्त ही स्वीकार लेना चाहिये. सूत्रकार यहां भूमिकाभेदसे स्वमत तथा इस परमत के बीच गम्भीर कोई मतभेद नहीं देखते हैं. [ग]इस अन्तिम सूत्रमें यह कथनीय है कि अनारब्धकार्य पुण्य-पापोंका विद्यासे नाश होता है. आरब्धफलक पुण्य-पापोंका तो भोगसे ही नाश होता है. सो जैसे एक नदी समुद्रमें मिलनेपर समुद्र ही बन जाती है, वैसे मुमुक्षु ब्रह्मभावसे सम्पन्न हो जाते हैं.

इन विभिन्न भाष्योंमें से सर्वप्रथम (१)शांकरभाष्यमें यह जो कहा गया कि ''आरब्धकर्मोंके निमित्तवशात् उपभोगशेषक्षपणार्थ ब्रह्मज्ञानीका देह जैसे स्वपातावधि टिका रहता है वैसे साध्वसाधु कर्म टिक नहीं सकते'' यह वाल्लभवेदान्तमें मान्य नहीं. क्योंकि भूतलपर रहते देहकी कर्मरहित स्थिति ''नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृद्''(भ.गी.३।५) वचनके अनुसार शक्य नहीं होती. अतः कर्मानुवृत्ति अनिवार्य लगती है. फलकामनारहित कर्मकर्ताके भगवदिच्छारूप शास्त्राज्ञाके केवल परिपालनार्थ ईश्वरार्पणबुद्धया अनुष्ठित कर्म, या लोकसंग्रहार्थ अनुष्ठित कर्म, या लोकमें बुद्धिभेदाजननार्थ अनुष्ठित कर्म, या ब्रह्मापरोक्षज्ञानसे सम्पन्न अधिकारीद्वारा अनुष्ठित कर्म अथवा उत्कटभगवद्भावसे सम्पन्न होनेपर भी भगवदिच्छाबोधवशात् अनुष्ठित

कर्म कभी भी अनिष्टफलजनक नहीं हो पाते. ब्रह्मज्ञानसे स्वहेतु स्वस्वरूप और स्वप्रयोजन यों तीनोंके बाधित हो जानेसे कर्ता-करण क्रिया- तत्फलोंके द्वैतसे घटित कर्म तो रह नहीं पाते; परन्तु ऐसा कर्मजन्य देह केवल स्वहेतु तथा स्वप्रयोजन की अपेक्षासे बाधित होनेपर भी स्वस्वरूपेण बाधित नहीं होता! यह मानना न केवल अर्धजरतीय न्यायवश अनुपपन्न लगता है प्रत्युत ब्रह्मज्ञानैकबाध्यतारूप देहके मिथ्यात्व या व्यावहारिकसत्य होनेके सिद्धान्तकी प्रामाणिकतापर भी प्रश्नचिह्न लगा देता है. (२) श्रीभास्कराचार्यकृत भाष्यमें विवेच्य कुछ भी नहीं लगता है. (३-४) श्रीरामानुजाचार्य के भाष्यमें ब्रह्मज्ञानके बाद भी प्रकृत जन्ममें ही प्रारब्धभोगशेषका उपभोग हो जायेगा ऐसी नियति स्वीकारी नहीं गयी है. औरभी कुछ दो-तीन जन्मोंवाले देहोंमें वह शेषोपभोग शक्य माना है. यह गीतोक्त बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते (भ.गी. ७।१९) वचनके उभयविध अन्वय: ज्ञानवान् (उद्देश्य) (विधेय) ''बहूनां जन्मनाम् अन्ते मां प्रपद्यते (अथवा बहूनां जन्मनाम् अन्ते (उद्देश्य) ज्ञानवान् (सन्) मां प्रपद्यते (विधेय)''. इनमें से प्रथम अन्वयानुसारी व्याख्यान प्रतीत होता है. (४) नैम्बार्क भाष्य तो रामानुजभाष्यानुसारी ही होनेसे विशेष यहां उल्लेखनीय कुछ भी नहीं. (५) माध्वभाष्यका यह प्रतिपादन कि ब्रह्मज्ञानीके अनारब्ध और अनभीष्ट सदसत् कर्मफल सुहृदसुहृदोंको मिल जाते हैं, यह कर्मनियतिके सिद्धान्तको एक जड़नियमके रूपमें स्वीकारनेकी अनीश्वरवादियोंकी जैसी मनोवृत्ति, जो वेदादिशास्त्रप्रामाण्य-वादियोंमें भी बहुधा दिखलायी देती हैं, उसमें एक बड़ी दरार है! अनीश्वर जीव कर्मनियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता केवल इसलिये स्वयं ईश्वरको भी स्वेच्छानियत कर्मनियमके आधीन तो माना नहीं जा सकता. (६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके भाष्यमें, कर्मोंको ईश्वरार्पित करनेवाला निष्काम साधक भी औपनिषद विद्याओंसे रहित होनेपर सद्योमुक्ति नहीं पा सकता, ऐसा सिद्धान्त ''नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्'' (कठोप. १।२।२३) श्रुत्युक्त भगवदनुग्रहकी महत्ताका विचार किये बिना निर्धारित धारणा है. ब्रह्मका औपनिषद प्रमेय होना एक कथा है और औपनिषद विद्याओंके बिना ब्रह्मका मुक्तिदायक भी न हो पाना दूसरी कथा बन जाती है. अतएव पुरुषसूक्तगत ''तम् एवं विद्वान् अमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते'' (पु.सू.१४) तथा श्वेताश्वतरोप-निषद्गत ''तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'' (श्वेता.उप. ६।१५) ऐसे वचनोंमें से प्रथममें रेखांकित 'एवं' पदनिर्दिष्ट पूर्ववर्णित प्रकारके अनुसार ब्रह्मको जाननेकी आवश्यकतापर भार दिया गया है. इसी तरह द्वितीय वचनमें रेखांकित 'एव' कारनिर्दिष्ट मुक्तिप्रद ज्ञानके विषयतया ब्रह्मकी आवश्यकतापर भार दिया गया है.

एतावता औपनिषद विद्याओंके अलावा मुक्तिप्रदायक कोई उपाय हो ही नहीं सकते ऐसा कैसे कहा जा सकता है? ब्रह्मज्ञानसे मुक्ति मिलती है विधानका अर्थ ऐसा नहीं निकाला जा सकता कि ''ब्रह्मज्ञानसे ही मुक्ति मिलती है''. (७) श्रीविज्ञानभाष्यमें श्रुतियोंमें परस्परांगतया निरूपित होनेसे कर्मरहितज्ञान या ज्ञानरहितकर्म की मोक्षासाधकता दिखलाते हुवे कर्मज्ञानसमुच्चयपर भार दिया गया. वाल्लभ दृष्टिकोण इस विषयमें हम देख ही चुके हैं कि उभयसमुच्चय एक अन्यतम उपायतया स्वीकार्य होनेपर भी एकमेव उपायतया मान्य नहीं. इसी तरह जीवन्मुक्तिमें ब्रह्मभावापत्ति हो सकती या नहीं? इस विषयमें वाल्लभवेदान्ताभिमत व्यवस्था यों स्वीकारी गयी है कि ज्ञेयविषयतया ब्रह्मज्ञानीका देह देश-काल-वस्तुओंके परिच्छेदसे रहित सच्चिदानन्द रूप ब्रह्मभावसे सम्पन्न हो पाता हो या नहीं; परन्तु, एक बार भी ऐसे ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूति होनेके साथ ही ब्रह्मज्ञानीकी अनुभूतिमें देश-काल-वस्तु-परिच्छेद रहित सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मात्मकताकी स्फूर्ति सर्वत्र सिद्ध हो जाती है. अतएव महाप्रभु कहते हैं ''ब्रह्मके अखण्डाद्वैतका भान होनेपर सभी कुछ ब्रह्मतया प्रतीत होने लगता है, उस ज्ञानके विषयीभूत ब्रह्ममें किसी भी विकल्पका ब्रह्मेतरतया भान होना बन्द हो जाता है. एतावता ऐसे नहीं समझ लेना चाहिये कि जो नाम रूप एवं कर्मों के विकल्प ब्रह्मने अपने सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्प के द्वारा प्रकट किये हैं उनका नाश तिरोधान या बाध हो जाता है. क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे विकल्पबुद्धिका बाध होता है, स्वरूपतः वस्तुओंका नहीं'' (द्र.: त.दी.नि.१।९१). अतएव अणुसे अणुतर और विभुसे विभुतर ऐसे विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्मका ज्ञान या भगवद्भाव जिस जीवात्माके भीतर प्रकट हो जाता है उसके भीतर तिरोहित ब्रह्मानन्द प्रकट हो जाता है. ऐसे ब्रह्मानन्दको अपने भीतर अनुभव करनेवालेको अपने भीतर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की तथा साथ ही साथ अपनी परिच्छिन्नताकी भी अनुभूति होने लग जाती है (द्र.:त.दी.नि.१।५४) अतएव ब्रह्मवादमें 'आविर्भाव' पदके दो अर्थ स्वीकारे गये हैं: १.विद्यमान वस्तुका अनुभव योग्य होना और २.विद्यमान वस्तुका स्वकार्यकारी हो जाना. इसी तरह 'तिरोभाव' पदके भी दो अर्थ स्वीकारे गये हैं: १.विद्यमान वस्तुका अनुभवयोग्य न होना और २.विद्यमान वस्तुका स्वकार्यकारी न होना स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञान होनेपर वस्तुमात्रकी अप्रकट ब्रह्मात्मकता प्रकट हो जाती है अर्थात् जागतिक नामरूपकर्मोंकी ब्रह्मात्मकता, जो वास्तविक होनेपर भी अनुभवयोग्य नहीं थी, वह स्वयं ब्रह्मके अपरोक्षतया अनुभूत होनेपर अनुभूतिगोचर हो जाती है. फिरभी ब्रह्मकी सृष्टिलीलाके संकल्पवश जो जागतिक वस्तु ब्रह्मात्मक होनेपर भी ब्रह्मका कार्य करने समर्थ नहीं होती वह असामर्थ्य तो किसी जीवात्माके ब्रह्मज्ञानीमात्र बन जानेसे निरस्त नहीं हो पाती. अतएव जागतिक

वस्तु ब्रह्मतया अर्थक्रियासमर्थ नहीं हो पाती. इस विवेचनाके बाद अब वाल्लभभाष्यके अवगाहनार्थ प्रस्तुत हुवा जा सकता है.

(८)वाल्लभ भाष्यके अनुसार पूर्वसूत्रचतुष्टयीमें, मर्यादामार्गीय भक्तोंको मर्यादाके अनुसार ही मुक्तिमें प्रतिबन्ध और उनका निराकरण भी होता है, यह दिखला कर अब [क]प्रस्तुत सूत्रमें पुष्टिमार्गीयोंके प्रारब्धकर्मोंका भोगके बाद ही या उसके बिना भी नाश हो सकता है या नहीं? इस मुद्देको जिज्ञास्य माना गया है. भाष्यकार कहते हैं कि अपने कृपाभाजनोंके तो प्रारब्ध या अप्रारब्ध दोनों ही प्रकारके कर्मोंको भगवान् भोगके बिना भी नाश कर देते हैं और ऐसी लीलाओंके वर्णन भी उपलब्ध होते ही हैं. ''प्रारब्धकर्मोंका भोगके बिना नाश नहीं हो पाता'' ऐसा विधान केवल ब्रह्मज्ञानीके सन्दर्भमें कही गयी बात है. इसके विपरीत जिस श्रुतिमें ''उसके सुहृद् उसके साधुकर्मक तथा उसके साथ द्वेष करनेवाले उसके असाधुकर्मों के भागी बन जाते हैं'' ऐसा निरूपण मिलता है वह ज्ञानियोंके सन्दर्भमें कही गयी बात नहीं है प्रत्युत भगवत्कृपाभाजनोंके सन्दर्भमें कही गयी बात है. क्योंकि ''ब्रह्मज्ञानके कारण पूर्व उत्तर अघोंका नाश हो जाता है'' कहनेमात्रसे ''प्रारब्धकर्मोंका नहीं होता'' ऐसा अर्थ तो निकल ही जाता है. इस वचनको, अतएव, साधु या असाधु काम्यकर्मों के बारेमें दिया गया विधान भी माना नहीं जा सकता है. क्योंकि मुमुक्षु अधिकारीका असाधुकर्ममें प्रवृत्त होना उपपन्न होनेवाली बात नहीं है. अतः अपनी कर्ममर्यादाको तोड़े बिना भगवान् अपने कृपाभाजनोंके पुण्यापुण्यरूप प्रारब्धकर्म उस कृपाभाजनके साथ सौहृदभाव या द्वेषभाव रखनेवालोंपर प्रसन्न या अप्रसन्न हो कर अपनी फलदान या दण्डदान की सामर्थ्यद्वारा प्रतिसंक्रमित कर देते हैं. [ख]अपने विशेष कृपाभाजनोंकी तरह सामान्य ब्रह्मज्ञानीके भी प्रारब्धकर्म सुहृदों या द्वेषियों में प्रतिसंक्रमित होते माने नहीं जा सकते हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञानी तो प्रारब्धकर्मोंक क्षयार्थ ही कर्मानुष्ठान करता है, कामनापूर्त्यर्थ नहीं सो स्वानुष्ठितकर्मोंसे ही सवासना सकलकर्मोंका क्षय हो ही जाता है. जीवनिष्ठ विद्या भगवज्ज्ञानशक्तिका धर्मरूप अंश होती है. उससे जुड़नेवाले ब्रह्मज्ञानीके पूर्व उत्तर अघोंका नाश जब सम्भव है तो स्वयं धर्मी भगवान् के साथ जुड़नेवाले भगवत्कृपा जनोंके लिये असम्भव क्या हो सकता है! [ग]फलप्राप्तिमें प्रतिबन्धोंके दूर होनेकी प्रक्रियाके निरूपणके बाद इस सूत्रमें अब यह प्रतिपादनीय है कि ऐसे कृपाभाजन अपने स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरोंके छूट जानेके बाद भगवल्लीलोपयोगी दिव्य देह प्राप्त करके दिव्य फलोंका उपभोग करने लग जाते हैं– ''सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'' वचनमें निरूपित हुवा है.

फलप्रकरणगत लीलोपदेश: भागवतार्थनिबन्धगत फलप्रकरणके सातवें

अध्यायार्थकी विवेचना करते हुवे महाप्रभुने पुष्टिमार्गीय दृष्टिकोणसे एक नितान्त महत्त्वपूर्ण बात यह हमें समझायी है कि भगवान् के परोक्षमें भगवद्गुणगान तथा भगवान्के प्रत्यक्ष होनेपर भगवत्सेवन का एक मधुरचक्र सहजस्नेहवश किसी जीवमें स्वतः चलता रहता हो तो ऐसे जीवको सर्वथा निरुद्ध अर्थात् प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्त हो गया जान लेना चाहिये. व्रजके गोपजनों तथा गोपीजनों के चित्तकी भगवान् श्रीकृष्णमें ऐसी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्ति इतनी प्ररूढ़ हो गयी थी कि और कुछ उन्हें सूझता नहीं था. यही श्रीमद्भागवतगत युगलगीतका प्रमुख प्रतिपाद्यविषय है. अतएव इस अध्यायकी सुबोधिनीके प्रारम्भमें ही महाप्रभु कहते हैं कि गोपिकाओंकी न केवल बाह्येन्द्रियोंको अपितु आभ्यन्तरको भी भगवान् ने अपने आनन्दसे इतना परिपूर्ण बना दिया था कि उन्हें पूर्णानन्दकी प्राप्ति हो गयी थी. बाह्यानुभूतिगोचर भगवान्की आभ्यन्तरमें प्रतिष्ठा, भगवत्स्वरूपके बाह्यतिरोधानपूर्वक आन्तरप्रवेशद्वारा, सम्पन्न हुयी, यह गोपीगीत (भाग.१०।२८।१-१९) में निरूपित हुवा. ऐसे ही आभ्यन्तरमें प्रतिष्ठित भगवान्की पुनः बहिर्लीलानुभूति युगलगीतमें निरूपणीय है. तद्नुसार रात्रिक्रीड़ाके बाद दिनमें गोपिकायें संसारासक्तोंकी तरह जीवनयापन नहीं करती थी परन्तु भगवत्सेवन या भगवद्गुणगान के मधुर चक्रोंके रसात्मक आवर्तनमें ही जीती थी. उपलक्षणविधया इसी तरह गोपजन भी रात्रिमें गुणगान तथा दिवसमें भगवत्सेवा में परायण हो कर अपना जीवनयापन करते थे. यों गोप-गापिकाओंकी भक्तिमार्गीय जीवन्मुक्तिका ही यह निरूपण है. अर्थात् इनकी आत्मरतिमें विषयरतिका व्यवधान उच्छिन्न ही हो गया था!

इसके बाद क्रमशः इन व्रजभक्तोंकी जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें तामसभाव राजसभाव सात्त्विकभाव और निर्गुणभाव का अनुसरण करनेवाली प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्ति ही इनकी भक्तिमार्गीय विदेहमुक्ति और ब्रह्मभावापत्ति अर्थात् दिव्यलोकोंमें भगवान्की दिव्यलीलाओं में उपयोगी देहप्राप्तिमें भी अनुवृत्त रही. ऐसी प्रक्रियाके निरूपणार्थ पूर्वोदाहृत- ''सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'' श्रुतिनिरूपित भक्तिके नित्यनैरन्तर्यका प्रतिपादन अवशिष्ट दशमाध्यायों एकादशस्कन्ध तथा द्वादशस्कन्धोंका वर्ण्यविषय है.

आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेशः भगवत्सेवा-भगवत्कथात्मिका भक्ति करनेवाले आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको इस भूतलके ऊपर होनेवाली फलानुभूतियों का निरूपण महाप्रभुने-सर्वप्रथम यमुनाष्टकमें तनुनवत्वसिद्धिके रूपमें किया. सिद्धान्तमुक्तावलीमें संसारदुःखनिवृत्तिके सहित ब्रह्मबोधपूर्विका मानसी सेवाके रूपमें. पुष्टिप्रवाहमर्यादामें इस भूतलपर भगवत्सेवा और भगवत्कथा दोनों अथवा सेवा या

कथा मेंसे किसी एकके भी निभ पानेपर भगवद्भक्तको होती भगवत्स्वरूपानुभूति अथवा भगवद्गुणानुभूति ही पुष्टिमार्गीय फल होता है, यह कहा गया है. 'सिद्धान्तरहस्य'में सामिभुक्तके समर्पण अथवा असमर्पितके उपभोगकी असावधानी से रहित सर्वसमर्पणरूपा भगवत्सेवाके भलीभांति निभ पानेपर सर्वत्र सर्ववस्तुओंमें तिरोहिततया अवस्थित ब्रह्मात्मकताका प्रादुर्भाव हो जाता है, यह दिखलाया गया है. नवरत्नमें– लौकिक तथा वैदिक कर्तव्योंको तो भक्त स्वस्थताके साथ निभा नहीं पाता परन्तु भगवदाज्ञा या गुर्वाज्ञा में से जिसके भी अनुसार चित्तकी भगवत्सेवापरता निभे उसे निभाते हुवे सुखसे जीवनयापन करना चाहिये. अतएव जीवनके दरमियान आनेवाली ऐसी सभी अस्वस्थताको साक्षिभावके साथ निभाते हुवे तथा चित्तमें होते सभी उद्वेगोंको भी भगवल्लीलाके रूपमें निहार पानेवाला जीवन्मुक्त ही होता है, यह दिखलाया गया है. अतएव अन्तःकरणप्रबोधमें जीवन्मुक्तिका यही स्वरूप इस तरह दिखलाया गया है कि इहलोकमें अपने अलौकिक कर्तव्योंको निभानेसे भी बढ़ कर भगवदाज्ञाका अनुसरण ही उत्कृष्ट होता है. विवेकधैर्याश्रयमें चतुर्विध विवेक, चतुर्विध धैर्य तथा चतुर्विध आश्रय को निभाना जीवन्मुक्तिके रूपमें बिरदाया गया है. कृष्णाश्रयमें इतरसर्वमें आश्रयभावसे रहित हो कर केवल श्रीकृष्णका अनन्याश्रय निभानेवाला जीवन्मुक्त होता है यह दिखलाया गया है. चतुश्लोकीमें श्रीकृष्णके सर्वात्मना स्मरण तथा भजन को निरन्तर आजीवन निभा पानेवाला जीवन्मुक्त ही होता है कह कर स्पष्ट किया गया है. भक्तिवर्धिनीमें इसे भगवद्व्यसनोत्तरभाविनी कृतार्थताके रूपमें निरूपित किया गया है. संन्यासनिर्णयमें इसे भगवद्विरहानुभूतिजन्य विकलतावश निरन्तर भगवद्–गुणैकनिष्ठामें जीवनयापनके रूपमें वर्णित किया गया है. निरोधलक्षणमें भगवत्सेवाके अनवसरमें व्रजभक्तोंके से दुःखकी तथा भगवत्सेवाके अवसरमें उनके से सुखकी तरह दुःखी तथा सुखी हो पानेके रूपमें मान्य किया गया है. अन्तमें सेवाफलमें भी अलौकिकसामर्थ्य अर्थात् भगवत्सेवा और भगवत्कथा में भगवत्सानुभावका आनन्द ले पानेवाला जीवन्मुक्त अर्थात् निर्दोष भगवदानन्दके भोक्ताके रूपमें स्वीकारा गया है. अन्तर्गृहगता गोपीजनोंकी तरह भगवत्स्वरूपमें सायुज्य पा लेनेवाले अथवा सर्वात्मभाववाले अन्यान्य व्रजभक्तोंकी तरह दिव्यलोकों में भगवान्की नित्यलीलामें नित्यभजनोपयोगी देह पा लेनेवाले भागवतके एकादशस्कन्ध या द्वादशस्कन्ध में प्रतिपाद्य मुक्तिलीला या आश्रयभावापत्ति लीला के विषय बनते हैं. यह भी वहीं सेवाफलमें ''सेवा करनेवालेकी फलानुभूतिके तीन प्रकार होते हैं: अलौकिक सामर्थ्य सायुज्य अथवा वैकुण्ठादि दिव्यलोकोंमें भगवत्सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति. सायुज्य हो या सेवोपयोगी देह हो कालनियत फल नहीं होते परन्तु भगवदिच्छानियत हो कर ही हमें

फलतया मिलते हैं''. ऐसे निरूपणद्वारा समझाया गया है. ग्रन्थोपसंहार में महाप्रभु हमें आश्वस्त करते हैं कि

''इयं सदा अवश्या भाव्या अन्यत् सर्वम् मनोभ्रमः
तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्!''.

तामसफलप्रकरणके सात अध्यायोंमें वर्णित भगवान् के छह गुणधर्मों और सातवें स्वयं धर्मिरूप भगवत्स्वरूप की मीमांसा:

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्य योश्चैव षण्णां 'भग' इतीरणा।।

अपने आद्यतम ग्रन्थ तत्त्वार्थदीपनिबन्धमें महाप्रभुने यह स्पष्टीकरण दिया है कि वेदान्तमें जिस परम तत्त्वको ब्रह्मत्वेन परिभाषित किया गया है, भगवद्गीतामें परमात्मत्वेन तथा भागवतमें भगवत्त्वेन, उसी परिभाषाशैलीका अनुसरण करते हुवे प्रस्तुत निबन्धके भी प्रथम शास्त्रार्थ द्वितीय सर्वनिर्णय एवं तृतीय भागवतार्थ रूपी तीन प्रकरणोंमें उस परम तत्त्वके ब्रह्म परमात्मा और भगवान् होनेके पक्षोंकी विवेचना उन्हें अभिप्रेत है. तदनुसार श्रीमद्भागवत षड्गुणयुक्त भगवान्की लीलाओंके निरूपणसे अनुप्रेरित भक्तिरसप्रतिपादक एक विलक्षण भगवच्छास्त्र है. अतः यहां वर्णित प्रत्येक लीलामें मूलतः मीमांस्य ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य रूप भगवान्के छह गुणधर्म और सातवां स्वयं भगवान्का धर्मिरूप ही होता है. स्वयं भगवान्, उनके गुणधर्म और लीलाओं से अतिरिक्त जो व्यक्तिवर्णना या उपकथा भागवतमें मिलती हैं, उनका भी परमाशय भगवत्स्वरूप भगवल्लीला या भगवद्गुणों के निरूपणमें ही है. अतः भगवदितर किसी भी व्यक्ति या चरित्र को प्रमुखतया यहां वर्णनीय माना नहीं जा सकता. तत्तद्व्यक्तिसापेक्ष या तत्तत्कथासापेक्ष अनुयोगीभूत भगवत्स्वरूप भगवच्चरित्र अथवा भगवद्गुणोंके प्रतियोगितया अपेक्षित होनेके कारण ही उनकी कुछ वर्णनोपयोगिता होनेसे उनकी कथा भी कही गयी है.

तदनुसार फलप्रकरणगत सात अध्यायोंमें निरूपित भगवद्गुणोंकी मीमांसाके लिये अब क्रमशः प्रवृत्त होना चाहिये.

साधनप्रकरणोक्त साधनोंके कारण भक्तिका विकास व्यसनदशामें हो जानेसे छह गुणोंवाले भगवान्की फलरूपतया अनुभूति जिस तरह व्रजभक्तोंको हुयी उसका वर्णन इन सात अध्यायोंमें किया जाता होनेसे इन्हें 'फलप्रकरण' कहा जाता है.

ये सात अध्याय ऐश्वर्यादि छह गुणधर्म और सातवें धर्मिस्वरूप स्वयं भगवान् मेंसे एक-एकको प्रधान वर्ण्यविषय मान कर भगवान्की फलात्मिका लीलाओंका

निरूपण करते हैं.

भगवान्का प्राकट्य लोकमें रूप और नाम के द्वैविध्यसे होता होनेसे भक्तोंके साथ रमणमें भी ऐसा द्वैविध्य वर्णित हुवा है. आत्मा अन्तःकरण इन्द्रिय प्राण और शरीर के पञ्चविध भेदोंके कारण रूपरमण भी पांच अध्यायोंमें पञ्चधा वर्णित हुवा है. प्रवृत्ति और निवृत्ति के शब्दद्वैविध्यवश नामरमणका निरूपण दो अध्यायोंद्वारा द्विधा किया गया है.

(१)एतदन्तर्गत प्रथम अध्यायमें भगवान् के ऐश्वर्यगुणका निरूपण करना अभीष्ट है. 'ऐश्वर्य' पदका अर्थ होता है: ''कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य''. अव्यक्त वेणुनादद्वारा भी अपने भक्तोंको अपने निकट बुलानेकी लीला भगवान् के 'कर्तुं-सामर्थ्य' रूप ऐश्वर्यको दिखलाती है. वृन्दावनसे लौट कर पुनः व्रज जानेकी आज्ञा व्यक्तवाणीद्वारा मिलनेपर भी व्रजगोपिकाओं का लौट कर न जाना भगवान्के 'अकर्तुं सामर्थ्यरूप ऐश्वर्यका द्योतन है. इस तरह अपने द्विविध सामर्थ्यद्वारा समाहूत गोपिकाओंके बीचमें भगवान्का तिरोहित भी हो पाना भगवान्की 'अन्यथाकर्तुं-सामर्थ्य'रूप ऐश्वर्यका निरूपण है. यों छब्बीसवें अध्यायमें प्रकृतलीलोपयोगी ऐश्वर्यरूप गुणधर्म वर्णित हुवा है.

(२)भगवान्को अभीष्ट रासलीलामें अपनी घनिष्ठ अपेक्षाके बोधके कारण पनपे गर्वरूप दोषके कारण गोपिकाओंकी बाह्यानुभूतिमें भगवान्के तिरोहित होनेपर भी, अर्थात् कायिकरमणके अभावमें भी उन गोपिकाओंमें अन्तःप्रविष्ट भगवान् द्वारा वाचिक और मानसिक रमण भगवान्के प्रकृतलीलोपयोगी असाधारण वीर्यरूप गुणधर्मका द्योतन सत्ताईसवें अध्यायमें किया जाना अभिप्रेत है.

(३)भगवान्के तिरोहित हो जानेपर गोपिकाओं द्वारा गाया गया गीत, अर्थात् गोपीगीत भगवान्के यशका ही गान होनेसे इस अठ्ठाईसवें अध्यायमें भगवान्के यशोरूप गुणधर्मका निरूपण हुवा है.

(४)गोपीगीतमें भगवद्गुणगानकी प्रक्रियाद्वारा गोपिकाओंके गर्वरूप दोषका प्रक्षालन हो जानेपर श्लाघ्यतम

दिव्यतम एवं मधुरतम स्वरूपीके साथ भगवान्का पुनः गोपिकाओंके बीच प्रकट हो जाना भगवान्के श्रीरूप गुणधर्मको इंगित करता है. सो उनत्तीसवां अध्याय भगवान्के श्रीरूप गुणधर्मके निरूपणार्थ है.

(५)भक्तोंमें प्रकट होनेवाला भगवज्ज्ञानरूप गुणधर्म भगवत्स्वरूप भगवद्गुण एवं भगवल्लीला के स्वतः सिद्ध ज्ञानके रूपमें ही प्रकृतलीलोपयोगी हो सकता है. परमज्ञेयरूप भगवान् स्वयं ज्ञानरूप भी न हों तो भगवान्का स्वरूप स्वयंप्रकाश है ऐसा सिद्ध नहीं हो पाता. अतः ज्ञेयतया भक्तके समक्ष भगवान् जैसे अपना लीलाविहार प्रकट करते हैं वैसे ही भक्तके भीतर ज्ञानतया भी अपने लीलाविहारको प्रकट करने भगवान् समर्थ होते हैं. अन्तिम वैराग्यरूप गुणधर्म भक्तोंमें तो भगवदितर विषयोंमें वैराग्यके रूपमें तथा भगवान्में भक्तेतरोंमें वैराग्यरूप होना चाहिये. सो ये दोनों ही गुणधर्म धर्मरूपेण प्रकट हो जानेवाले भगवान्की संनिधि या संयोग में उनकी स्वरूपश्रीके साथ लीलासौष्ठव प्रकट न करते होनेसे इनका आगामी अध्यायों कि जहां अप्रधान संनिधि अथवा असंनिधि या संयोगान्तरायरूप वियोग का वर्णन किया जाना है वहीं होगा. यहां तो प्रकट धर्मीरूप भगवान्की भक्तजनोंके साथ की गयी रासक्रीड़ा ही निरूपित की गयी है. अतः इस मध्यपाती तीसवें अध्यायमें क्रमोपात्त ज्ञान या वैराग्य गुणधर्मोंको प्रधानतया वर्ण्यविषय बनानेके बजाय स्वयं धर्मिरूपेण की गयी लीलाका ही निरूपण किया गया है.

(६)फलतया अनुभूत होते भगवत्स्वरूपमें अपने चित्तको प्रवण रखनेके बजाय कौतुकवश भी अन्यान्य कर्मोंमें परायण होना भक्तोंके लिये भगवदितरमें वैराग्यवृत्ति और भगवद्रतिकी फलानुभूतिमें विघ्नकारी बन जाता है. अतः ऐसे कर्मोंमें अपना औदासीन्यरूप वैराग्य गुण भगवान् प्रकट करते हैं. ऐसे कर्मोंके अनुष्ठानमें बहक जानेवाले भक्तोंकी फलानुभूति में तन्मयताकी क्षतिको दूर कर पुनः फलानुभूतिमें ही उन्हें तत्पर बनाये रखनेमें भगवान्के भक्तैकरतिरूप वैराग्य गुणधर्मकी कथा

इकत्तीसवें अध्यायमें कही गयी है.

(७)संयोगान्तरायरूप वियोगमें भक्तोंके बाह्येन्द्रियोंसे ज्ञेय न बननेपर भी लीलाविशिष्ट भगवान् भक्तोंके भीतर ज्ञानतया निरन्तर समाहित रहते होनेसे भगवान्के ज्ञानरूप गुणधर्मका चमत्कारी अनुभव बत्तीसवें अध्यायमें अर्थात् युगलगीतका प्रमुख प्रतिपाद्यविषय बना है.

इस तरह रासलीलाकी औपनिषदिक मीमांसाको भलीभांति बुद्धिगत करनेपर इस भगवल्लीलाका अवगाहन श्रीकृष्णके परब्रह्म परमात्मा होनेके सुनिश्चित माहात्म्यज्ञानसे हमारी बुद्धिको शुद्ध बना पाता है. इसी तरह इस रासलीलाकी भागवती मीमांसाको भी भलीभांति हृद्गत कर लेनेपर उस परब्रह्म परमात्मा की आत्मरतिका ही व्याकरण करनेवाली यह रासलीला भगवान् श्रीकृष्णके लिये हमारे हृदयको सुदृढ़-सर्वतोधिक स्नेहसे परिपूर्ण बना पाती है. यही ''रासलीलैकतात्पर्यः कृपयैतत्कथाप्रदः'' महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके निबन्ध सुबोधिनी तथा प्रकरणग्रन्थों की परस्पर एकवाक्यता आधारपर परम-चरम तात्पर्यविषयीभूत सारभूत उपदेश है.

तथास्मास्वनुगृह्णीथाः येन त्वच्चरणाब्जयोः।
स्मृतिर्यथा न विरमेद् अपि संसरतामिह।
कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणत क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमोनमः।।
जयति श्रीवल्लभार्यौ जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धति र्ज यति।।
श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा।।

सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नोऽस्तु

श्रीमहाप्रभूत्सवः ५२१
विक्रमसंवत्: २०५४

गोस्वामी श्याममनोहर
(पार्ला-किशनगढ़)